मूल पुस्तक Home University Library और Oxford University Press द्वारा प्रकाशित की गई है। प्रस्तुत संशोधित हिन्दी संस्करण में अद्यतन सूचनाएँ और आँकड़े संशोधनकर्त्ता द्वारा यथास्थान दे दिये गए हैं।

पूर्ववर्ती संस्करणों के रूपान्तरकार तथा संशोधनकर्त्ता :
डी० एस० कुशवाहा, (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
पंचम संशोधित संस्करण के संशोधनकर्त्ता : डी० डी० मेहता
(के० एम० कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)

प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५५
द्वितीय संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६०
तृतीय संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६१
चतुर्थ संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६२
पंचम संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६९

मूल्य
खण्ड १ : ८ रुपये
खण्ड २ : ८ रुपये
सम्पूर्ण : १५ रुपये

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-६
मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

भारतीय अर्थशास्त्र

भारतीय अर्थशास्त्र

लेखकों की विख्यात पुस्तक Indian Economics का हिन्दी रूपान्तर

[खण्ड २]

जे० बी० जथार, एम० ए०

तथा

एस० जी० बेरी, एम० ए०

राजकमल प्रकाशन

भारतीय अर्थशास्त्र

लेखकों की विख्यात पुस्तक Indian Economics का हिन्दी रूपान्तर

[खण्ड २]

जे० बी० जथार, एम० ए०

तथा

एस० जी० बेरी, एम० ए०

राजकमल प्रकाशन

पंचम संशोधित संस्करण की भूमिका

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने अनेक दिशाओं में प्रगति की है। आर्थिक समृद्धि किसी भी देश की शक्ति का प्रमुख आधार होता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही है। विविध योजनाओं द्वारा भारत अपने विस्तृत और मूलभूत साधनों के संतुलित विकास का मार्ग ढूंढ़ रहा है और अपने आर्थिक ढाँचे को शीघ्र ही बदलने का प्रयत्न कर रहा है। भारत की स्वतन्त्रता और उसका भविष्य पंचवर्षीय योजनाओं पर निर्भर है।

इस दिशा में परिवर्तनशील होते हुए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन अत्यधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है। आज का भारतीय अर्थशास्त्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में लगा हुआ है। जथार और बेरी ने १९२८ में अपने ग्रंथ 'अर्थशास्त्र का अध्ययन' का प्रथम संस्करण प्रकाशित करके इस विषय के विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। तब से लेकर १९४९ तक उनकी पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए, किन्तु दुर्भाग्य से सन् १९४९ में श्री बेरी के देहान्त के कारण इस पुस्तक के अन्य संस्करण न निकल सके।

उनका ग्रंथ प्रथम प्रकाशन से आज तक भारतीय अर्थशास्त्र का विश्वकोश समझा जाता रहा है। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे इस ग्रंथ को आधुनिकतम रूप देने तथा संशोधित करने का कार्य सौंपा गया है। मैंने १९६६-६७ के बजट, इण्डिया १९६५, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का संस्करण-पत्र और आर० बी० बुलेटिन इत्यादि से पर्याप्त सहायता ली है। इस कार्य में मुझे मेरे शिष्य आनन्द बी० चन्दन से बहुत सहायता प्राप्त हुई है। मैं आनन्द चन्दन का इसके लिए बहुत आभारी हूँ।

मुझे पूरी आशा है कि यह पुस्तक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली-७ —डी० डी० मेहता
जून, १९६६

सूची : खण्ड २

द्वितीय भाग

अध्याय १

औद्योगीकरण : साधन तथा विधि

१. भारत में संरक्षण के पक्ष में प्रमुख तर्क—संरक्षण के लिए भारतीय उद्योगों की स्पष्ट उपयुक्तता की ओर संकेत करते हुए १९२४ के अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने प्रो० पीगू के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया—"उत्पादन के प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न किसी भी कृषि-प्रधान देश में उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए संरक्षण की नीति का दृढ़ता से समर्थन किया जा सकता है। ऐसे देश में संरक्षण के फलस्वरूप देश के उत्पादन का विदेशी उत्पादन से कम विनिमय होने के कारण जो हानि होगी, अन्ततोगत्वा राष्ट्र को देश की उत्पादन-शक्ति के विकास की तीव्र गति द्वारा उसकी पूर्ति से अधिक लाभ होगा। संरक्षण-कर, जिन्हें कालवर्ट ने नये उद्योगों को चलना सिखाने वाली बैसाखी बताया है, उद्योगों के स्वतः चलना सीखने की अपेक्षा उन्हें इतनी जल्दी चलने की शक्ति प्रदान कर देती है कि बैसाखियों की लागत से कहीं अधिक लाभ प्राप्त होता है।"[1]

२. संरक्षण और राष्ट्रीय स्व-निर्भरता—जो लोग संरक्षण के पक्षपाती होते हैं, वे हर सम्भव उपाय से निर्यात को भी प्रोत्साहन देने का समर्थन करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह आत्म-निर्भरता के आदर्श के विपरीत है, क्योंकि निर्यात के साथ-साथ आयात अवश्यमेव बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या एक राष्ट्र की स्व-निर्भरता व्यक्ति की आत्म-निर्भरता से किसी भाँति अधिक वांछनीय है ? डॉ० एडविन कैनन का कथन है कि "संरक्षण का कट्टर पक्षपाती उस साधु की भाँति है जिसे अपने पड़ोसी से कुछ भी खरीदना स्वीकार नहीं।"[2] और एक साधु राष्ट्र एक साधु व्यक्ति से किसी भी भाँति अधिक प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। साधारणतया आत्म-निर्भरता के आदर्श का पालन सापेक्षिक लागत के नियम द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही करना चाहिए और उन्हीं उद्योगों के सम्बन्ध में नीति पर विचार करना चाहिए, जिनके सम्बन्ध में एक देश को निश्चित रूप से प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हों।

राष्ट्रीय स्व-निर्भरता के सिद्धान्त का समर्थन बहुधा राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टि-कोण से किया जाता है। भारत उत्पादन के विभिन्न साधनों से सम्पन्न एक विशाल देश है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए आत्मनिर्भरता ग्रेट

चाहिए जिनसे देश की आवश्यकता की केवल आंशिक पूर्ति हो सकती हो।

कभी-कभी वाहरी देशों द्वारा राशिपातन (डम्पिग) करने पर संरक्षण अपनाया जा सकता है या उसमें वृद्धि की जा सकती है। जब यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाए कि अन्य देश राशिपातन कर रहे हैं और इस कारण उस राष्ट्रीय उद्योग को हानि पहुँच रही है, जिसकी समृद्धि से राष्ट्र की समृद्धि सम्वद्ध है तो एक विशेष राशिपातन-कर आवश्यक हो सकता है। जिन देशों में मुद्रा का मूल्य वहुत कम हो गया हो जिसके फलस्वरूप वे अन्य सुदृढ़ मुद्रा वाले देशों के साथ नीचे भाव पर निर्यात करने के योग्य हो गए हों, तो उन देशों की वस्तुओं पर भी ऐसे कर लगाना उचित ठहराया जा सकता है। १८९९ के १४वें अधिनियम के अनुसार यदि कोई भी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्यात को आर्थिक सहायता देता है, तो गवर्नर जनरल को यह अधिकार है कि भारत गज़ट में अधिसूचित करके ऐसी सहायता की वास्तविक मात्रा के बराबर आयात पर अतिरिक्त कर लगा दे।[1]

अर्थ-आयोग के विचार में प्रायः नवीन उद्योगों को ही संरक्षण प्रदान करना चाहिए। फिर भी उनका मत है कि सुदृढ़ उद्योगों के साथ भी ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जब उन्हें संरक्षण देना उचित हो, ताकि वे उन कारणों से उत्पन्न संक्रमणकालीन मन्दी का सामना कर सकें, जिनका उपचार उनकी शक्ति के परे है। समय-समय पर सूती वस्त्र उद्योग को दिया गया संरक्षण इस कोटि में भली भाँति आता है, क्योंकि यह उद्योग अब अपनी शैशवावस्था में नहीं है।

पूर्ण रूप से नवीन उद्योगों के विषय में अर्थ-आयोग के सदस्यों का विचार था कि वास्तविक स्थिति का अध्ययन न कर नवीन उद्योगों के प्रवर्तकों के अनुमानों पर विश्वास करके संरक्षण प्रदान करना बहुत बड़ी जोखिम उठाना होगा। किन्तु विद्यमान उद्योगों के सम्बन्ध में भी अनिश्चितता और अनुमान का सामना किये बिना नीति निर्धारित करना सम्भव नहीं है। परिकल्पना की मात्रा उन उद्योगों के सम्बन्ध में और भी अधिक होगी, जिनको अन्य शाखाएँ खोलने के लिए संरक्षण दिया जाएगा। फिर भी आयोग इस आधार पर संरक्षण देने का विरोधी नहीं था।[2] अतएव यह स्पष्ट है कि उन सभी दशाओं में, जिनमें संरक्षण की माँग की जाती है, अनिश्चितता अवश्य विद्यमान रहेगी। संरक्षण प्रदान किये जाने वाले एक नवीन उद्योग के विषय में यह सम्भव है कि बाहरी देशों से, जहाँ यह उद्योग भली भाँति स्थापित हो चुका है, ऐसे विश्वसनीय तथ्य प्राप्त हो सकें जिनसे यहाँ इस उद्योग के विषय में कोई शंका न रह जाए। अर्थ-आयोग का मत है कि आमतौर से नये उद्योगों के लिए संरक्षण आपत्तिजनक ही नहीं, बल्कि अनावश्यक सिद्ध होगा, क्योंकि सरकार की आर्थिक

---

१. अप्रैल, १९३३ में पास हुए उद्योग-सुरक्षा-अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह उन सभी दशाओं में अतिरिक्त कर लगा सकता है, जिनमें उसके अनुसार विदेशी माल का इतने कम मूल्य पर आयात हो रहा है कि उससे एक स्थापित उद्योग को संकट है। ३१ मार्च, १९३५ को यह अधिनियम समाप्त हो गया।

२. 'अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) रिपोर्ट', पैरा १००।

इसने औद्योगीकरण की सम्पूर्ण समस्या को ध्यान में न रखकर उद्योगों पर अलग-अलग विचार किया है। फलतः औद्योगिक विकास के पथ में अनावश्यक बाधाएँ उत्पन्न हो गई हैं और इसका स्वरूप अनियन्त्रित-सा हो गया है।

भारतवर्ष में विवेचनात्मक संरक्षण की असफलता का प्रमुख कारण देश के शीघ्र औद्योगीकरण के प्रति ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति का अभाव था। जैसा प्रो० वी० पी० अदारकर का कहना है, "पाश्चात्य देशों में सरकारों की सहायता से संरक्षण के अतिरिक्त और भी उपाय काम में लाये गए हैं, जैसे आर्थिक सहायता, राजकीय सहायता, औद्योगिक अनुसन्धान और औद्योगिक संस्थाओं का पथ-प्रदर्शन एवं नियन्त्रण। वास्तव में वहाँ विवेचनात्मक संरक्षण ने उद्योगों को उदासीन और अनमने भाव से नाम-मात्र की सहायता देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया है; तदनन्तर वे उद्योग अपने विकास के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिये गए हैं। प्रशुल्क-मण्डल और सरकार की विलम्बकारी नीति के कारण प्राप्त संरक्षण बहुधा लाभकर नहीं होता।"[1] इस भाँति भारतवर्ष में बहुत दिनों से औद्योगीकरण की समस्या का रूप आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक रहा है। अब स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, अतएव इसका हल सरल हो जाएगा।

५. विवेचनात्मक संरक्षण नीति में युद्धकालीन व्यवस्था की आवश्यकता—वास्तव में अब युद्ध-समाप्ति के बाहरी देशों की तीव्र स्पर्धा और संरक्षण को अकस्मात् समाप्त कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न तीव्र असन्तुलन की स्थिति से अपने उद्योगों को बचाने के लिए एक सामान्य संरक्षण काल की आवश्यकता है। १९४७ ई० से प्रशुल्क-मण्डल विभिन्न उद्योगों के संरक्षण के लिए आये आवेदन-पत्रों पर विचार करने में लगा हुआ है और उनमें से बहुतों को संरक्षण मिल भी चुका है।[2]

प्रत्येक उद्योग के सम्बन्ध में मण्डल निम्न बातों की जाँच करता है : (१) वह उद्योग भली भाँति स्थापित और संचालित है या नहीं; (२) एक निश्चित समय में उसके विकास की सम्भावना है या नहीं, ताकि फिर संरक्षण अथवा किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता न रह जाए; (३) उस उद्योग को संरक्षण देना राष्ट्रीय हित में है अथवा नहीं और यह संरक्षण समाज को आर्थिक क्षति पहुँचाये बिना सम्भव है या नहीं। सरकार के आदेश पर मण्डल को निम्न कार्य भी करने पड़ते हैं—देश में पैदा होने वाली वस्तुओं के उत्पादन लागत की जाँच करना, थोक और फुटकर तथा अन्य मूल्यों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना, विदेशों की राशिपातन-नीति से उद्योग के लिए संरक्षण-सम्बन्धी सिफारिशें प्रस्तुत करना; आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न वस्तुओं पर

---

१. श्री पी० सी० जैन द्वारा सम्पादित, 'इण्डस्ट्रियल प्रॉब्लम्स ऑफ़ इण्डिया' में अदारकर का 'फिस्कल और कमर्शल पॉलिसी' नामक लेख देखिए।

२. कुछ उद्योगों, जिनमें सूती वस्त्रोद्योग, लोहा और इस्पात, कागज़ और लुगदी, मैगनेशियम क्लोराइड और चीनी आदि के उद्योग भी सम्मिलित हैं, संरक्षित उद्योगों की कोटि से हटा दिये गए हैं।

मौलिक परिवर्तन हो जाए तो संरक्षण की नीति पर पुनः विचार करना और सम्भवतः संरक्षण की अवधि बढ़ाना होगा।

अर्थ-आयोग का मत है कि प्रशुल्क-मण्डल के लिए सन्तोषजनक नियन्त्रण बनाये रखने का एक ही रास्ता है कि वह संरक्षित उद्योगों की दशा की समय-समय पर जाँच करे और तर्कयुक्त निर्णय दे कि अमुक वस्तु पर कर बना रहने दिया जाए या हटा लिया जाए, और यदि बना रहने दिया जाए तो उसकी दर में परिवर्तन किया जाए या नहीं। प्रशुल्क-मण्डल के सदस्यों के चुनाव में सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। संरक्षण के प्रयोग की सफलता इस संस्था की कार्य-प्रणाली पर निर्भर करती है।[1] संरक्षण अपनाने वाले बहुत-से देशों में प्रशुल्क अधिनियम स्वार्थी गुटों से प्रभावित रहता है और समस्त देश के हित को ध्यान में रखकर निश्चित की गई योजना का शायद ही कभी अनुसरण करता है। अर्थ-आयोग का मत है कि विधानसभा में भिन्न-भिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधित्व और विशेषकर कृषि तथा भूमि के सदैव बने रहने वाले महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधित्व के कारण भारतवर्ष में अन्य देशों की भाँति भ्रष्टाचार का भय नहीं है। किन्तु सम्भवतः यह परिस्थिति का अनावश्यक एवं अति आशावादी दृष्टिकोण से अध्ययन है तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार से उत्पन्न होने वाली हानियों को कम करके देखना है। संरक्षण द्वारा जो स्वार्थ फूलें-फलेंगे वे अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक साधनयुक्त तथा सुसंगठित होंगे, क्योंकि विरोधी स्वार्थ भिन्न-भिन्न भाँति के होने के कारण प्रभावकारी ढंग से संयुक्त नहीं हो सकते। विशेष व्यवहार की अपेक्षा रखने वाले उद्योगों की दशाओं में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई खोजों का अधिकाधिक प्रचार करने की आवश्यकता है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त संरक्षण द्वारा प्रोत्साहित दूसरा दोष, जिससे बचने की आवश्यकता है, उत्पादकों का संयोजन है। किसी भाँति पैदा हुआ संयोजन वास्तव में देश के लिए हितकर है या नहीं, इसका उत्तरदायित्व प्रशुल्क-मण्डल पर ही है और यदि वह हानिकर है तो मण्डल को उस पर से संरक्षण उठा

---

१. सन् १९२९ के भारतीय आर्थिक सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण करते हुए दिवंगत प्रोफेसर एन० एस० सुब्बाराव ने यह सुझाव रखा था कि यूनाइटेड स्टेट्स के फेडरल ट्रेड कमीशन और टैरिफ कमीशन की भाँति, जो अपनी विशद कार्य-प्रणाली द्वारा सदैव नये-नये उपाय ढूँढ़ते रहते हैं, भारत में भी एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का निर्माण होना चाहिए। प्रशुल्क-मण्डल को उचित रूप से विस्तृत करना चाहिए और इसे उपसमितियों तथा व्यक्तिगत सर्वेक्षकों की नियुक्ति की अनुमति देनी चाहिए। इसे स्वतः जाँच और सर्वेक्षण करने तथा समय-समय पर अपने परामर्शों को सरकार के सम्मुख रखने का अधिकार होना चाहिए। यह शीघ्रता से की जाने वाली वर्तमानकालीन अव्यवस्थित खोजों को दूर कर देगा, व्यवस्थित आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करेगा और देश में आवश्यक औद्योगिक सन्तुलन को सुलभ बना देगा। मार्च, १९३६ की विधानसभा में श्री एच० पी० मोदी ने सुझाव रखा कि ग्रेट-ब्रिटेन की आयात-कर परामर्शदात्री समिति की तुलना में भारतीय प्रशुल्क-मण्डल को अधिक गतिशील और प्रभावशाली बनाने के लिए इसकी कार्यविधियों में संशोधन होना चाहिए।

(करीक्युलम) में रखी जानी चाहिएँ।[1] हाथ से होने वाले कार्यों के प्रति भारतवर्ष में पाई जाने वाली अरुचि के कारण मुख्यतया सामाजिक हैं। किन्तु इस तथ्य का एक कारण यह भी रहा है कि अभी हाल तक भारतवर्ष के स्कूलों में बच्चों के लिए हाथ के कार्यों के लिए सन्तोषजनक प्रबन्ध का बिलकुल अभाव-सा रहा है। कुछ कलाओं या उत्पादक क्रियाओं के माध्यम से प्रारम्भिक स्कूलों में शिक्षा देने के महात्मा गांधी के मौलिक विचारों पर आधारित वर्धा-शिक्षा-योजना का उद्देश्य हमारी शिक्षा-पद्धति के उपर्युक्त दोषों को दूर करना है।[2] बहुत-से प्रान्तों एवं राज्यों में इसका उपयोग हो रहा है।[3] विद्यार्थी को अपनी आँखों और हाथ का अधिकाधिक उपयोग सिखलाना उचित शिक्षा-पद्धति का एक उद्देश्य होना चाहिए। किसी भी भाँति की शिक्षा या उचित शिक्षा के अभाव से भारतीय श्रमिक केवल अकुशल और अविश्वसनीय ही नहीं हो जाता, वरन् उसकी आत्मोन्नति की सारी अभिलाषा ही मर जाती है। शिक्षा उसकी आवश्यकताओं को बढ़ा देगी, उनकी पूर्ति के लिए अधिक और अच्छी तरह से काम करने के लिए उसे प्रेरित करेगी और इस प्रकार उसके जीवन को समुन्नत कर देगी। भारतीय उद्योगों की एक समस्या यह है कि कुशल कार्यकर्ता, निरीक्षक एवं यन्त्रों के चालक बाहर से मँगाने पड़ते हैं। ये मनुष्य स्वभावतः महँगे पड़ते हैं और उन्हें ऊँची दर से पारिश्रमिक देना पड़ता है। इसके अलावा उनको उनके देश वापस करते समय भी भारी खर्च उठाना पड़ता है। अर्थ-आयोग ने सिफारिश की थी कि सरकार को चाहिए कि विदेशी फर्मों को आर्डर देते समय शिक्षार्थियों (अप्रेंटिसेज़) के प्रशिक्षण की शर्त भी टेण्डर में रखे। कुशल कार्यकर्ताओं, निरीक्षकों एवं यन्त्र-चालकों के अतिरिक्त भारतीय प्रबन्धकों की भी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में आवश्यक प्रशिक्षण के हेतु विदेश जाने के लिए राज्य द्वारा दी गई प्राविधिक छात्रवृत्तियाँ बहुत सीमित मात्रा में ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकती हैं। इस समस्या का एकमात्र वास्तविक हल यह है कि देश में ही हर श्रेणी के प्राविधिक विद्यालय खोले जाएँ ताकि भारतीय उद्योग प्रत्येक प्रकार के विदेशी श्रम से छुटकारा पा जाएँ। औद्योगिक समस्याओं में अनुसन्धान-कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण श्रेणी का कार्य है। सरकार के शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के उद्देश्य से बनायी गई अत्यधिक साहित्यिक ढंग की शिक्षा कुछ अंशों में विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों में आधुनिक विज्ञान के अध्यापन और उसकी बढ़ती महत्ता के कारण कम हो गई है। विशिष्ट सत्यों से व्यक्तिगत सम्पर्क एवं प्रयोगशाला में सम्भव प्रमाण-योग्य तर्क का अभ्यास मनुष्यों के विचारों और क्रियाओं को लाभकारी दिशा प्रदान करते हैं। वाणिज्यिक एवं प्राविधिक स्कूलों तथा कॉलेजों के भी ऐसे ही वांछनीय फल होने चाहिएँ। जीवन-संघर्ष की बढ़ती तीव्रता पढ़े-लिखे लोगों को सरकारी नौकरियों की अपेक्षा व्यवसाय की ओर खींच रही है, क्योंकि सरकारी नौकरियाँ असंख्य

1. ए० एब्बट और एस० एच० वुड, 'रिपोर्ट ऑन वोकेशनल एजुकेशन इन इण्डिया', पृ० ३३।
2. 'रिपोर्ट ऑफ़ द जाकिरहुसेन कमेटी', सेक्शन १।
3. सी० जे० वर्के, 'द वर्धा-स्कीम ऑफ़ एजुकेशन,' द्वितीय संस्करण, अध्याय ६।

असन्तोषजनक ही रहीं और देश की विशालता तथा बढ़ती आवश्यकताओं को देखते हुए सरकार या व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा की गई व्यवस्थाएँ किसी भी भाँति पर्याप्त नहीं कही जा सकतीं। जैसा हारटोग-समिति ने कहा था कि व्यावसायिक एवं प्राविधिक प्रशिक्षण के प्रयत्न शिक्षा-पद्धति से बिलकुल असम्बद्ध थे और इसलिए अधिकतर निष्फल सिद्ध हुए।

१०. एव्वट-वुड रिपोर्ट—भारत सरकार के निमन्त्रण पर इंगलैंड से दो शिक्षा-विशेषज्ञ श्री ए० एव्वट और श्री एस० एच० वुड नवम्बर, १९३६ में शिक्षा के पुनर्संगठन और खासकर व्यावसायिक शिक्षा की समस्याओं पर परामर्श देने भारत आये। उन्होंने जून, १९३७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उनकी कुछ सिफारिशें निम्नलिखित हैं :

(१) प्रारम्भिक पाठशालाओं में छोटे बच्चों की शिक्षा पुस्तकों के ऊपर आधारित न होकर स्वाभाविक रुचि और क्रियाओं पर आधारित होनी चाहिए।

(२) उच्च (हाई) या उच्चतर माध्यमिक (हायर सेकण्डरी) स्कूलों में भारतीय भाषाओं को यथासम्भव रूप से शिक्षा का माध्यम बनाया जाए, किन्तु इन स्कूलों में अंग्रेज़ी सारे विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य रखी जाए।

(३) व्यावसायिक शिक्षा का प्रसार उद्योगों के विकास की तुलना में बहुत अधिक नहीं होना चाहिए। यदि व्यावसायिक शिक्षा अधिक विशिष्ट न हो और यदि उसका लक्ष्य विचारों में सहनशीलता और कुछ ऐसे व्यक्तिगत गुणों को उत्पन्न करना हो जो समान रूप से बौद्धिक और नैतिक दोनों ही हों, तो उद्योग और वाणिज्य में वर्तमान आवश्यकताओं की अपेक्षा और अधिक अनुपात में प्रशिक्षित मनुष्यों को काम मिल सकता है।

(४) प्रत्येक प्रान्त को अपने उद्योग और वाणिज्य की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं का सर्वेक्षण करना चाहिए और इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा के रूप तथा प्रतिवर्ष भरती किये गए व्यक्तियों की खपत का अनुमान लगा लेना चाहिए।

(५) व्यावसायिक शिक्षा के उपयुक्त और पर्याप्त होने के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग और वाणिज्य शिक्षा-संस्थाओं को सहयोग प्रदान करें। इस भाँति का सुसंगठित सहयोग भारत में अभी कहीं भी विद्यमान नहीं है।

(६) संगठित उद्योगों के विकास की इस स्थिति में देखरेख करने वाले व्यक्तियों, जैसे मिस्त्री (फोरमैन) इत्यादि के शिक्षण और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उत्पादन की कुशलता की कुंजी इन्हीं के पास है।[1]

११. युद्ध उद्योगों के लिए प्राविधिक व्यक्तियों की उपलब्धि—देश की युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति और औद्योगिक विकास के लिए प्रशिक्षित एवं प्राविधिक व्यक्तियों की उपलब्धि के उद्देश्य से भारत सरकार ने १९४० में एक प्राविधिक

---

१. एव्वट और वुड, पूर्व उधृत, अध्याय १४।

कुछ लोग इस विचार के भी हैं कि यदि यहाँ की तैयार वस्तुओं की लागत कुछ अधिक हो तो उन्हीं को ख़रीदना चाहिए। उद्योग-आयोग की जाँच के अनुसार व्यवहार में कोटि एवं मूल्य में समान होने पर भी भारतीय भण्डारों की तुलना में ब्रिटिश भण्डारों को प्राथमिकता दी जाती थी। विभिन्न सरकारी विभागों की माँगों की पूर्ति करने के लिए लन्दन-स्थित भारतीय कार्यालय के भण्डार विभाग द्वारा माँगे गए टेण्डर के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा करने में भी भारतीय निर्माताओं को अनेक कठिनाइयों तथा बाधाओं का सामना करना पड़ता था। भण्डार-क्रय के नियम से लाभ उठाने तथा इस भाँति देश की निर्माण-शक्ति का पूर्ण विकास करने के प्रयत्न में असफल रहने के लिए सरकार ने यह सफाई दी कि खरीद करने वाले भारतीय अधिकारी को राय और सूचना देने के लिए कोई योग्य निरीक्षणात्मक एजेंसी नहीं है। इस कारण सारे उत्तरदायित्व और मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए वह सारे ऑर्डर लन्दन-स्थित भारत-कार्यालय के भण्डार-विभाग को भेज देती थी। इस सफाई के विरुद्ध यह प्रश्न उठा कि विशेषज्ञों की राय प्राप्त करने के लिए आवश्यक एजेन्सी की नियुक्ति का प्रयत्न क्यों नहीं किया गया? भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए क्रय-नीति को उपयुक्त रीति से नियोजित करने की नीति का भारतीय उद्योग-मण्डल ने भी समर्थन किया था। यदि भारतीय उत्पादकों को संरक्षणात्मक अविमान दिये बिना ही 'उचित अवसर और निष्पक्ष व्यवहार' की नीति अपनायी जाए तो सरकार के लिए अधिक मात्रा में कर-प्राप्ति स्वयमेव एक स्वस्थ और बहुमूल्य प्रोत्साहन का काम करेगी।

औद्योगिक विकास की प्रगति के साथ-साथ सरकारी माँग की अधिकाधिक पूर्ति स्थानीय उद्योगों द्वारा सम्भव होती जा रही है—विशेषकर इसलिए कि निरीक्षणात्मक एजेन्सियों तथा भारतीय भण्डारों की प्राप्ति के स्थान और मूल्य के विषय में सूचना के अभाव के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने का प्रबन्ध किया जा रहा है। औद्योगिक आयोग की सिफारिशों के अनुसार नियुक्त भण्डार-क्रय समिति १६२१ ने आयोग के इस सुझाव का समर्थन किया कि राजकीय भण्डार के निरीक्षण के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ एजेन्सी की स्थापना होनी चाहिए। फलस्वरूप भारतीय भण्डार-विभाग का संगठन हुआ, किन्तु प्रान्तीय सरकारों, नगरपालिकाओं, बन्दरगाह-अधिकारियों, कम्पनी द्वारा प्रबन्धित रेलवे, अन्य सार्वजनिक तथा अर्द्ध-सार्वजनिक संस्थाओं तथा भारतीय रियासतों के लिए भी इसकी सेवाएँ प्राप्त हो सकती हैं। यह विभाग क्रय और निरीक्षक एजेन्सी के रूप में परामर्शदाता की हैसियत से काम करता है। यह ऑर्डरों की जाँच इस दृष्टिकोण से करता है कि कोई भी ऑर्डर व्यर्थ ही बाहर न भेजा जाए जबकि उस भाँति की वस्तुओं की उचित मूल्य पर पूर्ति भारतीय उत्पत्ति की वस्तुओं से सम्भव है। यह कुछ निर्दिष्ट वस्तुओं का भारत में क्रय करता है और निरीक्षण करता है, भण्डार के क्रय और मूल्यों से सम्बन्धित सारे मामलों पर सूचनाएँ एकत्र करने के केन्द्रीय कार्यालय के रूप में काम करता है और भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अन्य अनेक काम

१४. प्रान्तीय उद्योग-विभागों का कार्य—औद्योगिक आयोग की सिफारिशों के अनुसार प्रान्तीय उद्योग-विभागों की स्थापना की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। इन विभागों के मुख्य कार्य तीन प्रकार के हैं—(१) औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा का विकास, (२) औद्योगिक शिक्षा की पूर्ति, और (३) औद्योगिक प्रदर्शनियों, हस्तकला-भण्डारों एवं अर्थ (धन) द्वारा उद्योगों की सहायता। उनकी क्रियाएँ बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा कुटीर तथा ग्रामोद्योगों से अधिक सम्बद्ध हैं।[1] औद्योगिक आयोग के काल से आज की औद्योगिक दशा में महान् परिवर्तन तथा धनाभाव के कारण उद्योग-विभागों ने औद्योगिक आयोग द्वारा अनुमानित मात्रा एवं दिशा में सफलता नहीं प्राप्त की। १९१९ और १९३५ के वैधानिक परिवर्तनों के कारण औद्योगिक विकास का उत्तरदायित्व बहुत अंशों में प्रान्तों पर आ पड़ा। इससे भी एक व्यवस्थित और सम्यक् औद्योगिक नीति अपनाने में बाधा पहुँची। अखिल भारतीय औद्योगिक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों द्वारा, जिनमें प्रान्तों के मन्त्रीगण तथा उद्योग-संचालक एवं कुछ भारतीय रियासतों के भी प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे, कुछ अंशों में उपयोगी संयोजन हो सका। बंगाल के उद्योग-विभाग ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। अपने पर्याप्त कर्मचारी-वर्ग तथा कलकत्ता में अनुसन्धान प्रयोगशाला खुलने के उपरान्त औद्योगिक आयोग की निर्धारित नीति का पालन करने के लिए बंगाल का उद्योग-विभाग भली-भाँति सुसज्जित समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ मद्रास में स्याही बनाने के कारखाने की चर्चा की जा सकती है। अन्य उद्योग असफल हो गए हैं; जैसे उत्तर प्रदेश में गिर्री (बॉबिन) बनाने का उद्योग।

१९३५ के राजकीय सहायता-नियम के अपर्याप्त होने के कारण छोटे उद्योगों के लिए बम्बई विधानमण्डल ने एक प्रस्ताव द्वारा कुछ नये नियम बनाये हैं। ये नियम कई प्रकार की राजकीय सहायता की व्यवस्था करते हैं, जिनमें ऋणपत्रों या हिस्सों पर ब्याज की गारण्टी, हिस्सों या ऋणपत्रों का लेना, ऋण प्रदान करना और अनुसन्धान-कार्य के लिए सहायता देना आदि सम्मिलित हैं। कुछ दिशाओं में उपर्युक्त नियमों के अनुसार नये उद्योग आरम्भ करने के लिए व्यक्तिगत साहसोद्यमियों को ऋण भी दिया जा सकता है। वास्तव में ये नियम बृहद्-प्रमाप उद्योगों की अपेक्षा लघु-प्रमाप उद्योगों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं।[2] बड़ी-बड़ी मिलों, जैसे कर्नाटक पेपर मिल्स (मद्रास) और इण्डियन स्टील वायर प्रॉडक्ट लिमिटेड (विहार), को दिये गए बड़े-बड़े ऋणों की असफलता से यह सिद्ध है कि बड़े उद्योगों को आर्थिक सहायता की समस्या हल करने के लिए विशेष उपायों की आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश में स्वर्गीय सर एस० एन० पोचखनवाला की अध्यक्षता में १९३४ में औद्योगिक वित्त-समिति की स्थापना हुई। इसने प्रधान एवं अप्रधान

---

१. इन क्रियाओं का पुनरावलोकन अगले अध्याय में किया गया है।

२. देखिए, 'प्रोसीडिंग्स ऑव दि फिफ्थ इण्डस्ट्रीज कान्फ्रेंस' (१९३३) तथा डी० आर० गाडगिल, इण्डस्ट्रियल इवाल्यूशन ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३२५।

रसायन—भारी रसायन, रासायनिक खादें, रंग, प्लास्टिक, दवाएँ; यातायात—रेल के इञ्जन और डिब्बे, जहाजों का निर्माण, मोटर-गाड़ियाँ, हवाई जहाज़; सीमेण्ट।

उपभोग-पदार्थों के प्रमुख उद्योग, जिनका और विकास करना है, निम्नलिखित हैं : वस्त्र—सूती, ऊनी और रेशमी, शीशे का उद्योग, चमड़े की वस्तुओं का उद्योग, कागज का उद्योग, तम्बाकू का उद्योग, तेल उद्योग।

बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ ही छोटे तथा कुटीर-उद्योगों के विकास का भी प्रबन्ध किया गया था, ताकि योजना की आरम्भिक अवस्था में पूँजी, विशेषकर बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम हो सके और लोगों को काम मिल सके।

बम्बई योजना का दूसरा भाग जनवरी, १६४५ में प्रकाशित हुआ। प्रधान योजना (मास्टर प्लान) के अधीन उद्योगों के विकीरण तथा प्रादेशिक वितरण के सम्बन्ध में भी सुझाव रखे गए। कुटीर एवं लघु-प्रमाप उद्योगों के प्रोत्साहन की आवश्यकता स्वीकार की गई और राजकीय तथा व्यक्तिगत साहस के उचित सहयोग पर ज़ोर दिया गया। बम्बई योजना के निर्माताओं के तीन प्रमुख उद्देश्य थे : (क) पूर्व-स्थित आर्थिक व्यवस्था के सुव्यवस्थित विकास की आवश्यकता, (ख) केन्द्रीय नियन्त्रण की अर्थ-व्यवस्था, और अन्तिम (ग) समाज के सामाजिक और वितरणात्मक आदर्शों के अनुकूल कृषि और उद्योग तथा उत्पादन के साधनों और वास्तविक उत्पादन का अधिकाधिक विकीरण।[1]

१६३८ ई० की राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना के बाद सरकारी और गैर-सरकारी योजनाओं की भरमार-सी हो गई। १६३६ में युद्ध की घोषणा के पश्चात् शीघ्र ही कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद राष्ट्रीय आयोजन समिति का कार्य बिलकुल बन्द हो गया। पाँच वर्ष के विराम के पश्चात् सितम्बर, १६४५ में समिति की पुनः बैठक हुई।

मार्च, १६५० में भारत सरकार ने योजना-आयोग की नियुक्ति की। जुलाई, १६५१ में योजना-आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा सामने रखी। दिसम्बर १६५२ में योजना पार्लियामेण्ट के सामने अपने अन्तिम रूप में रखी गई। योजना का मुख्य उद्देश्य विकास की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ करना था जो रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाए तथा जनता को अधिक सम्पन्न और अनेक रूप में जीवन के नये अवसर प्रदान करे। इस योजना के अन्तर्गत १६५१-५६ में २,०६६ करोड़ रुपये व्यय करना निश्चित किया गया। बाद में यह राशि बढ़ाकर २,३५६ करोड़ रु० कर दी गई।

यह योजना १६७७ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना करने के उद्देश्य की प्राप्ति के प्रति पहला कदम है। बाद के अनुमानों के आधार पर यह पता लगा कि राष्ट्रीय आय १६६७-६८ तक दूनी हो सकती है तथा प्रति व्यक्ति आय १६७३-७४ में दूनी हो सकती है। प्रथम योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में १८·४ प्रतिशत

अध्याय २

भारतीय उद्योग : नवीन तथा पुरातन

१. अध्याय का क्षेत्र—भारतीय उद्योग दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं : (१) कारीगरों के घरों में हस्तचालित यन्त्रों से सम्पादित उद्योग, जिन्हें कुटीर-उद्योग कहा जा सकता है। यहाँ काम का प्रमाप छोटा, संगठन सीमित तथा उत्पादन मुख्यतया स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। इस अध्याय के अन्त में हम इन कुटीर-उद्योगों का विवेचन करेंगे। (२) शक्ति-चालित यन्त्रों से सम्पादित सुसंगठित उद्योग जो कारखानों या उद्योगशालाओं में चलाए जाते हैं। इन संगठित उद्योगों का आकार साधारण ग्रामीण कारखानों से लेकर कपड़े की बड़ी-बड़ी मिलों एवं अभियान्त्रिकी उद्योगशालाओं के समान होता है जहाँ हज़ारों मज़दूर कार्य करते हैं और निर्माण एवं व्यापार के लिए पूर्ण संगठन होता है।[1] कृषि से सम्बन्धित संगठित उद्योग, जैसे चाय, कहवा, नील और चीनी उद्योग का वर्णन कृषि के अध्याय में हो चुका है।[2]

२. सूती मिल-उद्योग—भारत के वृहद्-प्रमाप के कुछ उद्योगों का विवरण नीचे दिया जा रहा है। भारत में पहली सूती-वस्त्र मिल १८१८ में कलकत्ता में स्थापित हुई। बम्बई में, जो सूती-मिल उद्योग का गढ़ है, पहली मिल पारसी साहस के फलस्वरूप स्थापित हुई और इसने १८५४ से कार्य आरम्भ किया।

वितरण के दृष्टिकोण से १८७७ का वर्ष उद्योग के विकास को एक नवीन दिशा प्रदान करता है। कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के ठीक मध्य में स्थित नगरों, जैसे नागपुर, अहमदाबाद और शोलापुर, में इस वर्ष बड़ी तेजी से मिलों की स्थापना

---

१. भारतीय उद्योगों के हाल के वर्गीकरण में संगठित उद्योगों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया गया है : लघु-प्रमाप उद्योग तथा वृहद्-प्रमाप उद्योग। उदाहरण के लिए बम्बई की औद्योगिक एवं आर्थिक सर्वेक्षण समिति का कहना है कि "लघु-प्रमाप उद्योगों से हमारा तात्पर्य उन उद्योगों से है जहाँ शक्ति का प्रयोग होता है, परन्तु काम करने वालों की संख्या ५० से अधिक नहीं होती और न विनियोजित पूँजी ही ३०,००० रुपये से अधिक होती है। मोटर की मरम्मत, तेल, हौज़री, घड़ी-निर्माण, साबुन-निर्माण, चावल और आटे की चक्कियाँ इसका उदाहरण हैं। वृहद्-प्रमाप उद्योग वे हैं जहाँ शक्ति का प्रयोग होता है परन्तु काम करने वालों की संख्या ५० से अधिक होती है तथा विनियोजित पूँजी भी ३०,००० रुपये से अधिक होती है। इसका उदाहरण कपड़ा, कागज़ और शक्कर की मिलें हैं (रिपोर्ट-पैरा १५-१६)। आयोजन-समिति ने भी भारतीय उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया है : (१) कुटीर-उद्योग, (२) लघु-प्रमाप (मध्यम आकार वाले) उद्योग, और (३) वृहद्-प्रमाप उद्योग।"

२. देखिए, खण्ड १, अध्याय ६।

को हाथ के करघे या घरेलू शक्तिचालित करघों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में १९५५ में प्रस्तुत की गई कार्वे कमेटी की रिपोर्ट में भी हाथ के करघों के लिए उत्पादन सुरक्षित रखने की बात कही है।

१९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ ने सूती वस्त्र उद्योग के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। योजना में ग्रामीण और लघु-प्रमाप उद्योगों की सहायता की घोषणा राजकीय नीति के रूप में की गई। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति अपनायी गई—

१. उत्पादन के क्षेत्रों का सुरक्षित करना।
२. बड़े पैमाने के उद्योग के विस्तार की क्षमता पर रोक लगाना।
३. बड़े पैमाने के उद्योग पर उप-कर लगाना।
४. कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्था करना, तथा
५. अनुसंधान, प्रशिक्षण इत्यादि का समन्वय करना।

इस नीति के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना में सूती मूल उद्योग की १९५६ के अन्त तक कपड़े की उत्पत्ति ४,७०,००,००० गज़ तथा सूत की उत्पत्ति १६,४०० लाख पौंड तक करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। उद्योग ने यह लक्ष्य सन् १९५४ में ही पूरे कर दिए। पंचवर्षीय योजनाओं में सूती उद्योग ने काफी उन्नति कर ली है। सूत का उत्पादन १९६२-६३ में १८८५ मिलियन पौंड और कपड़ा ४९२१ मिलियन गज व्यवस्थित विभाग में था, १९६५-६६ में ५२५० मिलियन गज कपड़े का उत्पादन था। १९७०-७१ के अन्त तक ६,००० मिलियन गज तक उत्पादन होने की आशा की जाती है।

सन् १९५६ में ही सूती मिल-उद्योग के सामने एक संकट आ गया। मिलों के पास बिना बिके हुए कपड़ों के स्टाक इकट्ठा होने लगे। इस संकट के प्रमुख कारण तीन थे—

१. उद्योग के ऊपर अधिक उत्पाद-कर लगा हुआ था।

सम्भवतः सरकार दूसरी योजना के अर्थ-प्रबन्धन के लिए इस प्रकार अधिक धन इकट्ठा करना चाहती थी।

२. देश के अन्दर कपड़े के उद्योग को हतोत्साहित भी किया गया। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सरकार ने जनता द्वारा बढ़े हुए उत्पाद-करों को न देने के लिए खूब प्रचार किया।

३. खाद्यान्नों तथा अन्य आवश्यक पदार्थों के मूल्य बढ़ जाने के कारण जनता की घटी हुई क्रय-शक्ति के फलस्वरूप भी सूती कपड़े का क्रय कम हो गया।

उपर्युक्त संकटों के कारण अनेक मिलें बन्द हो गईं। Textile Enquiry Committee, जिसने अपनी रिपोर्ट जुलाई १९५८ में प्रस्तुत की, के अनुसार २८ मिलें बन्द हो गई जिसका अर्थ यह हुआ कि ५,००,००० तकुए और ९,००० करघे बन्द रहे।

वाणिज्य और उद्योग के केन्द्रीय मन्त्री ने ३० नवम्बर १९५९ को लोकसभा

संरक्षणात्मक करों की मात्रा बढ़ा दी गई।

५. सूती-मिल उद्योग की कुछ कठिनाइयाँ—इधर हाल में सूती वस्त्र के निर्यात-व्यापार की कठिनाइयाँ और बढ़ गई हैं। इसका एक कारण तो यह है कि विश्व-बाजार में पहुँचने वाले कपड़े की मात्रा घटती रही है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले प्रतिवर्ष ६०,००० लाख गज कपड़ा विश्व-बाज़ार में खरीदा और बेचा जाता था। अब यह मात्रा घटकर ५०,००० लाख गज प्रतिवर्ष हो गई है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि देश में मानवीकृत रेशों का उपभोग तेज़ी से बढ़ रहा है। तीसरे अब अनेक देशों ने सूती कपड़े का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। अतएव विश्व-बाज़ार में प्रतिस्पर्धा और कठिन हो गई है। भारत को पाकिस्तान की नई मशीनों से सुसज्जित मिलों के बने कपड़े की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। इधर चीन ने इस उद्योग में इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है कि वह विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपना स्थान बनाने का हौसला रखता है। दक्षिण-पूर्वी एशियाई बाज़ारों में जापान की तुलना में चीन १०-१५ प्रतिशत कम मूल्यों पर कपड़ा बेच रहा है।[१] जापान तो अपनी प्रतिस्पर्धा-शक्ति के लिए मशहूर ही है। पुराने देशों के अतिरिक्त इन नये देशों की प्रतिस्पर्धा ने सूती कपड़े के निर्यात-व्यापार को चिन्ता का विषय बना दिया है।

निर्यात-व्यापार बढ़ाने के लिए सरकार भी चिन्तित है। सन् १९५४ में सूती वस्त्र-निर्यात प्रोत्साहन कौंसिल की स्थापना की गई। सरकार ने रियायतें तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान कीं। इनके फलस्वरूप ही १९५९ में अधिक निर्यात सम्भव हो सका। यों तो उद्योग के सामने १०,००० लाख गज़ कपड़े के निर्यात का लक्ष्य है, किन्तु अभी तक यह लक्ष्य काफी दूर है। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक उपाय किये गए हैं। पिछली जुलाई[२] (१९५८) में टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि निर्यातकों को अपनी ज़रूरत के अनुसार मशीन व रासायनिक रंजक पदार्थों को खरीदने की सुविधा दी जाए। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए ३,००० स्वचालित करघों की स्थापना की स्वीकृति की सिफारिश भी कमेटी ने की। सूती कपड़े के निर्यात के आधार पर मशीन, कपास व रासायनिक रंजक पदार्थों के आयात के लिए उत्पादकों को छूट देने के सम्बन्ध में भी सरकार ने यथासमय घोषणा की। जनवरी १९५९ में यह घोषणा की गई कि नवीकरण तथा पुनर्स्थापन के लिए अपेक्षित विशिष्ट साज-सामान के आयात की आज्ञा उन मिलों को दी जाएगी जो १९५४-५५-५६ के औसत निर्यात के ७५ प्रतिशत मूल्य से अधिक निर्यात करें या जिनका निर्यात १५०० रु० प्रति करघा प्रतिवर्ष के हिसाब से अधिक हो। इसी प्रकार की छूट सूत के निर्यात के लिए भी दी गई। फरवरी १९५९ में यह घोषणा की गई कि सूती कपड़े और सूत के निर्यातकों को निर्यात के ६६⅔ प्रतिशत मूल्य के बराबर कपास आयात करने

---

१. A Survey of the Indian Cotton Mill Industry, p. 14.
(1960) Indian Cotton Mills Federation, Bombay.

२. *The Indian Cotton Mill Industry, pp. 27-28*—R.A. Poddar.

अच्छी कपास की कमी है और भारत विदेशों से औसतन ५२ लाख करोड़ रु० की कपास का आयात करता है।

६. प्रशुल्क-मण्डल द्वारा दूसरी जाँच (१६३२)—चूँकि १६३० के अधिनियम में प्रस्तावित संरक्षण-करों की अवधि ३१ मार्च, १६३३ तक थी, अतएव प्रशुल्क-मण्डल को भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के संरक्षण के विषय में पुनः जाँच करने की आज्ञा अप्रैल, १६३२ में दी गई। वस्त्र-उद्योग पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट के ऊपर सरकार को विचार करने का मौका देने के लिए १६३० में लगाये गए संरक्षणात्मक करों को ३१ अक्तूबर, १६३३ तक बढ़ा दिया गया। अन्त में भारतीय विधानमण्डल ने २६ अप्रैल, १६३४ को १६३४ का भारतीय प्रशुल्क (वस्त्र-संरक्षण) संशोधन अधिनियम पास किया। यह अधिनियम १ मई से लागू हुआ। इसने भारत-जापान के समझौते (१६३४) तथा भारत और इंगलिस्तान के वस्त्र-उद्योग के गैर-सरकारी समझौते (जिसे 'मोदी-ली पैक्ट' कहा जाता है)[१] के आधार पर प्रशुल्क-मण्डल की वस्त्र-उद्योग को पर्याप्त संरक्षण देने की सिफारिश को कार्यान्वित किया। इस अधिनियम ने गैर-ब्रिटिश सूती वस्त्रों पर मूल्यानुसार ५०% आयात-कर निश्चित किया, जो कि सादे भूरे कपड़ों पर कम-से-कम ५$\frac{3}{4}$ आना प्रति पौंड था।[२] इस अधिनियम की अवधि ३१ मार्च, १६३६ तक थी।

७. वस्त्र-सम्बन्धी विशेष प्रशुल्क-मण्डल (१६३५)—मण्डल ने अपनी जाँच दिसम्बर, १६३५ में समाप्त की और जून, १६३६ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने के लिए दे दी गई। साथ ही भारतीय प्रशुल्क अधिनियम की धारा ४ के अन्तर्गत एक अधिसूचना द्वारा भारत सरकार ने प्रशुल्क-मण्डल के सुझावों के अनुकूल लंकाशायर के बने कपड़ों पर कर की दर में २५ जून, १६३६ से तत्काल कमी की घोषणा की। प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशें निम्नलिखित थीं[३]—

(१) सादे भूरे वस्त्रों पर मूल्यानुसार २५% या ४$\frac{3}{8}$ आना प्रति पौंड (जो भी दर ऊँची हो) से घटाकर, कर की दर मूल्यानुसार २०% या ३$\frac{1}{2}$ आना प्रति पौंड (जो भी ऊँची हो) कर दी जाए।

(२) छपे कपड़ों के अतिरिक्त किनारेदार भूरे, कलफ किये या रंगीन वस्त्रों पर कर की दर २५ प्रतिशत से घटाकर मूल्यानुसार २० प्रतिशत कर दी जाए।

(३) कपास के सूत पर कर की दर पूर्ववत् रहे। लंकाशायर में निराशा प्रकट की गई कि कर में उतनी कमी नहीं की गई जितनी होनी चाहिए थी। दूसरी तरफ प्रमुख भारतीय व्यवसायियों ने सरकार की कर घटाने की नीति की कड़ी आलोचना की, क्योंकि यह भारतीय उद्योग, जिसके स्वभाविक विकास का क्षेत्र बहुत

---

१. देखिए, अध्याय १३।

२. ८ जनवरी, १६३४ से ब्रिटेन के बाहर के आयात की वस्तुओं पर यही आयत की दर थी। भारत-जापान समझौता के फलस्वरूप कर की दर ७५ प्रतिशत से घटाकर ५० प्रतिशत कर दी गई।

३. रिपोर्ट ऑव दि स्पैशल टैरिफ़ बोर्ड ऑन दि ग्राण्ट ऑव प्रोटेक्शन टु दि इंडियन कॉटन टैक्सटाइल इंडस्ट्री (१६३६), पृ० १०६-१४।

चढ़कर पुनः ६० हो गए, पर १८ मई, १९४२ से कम होकर ये फिर ५४ घण्टे प्रति सप्ताह हो गए और १० प्रतिशत करघे भी वन्द रहने लगे। विगत युद्ध में छब्बीस मिलें सैनिक भण्डार और सामग्री के उत्पादन के लिए ले ली गईं। यद्यपि उद्योग इस भाँति अपनी उत्पादन-क्षमता के २५ प्रतिशत भाग से वञ्चित हो गया, परन्तु फिर भी यह युद्ध की माँग सहित सारी माँग की पूर्ति करने में समर्थ था।

सन् १९४७ और उसके उपरान्त विभाजन के फलस्वरूप जूट-उद्योग का (जो भारतीय गणराज्य में है) जूट-उत्पादक क्षेत्र (जो पाकिस्तान में है) से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। भारतीय गणराज्य कच्चे जूट का सबसे बड़ा उपभोक्ता है, जबकि पाकिस्तान सबसे बड़ा विक्रेता है। विभाजन ने, विशेषकर मुद्रा-अवमूल्यन (सितम्बर, १९४९) से, जूट-उद्योग को पूर्ण रूप से अव्यवस्थित कर दिया। पाकिस्तान ने भारत को जूट निर्यात करना पूर्णतः वन्द कर दिया और प्रत्युत्तर में भारत ने (दिसम्बर, १९४९) पाकिस्तान को कोयले का निर्यात वन्द कर दिया। अविभाजित भारत के जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का केवल २५१ ही भारत के भाग में आया था। भारत कच्चे जूट के विषय में आत्मनिर्भर होने के लिए तभी से प्रयत्नशील है।

१९४७-४८ की तुलना में क्षेत्रफल तीन गुना तथा उत्पादन ढाई गुना हो गया है। जूट-उद्योग की समस्याओं के सम्बन्ध में सिफारिश प्रस्तुत करने के लिए सरकार ने श्री के० आर० पी० आयंगर की अध्यक्षता में जूट-जाँच आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने मई १९५४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने कच्चे जूट के सम्बन्ध में सापेक्षिक आत्मनिर्भरता की सिफारिश की। भारत को केवल उस कोटि का जूट वाहर से मँगाना चाहिए जो यहाँ पैदा न होता हो। शेष प्रकार के जूट की पर्याप्त मात्रा देश में ही उगानी चाहिए। आयोग की अन्य प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं :

(i) आयोग ने प्रति सप्ताह काम करने के घण्टों को सीमित करने तथा मशीनों के कुछ भाग को वन्द करने से सम्बन्धित (वर्किंग टाइम एग्रीमेण्ट) कार्यावधि समझौते को समाप्त करने की सिफारिश की, क्योंकि इस समझौते के कारण अकुशल मिलों को अवसर मिलता है तथा विदेशी मिलें लाभ उठाती हैं।

(ii) कच्चे जूट के मूल्य के सम्बन्ध में आयोग का मत था कि उसे जूट के सामान के मूल्य-स्तर की तुलना में न्यायोचित सम होना चाहिए।

(iii) आयोग ने जूट उगाने वालों के दृष्टिकोण से सहकारी समितियों व नियमित वाजारों के संगठन-जैसे उपाय अधिक महत्त्वपूर्ण ठहराए।

प्रथम योजना के अन्तर्गत जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५१ लाख गाँठें तथा जूट के सामान के उत्पादन का लक्ष्य १२ लाख टन था। किन्तु ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। १९५५-५६ में कच्चे जूट का उत्पादन ४१.९७ लाख गाँठें तथा जूट के सामान का उत्पादन १०·९३ लाख टन (१९५६ के लिए) था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९६५-६६ के अन्त तक जूट के सामान के उत्पादन का १·३ लाख टन तथा कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५० लाख गाँठें हुआ। जूट-निर्मित वस्तुओं

तब से सरकार जूट की किस्म और उत्पादन की वृद्धि के लिए बराबर प्रयत्नशील है। सन् १९५६-५७ में जूट (१,८८३ हजार एकड़) तथा मेस्टा (७३८ हजार एकड़) की खेती २,६११ हजार एकड़ भूमि में हुई थी। इस वर्ष जूट का उत्पादन ४,२२१ हजार गाँठें तथा मेस्टा का उत्पादन १,४७४ हजार गाँठें था। प्रारम्भ में कच्चे माल की समस्या के समाधान के लिए जूट की खेती पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गए। कच्चे जूट के मूल्य पर लगा नियन्त्रण हटा लिया गया। बेकार भूमि को खेती-योग्य बनाया गया तथा धान के कुछ क्षेत्र जूट के उत्पादन के लिए प्रयुक्त होने लगे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐसे क्षेत्रों में जूट की खेती होने लगी जो जलवायु की दृष्टि से इस योग्य नहीं हैं। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन में तो पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु किस्म निम्न कोटि की ही रही। अतएव उच्च कोटि के जूट के आयात की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। फरवरी, सन् १९५३ में भारत सरकार ने जूट की किस्म में सुधार करने के हेतु सुझाव देने के लिए एक प्रवर समिति (एक्सपर्ट कमेटी) नियुक्त की। इस समिति की लगभग सभी सिफारिशें सरकार द्वारा मान ली गई और जूट की किस्म सुधारने पर बहुत जोर दिया जाने लगा। जूट को मुलायम या नरम करने के लिए नये तालाबों के निर्माण तथा पुराने तालाबों को पुन: खोदकर तैयार करने का काम हाथ में लिया गया। बीज के कृषि-क्षेत्र स्थापित किये गए ताकि उत्पादकों को अच्छा बीज मिल सके।

१९५८-५९ में कच्चे जूट के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। इस वर्ष जूट का उत्पादन ५१·८ लाख गाँठें तथा मेस्टा का उत्पादन १५·८ लाख गाँठें था। इस वर्ष ५७-५८ की तुलना में कृषि का क्षेत्रफल १७·४ लाख एकड़ से बढ़कर १८·३ लाख एकड़ हो गया। प्रति-एकड़ उपज भी १९५७-५८ की २·३३ गाँठों से बढ़कर २·८९ गाँठें हो गई, किन्तु पाकिस्तान की प्रति एकड़ ३·९३ गाँठों की उपज की तुलना में यह अब भी बहुत कम है। तत्पश्चात् मूल्यों के घटने के कारण १९५९-६० में कृषि के क्षेत्र में कमी आ गई।[1] कच्चे माल की समस्या के हल के लिए सामान्यत: कृषि का विस्तार किया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि गहन खेती, अच्छे बीज और औजारों की व्यवस्था तथा साख-सम्बन्धी सुविधाओं द्वारा अच्छे जूट के उत्पादन की मात्रा और प्रति-एकड़ उपज में वृद्धि की जाए। कच्चे माल की समस्या हल करने के लिए इन सभी बातों के सम्बन्ध में सुझाव दिये गए हैं, परन्तु कृषि-विस्तार की अपेक्षा इन पर कम ध्यान के कारण ही इस समस्या का समाधान नहीं हो सका है। केन्द्र और प्रान्तों के भिन्न मत होने के कारण भी कुछ कठिनाई उठती है।

पुन: इस समस्या को हल करते समय हमें जूट की किस्म के सुधार पर बराबर ध्यान देना चाहिए। यों तो १९५८-५९ में उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से भारत आत्मनिर्भरता प्राप्त कर चुका है, क्योंकि उस वर्ष अपेक्षित माँग ६५ लाख गाँठें (जूट और मेस्टा) थी और उत्पादन लगभग ६७·६ लाख गाँठें (जूट और मेस्टा) था; किन्तु

---

१. देखिए, कामर्स एनुअल, नवम्बर-दिसम्बर १९५९, पृ० २०९।

कताई के तकुए लग चुके थे। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने २२ कम्पनियों (मिलों) को ४·५५ करोड़ रु० का ऋण मंजूर किया। इनमें से १६ कम्पनियों को ऋण मिल भी चुका है। युक्तीकरण के परिणामस्वरूप कुछ मिलें बन्द भी हो गईं, किन्तु सन्तोष की बात यह है कि इससे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि श्रमिकों को उन मिलों में काम मिल गया जो बन्द हुई मिलों के उत्पादन के लिए उत्तरदायी थीं।

१४. लोहा और इस्पात-उद्योग—इंगलैण्ड की नवीन औद्योगिक व्यवस्था की ठोस नींव लोहा और इस्पात उद्योग तथा सहायक यांत्रिक उद्योगों के सुदृढ़ आधार पर पड़ी थी, किन्तु भारतवर्ष में क्रान्ति का पथ ऐसे विकास से नहीं निश्चित हुआ है। हाल तक भारतीय उद्योग पूर्णरूपेण आयात किये गए यन्त्रों, यान्त्रिक वस्तुओं और धात्विक वस्तुओं पर साधारणतया निर्भर रहे हैं।

सिंहभूमि और मानभूमि जिलों की लोहे की खानों के नये स्रोतों के प्रयोग के साथ १६१० में बंगाल कम्पनी के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। टाटा कम्पनी की स्थापना उद्योग के इतिहास में दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण था। स्वर्गीय जे० एन० टाटा द्वारा १६०७ में कम्पनी सिंहभूमि जिले में सकची नामक स्थान पर स्थापित हुई और कारखाने का निर्माण १६०८ से आरम्भ हुआ। दिसम्बर, १६११ में पहली बार अशुद्ध लोहा तैयार किया गया और वर्तमान काल में भारतवर्ष में इस्पात का उत्पादन पहली बार १६१३ में हुआ। १६१६ तक युद्ध की माँगों से उत्तेजना पाकर समस्त यन्त्र पूर्ण उत्पादन कर रहे थे। इस भाँति कुछ चिन्तापूर्ण समय के बाद कारखाने सुदृढ़ आधार पर स्थित हो गए तथा इन्होंने फिलस्तीन, पूर्वी अफ्रीका और सैलोनिका में सैनिक रेलों के लिए बृहद् मात्रा में रेल की पटरी और स्लीपरों की पूर्ति करने में बहुमूल्य सहायता प्रदान की। १६१७ में विस्तार की एक बड़ी योजना सामने रखी गई जो १६२४ में पूरी हो गई। कारखानों में स्थित पहली मशीनें इस्पात का तैयार माल, जैसे रेल की पटरी, निर्माण-सम्बन्धी भारी वस्तुएँ, छड़ें, निर्माण-सम्बन्धी हल्की वस्तुएँ, हल्की रेल की पटरियाँ और फिशप्लेटें आदि बनाती थीं। १६२६ से कारखानों में स्थित नये यन्त्रों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली अन्य वस्तुएँ प्लेटें, चद्दर (काली और धातु चढ़ी हुई), चद्दरों की छड़ें और चद्दरों की स्लीपर आदि थीं।[1] टाटा के साहस की सफलता ने कुछ नवीन कम्पनियों को जन्म दिया, जैसे कलकत्ता में मेसर्स बर्न एण्ड कम्पनी, १६०८ में आसनसोल के पास हीरापुर में स्थापित इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, १६२३ में भद्रावती में प्रारम्भ किये गए मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स इत्यादि।

१५. लोहा और इस्पात का आयात—अपने बढ़ते उत्पादन के बावजूद भी भारत बाहरी लोहे और इस्पात पर बड़ी मात्रा में निर्भर रहा। १६१४ के पहले भारत के लोहे और इस्पात का औसत आयात ८,०८,००० टन था और इसका मूल्य १२·४८ करोड़ रुपये था। १६१४-१८ के युद्ध-काल में औसत आयात घटकर ४,२२,००० टन

१. प्रशुल्क-मण्डल की इस्पात-उद्योग पर रिपोर्ट (१६२४), पैरा १४-१५।

वस्तुओं पर एक आधारभूत कर और ब्रिटेन से बाहर बनी वस्तुओं पर एक अतिरिक्त कर भी लगाया गया।

१८. लोहे और इस्पात के उद्योग के विषय में संरक्षण के अन्य कदम—भारतीय प्रशुल्क (ओटावा व्यापार समझौता) संशोधन अधिनियम, १९३२ ने, जो १ जनवरी, १९३३ से लागू हुआ, जुलाई और अगस्त, १९३२ में ओटावा में भारत सरकार और इंगलिस्तान की सरकार के बीच हुए समझौते तथा सितम्बर में लोहे और इस्पात के पूरक समझौते के फलस्वरूप हुए प्रशुल्क-सम्बन्धी परिवर्तनों को कार्यान्वित किया। लोहे और इस्पात की वस्तुओं की श्रेणी में केवल उन्हीं वस्तुओं को प्राथमिकता दी गई जो संरक्षण करों से मुक्त थीं। १९२७ के अधिनियम द्वारा लगाये गए संरक्षण करों की कार्यावधि बढ़ाकर ३१ अक्तूबर, १९३४ कर दी गई। इसी बीच इस्पात-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम, १९२७ के अनुसार प्रशुल्क-मण्डल ने संरक्षण के नवीकरण के प्रश्न की पूर्ण समीक्षा की। लोहा और इस्पात-कर अधिनियम, १९३४ ने प्रशुल्क-मण्डल द्वारा सुझाये गए संरक्षण के उपायों को १ नवम्बर से लागू किया। मण्डल की सिफारिशों के अनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के विषय में संरक्षण-कर के स्तर में कमी और उसके फलस्वरूप प्राप्त आय में कमी होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि आय के लिए ब्रिटिश भारत में इस्पात के पिण्डों के उत्पादन पर ४ रु० प्रति टन का उत्पादन-कर और इस्पात के पिण्डों पर समप्रभावोत्पादक कर लगा दिया जाए। यह समप्रभावोत्पादक कर मण्डल द्वारा सुझाये गए संरक्षण-करों के अलावा है और जिन वस्तुओं को संरक्षण नहीं दिया गया उन पर मूल्यानुसार लगाये हुए आगम करों का विकल्प है। जैसा कि प्रशुल्क-मण्डल का सुझाव था, पूरक समझौता १९३४ में समाप्त कर दिया गया।[1]

सब बातों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि १९२४ के बाद भारत सरकार की नीति लोहा और इस्पात-उद्योग के विषय में सहायक रही। राज्य के सामयिक हस्तक्षेप के बिना उद्योग युद्धोत्तर-काल की प्रतिस्पर्धा के धक्के को सहन नहीं कर सकता था, फिर भी १९२४ और १९२७ के बीच प्राप्त संरक्षण पर्याप्त नहीं था और टाटा स्टील कम्पनी किसी भाँति अपना काम चलाती थी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उद्योग ने प्रशंसनीय उन्नति की, जैसा उत्पादन की वृद्धि, श्रम की कुशलता में सुधार, विदेशी कर्मचारियों की संख्या में कमी, कार्यशाला की लागत में विचारणीय कमी और श्रमिकों की दशा में भी विचारणीय सुधार, विशेपकर मज़दूरी, आवास तथा जीवन की अन्य विभिन्न सुविधाओं के सम्बन्ध में उन्नति से स्पष्ट है।[2]

उद्योग के स्थायी प्रसार की झाँकी उत्पादन और आयात के आँकड़ों से मिल सकती है। शताब्दी के आरम्भ में अशुद्ध लोहे का उत्पादन ३५,००० टन से बढ़कर

---

१. बी० एन० अदारकर, 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन टैरिफ', पृ० २२।

२. Engineering News of India, Sept., '60, p. 301.

तैयार स्टील की माँग २८ लाख टन हो जाएगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में तीन प्रमुख उत्पादकों के तैयार स्टील का उत्पादन १०·७ लाख टन (१९५१) से बढ़कर १२·६ लाख टन (१९५५) हो गया। योजनावधि में स्टील की खपत में वृद्धि हुई और आयात १,७८,००० टन (१९५१) से बढ़कर ६,००,००० टन (१९५५) हो गया।

सन् १९५४ में श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने स्टील की भावी माँग का अनुमान लगाने के लिए एक नये सर्वेक्षण का सूत्रपात किया। इस सर्वेक्षण के अनुसार १९६१ तक तैयार स्टील की माँग ४५ लाख टन अथवा ६० लाख टन पिण्ड होगी। अतएव मार्च १९५५ में स्टील के कारखाने की स्थापना में रूसी सहायता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। अगले महीने तीसरे कारखाने की स्थापना के लिए सरकार ने ब्रिटिश मिशन को आमन्त्रित किया। तीसरे कारखाने की स्थापना के लिए दुर्गापुर चुना गया। जुलाई १९५५ में एक पूरक समझौते द्वारा रूरकेला के कारखाने को प्रारम्भ से ही दस लाख टन की क्षमता वाला कारखाना बनाना निश्चित किया गया।

१९५९ से सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ७,७०,००० टन पिग आइरन (भट्टी से निकला लोहा) तथा १,५०,००० टन स्टील (अर्द्धनिर्मित) का उत्पादन किया। १९५८ की तुलना में निजी क्षेत्र के दो कारखानों के उत्पादन में ४,५०,००० टन स्टील और ५,००,००० टन पिग आइरन (भट्टी से निकले लोहे) की वृद्धि हुई।

लोहे और इस्पात के तीन प्रमुख उत्पादकों (टाटा आइरन एण्ड स्टील कं०, इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कं०, जिसमें स्टील कारपोरेशन ऑफ़ बंगाल विलयित है तथा मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स) की प्रसार-योजनाओं के बाद भी इस्पात के उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि सम्भव नहीं है। यदि सब-कुछ ठीक रहे तो १९६३ तक ४५ लाख टन तैयार स्टील के उत्पादन का लक्ष्य पूरा हो सकता है।'[1]

लोहा तथा इस्पात बिजली की तरह औद्योगिक उन्नति के लिए एक बहुत आवश्यक चीज़ है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में इसको बहुत महत्त्व का स्थान दिया गया है। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्त तक तैयार इस्पात का उत्पादन १३ लाख टन था जो अधिकतर निजी क्षेत्र के कारखानों में हुआ। दूसरी पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानों को बड़ा करने के अतिरिक्त तीन नये इस्पात के कारखाने खोले गए (दस लाख टन क्षमता वाले)। तीसरी पंचवर्षीय योजना में तैयार इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य ६८ लाख टन रखा गया। १९६५-६६ में इस्पात का उत्पादन ५५ लाख टन तक रहा। चौथी पंचवर्षीय योजना में इस्पात (अर्द्धनिर्मित) १·६५ करोड़ टन का लक्ष्य रखा गया है जो कि तीन सरकारी कारखानों के उत्पादन को बढ़ाने तथा एक चौथे कारखाने को बोकेरो (Bokaro) में खोलने पर। चौथी पंचवर्षीय योजना में एक पाँचवें सरकारी स्टील कारखाने के खोलने का भी

---

१. २१ जून १९६० को डिफेन्स स्टाफ कालिज, वेलिंगडन के समक्ष श्री जहांगीर घेंजी के भाषण से।

लड़ने वाले औज़ार इत्यादि।

यान्त्रिक औज़ार—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने देश के यान्त्रिक औज़ारों के कारखानों को प्रोत्साहन दिया है, कई प्रकार की मशीनों तथा यन्त्रों के कारखाने सरकारी क्षेत्र में खोले गए हैं और देश में दो-सौ करोड़ रुपये (२०० करोड़) का वार्षिक उत्पादन है। एक सेन्ट्रल मशीन टूल इन्स्टीट्यूट (Central Machine Tool Institute) बंगलौर में डीसाईन, ट्रेनिंग, अनुसंधान-कार्यों के लिए खोली गई है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान मशीन टूल और हैवी इलैक्ट्रिकल इण्डिया लिमिटेड (Heavy Electrical India Ltd.) के खुल जाने के कारण इस प्रकार की चीज़ों का उत्पादन बढ़ जायेगा। उदाहरणतया १९६०-६१ में ७ करोड़ रुपये के मुकाबले में १९६५-६६ में ३० करोड़ रुपये का उत्पादन हुआ और चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारी बिजली के साज-सामान का उत्पादन १९६५-६६ के २० करोड़ के अन्तर में ३८ करोड़ रुपया वार्षिक हो जाएगा।

२२. **सहायक उद्योग**—जमशेदपुर (पहले के सकची) के पड़ोस में स्थापित गौण उद्योगों के विकास पर भी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। प्रसार-योजना के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं में कुछ निम्नलिखित हैं—स्टील ट्यूब, टिन प्लेट, कलई का सामान, तार, कील, रेल के डिब्बे, ढले हुए लोहे के स्लीपर, चाय और जूट मिल के यन्त्र, कृषि के औजार, धातु चढ़ी हुई वस्तुएँ, लोहे और इस्पात की ढली वस्तुएँ, भारी रसायन, गन्धकीय अम्ल, क्षारीय अम्ल, रासायनिक खादें, चूना, अमोनियम सलफ़ेट इत्यादि।

सरकारी क्षेत्र में स्थापित इन कारखानों के लागत-सम्बन्धी अनुमानों की काफी आलोचना हुई है। सच तो यह है कि १९५५ के अन्त में संविदाओं को जल्दी में तैयार किया गया और इसलिए पार्लियामेंण्ट में पेश होने से पहले लागत-सम्बन्धी अनुमानों पर विस्तार से विचार नहीं हो सका। दूसरे, इन योजनाओं-सम्बन्धी विस्तृत रिपोर्ट प्राप्त होने पर अनेक भूलों तथा अपेक्षित समायोजनों की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इस कारण भी अधिक व्यय हुआ। तीसरे, द्वितीय योजना प्रारम्भ होने के समय इस आकार की योजनाओं के कुशल संचालन के लिए आवश्यक और उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध ही नहीं थे। अन्त में, जिस गति से द्वितीय योजना के इन कार्यक्रमों को चालू किया गया, उससे विदेशी परामर्श और ठेकों की निर्भरता अत्यधिक बढ़ गई। तृतीय पंचवर्षीय योजना में हर प्रकार से भारतीय प्रसाधनों के प्रयोग पर ही ज़ोर दिया जाएगा।

२३. **उद्योग की समस्याएँ**—उद्योग की एक समस्या कच्चे माल के सम्बन्ध में है। यद्यपि हमारे यहाँ कच्चे लोहे के निक्षेप बहुत हैं (लगभग २,१०,००० लाख टन प्रथम श्रेणी का लोहा), किन्तु कोकिंग कोयला के निक्षेप का अनुमान लगभग २०,००० लाख टन ही है। यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए कि एक टन स्टील बनाने में १.५ टन कोकिंग कोयला की आवश्यकता होती है तो दीर्घकाल को ध्यान में रखते हुए भविष्य अवश्य ही अन्धकारपूर्ण है। अल्पकाल में भी इस्पात उद्योग तथा अन्य

पीरभाई ने बम्बई में स्योन नामक स्थान पर वेस्टर्न इण्डिया आर्मी एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री स्थापित की। कुछ और फैक्ट्रियाँ विभिन्न केन्द्रों पर खोली गईं जहाँ तैयार माल के उत्पादन का प्रयास किया गया। यद्यपि यूरोप की सिझावशालाओं (टैनरीज़) और चमड़े का काम करने वाली फैक्ट्रियों में यन्त्रों का पर्याप्त उपयोग होता है परन्तु भारतीय सिझावशालाओं में यह अभी हाल तक उपयोग में नहीं लाया गया। १९१४ के पहले सिझाये हुए चर्म और खालों का निर्यात-व्यापार मुख्यत: दक्षिणी भारत में सीमित था, जहाँ दालचीनी के प्रकार के वृक्ष (कैसिया आरिकुलाटा) की छाल, जो मद्रास में अवेरम और बम्बई में तरवार नाम से ज्ञात है, मिलती है। मद्रास में सिझावशालाओं की संख्या सबसे अधिक है।[1]

१९१७-१८ में ४·८६ करोड़ रुपये के मूल्य की ३,६१,६७४ हण्ड्रेडवेट सिझाई हुई खालों का निर्यात हुआ, जबकि १९१३ में १·७५ करोड़ रुपयों की १,९४,७६३ हण्ड्रेडवेट खालें ही बाहर भेजी गई थीं। ईस्ट इण्डिया किप्स के निर्यात-व्यापार के अतिरिक्त, युद्ध-काल में भारतीय सिझावशालाओं ने चमड़े के सभी तरह के सैनिक सामान तथा बूटों के उत्पादन में वृद्धि की। इस भाँति शस्त्रास्त्र-परिषद् के निर्देशानुसार सरकार ने सिझाव-उद्योग को बहुत प्रोत्साहन दिया। निर्मित बूटों और जूतों का वार्षिक उत्पादन युद्ध-समाप्ति पर युद्ध के पहले के वर्षों से बीस गुना अधिक था।

१९१४ के बाद बहुत तीव्र प्रगति हुई और भारतीय क्रोम चमड़े की खालों को ग्रेट ब्रिटेन में लाभदायक बाजार प्राप्त हुआ। भारत में क्रोम सिझाव उद्योग के विकास के सम्बन्ध में बहुत-सी कठिनाइयों का अनुभव हुआ है, जैसे रासायनिक ज्ञान और महँगी यान्त्रिक सामग्रियों की अपेक्षा रखने वाली उच्च प्राविधिक विधाएँ। भारतीय गायों की खाल और बकरियों के चर्म की एक पर्याप्त मात्रा इस श्रेणी के कार्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है और उद्योग के आशाजनक विकास का अनुमान किया जाता है। भारतीय सिझाव उद्योग की एक औद्योगिक जाँच १९३९ में औद्योगिक अनुसंधान ब्यूरो (इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो) ने की। इसका उद्देश्य सिझाव की प्रविधि के स्तर में सुधार करना और इस भाँति अच्छी किस्म के तैयार चमड़े के निर्यात-व्यापार को विकसित करना था।

२५. सिझाव उद्योग को संरक्षण—१९१९ में १८९४ के भारतीय प्रशुल्क-अधिनियम का संशोधन हुआ और खाल तथा चर्म पर १५ प्रतिशत का निर्यात-कर लगाया गया। जो खालें और चर्म साम्राज्य के अन्य भागों को भेजी जाती थीं और वहीं सिझाई जाती थीं, उन पर १० प्रतिशत की छूट दी गई। कर संरक्षणार्थ लगाया गया था, परन्तु भारतीय प्रयोगशालाएँ देश की कुल पूर्ति का अल्पांश ही प्रयोग कर सकती थीं। अतएव छूट का समर्थन इस आधार पर किया गया कि वह भारतीय खालों के सिझाव को जर्मनी से हटाकर ब्रिटिश साम्राज्य की ओर ले जाएगा और इस प्रकार साम्राज्य के सिझाव के लिए सहायक सिद्ध होगा। किन्तु यह प्रयोग किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति

१. माथेसन, पूर्व उद्धृत, भाग २, अध्याय ५, पृष्ठ ६४-५।

प्रमाप रासायनिक उद्योग की स्थापना के उद्देश्य से सरकार ने रेलवे किराये में कमी होने की स्वीकृति प्रदान की ।[1] काफी विलम्ब के बाद भारी रसायन-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम १६३१ ने प्रशुल्क-मण्डल की कुछ सिफारिशों को कार्यान्वित किया । कर-मुक्त वस्तुओं की सूची से मैगनेशियम क्लोराइड को हटाकर इस पर तथा कुछ अन्य भारी रसायनों पर विभिन्न दर से संरक्षण-कर लगा दिये गए । केवल मैगनेशियम क्लोराइड, जिसका संरक्षण मार्च, १६३६ तक था, तथा आवश्यकता पड़ने पर इस पर कर वढ़ भी सकता था, के अलावा अन्य वस्तुओं पर लगाये गए कर ३१ मार्च, १६३३ तक के लिए थे । अधिनियम द्वारा लगाये गए अन्य कर ३१ मार्च, १६३३ को समाप्त हो गए ।

सन् १६५५ में भारी रसायन उद्योग की विकास-परिषद् (Development Council) की स्थापना की गई । सन् १६५७ में इसे पुनर्गठित किया गया और इसका नाम क्षारीय तथा सम्बन्धित उद्योगों की विकास-परिषद् रख दिया गया । परिषद् का एक महत्त्वपूर्ण कार्य क्षमता के मानदण्ड (Norms of Efficiency) प्रस्तावित करना है । इस निमित्त एक उपसमिति की स्थापना की गई । इस समिति ने परिषद् के समक्ष क्षमता-सम्बन्धी विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये । विद्युदंशिक (electrolytic), कास्टिक, सोडा एश उद्योग के क्षमता-सम्बन्धी मानदण्डों को इस समिति ने पुनर्वीक्षित किया, विशेषत: नमक तथा शक्ति और वाष्प की खपत के दृष्टिकोण से ।

योजनाओं के लक्ष्यों के अनुसार उत्पादन ठीक रूप से होता रहा । १६६५-६६ में लक्ष्य और उत्पादन में कुछ अन्तर रहा ।

भारत सरकार ने दिल्ली तथा अलवाई (Keral) में २ D.D.T. के कारखाने खोले हैं, जिनके उत्पादन को वढ़ाने के लिए १.१० करोड़ रुपया और खर्चा जाएगा । इसके अतिरिक्त पीपरी (पूना) में पेन्सिलीन तथा स्ट्रैपटोमाईसीन इत्यादि बनाने के कारखाने खोले हैं ।

देश में रसायनों के उत्पादन की वृद्धि के परिणामस्वरूप आशा की जाती है कि निम्न रसायनों का आयात १६६० तक वन्द हो जाएगा : (१) पोटेशियम क्लोरेट, (२) हाइड्रोजन पौरॉक्साइड, (३) कास्टिक सोडा, (४) कैलशियम कार्बाइड और प्रेसिपिटेटिड कैलशियम कार्वोनेट ।

२६. तेल पेरने का उद्योग—वाष्प या अन्य यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाली मिलों की संख्या में, खासकर सरसों, अरण्डी और मूंगफली के तेल के विषय में, गत वर्षों में काफी वृद्धि हुई है । तेल और खली के स्वत: निर्माण के स्थान पर तिलहन का निर्यात अनुचित और अनार्थिक है, क्योंकि इससे वह निर्माताओं के लाभ, पशुओं के भोजन तथा अच्छी खाद से वञ्चित रह जाता है । इसके अतिरिक्त वनस्पति तेलों के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं और सभ्य समाज के आर्थिक जीवन में उनका वड़ा महत्त्वपूर्ण

---

१. रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ़ वोर्ड ऑन हैवी कैमिकल इण्डस्ट्री (१६२६), पैरा ७४ ।

२१,००० एकड़ भूमि में wattle के रोपण के लिए कदम उठाए हैं। अनुमान किया जाता है कि १९६०-६१ तक सिझाये हुए चमड़े की माँग २३० लाख तथा सिझाव हुई खाल की माँग २६० लाख होगी।

२६. रासायनिक उद्योग—एक आधुनिक राज्य में रासायनिक उद्योगों का ऐसे प्रमाप पर विकास करने के लिए कि वे राज्य के आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाएँ—जैसा कि इंगलैंड, जर्मनी और अमरीका में है—यह आवश्यक है कि कुछ आवश्यकीय पदार्थ बहुत सस्ती दरों पर उपलब्ध हों। ये आवश्यक पदार्थ क्रमानुसार भारी रसायन, विशेषकर गन्धकीय (सल्फ्यूरिक) और उद्नीरिक (हाइड्रोक्लोरिक) अम्ल, चूना, कास्टिक सोडा, सोडियम कार्बोनेट, क्षारीय (नाइट्रिक) अम्ल इत्यादि हैं। देशी साधनों से उत्पन्न अन्य रसायनों के निर्माण में इनका उपयोग होता है। विभिन्न प्राकृतिक उत्पादनों या ऐसे उत्पादनों से बने पदार्थों के परिशोधन में भी इनका उपयोग होता है। अतएव स्थिर और खनिज तेलों के शोधन में गंधकीय (सल्फ्यूरिक) अम्ल और क्षारों की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है। अन्य दो आवश्यक पदार्थ (१) गरम करने, धात्विक क्रियाओं और शक्ति के लिए ईंधन तथा (२) रासायनिक स्थिर यन्त्र हैं।[१]

इम्पीरियल कैमिकल इण्डस्ट्रीज़ तथा टाटा एन्ड सन्स के प्रबन्ध के अन्तर्गत सोडा ऐश, कास्टिक सोडा और बाद में इसी प्रकार के अन्य रसायनों के उत्पादन के लिए दो कम्पनियों की स्थापना एक नवीन आकर्षक विकास है।[२] १९४८-४९ में सरकार द्वारा भारी मात्रा में सोडा ऐश और कास्टिक सोडा के आयात की अनुमति के कारण गृह-उद्योग को गहरा धक्का लगा।

यदि विभिन्न खनिज पदार्थों को केवल उचित रूप से प्रयोग में लाया जाए तो भारत में भारी रसायन के लिए कच्चे माल की कमी नहीं है। शुल्वेय (सल्फाइड) की खान, शोरा (यव क्षार—साल्ट पीटर), फिटकरी, चूने का पत्थर, मैगनेसियम इत्यादि के रूप में उसकी सम्पत्ति का पहले ही संकेत किया जा चुका है। गंधकीय अम्ल के निर्माण में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो चुकी है जो सभी रासायनिक उद्योगों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदार्थ है, यहाँ तक कि इसके उत्पादन को किसी देश की सम्पत्ति आँकने की कसौटी कहा जाता है। १९३९-४५ के युद्ध के पहले उद्योग को शक्तिमान यूरोपीय सिंडीकेटों के साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे।[३]

रसायन उद्योग के अन्य आवश्यक पदार्थ ईंधन और यन्त्र हैं। ईंधन-सम्बन्धी परिस्थिति की समीक्षा पहले ही की जा चुकी है और यह दिखाया जा चुका है कि भारत की कोयले की खानें किसी भाँति असमान रूप से वितरित हैं। विद्युत्-चालित

---

१. इण्डस्ट्रियल हैण्डबुक, पृ० ५८।
२. रिव्यू ऑव दि ट्रेड ऑव इण्डिया, १९३८-३९, पृ० १०५।
३. देखिए, रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ बोर्ड ऑन दि हैवी कैमिकल इण्डस्ट्री (१९२९), पैरा ७२।

प्रमाप रासायनिक उद्योग की स्थापना के उद्देश्य से सरकार ने रेलवे किराये में कमी होने की स्वीकृति प्रदान की।[1] काफी विलम्ब के बाद भारी रसायन-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम १९३१ ने प्रशुल्क-मण्डल की कुछ सिफारिशों को कार्यान्वित किया। कर-मुक्त वस्तुओं की सूची से मैगनेशियम क्लोराइड को हटाकर इस पर तथा कुछ अन्य भारी रसायनों पर विभिन्न दर से संरक्षण-कर लगा दिये गए। केवल मैगनेशियम क्लोराइड, जिसका संरक्षण मार्च, १९३९ तक था, तथा आवश्यकता पड़ने पर इस पर कर बढ़ भी सकता था, के अलावा अन्य वस्तुओं पर लगाये गए कर ३१ मार्च, १९३३ तक के लिए थे। अधिनियम द्वारा लगाये गए अन्य कर ३१ मार्च, १९३३ को समाप्त हो गए।

सन् १९५५ में भारी रसायन उद्योग की विकास-परिषद् (Development Council) की स्थापना की गई। सन् १९५७ में इसे पुनर्गठित किया गया और इसका नाम क्षारीय तथा सम्बन्धित उद्योगों की विकास-परिषद् रख दिया गया। परिषद् का एक महत्त्वपूर्ण कार्य क्षमता के मानदण्ड (Norms of Efficiency) प्रस्तावित करना है। इस निमित्त एक उपसमिति की स्थापना की गई। इस समिति ने परिषद् के समक्ष क्षमता-सम्बन्धी विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये। विद्युदंशिक (electrolytic), कास्टिक, सोडा एश उद्योग के क्षमता-सम्बन्धी मानदण्डों को इस समिति ने पुनर्वीक्षित किया, विशेषत: नमक तथा शक्ति और वाष्प की खपत के दृष्टिकोण से।

योजनाओं के लक्ष्यों के अनुसार उत्पादन ठीक रूप से होता रहा। १९६५-६६ में लक्ष्य और उत्पादन में कुछ अन्तर रहा।

भारत सरकार ने दिल्ली तथा अलवाई (Keral) में २ D.D.T. के कारखाने खोले हैं, जिनके उत्पादन को बढ़ाने के लिए १.१० करोड़ रुपया और खर्चा जाएगा। इसके अतिरिक्त पीपरी (पूना) में पेन्सिलीन तथा स्ट्रैपटोमाईसीन इत्यादि बनाने के कारखाने खोले हैं।

देश में रसायनों के उत्पादन की वृद्धि के परिणामस्वरूप आशा की जाती है कि निम्न रसायनों का आयात १९६० तक बन्द हो जाएगा : (१) पोटेशियम क्लोरेट, (२) हाइड्रोजन पौरॉक्साइड, (३) कास्टिक सोडा, (४) कैलशियम कार्बाइड और प्रेसिपिटेटिड कैलशियम कार्बोनेट।

२९. तेल पेरने का उद्योग—वाष्प या अन्य यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाली मिलों की संख्या में, खासकर सरसों, अरण्डी और मूंगफली के तेल के विषय में, गत वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। तेल और खली के स्वत: निर्माण के स्थान पर तिलहन का निर्यात अनुचित और अनार्थिक है, क्योंकि इससे वह निर्माताओं के लाभ, पशुओं के भोजन तथा अच्छी खाद से वञ्चित रह जाता है। इसके अतिरिक्त वनस्पति तेलों के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं और सभ्य समाज के आर्थिक जीवन में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण

---

१. रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ़ बोर्ड ऑन हैवी कैमिकल इण्डस्ट्री (१९२९), पैरा ७४।

बाद—अस्थायी रूप ही से सही—यह प्रतिस्पर्धा अधिकांशतः समाप्त हो गई।

३१. कागज उद्योग को संरक्षण—१६२५ में बाँसी कागज-उद्योग (बैम्बू पेपर इण्डस्ट्री) (संरक्षण) अधिनियम पास किया गया जिसमें उद्योग को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के हेतु ३१ मार्च, १६३२ तक सात वर्ष के लिए एक आना प्रति पौण्ड का संरक्षण-कर लगाने की व्यवस्था थी। प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप बाँसी कागज-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम (१६३२) ने ३१ मार्च, १६३६ तक के लिए संरक्षण-कर का पुनः नवीकरण कर दिया। बाँस की लुगदी के उत्पादन और उपयोग को निश्चित रूप से प्रोत्साहन देने के लिए इसी अधिनियम ने आयात की हुई लुगदी पर ४५ रु० प्रति टन के हिसाब से एक नया संरक्षण-कर लगा दिया। ३१ मार्च, १६३६ के बाद भी कागज़-उद्योग को संरक्षण देने का प्रश्न १६३७-३८ में प्रशुल्क-मण्डल की जाँच का विषय था। भारत सरकार ने मण्डल द्वारा प्रस्तावित दर से नीची दर पर उद्योग के लिए संरक्षण जारी रखने का निश्चय किया[1] और अपने निर्णय को भारतीय प्रशुल्क (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, १६३६ पास करके कार्यान्वित किया। संरक्षण तीन वर्ष के लिए दिया गया, किन्तु बाद में इसकी अवधि मार्च, १६४७ के लिए बढ़ा दी गई तथा इसी वर्ष संरक्षण-कर समाप्त कर दिया गया।[2] कागज़ की लुगदी पर ३० रु० प्रति टन या मूल्यानुसार २५ प्रतिशत का कर (जो भी अधिक हो) लगाया गया। कागज़ पर संरक्षण-कर ११ पाई प्रति पौण्ड के स्थान पर ६ पाई प्रति पौण्ड निश्चित किया गया।

१६३६ से आयात के कम हो जाने तथा जहाजरानी की कठिन परिस्थितियों के कारण बड़ी कठिनाई अनुभव की जाने लगी। देश में उत्पन्न विभिन्न प्रकार के कागज़ १६४४ के पेपर कण्ट्रोल आर्डर के अन्तर्गत (मितव्यय) कर दिये गए और उत्पादन का बड़ा प्रतिशत सरकारी उपभोग के लिए निश्चित कर दिया जाने लगा। इससे नागरिक उपभोग के लिए कागज़ की कमी, विशेषकर विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षण-संस्थाओं के लिए, गम्भीर कठिनाई बन गई। देश में कागज़ के उपभोग के सम्बन्ध में पेपर पैनल (१६४७) का अनुमान (१६५१ के लिए) २,२०,००० टन था। १६५६ में उपभोग की मात्रा ३,२०,००० टन अनुमानित की गई है। इस अनुमान में न्यूज़प्रिण्ट शामिल नहीं है। योजना-आयोग के अनुसार १६५५-५६ तक उपभोग की मात्रा २,००,००० टन हो जाएगी। न्यूज़प्रिण्ट के सम्बन्ध में उपभोग का अनुमान १६५५-५६ के लिए १,००,००० टन था।

सन् १६५६ में लुगदी और कागज़-उद्योग की योजना बनाने तथा विभिन्न प्राविधिक पहलुओं पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक पैनल (Panel) संगठित किया गया। इस निकाय ने चार उप-समितियाँ बनाईं, जो क्रमशः (१) कागज़ मिल

१. कागज़ और कागज़ की लुगदी के उद्योगों पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट (१६३८), पैरा ७१ देखिए।

२. मार्च, १६४७ में आयात किये हुए कागज़ पर मूल्यानुसार ३० प्रतिशत कर लगता है।

उद्योग। यों तो देशी उद्योग सम्पूर्ण भारत में बिखरा हुआ है, किन्तु यह उत्तर प्रदेश के फिरोज़ाबाद और दक्षिण के बेलगाँव में विशेष रूप से केन्द्रित है। फिरोज़ाबाद में चूड़ी बनाने वालों की एक बड़ी बस्ती है और चूड़ी की लगभग ६० फैक्ट्रियाँ हैं। किन्तु जापान से आयात की हुई 'रेशमी' चूड़ियाँ देश में तैयार वस्तुओं की गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी रही हैं।

युद्धकाल (१९१४-१८) में अस्त्र-शस्त्र-मण्डल द्वारा स्वीकृत विशिष्ट प्रकार के शीशों की माँग के कारण मिले प्रोत्साहन के फलस्वरुप बहुत-सी फैक्ट्रियाँ शीशे की नलियों, फ्लास्कों, बीकरों, पेट्री तश्तरियों और टैस्ट-ट्यूबों के उत्पादन में सफल रहीं और इण्डियन मेडिकल सर्विस द्वारा नियन्त्रित वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की माँग की पूर्ति के लिए भी कुछ फैक्ट्रियाँ आरम्भ की गईं।

१९३९-४५ के युद्ध के दौरान उद्योग ने परिमाण तथा उत्पादन की विविधता दोनों ही दिशाओं में पर्याप्त उन्नति की।

३३. शीशे का आयात और उत्पादन— १९१४-१८ के युद्ध-काल में चूड़ियों और लैम्प के सामानों का आयात कम हो गया और उनका स्थान आंशिक रूप से भारतीय सामान ने ले लिया। १९२९-३० में आयात का मूल्य २५२ लाख रुपये था और ये मुख्यतया जापान, इंगलिस्तान, जर्मनी, बेल्जियम और चैकोस्लोवाकिया से आते थे। इससे प्रकट है कि भारतीय उद्योग उस समय भी अपनी शैशवावस्था में ही था। आयात का मूल्य १९२९-३० के २५२ लाख रुपये से घटकर १९३१-३२ में १२२ लाख रुपये रह गया। १९३७-३८ में वह बढ़कर १५२ लाख रुपये हो गया, किन्तु १९३८-३९ में घटकर पुनः १२५ लाख रुपये रह गया। आयात-व्यापार में जापान का स्थान अब भी सर्वप्रथम था।

उद्योग की स्थापित सामर्थ्य ३,९२,२८४ टन प्रतिवर्ष है। यह १९५८ की तुलना में ११.५ प्रतिशत अधिक है। १९५९-६० और १९६०-६१ में क्रमशः १८,४४५ टन प्रतिवर्ष तथा १५,४८० टन प्रतिवर्ष की क्षमता और बढ़ जाएगी। उद्योग के उत्पादन में अब विविधता आ रही है। नई वस्तुओं में रंगी हुई शीशे की चादरें, मोटरों और हवाईजहाजों के लिए शीशा (safety glass), शीशे की पिचकारियाँ आदि हैं।

इस समय शीशे के कारखानों (रजिस्टर्ड) की संख्या १३१ है। इन कारखानों की वार्षिक क्षमता २,८९,००० टन प्रतिवर्ष है। इस क्षमता में ३५,००० टन चूड़ी-उद्योग का उत्पादन सम्मिलित नहीं है। इन १३१ कारखानों में १२ करोड़ रु० की पूंजी लगी हुई है तथा ३०,००० श्रमिक काम करते हैं और १६-१८ करोड़ रु० के मूल्य का वार्षिक उत्पादन होता है। १९५८ में १३१ कारखानों में से ८४ कारखाने चालू थे, २५ अस्थायी रूप से तथा २२ स्थायी रूप से बन्द थे। इनके प्रधान केन्द्र, बम्बई, जबलपुर, इलाहाबाद, नैनी, बहजोई, अम्बाला, कलकत्ता थे। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद और नैनी को कच्चे पदार्थ और ईंधन की पूर्ति की सन्निकटता के कारण बम्बई-जैसे अन्य केन्द्रों की तुलना में कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

अन्य प्रधान साधन जापान, जर्मनी, इटली और बेलजियम थे। १९३८-३९ में सीमेण्ट के आयात में और कमी हुई और १० लाख रु० के मूल्य के २१,००० टन सीमेण्ट का आयात हुआ। १९४०-४१ में ६ लाख रुपये का ४२०० टन आयात हुआ। इस सम्बन्ध में देश अब लगभग आत्मनिर्भर हो गया। १९३२-३३ में भारत में ५,९३,००० टन सीमेण्ट का उत्पादन हुआ जो १९३७-३८ में लगभग दूना हो गया। भारतीय सीमेण्ट ब्रिटिश सीमेण्ट से खराब नहीं और यूरोप के सस्ते सीमेण्ट से भली भाँति स्पर्धा करता है। भारत के एसोशिएटेड सीमेण्ट कम्पनीज़ ऑव इण्डिया लिमिटेड नामक एक प्रभावशाली संयोजन का निर्माण प्रगति की दिशा में एक बड़ा कदम था। दस प्रधान कम्पनियों के इस आश्चर्यजनक संयोग ने उद्योग के प्रौद्योगिक और वाणिज्यिक संगठन में सुधार ला दिया है।[1] जहाँ एक ओर १९३९-४५ के युद्ध ने उत्पादन-लागत बढ़ा दी वहाँ दूसरी ओर निर्यात के लिए पर्याप्त माँग के द्वार भी खोल दिए। सीमेण्ट-उद्योग पर उत्पादकों के दो समूहों का प्रभुत्व है—असोशिएटेड कम्पनी और डालमिया, जिनके उत्पादन का योग कुल उत्पादन का ८५ प्रतिशत है। गत वर्षों में सीमेण्ट की माँग बहुत बढ़ गई है और उद्योग की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस समय देश में सीमेण्ट की ३२ फैक्ट्रियाँ हैं। १९५८ के अन्त में उद्योग की उत्पादन-क्षमता ७०·५ लाख टन थी तथा १९५९ के अन्त में ८३·५ लाख टन थी। १९५८ और १९५९ में सीमेण्ट का उत्पादन क्रमशः ६०·६ लाख टन और ६८·२ लाख टन था।

सन् १९५८ में ४०,६०२ टन सीमेण्ट का निर्यात किया गया तथा १९५९ में १,७६,९०२ टन सीमेण्ट का निर्यात किया गया।

प्रशुल्क-मण्डल ने देखा कि उद्योग को कच्चे माल की सुविधाएँ प्राप्त थीं, किन्तु कोयले की खानों से दूर होने के कारण ईंधन के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई थी। बाज़ार के विषय में मण्डल का कहना है कि काठियावाड़ की फैक्ट्रियों को छोड़कर भारतीय सीमेण्ट फैक्ट्रियों के लिए देश के अन्दर के बाज़ार स्वभावतः संरक्षित बाज़ार हैं, क्योंकि वे किसी भी बन्दरगाह से ३०० मील से अधिक दूरी पर स्थित हैं। अन्यत्र भारतीय सीमेण्ट को विदेशी सीमेण्ट से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। किन्तु, भारत की सीमेण्ट का प्रधान बाज़ार सुदूरवर्ती आन्तरिक भाग में न होकर बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों के समीप है, अतएव भारतीय फैक्ट्रियों को बन्दरगाहों से दूर होने के कारण यहाँ असुविधा है।[2]

१९२४ में मण्डल ने इस आधार पर संरक्षण देने से इन्कार कर दिया कि उद्योग अति-उत्पादन से ग्रस्त था और मूल्य आयात के बजाय भारतीय उत्पादकों की

---

१. तब से एक इकाई (कटनी सीमेण्ट कम्पनी) बन्द हो गई है, परन्तु दो नई कम्पनियों ने काम करना आरम्भ कर दिया है।

२. प्रशुल्क-मण्डल की (सीमेण्ट-उद्योग) १९२५ की रिपोर्ट देखिए, पैरा ८-१२।

स्थापना उद्योग का महत्त्वपूर्ण विकास है। इस विदेशी व्यापारिक संस्था का भारतीय उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण दियासलाई के भारतीय निर्माताओं ने इसका पर्याप्त विरोध किया। १६२८ में प्रशुल्क-मण्डल ने संरक्षण के सम्बन्ध में रिपोर्ट देते हुए कहा कि दियासलाई के मूल्य का नियमन आन्तरिक स्पर्धा द्वारा होता है तथा उपभोक्ता को वे यथासम्भव सस्ती मिल जाती हैं और इसलिए उद्योग बिना सहायता के ही अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा का सामना करने में समर्थ है। किन्तु उन्होंने सिफारिश की कि एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस का चालू आयात-कर अनिश्चित काल के लिए एक संरक्षण-कर में बदल दिया जाए, ताकि उद्योग को आश्वासन प्राप्त हो सके कि अब तक प्राप्त सुरक्षा से वह एकाएक ही वञ्चित नहीं कर दिया जाएगा। इनका मत था कि स्वीडिश मैच कम्पनी भारत में उद्योग के प्रसार के सम्बन्ध में उपयोगी काम करती रही है। परन्तु उन्होंने कम्पनी को रुपये की पूंजी और भारतीय संचालकों की नियुक्ति द्वारा भारत की राष्ट्रीय एवं राजनीतिक चेतना के अनुरूप पुनर्निर्माण करने की राय दी। उन्होंने कम्पनी की देख-रेख करने की आवश्यकता भी स्वीकार की ताकि वह अपने बृहद् साधनों द्वारा एकाधिकार न स्थापित कर ले।[1]

प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप विधान सभा ने दियासलाई उद्योग (संरक्षण) अधिनियम (बिल) सितम्बर, १६२८ में पास किया, जिसके अनुसार एक ग्रॉस डिबियों पर (जिनमें एक दियासलाई में १०० सलाइयाँ होती थीं) १ रु० ८ आ० का कर निर्धारित किया गया।[2]

इस समय भारत में दियासलाई के उत्पादन की इकाइयाँ २४२ के लगभग हैं। इनमें से वेस्टर्न इण्डिया मैच कम्पनी द्वारा प्रबन्धित पाँच इकाइयाँ यन्त्रीकृत हैं, २५ इकाइयाँ अंशतः यन्त्रीकृत हैं। इस समय (१६५६-६०) उद्योग (विकास और नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत (regd.) दियासलाई की ६१ फैक्ट्रियाँ हैं तथा इस वर्ष इनका उत्पादन ५० ग्रॉस डिब्बियों के ६३७ हज़ार बक्से होंगे। गत वर्ष ऐसे ६२६ हज़ार बक्सों का उत्पादन हुआ। शेष कुटीर-उद्योग की इकाइयाँ हैं। रामनद ज़िले में सतुर, सिकवासी तथा तिनेवेली ज़िले में कोविलपट्टी कुटीर-उत्पादन के प्रधान केन्द्र हैं। देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के अतिरिक्त उद्योग थोड़ा-सा निर्यात करने में भी समर्थ हो गया है।

दियासलाई-उद्योग एक कुटीर-उद्योग की तरह संगठित किया जा सकता है और इससे गाँववालों, विशेषकर महिलाओं को बड़ी सरलता से रोज़ी मिल सकती है।

---

१. मण्डल का मत था कि फैक्ट्रियों के बृहद् उत्पादन को दृष्टि में रखते हुए कुटीरोद्योग आधार पर दियासलाई का उत्पादन बिलकुल असम्भव है। प्रशुल्क-मण्डल (दियासलाई-उद्योग) की रिपोर्ट (१६२८), पैरा १३१-२ देखिए।

२. १६३४ में दियासलाइयों पर उत्पादन-कर लगाने तथा आयात-कर के परिवर्तन का विवरण १२वें अध्याय में देखिए।

नहीं, किन्तु आधुनिक उद्योगों की प्रगति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, सम्भवतः भारत की विशाल जनसंख्या को यह पूर्ण रोज़गार नहीं दे सकती। अतएव छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। बड़े उद्योगों के विपरीत, जो धन को कुछ हाथों में ही केन्द्रित करते हैं, छोटे उद्योग धन के समान वितरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

भारत के कुटीर-उद्योग निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) हाथ की कताई जैसे कुछ पुराने उद्योग लुप्तप्राय हो गए हैं, किन्तु जैसा हम पहले ही देख चुके हैं,[१] कृषि के सहायक उद्योग के रूप में अब भी हाथ की कताई के उद्योग के विकास की सम्भावना है। (२) कुछ अन्य उद्योग हैं जिनके उत्पादन यन्त्रोत्पादित वस्तुओं से स्पर्धा कर रहे हैं और इनकी दशा त्रिशंकु-जैसी है। जो इन उद्योगों में लगे हुए हैं वे अपने पैतृक पेशे को छोड़ने की अनिच्छा या फैक्ट्रियों में काम की कठोर दशाओं के कारण उन्हें नहीं छोड़ते। यह भी हो सकता है कि उनमें लगे रहने के लिए कारीगर अर्थ-प्रबन्धक सौदागर द्वारा बाध्य किये जाते हों, ताकि वह अनिश्चित काल तक उनका शोषण करता रहे और अपना धन प्राप्त कर ले।[२] (३) तीसरी श्रेणी उन कुटीर-उद्योगों की है जो आन्तरिक और निवारणीय त्रुटियों से मुक्त हैं तथा वर्तमान दशाओं में भी जीवित रहने योग्य हैं। उदाहरण के लिए, वे उद्योग जो खेती से सम्बन्ध रखते हैं और जिनमें सरल औज़ारों की आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार के हैं। उन्हें फैक्ट्री में उत्पादित वस्तुओं से डरने का कोई कारण नहीं है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कारीगरों ने नवीन दशाओं के अनुरूप अपने को सफलतापूर्वक ढाल लिया है और उत्तम कोटि के कच्चे पदार्थ तथा अच्छे औज़ारों का प्रयोग सीख लिया है। बुनकर मिल के सूत का, रंगरेज कृत्रिम रंगों का, पीतल और ताँबे के कारीगर धातु की चादरों का तथा लुहार सुविधाजनक भागों में पर्त किये हुए लोहे का उपयोग करने लगे हैं। प्रत्येक दशा में उत्पादन की लागत कम हो जाने से कारीगरों को सुविधा हो गई है और उनका बाज़ार बहुत बढ़ गया है। निचले बंगाल में कुछ ज़िलों में बुनकर फ्लाई शटिल का उपयोग करने लग गए हैं और हाल ही में मद्रास के तटवर्ती ज़िलों में बड़ी अधिक संख्या में बुनकरों ने इसे अपनाया है। साथ ही अन्य स्थानों पर भी यह धीरे-धीरे प्रयोग में आ रहा है। दर्जी आवश्यक रूप से सिलाई की मशीनों का प्रयोग करते हैं और शहरों के कारीगर शीघ्र ही यूरोप या अमेरिका में बने औज़ारों को अपना लेते हैं।[३] फलस्वरूप गाँव के सामुदायिक संगठन में कारीगरों में से कुछ अब भी अपना प्राचीन ख्यात स्थान अक्षुण्ण बनाये हुए हैं तथा पहले ही

---

१. भाग १, अध्याय ८, पैरा १९ देखिए।

२. कुटीर-उद्योगों के आर्थिक और अन्य कठिनाइयों-सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए बॉम्बे इकनॉमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी की रिपोर्ट देखिए, पैरा १०६—४२।

३. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५।

लिया। करघे के बुनाई-उद्योग ने अद्‌भुत जीवन-शक्ति और ग्रहणशीलता का प्रदर्शन किया है।

अपने घरों में काम करने वाला बुनकर फैक्ट्री के मज़दूर से अधिक घण्टे काम करता है और उसे कोई पारिश्रमिक दिए बिना ही घर के कामकाज से फ़ुरसत होने पर परिवार की स्त्रियों से सहायता मिल जाती है। १९४१ के आरम्भ में ही भारत सरकार ने हाथ के करघे की बुनाई के उद्योग को मदद देने के लिए आवश्यक उपायों को निश्चित करने के उद्देश्य से आँकड़ों के संकलन-हेतु एक तथ्य-निर्देशक समिति (फैक्ट-फाइण्डिग कमेटी) (करघे और मिलों की) नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि मध्यस्थों की एक शृङ्खला द्वारा लाभ के बड़े अंश को हथिया लेने के कारण उद्योग की उत्पादन-लागत ऊँची और बुनकर की आमदनी अनुचित रूप से कम है।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से अखिल भारतीय कर्तक संस्था (ऑल इण्डिया स्पिनर्स एसोसिएशन) ने करघा-उद्योग के उत्थान के लिए बहुमूल्य काम किया। इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों के कार्यों को आर्थिक सहायता देकर भारत सरकार ने भी १९३४ से सक्रिय प्रोत्साहन की नीति अपनायी।

उद्योग की दशा को सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा परिषद् की हाल ही में स्थापना हुई है जिसमें बुनकरों, प्रान्तीय सरकारों तथा उद्योग में रुचि रखने वाले राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। परिषद् के इस सुझाव को सरकार ने स्वीकार कर लिया है कि उद्योग को सूत की पूर्ति का आश्वासन मिलना चाहिए और युद्धोत्तरकालीन विकास-योजना के पहले पाँच वर्ष में लगाये गए तकुओं के उत्पादन में से आधा सुरक्षित रखकर इसकी मात्रा बढ़ानी चाहिए। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कपड़े के उत्पादन में १७,००० लाख गज़ की वृद्धि होगी। वृद्धि की इस मात्रा में १०,००० लाख गज़ कपड़े के उत्पादन का उत्तरदायित्व हस्त-चालित करघा-उद्योग पर है। इसमें से ७००० लाख गज़ कपड़ा मिल के सूत से तथा ३००० लाख गज़ अम्बर चरखा के सूत से बनाने की व्यवस्था है।

अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा परिषद् के अध्यक्ष ने एक निर्यात-अभिवर्द्धन समिति की स्थापना की। इस समिति में १४ सदस्य हैं। १९५९ के पहले छः महीनों में १५१·३ लाख गज़ कपड़े का निर्यात किया गया जिसका मूल्य २५६·८ लाख रु० था, जबकि १९५८ में इतने समय में १६५·६ लाख गज़ कपड़ा बाहर भेजा गया जिसका मूल्य २३७·६ लाख रुपया था। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सहकारी क्षेत्र के भीतर और बाहर के सभी निर्यातकों को वस्त्र-रसायन, सूती सूत, रंजक पदार्थ (coaltar dyes) के आयात के लिए निम्न दर पर अनुज्ञा देने की व्यवस्था की गई है।

(१) गज़ों में निर्यात किये जाने वाले कपड़े पर प्रति १०० गज़ पर दस रुपये।

(२) वज़न से निर्यात किये जाने वाले कपड़े पर प्रति २५ पौंड पर ७·५० रुपये।

आर्डरों को पूरा करने के लिए ऊनी मिलें अपनी पूर्ण क्षमता तक कार्य कर रही थीं, अतएव (हस्तचालित) करघे की वस्तुओं का स्थानीय बाज़ार बहुत बढ़ गया। युद्ध-काल की यह समृद्धि अल्पकालीन सिद्ध हुई, किन्तु उद्योग के लिए सहकारी उत्पादन और विपणन अब भी नवीन संगठन और क्रियाओं की आशा दिलाते हैं।

४१. **कच्चा रेशम और रेशम का निर्माण**—भारत में कच्चे रेशम के उत्पादन में जो भी सफलता मिली है वह देश के उन भागों—जैसे बंगाल, काश्मीर और मैसूर—तक ही सीमित है जहाँ शहतूत के पेड़ और श्रम प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

मोटे तौर पर सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम तीन-चतुर्थांश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रमुख रूप से कच्चे रेशम के व्यापार की ओर आकृष्ट थी। बाद में कम्पनी ने अनुभव किया कि भारत-निर्मित रेशमी वस्तुओं को इंगलैण्ड भेजने से और अधिक लाभ सम्भव था। उन्होंने इस नीति को ऐसी सफलता से अपनाया कि इंगलैण्ड के बुनकर भयभीत हो उठे। ब्रिटिश बुनकरों के विरोध तथा अन्य कारणों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुनः कच्चे रेशम के व्यापार की नीति अपना ली। कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रश्रय देने और रेशमी उत्पादन को हतोत्साहित करने की नीति का देशी बुनाई-उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।[1]

संक्षेप में, अभी हाल के वर्षों में कच्चे रेशम और रेशम की बुनाई के उद्योग ह्रासोन्मुख रहे हैं। भारत के कच्चे माल का निर्यात केवल घट ही नहीं गया है वरन् उसका रूप भी बदल गया है। वर्तमान समय में अधिकतर रेशम का कोवा बाहर भेजा जाता है। भारत में रेशम लपेटने (रीलिंग) का काम इतनी बुरी तरह किया जाता है कि अन्य देश भारत से कोवे लेकर सूत लपेटने का काम स्वयं करना पसन्द करते हैं। भारत में आयात किये गए रेशम की बढ़ती लोकप्रियता का भी यही कारण है। भारतीय बुनकर स्वयं देशी माल की अपेक्षा जापान या चीन के एक-समान लपेटे सूतों को अधिक पसन्द करते हैं। भारतीय रेशम की किस्म को उन्नत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बंगाल का कृषि-विभाग रेशम पैदा करने की शिक्षा देने के लिए दो विद्यालय चला रहा है। आसाम, काश्मीर और मैसूर के भारतीय राज्यों में भी रेशम-उत्पादन को प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। १९३५ में भारत सरकार ने राजकीय रेशम-उत्पादन समिति (इम्पीरियल सेरीकल्चरल कमेटी) की स्थापना की और उसकी सिफारिश के अनुसार ९३,००० रुपये की मदद विभिन्न प्रदेशों को प्रदान की गई, ताकि वे रेशम-उत्पादन के लाभ के लिए बंगाल, आसाम, मद्रास, बिहार और उड़ीसा तथा बर्मा में योजनाएँ कार्यान्वित करने में समर्थ हो सकें।[2] योजनाओं का लक्ष्य रोगमुक्त बीजों से उत्पादन बढ़ाना और रेशम के कीड़ों के रोग के विषय के प्रश्नों के अनुसन्धान में सहायता देना है। भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९३५ से ३१

---

१. निर्यात व्यापार के आँकड़ों द्वारा रेशम-उद्योग का ह्रास बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। १८८६ में निर्यात हुए रेशमी-उत्पादन का मूल्य ३२,९६,००० रु० था, १९४१-४२ में केवल २,६६,००० रु० था।

२. देखिए, 'इण्डिया इन १९३४-३५,' पृ० २५।

आर्डरों को पूरा करने के लिए ऊनी मिलें अपनी पूर्ण क्षमता तक कार्य कर रही थीं, अतएव (हस्तचालित) करघे की वस्तुओं का स्थानीय बाज़ार बहुत बढ़ गया। युद्ध-काल की यह समृद्धि अल्पकालीन सिद्ध हुई, किन्तु उद्योग के लिए सहकारी उत्पादन और विपणन अब भी नवीन संगठन और क्रियाओं की आशा दिलाते हैं।

४१. **कच्चा रेशम और रेशम का निर्माण**—भारत में कच्चे रेशम के उत्पादन में जो भी सफलता मिली है वह देश के उन भागों—जैसे बंगाल, काश्मीर और मैसूर—तक ही सीमित है जहाँ शहतूत के पेड़ और श्रम प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

मोटे तौर पर सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम तीन-चतुर्थांश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रमुख रूप से कच्चे रेशम के व्यापार की ओर आकृष्ट थी। बाद में कम्पनी ने अनुभव किया कि भारत-निर्मित रेशमी वस्तुओं को इंगलैण्ड भेजने से और अधिक लाभ सम्भव था। उन्होंने इस नीति को ऐसी सफलता से अपनाया कि इंगलैण्ड के बुनकर भयभीत हो उठे। ब्रिटिश बुनकरों के विरोध तथा अन्य कारणों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुनः कच्चे रेशम के व्यापार की नीति अपना ली। कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रश्रय देने और रेशमी उत्पादन को हतोत्साहित करने की नीति का देशी बुनाई-उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।[1]

संक्षेप में, अभी हाल के वर्षों में कच्चे रेशम और रेशम की बुनाई के उद्योग ह्रासोन्मुख रहे हैं। भारत के कच्चे माल का निर्यात केवल घट ही नहीं गया है वरन् उसका रूप भी बदल गया है। वर्तमान समय में अधिकतर रेशम का कोवा बाहर भेजा जाता है। भारत में रेशम लपेटने (रीलिंग) का काम इतनी बुरी तरह किया जाता है कि अन्य देश भारत से कोवे लेकर सूत लपेटने का काम स्वयं करना पसन्द करते हैं। भारत में आयात किये गए रेशम की बढ़ती लोकप्रियता का भी यही कारण है। भारतीय बुनकर स्वयं देशी माल की अपेक्षा जापान या चीन के एक-समान लपेटे सूतों को अधिक पसन्द करते हैं। भारतीय रेशम की किस्म को उन्नत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बंगाल का कृषि-विभाग रेशम पैदा करने की शिक्षा देने के लिए दो विद्यालय चला रहा है। आसाम, काश्मीर और मैसूर के भारतीय राज्यों में भी रेशम-उत्पादन को प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। १९३५ में भारत सरकार ने राजकीय रेशम-उत्पादन समिति (इम्पीरियल सेरीकल्चरल कमेटी) की स्थापना की और उसकी सिफारिश के अनुसार ९३,००० रुपये की मदद विभिन्न प्रदेशों को प्रदान की गई, ताकि वे रेशम-उत्पादन के लाभ के लिए बंगाल, आसाम, मद्रास, बिहार और उड़ीसा तथा बर्मा में योजनाएँ कार्यान्वित करने में समर्थ हो सकें।[2] योजनाओं का लक्ष्य रोगमुक्त बीजों से उत्पादन बढ़ाना और रेशम के कीड़ों के रोग के विषय के प्रश्नों के अनुसन्धान में सहायता देना है। भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९३५ से ३१

१. निर्यात व्यापार के आँकड़ों द्वारा रेशम-उद्योग का ह्रास बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। १८८६ में निर्यात हुए रेशमी-उत्पादन का मूल्य ३२,९६,००० रु० था, १९४१-४२ में केवल २,६६,००० रु० था।

२. देखिए, 'इण्डिया इन १९३४-३५,' पृ० २५।

४२. अन्य कुटीर-उद्योग—पहले भाग के पाँचवें अध्याय में विभिन्न कुटीर-उद्योगों की वर्तमान दशा का संकेत पहले ही किया जा चुका है (खण्ड १, अध्याय ५), जबकि तेल पेरने, चमड़ा सिझाने, शीशा बनाने और दियासलाई बनाने के उद्योग के विवरण में हमने इनकी कुटीर-शाखाओं पर विचार किया है। कृषि के गौण उद्योगों की दशा और उनके भविष्य पर भी कृषि-संगठन के अन्तर्गत (खण्ड १, अध्याय १) विचार हो चुका है। अन्य अनेक कुटीर-उद्योग भी हैं, उदाहरणार्थ कढ़ाई का काम, लकड़ी का सामान, धातु और छुरी-काँटा, सोने और चाँदी के तारों का उद्योग, बरतन, साबुन बनाना, टोपी बनाना, खिलौने और मूर्ति-निर्माण, गुटके बनाना आदि को लिया जा सकता है।

४३. कुटीर-उद्योगों को सहायता की विधियाँ—कारीगरों की अज्ञानता और निर्धनता के कारण यह आवश्यक है कि उनको मदद देने की एक सर्वाङ्गीण योजना बनाई और कार्यान्वित की जाए। इस दिशा में प्रकट रूप से पहला कदम अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा देना है जिसके द्वारा कुछ दस्तकारी और औद्योगिक कारीगरी को शिक्षा देने का प्रयास किया जाए। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सिफारिश की कि प्रारम्भिक शिक्षा, विशेषकर गाँवों में दस्तकारी के माध्यम से दी जाए। इसके अतिरिक्त विशेष औद्योगिक स्कूलों में, विशेषकर उद्योग-संचालक द्वारा नियन्त्रित स्कूलों में, भी कारीगरों की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। औद्योगिक आयोग ने भी सिफ़ारिश की थी कि अधिक तीव्र बुद्धि के कारीगरों के प्रशिक्षण के लिए सरकार की सहायता से प्रदर्शनार्थ हस्तचालित करघे के कारखाने खोले जाएँ और बुनाई के स्कूलों से एक वाणिज्य विभाग सम्बन्धित कर दिया जाए, ताकि इस भाँति प्रशिक्षित साहसी कारीगर स्वयं अपनी छोटी करघा-फैक्ट्री खोल सकें। जेल और सुधारात्मक स्कूलों की विशेषता उनमें रहने वालों को काष्ठशिल्प, बेंत और बाँस के काम-जैसी औद्योगिक दस्तकारियों की शिक्षा देना है, ताकि छूटने पर कैदी कारीगरों की तरह जीवन प्रारम्भ कर सकें। बिहार और उड़ीसा में प्रदर्शक उन्नत औज़ारों का घूम-घूमकर प्रदर्शन करते हैं। ये प्रदर्शन कुटीर-उद्योग विद्यालय (कॉटेज इंडस्ट्रीज इंस्टीट्यूट) पर निर्भर हैं जो अपने विभिन्न विभागों में प्रयोगात्मक कार्य करता रहता है और करघों, रंग, अन्य सामान इत्यादि की पूर्ति का प्रबन्ध करता है तथा बुनकरों को नये कपड़ों तथा नये नमूनों से परिचित कराता है। भागलपुर रेशम विद्यालय द्वारा ऐसी ही सेवाएँ रेशम-उद्योग के लिए की जाती हैं और पटना प्रदेश के दक्षिण में गया की प्रयोगात्मक कम्बल फैक्ट्री प्राचीन कम्बल-उद्योग के लिए ऐसे ही प्रयत्न कर रही है। मध्य प्रदेश में उद्योग विभाग बुनकरों में अच्छे प्रकार की स्लेज़ के प्रयोग का प्रचार कर रहा है। प्रौद्योगिक प्रशिक्षण के लिए प्रौद्योगिक परामर्श और सुविधाएँ प्रदान करके तथा कारीगरों को नवीन तर्ज और उन पर काम करने के लिए नमूने देकर उन्हें बहुत मदद दी जा सकती है तथा उनकी बिक्री बढ़ाई जा सकती है। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने कुटीर-उद्योगों से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन के लिए कुटीर-उद्योग उपसंचालक के अधीन एक राजकीय कुटीर-

विकास के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाओं पर विचार किया। सरकार ने सम्मेलन में हस्तचालित करघा-उद्योग के विकास के लिए पाँच वर्ष तक ५ लाख रुपया प्रतिवर्ष खर्च करने की घोषणा की।[1] इस भाँति विभिन्न प्रान्तों में चालू की गई योजनाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। इन योजनाओं में उन्नत उत्पादन-विधियों में बुनकरों का प्रशिक्षण, हाथ के करघे की वस्तुओं को बेचने के लिए विक्रय-गोदाम और बुनकरों की सहकारी समितियों की स्थापना, तथा नवीन तर्जों, नये नमूनों और उन्नत औज़ारों का प्रचलन भी शामिल है। प्रान्तों को अनुदान उनके व्यय और सूत की खपत के आधार पर दिया जाता है। सातवें उद्योग सम्मेलन ने भी करघे के यन्त्रों तथा वस्त्रों के प्रदर्शन के पक्ष में निश्चय किया है।[2] हम रेशम उत्पन्न करने के उद्योग को संरक्षण और प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गए उपायों की समीक्षा कर चुके हैं।

१९३७ में स्थापित कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों ने कुटीर-उद्योगों को पुनरुज्जीवित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के तत्त्वावधान में १९३५ में स्थापित अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ (ऑल इण्डिया विलेज इण्डस्ट्रीज़ एसोसिएशन) ने भी देश की आर्थिक योजना में कुटीर-उद्योग के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। कुटीर और लघु प्रमाप उद्योगों को प्रभावपूर्ण ढंग से विकसित करने के लिए १९४८ में अखिल भारतीय कुटीर-उद्योग परिषद् की स्थापना की गई। बाद में इसके स्थान पर अखिल भारतीय दस्तकारी परिषद् (१९५२ में) तथा अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग परिषद् (१९५३ में) की स्थापना की गई। १९५७ में एक अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने 'खादी ग्रामोद्योग आयोग' की स्थापना की। पहले की इस नाम की परिषद् पुनः गठित कर आयोग के लिए परामर्श-निकाय के रूप में परिवर्तित कर दी गई। मुख्यतः हस्तचालित करघा-उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा-परिषद् की स्थापना भी १९५२ में की गई।

नवम्बर १९५३ में आये फाउण्डेशन आयोजन दल ने छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट मार्च, १९५४ में प्रस्तुत की। सरकार ने निम्न सिफारिशों को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

(१) चार प्रादेशिक प्राविधिक संस्थाओं (रीजनल टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीटयूट्स) की स्थापना,

(२) विपणन-निगम (मार्केटिंग सर्विस कॉरपोरेशन) की स्थापना, तथा

(३) लघु-प्रमाप उद्योग निगम की स्थापना।

फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशों के अनुरूप भारत सरकार ने स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज़ बोर्ड, ऑफ़िस ऑफ़ दी डेवलपमेण्ट कमिश्नर फ़ॉर स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज़, नेशनल स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज़ कॉरपोरेशन आदि की स्थापना की, ताकि मध्यम-प्रमाप

१. स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इंडस्ट्रीज़, १९२८-३५, पृष्ठ २०।

२. अक्तूबर १९३५ में दिल्ली में हुए उद्योग सम्मेलन के सातवें अधिवेशन की कार्रवाई।

विकास के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाओं पर विचार किया। सरकार ने सम्मेलन में हस्तचालित करघा-उद्योग के विकास के लिए पाँच वर्ष तक ५ लाख रुपया प्रतिवर्ष खर्च करने की घोषणा की।[1] इस भाँति विभिन्न प्रान्तों में चालू की गई योजनाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। इन योजनाओं में उन्नत उत्पादन-विधियों में बुनकरों का प्रशिक्षण, हाथ के करघे की वस्तुओं को बेचने के लिए विक्रय-गोदाम और बुनकरों की सहकारी समितियों की स्थापना, तथा नवीन तर्जों, नये नमूनों और उन्नत औज़ारों का प्रचलन भी शामिल है। प्रान्तों को अनुदान उनके व्यय और सूत की खपत के आधार पर दिया जाता है। सातवें उद्योग सम्मेलन ने भी करघे के यन्त्रों तथा वस्त्रों के प्रदर्शन के पक्ष में निश्चय किया है।[2] हम रेशम उत्पन्न करने के उद्योग को संरक्षण और प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गए उपायों की समीक्षा कर चुके हैं।

१९३७ में स्थापित कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों ने कुटीर-उद्योगों को पुनरुज्जीवित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के तत्त्वावधान में १९३५ में स्थापित अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ (ऑल इण्डिया विलेज इण्डस्ट्रीज़ एसोसिएशन) ने भी देश की आर्थिक योजना में कुटीर-उद्योग के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। कुटीर और लघु प्रमाप उद्योगों को प्रभाव-पूर्ण ढंग से विकसित करने के लिए १९४८ में अखिल भारतीय कुटीर-उद्योग परिषद् की स्थापना की गई। बाद में इसके स्थान पर अखिल भारतीय दस्तकारी परिषद् (१९५२ में) तथा अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग परिषद् (१९५३ में) की स्थापना की गई। १९५७ में एक अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने 'खादी ग्रामोद्योग आयोग' की स्थापना की। पहले की इस नाम की परिषद् पुनः गठित कर आयोग के लिए परामर्श-निकाय के रूप में परिवर्तित कर दी गई। मुख्यतः हस्तचालित करघा-उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा-परिषद् की स्थापना भी १९५२ में की गई।

नवम्बर १९५३ में आये फाउण्डेशन आयोजन दल ने छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट मार्च, १९५४ में प्रस्तुत की। सरकार ने निम्न सिफारिशों को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

(१) चार प्रादेशिक प्राविधिक संस्थाओं (रीजनल टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीटयूट्स) की स्थापना,

(२) विपणन-निगम (मार्केटिंग सर्विस कॉरपोरेशन) की स्थापना, तथा

(३) लघु-प्रमाप उद्योग निगम की स्थापना।

फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशों के अनुरूप भारत सरकार ने स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज बोर्ड, ऑफ़िस ऑफ़ दी डेवलपमेण्ट कमिश्नर फ़ॉर स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज़, नेशनल स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज़ कॉरपोरेशन आदि की स्थापना की, ताकि मध्यम-प्रमाप

१. स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इंडस्ट्रीज़, १९२८-३५, पृष्ठ २०।

२. अक्तूबर १९३५ में दिल्ली में हुए उद्योग सम्मेलन के सातवें अधिवेशन की कार्रवाई।

संगठित औद्योगिक उत्पादन दुगुना हो गया (औद्योगिक सूचांक १०० जो कि १९५१ में था १९६१ में १९४ हो गया) यह ठीक है कि कुछ क्षेत्रों में कमियाँ भी रह गईं (लोहे और इस्पात में, रासायनिक खाद उद्योग, भारी मशीनों के कारखानों में)। दूसरी पंचवर्षीय योजना से यह सुझाव मिलता है कि विशेष रूप से प्रारम्भिक तथा आधार-सम्बन्धी उद्योगों पर ज़ोर दिया जाए तथा तकनीकी क्षमता इस प्रकार बढ़े कि आने वाली योजनाओं में आर्थिक व्यवस्था आत्मनिर्भर हो जाए। इस प्रकार तीसरी योजना में ये प्रधानताएँ रखी गईं—

(१) जो कार्य दूसरी योजना में कार्यान्वित नहीं हुए उन्हें पूर्ण रूप से किया जाए।

(२) मशीनों, तकनीकी, रासायनिक खाद के उद्योगों को बढ़ा दिया जाए तथा विशेष स्थान दिया जाए (Diversify)।

(३) औद्योगिक उन्नति के लिए कच्चे माल तथा मध्यम किस्म की सामग्री तथा खनिज तेलों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाई जाए।

(४) उन उद्योगों को अच्छा स्थान दिया जाए जो प्रतिदिन प्रयोग होने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, जैसे कि दवाइयाँ, कपड़ा, तेल, कागज़ तथा चीनी आदि।

इस प्रकार तीसरी पंचवर्षीय योजना में खनिज तथा उद्योगों की उन्नति के लिए २,९९३ करोड़ रुपया निर्धारित हुआ। यह आशा की गई कि वार्षिक औद्योगिक प्रगति ११ प्रतिशत बढ़ेगी। तीसरी योजना के मध्य मूल्यांक (Mid Term Appraisal) से यह पता चला है कि निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हो सके।

चौथी पंचवर्षीय योजना में प्रगति का कार्य एक प्रधानता के रूप में सुचारु रूप से हो। जो उद्योगों की वर्तमान स्थायी शक्ति है उसका ठीक प्रकार से प्रयोग हो। निजी क्षेत्र में विशेष रूप से उपभोक्ता वस्तुओं तथा मध्यम वर्ग की वस्तुओं के उत्पादन पर ज़ोर दिया जाए। चौथी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक उन्नति पर ५,६०० करोड़ रुपया खर्च किया जाएगा जिसमें से निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपया होगा। चौथी पंचवर्षीय योजना में इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि प्रोजेक्ट्स को ठीक प्रकार से चलाया जाए और समयानुसार पूर्ण कर लिये जाएँ। और जो त्रुटि डिज़ाइन बनाने तथा इंजीनियरिंग के क्षेत्रों में है, उसे दूर किया जाए जिससे राष्ट्र आत्म-निर्भर हो सके।

लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों की संख्या का प्रायः जो अनुमान किया जाता है वास्तव में वह उतनी नहीं है। बहुतों का कृषि से प्रायः अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है; उदाहरणार्थ, वे या तो किसी संयुक्त कृषक-परिवार के सदस्य होते हैं या उनका कोई घनिष्ठ सम्बन्धी कृषि-कार्य करता है। अधिकांश औद्योगिक श्रमिक गाँवों में ही पैदा होते हैं तथा उनका पालन-पोषण भी वहीं होता है। अब तो कारखानों में काम करने वाले बच्चों की उम्र की निम्नतम सीमा बढ़ जाने से यह प्रवृत्ति और भी बढ़ रही है। बहुत-से श्रमिक अपना परिवार गाँवों में ही रखते हैं। शहर में अपने पति के साथ आने वाली पत्नी भी प्रसव के समय प्रायः गाँव ही चली जाती है। हमारे उद्योगों के विकास के साथ ही गाँव से आने वाले मज़दूरों की संख्या तेज़ी से बढ़ती ही जा रही है। आर्थिक दृष्टिकोण से उपयुक्त होने पर ही वे गाँव जाते हैं।

श्रमिकों के गाँव से शहर आने के कारणों पर दृष्टिपात करने पर हम देखेंगे कि कृषि पर पड़ने वाली विपत्ति का पहला असर भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों पर ही पड़ता है, अतः उन्हें गाँव छोड़कर कारखानों, नौका-निर्माण स्थानों, बगीचों तथा रेल, सिंचाई आदि सरकारी निर्माण-कार्य वाले स्थानों में अधिक वेतन के लिये काम ढूँढ़ने-हेतु जाना पड़ता है। उनके इस प्रवास-कार्य में संयुक्त परिवार-प्रणाली इस अर्थ में सहायक होती है कि परिवार के कुछ सदस्य अपने घर तथा खेत से सम्बन्ध-विच्छेद किये बिना ही उसे परिवार के अन्य व्यक्तियों की देख-रेख में छोड़कर गाँव से चले जाते हैं। कभी-कभी कृषक गाँव के साहूकार से बचने या भूमि और पशु खरीदने के लिए पर्याप्त धन कमाने के उद्देश्य से शहरों में नौकरी तलाश करते हैं। फिर कभी अपनी जीविका और भावी जीवन को उत्तम बनाने की आशा से निम्न श्रेणी के ग्रामीण श्रमिक (जो कि दलित-वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं) शहरों और कस्बों को चले जाते हैं। चूँकि उनके नगर जाने का प्रधान कारण कष्ट है न कि महत्त्वाकांक्षा, अतः हम यह कह सकते हैं कि गाँवों से नगरों को प्रवास करने वाले लोग सबसे कम कुशल और अत्यन्त निरुपाय ग्रामीण होते हैं।

३. देशान्तर-गमन के प्रभाव—देशान्तर-गमन के परिणामस्वरूप कारखानों में काम करने वालों के कितने ही वर्ग अपने को एकदम अपरिचित रीति-रिवाजों और परम्पराओं के मध्य पाते हैं। यह भी हो सकता है कि वहाँ भाषा भी दूसरी हो। पुरानी प्रथाओं और मान्यताओं के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। "वे सब बन्धन, जो ग्रामीण जीवन को सन्तुष्ट रूप प्रदान करते हैं, ढीले पड़ जाते हैं, नवीन सम्बन्ध शीघ्रता से नहीं स्थापित हो पाते। फलतः जीवन अधिकाधिक वैयक्तिक हो जाता है।" जलवायु के अत्यधिक परिवर्तन, दोषपूर्ण भोजन, स्थानाभाव के कारण अत्यधिक भीड़-भाड़, सफाई का अभाव तथा पारिवारिक जीवन से विच्छेद होने के बाद पुनः मिलने का प्रलोभन, इन सबका संयुक्त प्रभाव श्रमिक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है। कुछ दुर्व्यसनों के कारण श्रमिक के नैतिक जीवन का और भी पतन होता है। शराब और जुआ इन दुर्व्यसनों के उदाहरण हैं जो कि गाँवों में अपेक्षाकृत अज्ञात हैं। ग्रामीण श्रमिक का काम कभी-कभी होता है और काम के बीच उसे लम्बे-लम्बे विश्राम लेने

मध्यस्थों (जॉबर) या फोरमैन के माध्यम से ही श्रमिकों की भरती होती है। जहाँ पर विभागाध्यक्ष यूरोपियन हैं वहाँ उनके और मजदूरों के बीच भारतीय मध्यस्थ (जॉबर) एक अनिवार्य कड़ी है। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी है कि नियोक्ता श्रम-संघों से दूर रहते हैं। यह कभी-कभी हड़ताल के नेता का भी काम करता है।[1] उसके कुछ कार्य पाश्चात्य श्रम-संघ के अधिकारियों की भाँति हैं। वह अनेक प्रकार से श्रमिकों के लिए अनिवार्य बन जाता है। वह उन्हें धन देता है, झगड़ों में मध्यस्थ का काम करता है और कुटुम्ब-सम्बन्धी मामलों में राय देता है। चूँकि सभी श्रमिक उसी के द्वारा भरती किये जाते हैं, अतः नवीन श्रमिक स्थायी अथवा अस्थायी किसी भी प्रकार का काम पाने का एक-मात्र उपाय उसे घूस देना समझते हैं। कलकत्ता की जूट-मिलों में दस्तूरी के नाम पर घूसखोरी खूब फैली हुई है और सरदार द्वारा इधर-उधर से वसूल की गई रकमों से उसकी आय कभी-कभी मासिक मज़दूरी की पाँचगुना तक हो जाती है, यहाँ तक कि तनख्वाह देने वाले छोटे-छोटे क्लर्क भी इस प्रकार की आमदनी करते हैं। भरती करने वाला एजेण्ट प्रायः ऐसा प्रबन्ध करता है कि श्रमिक काम छूटने के भय से उसे कुछ-न-कुछ देने पर सदैव मजबूर होता है। स्त्रियों को भी, विशेषकर विधवा होने पर, ओवरसियरों द्वारा मज़दूरों पर लगाये गए भार में भाग बँटाना पड़ता है।[2]

श्रम-आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसरण में कितने ही बड़े-बड़े संगठनों, जैसे ई० डी० सासून एण्ड कम्पनी तथा बर्मा शैल कम्पनी आदि, ने मज़दूरों की भरती और कल्याण के लिए 'विशेष श्रम-कल्याण अधिकारी' नियुक्त किये हैं। बम्बई के मिल-मालिक संघ ने 'बदली-नियन्त्रण-पद्धति' जारी की है जिसमें केवल कार्ड रखने वालों को ही रिक्त स्थान पर रखा जाता है। कितने ही जूट-मिलों ने श्रम-नियोजनालय (ब्यूरो) स्थापित किये हैं जिनका एक प्रधान काम श्रमिकों की भरती है।

कानपुर श्रम-जाँच-समिति (कानपुर लेबर इन्क्वायरी कमेटी) ने श्रमिकों की नियुक्ति से मिस्त्रियों को बिलकुल अलग करने का सुझाव रखा और सरकारी नियन्त्रण में श्रम-विनिमय की स्थापना पर ज़ोर दिया जो कि फैक्टरियों की माँग पर प्रार्थियों को नौकरी देंगे।[3] उत्तर भारत नियोक्ता संघ, कानपुर ने इन्हीं आधारों पर एक वृत्ति-विनिमयालय (एम्प्लायमेण्ट एक्सचेञ्ज) स्थापित किया है। यह वाञ्छनीय होगा कि नियमित छुट्टियाँ मिलें और छुट्टियों में भत्ता देना भी शुरू किया जाए, ताकि मध्यस्थों (जॉबर) की शक्ति क्षीण हो जाए और एक सन्तुष्ट एवम् कुशल श्रम-शक्ति का निर्माण हो।[4]

जनवरी, १९४० में हुए श्रम-मन्त्री सम्मेलन में भारतीय श्रमिकों को सवेतन

---

१. भारत के विभिन्न भागों में 'जॉबर' के भिन्न-भिन्न नाम हैं, यथा सरदार, मुकद्दम, मिस्त्री आदि।
२. देखिए, जे० एच० केलमैन, लेबर इन इण्डिया, पृ० १०८-९।
३. रिपोर्ट, पैरा १३९-४०।
४. श्र० आ० प्र०, २३-२७।

सरकार, परिनियत आवास परिषद् इत्यादि द्वारा दिये गए रहने के मकान के लिए कटौती, बीमा चुकाने के लिए कटौती, तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए कटौती। १९५७ के संशोधित अधिनियम के अनुसार सेवा-नियम (Service Rules) के अन्तर्गत किये गए जुर्माने कटौती में सम्मिलित नहीं होंगे।

जुर्माना—किसी भी वृत्ति-प्राप्त व्यक्ति पर जुर्माना उसी दशा में किया जा सकता है जबकि हानि या भूल केवल भली प्रकार अधिसूचित कार्यों के सम्बन्ध में उस स्थान पर हो, जहाँ काम होता है। पन्द्रह वर्ष से नीचे के किसी भी व्यक्ति पर जुर्माना नहीं किया जा सकेगा।

इस अधिनियम के परिणामस्वरूप जुर्माना करना प्रायः बन्द-सा हो गया है, परन्तु नियोक्ताओं ने अधिनियम से बचने के कितने ही तरीके निकाल लिए हैं। उदाहरण के लिए, वे मज़दूरों को बिना वेतन के छुट्टी पर जाने के लिए विवश करते हैं तथा मज़दूरी की भेदात्मक दरें प्रारम्भ करते हैं।

८. काम के घंटे और भ्रमणशील प्रवृत्ति—भारत के नियोक्ता की हमेशा से यह शिकायत रही है कि भारतीय श्रमिक लगातार स्थिर रूप से काम नहीं करता। वह अनेक बहाने बनाकर इधर-उधर समय बिताया करता है। काम करने वाले अपनी मशीनों से अनुपस्थित रहते हैं जिनके बदले दूसरे आदमियों को लगाना पड़ता है। १९०८ के भारतीय फैक्ट्री-आयोग (इण्डियन फैक्ट्री कमीशन) के अनुसार "यद्यपि भारतीय श्रमिक थोड़ी देर तक काफी शक्ति और कुशलता से काम कर सकता है, परन्तु स्वभावतः वह काम को काफी देर तक फैलाए रहना चाहता है तथा उसकी प्रवृत्ति आराम के साथ काम करने और परिश्रम करने की अनिच्छा होने पर विश्राम लेने की होती है।" काम के घण्टों में कमी, सफाई की दशा में सुधार, कारखानों में हवादानों का प्रबन्ध, उचित निरीक्षण आदि से घूमने की आदत कम हो जाएगी और श्रम की कुशलता बढ़ जाएगी। उदाहरण के लिए, कलकत्ता की जूट-मिलों में भ्रमण की आदत कम है क्योंकि वहाँ श्रमिकों के काम करने की पारी (शिफ्ट) कम घण्टों की है। यही हालत अभियन्त्रण की दूकानों की है जहाँ काम के घण्टे आठ से अधिक नहीं हैं।

१९४८ के कारखाना-अधिनियम के अन्तर्गत काम करने के घण्टे ४८ प्रति सप्ताह तथा ९ घण्टा प्रतिदिन निश्चित किये गए हैं। काम का अधिकतम फैलाव किसी दिन १०½ घण्टे तक हो सकता है किन्तु इसमें बीच में आराम के लिए दिया गया मध्यान्तर भी शामिल है। बच्चों के लिए कार्यावधि ४½ घण्टा प्रतिदिन रखी गई है और कार्यावधि का अधिकतम फैलाव ५ घण्टे तक हो सकता है। जहाँ कार्यावधि की उपर्युक्त सीमाओं का उल्लंघन किया जाता है, वहाँ अधिनियम में यह व्यवस्था है कि (अ) प्रत्येक श्रमिक के काम के घण्टे प्रतिदिन १० घण्टे से अधिक नहीं और प्रति सप्ताह ५० घण्टे से अधिक नहीं होना चाहिए तथा (ब) किसी भी दिन काम का फैलाव १२ घण्टे से अधिक नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति निश्चित अवधि से अधिक काम करेंगे उन्हें उस समय के लिए सामान्य मज़दूरी की दूनी दर से पारिश्रमिक दिया

होती है।[1] बम्बई, मद्रास और नागपुर जैसे औद्योगिक केन्द्रों में औसतन मिल-कर्मचारी १$\frac{3}{7}$ वर्ष में प्रायः सब-के-सब बदल जाते हैं। इस प्रकार कर्मचारियों की कुशलता घटने के साथ-ही-साथ उत्पादन-लागत भी बढ़ जाती है।

११. औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता—सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुमान के अनुसार, लंकाशायर की मिल का एक श्रमिक २·६७ भारतीय श्रमिकों के बराबर काम करता है। डॉ० गिलबर्ट स्लेटर के मतानुसार, इन गणनाओं में भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित की गई है। भारत और इंगलैंड में एक करघे (लूम) को चलाने के लिए लगाये गए श्रमिकों की संख्या से परिस्थिति का यथार्थ अंकन नहीं होता। भारत में अधिक व्यक्ति लगाए जाने का कारण यह है कि इनके उत्पादन का मूल्य दिये गए पारिश्रमिक की अपेक्षा अधिक होता है। इंगलैंड में पारिश्रमिक अधिक होने के कारण श्रमिकों की संख्या में मितव्ययता करनी पड़ती डॉ० स्लेटर भी यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित की जाती है परन्तु इसका अस्तित्व असंदिग्ध है। इंगलैंड के श्रमिकों की अपेक्षाकृत कहीं अच्छी शारीरिक गठन, लगातार काम करने की शक्ति, अनुशासनबद्धता के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। उपर्युक्त प्रकार के गणितपरक अनुमानों को अपनाने में सावधानी से काम लेना चाहिए। भारतीय मिलों के कम उत्पादन का उत्तरदायित्व केवल भारतीय श्रमिक पर ही नहीं रखा जा सकता। इसका आंशिक कारण प्रबन्ध की अकुशलता भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त कपास की खराबी के कारण भी सूत बराबर टूटा करता है, परिणामस्वरूप अधिक आदमी काम में लगाने पड़ते हैं। यह भी शिकायत है कि लंकाशायर के मिल-मालिकों की तरह भारत के मिल-मालिक अद्यतन मशीनों का उपयोग नहीं करते।

उद्योग-आयोग के मतानुसार निम्नतम मजदूरी के बावजूद भारतीय श्रमिक का उत्पादन पाश्चात्य श्रमिकों से सस्ता नहीं पड़ता। १६०८ में डॉ० नैयर ने कहा कि "यदि लंकाशायर का एक श्रमिक भारत के २·६७ के बराबर है तो लंकाशायर में काम करने वाले की मजदूरी ४ पेनी या ६० रु० है, जबकि मद्रास के एक मजदूर की मजदूरी १५ रु० है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समान व्यय करने पर अंग्रेज़ मिल-मालिक की तुलना में भारतीय मिल-मालिक लगभग दूना काम करा लेते हैं।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तुतः भारतीय श्रमिक अधिक कुशल है। किन्तु अब

और उस प्रकार के श्रम को प्राप्त कर सकें जिस पर प्रधान रूप से कपास की मिलें चलती हैं।[1] अन्य औद्योगिक केन्द्रों की अपेक्षा अहमदाबाद में मज़दूरों के रहने की व्यवस्था अधिक खराब है। प्रायः सभी औद्योगिक केन्द्रों में घनी आबादी की समस्या बढ़ती गई है, क्योंकि औद्योगिक विकास के लिए स्थान चुनने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा जाता। इस दुर्व्यवस्था का यही कारण है। श्रमिक वर्ग में से अधिकांश चालों में रहते हैं जोकि प्रायः एक कमरे की होती हैं, लेकिन इनमें दो से अधिक कमरे नहीं होते। इन चालों का प्रधान उद्देश्य सस्ते-से-सस्ते में अधिक-से-अधिक श्रमिकों को निवास-स्थान देना है।[2]

१४. आवास की कठिनाइयों और स्वच्छता की कमी के दुष्परिणाम—"अच्छे घरों का अर्थ है, गृह-जीवन की सम्भावना, सुख और स्वास्थ्य; बुरे घरों का अर्थ है, गन्दगी, शराबखोरी, बीमारी, आचारहीनता, व्यभिचार और अपराध। इनके लिए अस्पताल, जेल और पागलखानों की आवश्यकता होती है, जहाँ समाज के भ्रष्ट और पतित लोगों को छिपाया जाता है जो स्वयं समाज की लापरवाही के ही परिणाम हैं।" अपूर्ण और गन्दे मकान भी औद्योगिक अशान्ति का कारण हैं। ये सब बुराइयाँ न्यूनाधिक मात्रा में बम्बई में पाई जाती हैं। इनमें से एक सबसे बड़ी बुराई अधिक संख्या में शिशु-मृत्यु है जो बम्बई की गन्दी बस्तियों (स्लम्स) में पाई जाती है। मृत्यु-संख्या निवास के कमरों के विपरीत अनुपात में है। उदाहरण के लिए, १९३६ में एक कमरे वाले निवास-स्थानों में मृत्यु-संख्या ७८.३ प्रतिशत थी।[3] सबसे गन्दे स्थानों में मृत्यु-दर २९८ प्रति-हज़ार थी जबकि साधारण दर २०० से २५० प्रति हज़ार ही थी।[4] अन्त में चाल के जीवन की भयंकर दशाएँ तथा गोपनीयता के अभाव के कारण लोग अपने कुटुम्ब को नहीं ला पाते, जिससे श्रम की कुशलता और स्थिरता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रम जाँच समिति (लेबर इनवेस्टीगेशन कमेटी) इस परिणाम पर पहुँची कि शिक्षा और औषधि-सम्बन्धी सहायता की भाँति सरकार को औद्योगिक आवास का भी उत्तरदायित्व सँभालना चाहिए।

१५. सुधरे आवासों के लिए प्रयास—१९२० तक नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) ने भी अपने कर्मचारियों के लिए २,६०० मकान बनवाए और २,२०० के लिए स्वीकृति दी। पोर्ट ट्रस्ट ने ५,००० व्यक्तियों के लिए मकान बनवाए। इधर नगर की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही थी, परन्तु मिल-मालिकों ने अपने मज़दूरों के आवास के लिए कोई प्रयास नहीं किया। घनी आबादी से बचने के लिए तथा अच्छी आवास-

---

१. श्रमिक नियोक्ताओं द्वारा दी गई आवास-सुविधाओं से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाते। कारण यह है कि इससे उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचती है, क्योंकि हड़ताल और मिल-बन्दी के समय वे उन आवासों से निकाल दिये जाते हैं। उनके अन्य कार्यों की, जिन्हें नियोक्ता अनुचित समझता है, निगरानी भी अवश्य होगी। बी० शिवराव, 'इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया'।

२. हर्स्ट—पूर्वोद्धृत, पृ० २०, श्रम-आयोग १, रिपोर्ट, पैरा २४१ भी देखिए।

३. रिपोर्ट ऑफ़ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी, बम्बई, १९३९, पैरा २६।

४. अ० आ० प्र०, २७१।

साथ लागू किया जाए। (श्रम आयोग रिपोर्ट, अध्याय १५)[1]

कानपुर श्रम जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट (पैरा २११-१२) में सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकार को ५० लाख ऋण लेना चाहिए और ५ वर्ष तक १० लाख प्रतिवर्ष इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट को श्रमिकों के लिए १२,००० मकान बनवाने के लिए दें। १९३८ में बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त किराया जाँच समिति (रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी) ने एक दस-वर्षीय आवास-योजना अपनाने की सिफारिश की, जिसमें राज्य की सहायता से नगरपालिकाओं द्वारा छोटे-छोटे और सस्ते मकानों के निर्माण का सुझाव रखा गया था। समिति ने यह भी सुझाव रखा कि १०,००० या इससे अधिक श्रमिकों को रखने वाला नियोक्ता कम-से-कम २५ प्रतिशत श्रमिकों के लिए आवास की व्यवस्था करे।[2]

तीसरी पंचवर्षीय योजना में मकानों तथा शहरों की उन्नति पर २२७ करोड़ रुपया रखा गया, चौथी योजना में ६८० करोड़ रुपया। निजी क्षेत्र में १३५० करोड़ रुपया रखा गया और चौथी योजना में १८७० करोड़ रुपया रखा जाएगा।[3]

औद्योगिक आवास-सम्बन्धी आधुनिक प्रयत्न—श्रमिकों के आवास के लिए इधर हाल में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये गए हैं। अप्रैल १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने १० वर्ष में श्रमिकों के लिए १० लाख मकान बनाने का निर्णय किया। अप्रैल १९४९ में श्रमिकों के आवास के लिए अपेक्षित पूँजी के आधार पर एक नई योजना बनायी गई। इसके अन्तर्गत $\frac{2}{3}$ पूंजी केन्द्रीय सरकार तथा $\frac{1}{3}$ पूंजी प्रान्तीय सरकार या उसके द्वारा प्रस्तावित नियोक्ता देता। यह योजना भी सफल नहीं हुई क्योंकि राज्य सरकारों से उचित सहयोग नहीं मिल सका।

राज्यीय सरकारों, नियोक्ताओं और श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श करने के बाद भारत सरकार ने सितम्बर, १९५२ में आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास-योजना (सब्सिडाइज्ड इण्डस्ट्रियल हाउसिंग) को अन्तिम रूप दिया। यह १९४९ की योजना का संशोधित रूप था।

१९६६ के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत ६४,५४९ मकान बन जायेंगे। इसके लिए तीसरी योजना में २९.८ करोड़ रुपया रखा गया था।

१,०५,२७७ घरों में से ७९,००० घर अर्थात् ७५% १९५८ के अन्त तक बन चुके थे। स्वीकृत राशि में से १९७१.४७ लाख रुपये की रकम १९५८ के अन्त तक दी जा चुकी थी। १९५७ में आवास-मन्त्रियों के दूसरे सम्मेलन की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए सहकारी समितियों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ६५ प्रतिशत तथा निजी नियोक्ताओं को दी जाने वाली ऋण की मात्रा ३७$\frac{1}{2}$ प्रतिशत

---

१. नगरपालिकाओं द्वारा आवास-सुधार में एक कठिनाई यह है कि वे विशेष रूप से स्लम के मालिकों द्वारा प्रभावित और परिचालित होते हैं।

२. रिपोर्ट ऑफ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी (बम्बई), १९३९, पैरा ८५-७।

३. रिज़र्व बैंक रिपोर्ट।

यह कहना बड़ा कठिन है कि अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तुत पारिश्रमिक-सम्बन्धी आँकड़े कहाँ तक एकरूप होते हैं। कारखानों को निम्न पाँच मदों के अन्तर्गत सूचना देनी होती है।

(१) आधार मजदूरी (Basic wages), (२) नकद भत्ते, जिनमें मंहगाई का भत्ता भी शामिल है, (३) रियायत या छूट या द्राव्यिक मूल्य, (४) बोनस तथा (५) बकाया (arrear)। तीसरी मद में भिन्नता की पर्याप्त गुंजाइश है क्योंकि द्राव्यिक मूल्य निकालने के लिए कोई सर्वमान्य आधार नहीं है। इसके अलावा सभी कारखाने यह सूचना प्रस्तुत नहीं करते। सूचना देने वाले कारखानों की संख्या प्रतिवर्ष अलग-अलग होती है। अतएव इनके आधार पर प्रतिव्यक्ति वार्षिक पारिश्रमिक पूर्णतः तुलना योग्य नहीं होता।

सरकार की उदार श्रम-नीति के कारण पारिश्रमिक में बढ़ने की स्पष्ट प्रवृत्ति है। सन् १६५८ के विभिन्न निर्णयों और समझौतों का परिणाम सम्बन्वित उद्योगों में किसी-न-किसी रूप में पारिश्रमिक की वृद्धि ही रहा है। उदाहरणार्थ पश्चिमी बंगाल के सूती वस्त्र उद्योग में जून १६५८ के निर्णय के अनुसार बेसिक मज़दूरी २८.१७ रुपये तथा महँगाई भत्ता ३२.५० रुपये और इस प्रकार कुल मासिक मज़दूरी ६०.६७ रुपये हो गई, जबकि १६४८ के औद्योगिक ट्रिब्युनल ने २० रु० २ आ० ५ पा० की बेसिक मज़दूरी तथा ३० रु० का मँहगाई भत्ता निश्चित कर कुल मासिक मजदूरी ५० रु० २ आ० ५ पा० निर्धारित की थी। बढ़ते हुए मूल्यों को दृष्टि में रखने पर मज़दूरी की वृद्धि पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता।

वास्तविक वेतन में बढ़ोतरी हुई, यद्यपि कीमतें बढ़ी हैं, इसका पता हमें निम्न तलिका से चलता है—

	१६५७	१६६३
(१) आम सूचांक वेतन का	१७०	१६५
(२) भारतीय श्रमिक संघ उपभोक्ता कीमतों का सूचांक	१२८	१५४
	—	—
(३) वास्तविक वेतन का सूचांक	१३४	१२६

१७. रहन-सहन का निम्न स्तर—भारतीय कृपक की अकुशलता का एक प्रधान कारण उसके रहन-सहन के स्तर की निम्नता भी है। पूर्ण कुशलता के लिए आवश्यक जीवन-यापन स्तर से भारतीय श्रमिक का स्तर बहुत नीचा है। इस आमदनी से सन्तोष-जनक जीवन-स्तर कायम रखना प्रायः असम्भव-सा ही है। काम करने वाला स्वास्थ्य-वर्धक भोजन नहीं खरीद सकता, चाहे वह अपनी आय कितनी ही बुद्धिमानी से खर्च करे। हम रहने के मकानों के सम्बन्ध में दयनीय अवस्था का विवरण पहले ही कर आए हैं। देश की गरम आबहवा को ध्यान में रखते हुए उसके कपड़े बहुत ही कम हैं। शिक्षा पर होने वाला व्यय प्रायः नहीं के बराबर है। उसके फर्नीचर हैं कुछ

किन्तु यह वृद्धि कुछ अधिक दिन तक कायम रहे तो यह दशा समाप्त हो जाएगी। और यदि यह वृद्धि क्रमिक होगी तो यह बेवकूफी की दशा शायद आए ही नहीं। लेकिन यह कहना कि गरीब आदमियों की फिजूलखर्ची और बेवकूफी इतनी अधिक है कि उसकी आय में वृद्धि ही अवाञ्छनीय है, क्योंकि उससे आर्थिक सुख-समृद्धि की वृद्धि ही नहीं होगी, नितान्त भ्रामक है।''[१]

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की दशा भी पारिश्रमिक को समता की ओर ले जाने में भयानक बाधा डाल रही है। यह तो मानना पड़ेगा कि कम-से-कम अल्पकाल के ही लिए कोई भी देश अपने श्रमिकों से भरपूर परिश्रम लेकर काफ़ी लाभ उठा सकता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सभी देश इसी नीति का अनुसरण करेंगे। यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त घोर परिश्रम से अर्जित व्यापार में स्थायी लाभ नहीं होगा, क्योंकि अन्त में इस प्रकार के श्रम का परिणाम यह होगा कि कार्यक्षमता घट जाएगी। इसके विपरीत कोई भी सभ्य देश यह नहीं भूल सकता कि उत्पादन-वृद्धि के आर्थिक आदर्श के समान ही महत्त्वपूर्ण आदर्श मानव-जीवन को उच्चतर बनाना है।

२०. निम्नतम वैध मजदूरी[२]—जनेवा में हुए १९२८ के ११वें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में एक ऐसे यन्त्र के निर्माण और कायम रखने पर ज़ोर दिया, जिसके द्वारा विशिष्ट व्यापार और उद्योग में लगे कर्मचारियों के लिए एक न्यूनतम वेतन का मानदण्ड निश्चित किया जाए। यह ऐसे उद्योगों, विशेषकर गृह-उद्योगों, से सम्बन्ध रखता है जिनमें वेतन का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है और जिनमें पारिश्रमिक काफी नीचा है। श्रम आयोग का सुझाव है कि न्यूनतम पारिश्रमिक-निर्धारक यन्त्र की स्थापना से पहले ऐसे उद्योगों को चुनना होगा जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित धारणा है कि उनमें वेतन की दशा शोचनीय है और विस्तृत गवेषणा वाञ्छनीय है। इन गवेषणाओं के आधार पर यह निश्चित किया जाए कि क्या न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारण व्यवहार्य और वाञ्छनीय है? इस प्रकार के निर्णय के पश्चात् व्यय पर विशिष्ट रूप से आँख रखनी होगी, क्योंकि नियोक्ताओं की उदासीनता और कर्मचारियों के अज्ञान के कारण इन नियमों के पालन में बड़ी असुविधा और शिथिलता होती है। यदि बिना भयंकर परिणामों के वाञ्छनीय उद्देश्य प्राप्त करना है तो गति को धीमा करना होगा।[३]

१९३८ में नियुक्त बिहार श्रम-जाँच-समिति ने जून, १९४० में रिपोर्ट दी तथा अन्त में श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए १५० सिफारिशें कीं। १९४७ के केन्द्रीय वेतन-आयोग की रिपोर्ट ने ऊँची श्रेणी से लेकर नीची श्रेणी के सरकारी

१. ए० सी० पीगू, 'इकनामिक्स ऑफ़ वेलफेयर'।

२. देखिए, इण्डियन जर्नल ऑफ़ इकनामिक्स, कॉन्फरेन्स नवम्बर १९६०, मज़दूरी विधान तथा भारतीय दशाओं से इसका सम्बन्ध, वी० आर० सेठ और एस० पी० सक्सेना।

३. अ० आ० प्र०, २१२-१४।

जाए जबकि श्रमिक कर्ज़ चुकाने योग्य होकर भी उसे अदा नहीं करता। श्रमिकों के अप्राप्य कर्ज़ को समाप्त करने में सरसरी विधि का उपयोग करना चाहिए और कर्ज़ की अदायगी को श्रमिक के वेतन के साथ इस प्रकार सन्तुलित करना चाहिए ताकि उसे चुकाने में अधिक कठिनाई का सामना न करना पड़े। कर्ज़दार श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कानपुर श्रम जाँच समिति ने मध्य प्रदेश के कर्ज़दार सुरक्षा नियम (१६३७) के आधार पर उपाय अपनाने का प्रस्ताव किया।[1] इस अधिनियम के अनुसार किसी कर्ज़दार के साथ बुरी तरह से व्यवहार करना दण्डनीय अपराध है। बंगाल में अधिक सीमित अधनियम प्रचलित है। सरकारी ऋण इस समस्या का अधिक स्थायी समाधान है।[2]

भारत में श्रम-विधान

२२. भारत में श्रम-विधान का उतरोत्तर बढ़ता हुआ क्षेत्र—भारत में श्रम-विधान इंगलैण्ड-जैसे औद्योगिक देश के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है। कारण यह है कि यहाँ यान्त्रिक शक्ति का प्रसार और प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। उद्योगीकरण के दुर्गुणों को दूर करने के लिए दृढ़तापूर्वक सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है, चाहे इससे उद्योगीकरण में थोड़ी बाधा ही पहुँचे। अब तक हम यूरोपीय देशों के अनुभव से लाभ उठाने में असफल रहे हैं। अज्ञानता का बहाना किये बिना ही हमने अपने बीच अनेक दुर्गुण ही रहने दिए हैं, जैसे स्लम वाले शहरों का बढ़ना, शिशु-श्रम का शोषण, काम के अधिक लम्बे घण्टे, सफाई की कमी, सुरक्षा का अभाव इत्यादि। इन्हें दूर करने का हम अब प्रयास कर रहे हैं।

२३. श्रम-विधान की एकरूपता की आवश्यकता—१६३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थापित प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही प्रान्तों में लोकप्रिय मन्त्रि-मण्डलों का शासन प्रारम्भ हुआ। इन्होंने श्रम की स्थिति के सुधार पर ज़ोर दिया। इससे अनेक प्रान्तीय सरकारों के श्रम-अधिनियम में एकरूपता का अभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। एकरूपता का अभाव निश्चित रूप से औद्योगिक प्रगति के लिए घातक है, विशेषकर उन प्रान्तों के लिए जो औद्योगिक विकास में आगे बढ़े हुए हैं। इस प्रश्न पर श्रम-मन्त्रियों और राज्य-प्रशासकों (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटर्स) के प्रथम सम्मेलन में विचार किया गया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार चार प्रमुख विषयों पर कानून बनाए (औद्योगिक झगड़े, सवेतन छुट्टियाँ, श्रम और उद्योग-सम्बन्धी आँकड़ों का संकलन और पारिश्रमिक देने के अधिनियम का संशोधन), जिन पर प्रान्तों और श्रम-मन्त्रियों के दूसरे सम्मेलन द्वारा विचार किया जाए।

२४. भारत में फैक्ट्री-विधान का प्रारम्भ—बम्बई में कपास-उद्योग की प्रगति से लंकाशायर के निर्माण करने वालों की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया,

---

१. देखिए, रिपोर्ट, पृ० २३७।

२. देखिए, भाग १, अध्याय १०, सेक्शन ११।

प्रतिदिन से अधिक नहीं हो सकते थे। सप्ताह ६ दिन से अधिक का नहीं हो सकता था। सभी वर्ग के श्रमिकों के लिए मध्यान्तर और विश्राम का आयोजन किया गया। ६ घंटे के बाद १ घंटे का विश्राम आवश्यक घोषित किया गया। इसे श्रमिकों की प्रार्थना पर ½ घंटे के दो विश्रामों में विभाजित किया जा सकता है, यदि लगातार ५ घंटे से अधिक काम न किया जाता हो। निरीक्षण की पद्धति में और सुधार कर दिया गया। पूरे समय तक काम करने वाले निरीक्षकों की नियुक्ति की गई। सुरक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित धाराएँ और व्यापक बना दी गईं। स्थानीय सरकारों को प्रकाश और कृत्रिम नमीकरण के मानदण्ड स्थिर करने के अधिकार दिये गए।

२७. १९३४ का कारखाना-अधिनियम, १९४६ का संशोधन तथा १९४८ का अधिनियम—१९२२ के अधिनियम में १९२३, १९२६ और १९३१ में संशोधन करके कितनी ही प्रशासकीय कठिनाइयाँ दूर कर दी गईं। कुछ मामूली सुधार भी किये गए। १९३४ में एक नवीन अधिनियम पास किया गया। श्रम-आयोग की सिफारिश पर पास किया गया यह अधिनियम १ जनवरी, १९३५ में लागू किया गया। यह अधिनियम

(१) वर्ष-भर चालू रहने वाले और मौसमी कारखानों में भेद स्थापित करता है।

(२) १५ और १७ वर्ष की आयु वालों के एक तृतीय किशोर-वर्ग की स्थापना करता है, जिन्हें वयस्कों के काम के उपयुक्त न समझा जाने पर बच्चा समझा जाएगा।

(३) मौसमी कारखानों में काम करने वालों के लिए ११ घण्टे प्रतिदिन और ६० घण्टे प्रति सप्ताह की सीमाएँ अब भी लागू हैं। किन्तु वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानों के श्रमिकों के सम्बन्ध में सीमाएँ १० घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह कर दी गईं। बच्चों के लिए सर्वत्र ५ घण्टे प्रतिदिन की व्यवस्था है।

(४) प्रथम बार प्रसार का सिद्धान्त व्यवहार में लाया गया, अर्थात् लगातार काम करने की सीमा पुरुषों के सम्बन्ध में १३ और बच्चों के सम्बन्ध में ७½ घण्टे कर दी गई।

(५) कृत्रिम नमीकरण की वर्तमान धाराएँ और व्यापक बना दी गईं। इस अधिनियम द्वारा स्थानीय सरकारों को एक निरीक्षक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया, जिसका कार्य सब कारखानों के प्रबन्धकों को हवा में ठण्डक बढ़ाने का प्रबन्ध करने का निर्देश देना और पालन कराना था।

(६) भलाई के लिए भी कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। उदाहरण के लिए कारखानों में विश्राम के लिए समुचित व्यवस्था, जिनमें स्त्री और बच्चों के लिए कमरे सुरक्षित रहें और प्राथमिक सहायता की व्यवस्था आदि।

(७) स्थानीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे कार्य-समर्थता के सम्बन्ध में नियम बनाएँ और उन बच्चों को कारखानों में काम न करने दें जो काम करने के अयोग्य प्रमाणित किये गए हैं।

(८) निरीक्षकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे प्रबन्धकों से कारखानों

को संशोधित किया। इनका सम्बन्ध कटौती तथा हटाने से पूर्व कर्मचारी को नोटिस देने से था। १९५८ में मद्रास आहार-प्रदान (केटरिंग) संस्थापन अधिनियम पास हुआ। इस नियम के लागू होने के पश्चात् आहर-प्रदान संस्थापन साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम १९४२, कारखाना अधिनियम १९४८ तथा मद्रास के दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम १९४७ से मुक्त हो गए।

२९. चाय के जिलों के प्रवासी श्रम अधिनियम १९३२ (दि टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेंट लेबर एक्ट)—बाग लगाना औद्योगिक श्रम से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, परन्तु इसकी कुछ अपनी समस्याएँ हैं जो विशेप रूप से आसाम के चाय के बगीचों के लिए श्रमिकों की भरती से सम्बन्धित हैं। चाय के बगीचे लगाने वाले श्रमिकों की नियुक्ति-सम्बन्धी मामले उपर्युक्त अधिनियम द्वारा नियन्त्रित होते हैं। १९३२ का अधिनियम श्रम-आयोग की सिफारिशों पर आधारित है। यह सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत (जिसमें संथाल परगना भी शामिल है) में लागू होता है। १९३२ के नियम का प्रथम उद्देश्य नियुक्ति पर नियन्त्रण करना, सहायता-प्राप्त प्रवासियों को आसाम के चाय बगीचों की ओर भेजना तथा यह देखना था कि उनके ऊपर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाए जाएँ। भारत सरकार के नियन्त्रण में स्थानीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे सहायता-प्राप्त प्रवासियों के ऊपर नियन्त्रण रखें। नियोक्ताओं को प्रमाण-प्राप्त बगीचों के सरदार अथवा अनुज्ञा-प्राप्त भरती करने वालों के अलावा अन्य किसी माध्यम द्वारा भरती करने से रोका गया। १६ साल से नीचे के व्यक्तियों को प्रवास में सहायता देना अवैध घोषित किया गया, जब तक कि वे अपने माता-पिता या अभि-भावकों के साथ न हों। जहाँ तक फिर से लौटने का सम्बन्ध है, प्रत्येक प्रवासी श्रमिक आसाम में आने के तीन वर्ष बाद लौटने का अधिकारी है, भले ही किसी नियोक्ता ने उसे पुन: नौकर रख लिया हो। तीन साल के पहले भी लौटना सम्भव था, परन्तु यह ऐसी दशा में ही हो सकता था जबकि प्रवासी का स्वास्थ्य खराब हो रहा हो, या उसे समुचित काम न मिला हो, या उसकी मज़दूरी रोक ली गई हो, या और कोई पर्याप्त कारण हो।

फलत: केन्द्रीय सरकार ने १९३३ में चाय के बगीचों के प्रवासी श्रम नियम बनाए। सन् १९५४ में एक अधिसूचना द्वारा इन्हें संशोधित किया गया। इन संशो-धनों में श्रम को पूर्णतया भारतीय रेल मार्ग द्वारा आसाम भेजना, भरती करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था, श्रमिकों के वापस जाने के अधिकारों की रक्षा आदि बातें सम्मिलित थीं। १९५१ के लेबर एक्ट के अनुसार चाय-कहवे के बगीचों में काम करने वाले मज़दूरों की मकानों तथा वस्त्रों की देख-रेख, शिक्षा तथा मनोरंजन के साधन बनाये गए। इस अधिनियम को १९६१ में संशोधित किया गया जिससे मालिक देयता से छुटकारा न पा सकें।

३०. खानों के लिए श्रम-विधान—कपड़े के उद्योग की अपेक्षा खानों के श्रमिकों के सम्बन्ध में श्रम-विधान काफ़ी धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ। १९०१ में पहला भारतीय खान अधिनियम (इण्डियन माइन्स एक्ट) पास हुआ और निरीक्षकों की नियुक्ति हुई।

में संशोधन करने के लिए एक बिल पेश किया गया जो १५ मार्च, १९५२ को पास होकर १ जुलाई, १९५२ से लागू किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह कानून सारे भारत पर लागू है। इस कानून के अन्दर खानों की परिभाषा और विशद रूप से दी गई। मज़दूरों की सुरक्षा तथा भलाई के विषय में भी विशद व्यवस्थाएँ की गईं। इस कानून के अनुसार खान के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों का काम ९ घण्टे प्रतिदिन तथा ४८ घण्टे प्रति सप्ताह कर दिया गया। खान के भीतर काम करने वाले श्रमिकों की अवधि ८ घण्टे प्रतिदिन तथा ४८ घण्टे प्रति सप्ताह कर दी गई। स्त्रियाँ खानों के ऊपर शाम के ७ वजे से प्रातः ६ वजे तक काम नहीं करेंगी। केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर सकती है, परन्तु वह रात्रि के १० वजे और प्रातः ५ वजे के बीच स्त्रियों और वयस्कों का काम करना वैध नहीं कर सकती। इस कानून में सवेतन छुट्टियों की भी व्यवस्था है।

खानों में काम करने वाले मज़दूरों की भलाई के लिए एक प्रकार का कोष खोला गया है जो ५६ संस्थाओं, ६१ वयस्कों की शिक्षा के लिए तथा ५९ स्त्रियों की भलाई के लिए कुछ आराम-गृह चला रहा है। इसकी वार्षिक आमदनी ३.५ करोड़ है। इसी प्रकार १९६१ के एक्ट के अनुसार (Iron Ore Mines Labour Welfare Cess) इनमें काम करने वालों की हालत को कोयले और मायका जैसा बनाया गया।

३१. रेलवे के श्रमिकों से सम्बन्धित अधिनियम—रेलवे के सभी कारखाने १९२२ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभा के प्रति अपने परिनियत कर्त्तव्यों को पूरा कर सका। इसके अनुसार कोई भी रेलवे कर्मचारी, एक सप्ताह में ६० घण्टे से अधिक काम न करेगा। ऐसा रेलवे कर्मचारी, जिसका काम स्थायी नहीं है, ८४ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। उपर्युक्त व्यवस्थाओं से अस्थायी छूट प्राप्त हो सकती है : (१) ऐसी कठिन परिस्थिति में जबकि रेलवे के काम में कोई भयंकर बाधा उपस्थित हो गई हो, (२) या कार्यभार अत्यन्त अधिक हो। परन्तु ऐसी दशा में अधिक समय तक काम करने का वेतन मिलेगा। सप्ताह में लगातार २४ घण्टे का विश्राम आवश्यक था। इसमें कभी-कभी, उदाहरणार्थ उपर्युक्त परिस्थितियाँ आने पर, व्यतिक्रम हो सकता है। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को रेलवे श्रम के निरीक्षकों की नियुक्ति का अधिकार था, ताकि वह इस बात का पता लगा सके कि कानून की धाराओं का पालन हो रहा है या नहीं।

३२. सन् १९२३ का श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून (संशोधित रूप में)—प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में इस बात को वैध स्थान प्राप्त हो गया है कि यदि श्रम के नियमित घण्टों के बीच किसी कर्मचारी को काम करते समय किसी प्रकार की शारीरिक हानि पहुँचे तो उसे क्षतिपूर्ति दी जाए। भारत में क्षतिपूर्ति देने के विचार की प्रगति धीमी रही है। १९२३ के अधिनियम के पूर्व दुर्घटना से मृत्यु हो जाने पर १८८५ के घातक दुर्घटना अधिनियम (फेटल एक्सीडेण्ट्स एक्ट) के अन्तर्गत निर्भरता पर मुकदमा दायर किया जा सकता था, परन्तु इस अधिनियम का शायद ही कभी प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त नियोक्ता का उत्तरदायित्व भी अनिश्चित था।

३३. सामाजिक बीमा—औद्योगिक श्रमिक की सुरक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा का सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित जर्मनी और ब्रिटेन-जैसे सभी देशों में स्वीकार किया गया है। इसमें श्रमिकों को होने वाली कठिनाइयों, जैसे बीमारी, वृत्तिहीनता, वृद्धावस्था आदि, से बचाने की व्यवस्था है। बम्बई की कांग्रेस सरकार ने सामाजिक बीमा के विकास की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की तथा इस बात पर भी विचार किया कि बीमारी के समय में भी वेतन दिया जाए। यह इस आशा से किया गया कि इससे बीमारी के बीमे का मार्ग प्रशस्त होगा।[1]

गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने १९४४ में एक श्रम जाँच समिति (लेबर इन-वेस्टिगेशन कमेटी) नियुक्त की। इसने ३६ उद्योगों की विस्तृत तथ्य-स्थापक जाँच की। इस समिति द्वारा प्राप्त तथ्यों ने नीति-निर्धारण को पुष्ट आधार प्रदान किया। सामाजिक बीमा की योजनाओं के सम्बन्ध में विचारणीय महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उद्योग इस प्रकार से पड़े हुए भार को कहाँ तक सह सकता है? यह वाञ्छनीय है कि सामाजिक बीमा की योजनाएँ अन्य देशों की योजनाओं के समान अंशदायी हों और श्रमिक, नियोक्ता तथा सरकार तीनों ही अपना-अपना न्यायोचित भार वहन करें।

श्रमिक राज्यीय बीमा अधिनियम (एम्प्लाईज़ स्टेट इंश्योरेंस एक्ट), जोकि अप्रैल, १९४८ में पास किया गया, में इस बात की व्यवस्था है कि बीमारी और काम के समय लगी चोट आदि के सम्बन्ध में अनिवार्य राज्यीय बीमा हो तथा ४०० रु० माहवार से कम पाने वाली स्त्रियों को प्रसूति-सहायता प्राप्त हो, चाहे वे हाथ का काम करती हों या बाबूगीरी (क्लर्की)। राज्य सरकारों को अस्पताल द्वारा देख-रेख और दवा का व्यय संभालना होगा। बीमारी के लिए नकद सहायता एक वर्ष में अधिक-से-अधिक आठ सप्ताह मिलेगी। काम में लगने वाली चोट से उत्पन्न अयोग्यता के समय अयोग्यता-सहायता (डिसेबलमेण्ट बेनीफिट) प्राप्त होगी। कुछ दशाओं में विधवाओं, पुत्रों और पुत्रियों को 'आश्रितों की सहायता' देने की भी व्यवस्था की गई है।

१९५१ के संशोधन के अनुसार नियोक्ताओं का अंशदान उनके द्वारा दी जाने वाली कुल मज़दूरी का $\frac{3}{4}$% निश्चित कर दिया तथा $\frac{1}{2}$% इसके अलावा निश्चित किया। इस प्रकार नियोक्ताओं का अंशदान अब $1\frac{1}{2}$% है।

इस स्कीम को १०० से अधिक केन्द्रों में लागू किया गया है और १७ लाख मज़दूरों को बीमा से लाभ पहुँचाया गया है। तीसरी योजना में ३० लाख मज़दूरों को लाभ पहुँचेगा।

३४. भारत में औद्योगिक झगड़ों का इतिहास—१९१७ से पहले भारत में हड़तालें प्रायः नहीं होती थीं। १९०५ में बम्बई में कई हड़तालें हुईं, जिनका कारण बिजली का प्रचार था, जिससे काम बहुत अधिक समय तक सम्भव था। १९१९-२० में जब

---

१. लेबर गज़ट (बम्बई), अगस्त १९३७, पृ० ९२१।

कर दी जाएं। यद्यपि अनेक उद्योगों में अभूतपूर्व लाभ हुए परन्तु सामान्य रूप से श्रमिकों की दशा गिरती ही गई। हड़तालों का भूत सवार हो गया और देश में श्रम-असन्तोष की लहर सी आ गई। इसका कारण राजनीतिक एवं सामाजिक भी है और अंशतः साम्यवादियों की क्रियाएँ भी हैं, लेकिन प्रधान कारण कीमतों और मज़दूरी के बीच की गहरी खाई ही है।[1]

३६. **औद्योगिक झगड़ों की रोक-थाम**—औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए स्थापित यन्त्र की विवेचना करने से पूर्व उन्हें रोकने के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना उचित होगा। इन्हें रोकने के लिए नियोक्ताओं और श्रमिकों का दृढ़ संगठन पहली आवश्यक वस्तु है। भारत में नियोक्ता प्रायः अच्छी तरह संगठित हैं, लेकिन श्रमिकों की दशा ऐसी नहीं है, अतः मज़बूत श्रम-संघों की आवश्यकता है। दोनों पक्षों के सुदृढ़ संघों (जो अपने-अपने पक्ष के लिए अच्छी तरह बोल सकते हैं) के निर्माण से यत्र-तत्र होने वाली हड़तालें और काम-बन्दी रुक जाएगी। साथ ही हड़ताल करने के पहले ही माँगों की रूपरेखा तैयार हो जाएगी, न कि हड़ताल करने के बाद, जो भारतीय हड़ताल की प्रधान विशेषता है। अहमदाबाद की कपड़े की मिलों के झगड़ों में मध्यस्थता करने के लिए एक स्थायी मध्यस्थ परिषद् (आरबीट्रेशन बोर्ड) की स्थापना की गई है।

अब हम झगड़ों को तय करने के लिए मध्यस्थता और समझौते के तरीकों की विवेचना करेंगे। १९१४-१८ के बाद हुए अनेक झगड़ों से उन्हें सुलझाने और जाँच करने के लिए उचित साधन की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। इस ओर सबसे पहला कदम मद्रास सरकार ने उठाया। १९२१ में बंगाल सरकार द्वारा नियुक्त तथा १९२२ में बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त समितियों ने बहुत अच्छा प्रारम्भिक काम किया और झगड़ों के निवारण और मध्यस्थता के सम्बन्ध में विस्तृत सिफारिशें पेश कीं। भारत सरकार ने समस्या की अखिल भारतीयता पर ज़ोर दिया। लेकिन श्रम संघ बिल (ट्रेड यूनियन बिल) पास होने से पूर्व इसे अपरिपक्व माना गया। श्रम संघ बिल १९२६ में कानून बन गया और अगले वर्ष से लागू कर दिया गया। व्यापार-विग्रह अधिनियम (ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट), जो १९२९ में पास किया गया था और प्रारम्भ में केवल आगामी ५ वर्ष तक लागू रहता, १९३४ में स्थायी बना दिया गया।

सन् १९४० से भारत सरकार ने एक नवीन परामर्शदात्री संस्था को जन्म दिया और उसे पूर्णता प्रदान की। इसका नाम भारतीय श्रम सम्मेलन (त्रिदलीय श्रम सम्मेलन)[2] था।

---

१. १९५८ में १९५७ की तुलना में औद्योगिक झगड़ों की संख्या में कमी हुई। १९५७ में औद्योगिक झगड़ों की संख्या १६३० थी, जबकि १९५८ में १५२४ थी। इसके बावजूद भी झगड़ों से संबंधित व्यक्तियों की संख्या तथा काम के दिनों में काम से अलग रहने वालों की संख्या में ४.४ प्रतिशत तथा २१·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९५८ के प्रथम अर्द्ध-वर्ष की तुलना में दूसरे अर्द्ध-वर्ष में औद्योगिक अशान्ति का ज़ोर कम रहा। इसका कारण नियोक्ताओं तथा श्रमिकों के संगठनों द्वारा अनुशासन-सम्बन्धी मर्यादाओं (कोड ऑफ़ डिसिप्लिन) को स्वीकार करना था।

२. ट्रिपार्टाइट लेबर कॉन्फरेन्स।

जनोपयोगी सेवाओं के नियोक्ता पूर्व-सूचना दिये विना ही उन्हें स्वयं वन्द करते हैं तो उन्हें विशेप दण्ड दिया जाता है (इनका दण्ड अधिक होता है)। अपराध को प्रोत्साहन देने वालों को साधारण अपराधी संशोधन अधिनियम (क्रिमिनल अमेण्डमेण्ट लॉ) के अनुसार सज़ा मिलेगी। (छ) **अवैध हड़तालें**—१६२७ के ब्रिटिश व्यापार विग्रह अधिनियम (ब्रिटिश ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट) के अनुसार अवैध हड़तालों के सम्वन्ध में और भी व्यवस्थाएँ हैं। ऐसी हड़ताल या मिल-बन्दी को अवैध करार दिया जाता है।

इस विधान के अनुसार नियोक्ता और श्रमिकों के संगठन का अस्तित्व पहले से ही मान लिया जाता है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के संगठन का विकास करना, यत्र-तत्र होने वाली हड़तालों को रोकना तथा इस बात में सहायता करना है कि माँगें हड़ताल होने से पहले ही व्यवस्थित रूप धारण कर लें (न कि हड़ताल होने के बाद)। अधिनियम के अन्तर्गत सहानुभूति में की गई हड़तालें अवैध होंगी। इसके विपक्ष में कहा गया है कि सरकार इस आधार पर किसी भी हड़ताल को अवैध घोपित कर सकती है। लेकिन इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड की त्रिगुट हड़ताल (ट्रिपल स्ट्राइक) (१६२६) जैसी हड़तालें देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। कानून की अन्य धाराओं के समान इस धारा का भी केवल इसी आधार पर विरोध नहीं किया जा सकता है कि इसका दुरुपयोग हो सकता है। यह भी कहा गया है कि हड़तालों को अवैध घोषित करने वाली धाराएँ श्रमिकों के आधारभूत अधिकारों में हस्तक्षेप करती हैं और श्रम-संघ आन्दोलन का शैशव-काल में ही गला घोंट देंगी तथा मज़दूरों के मन में अविश्वास उत्पन्न करेंगी। यह भी कहा जाता है कि अधिनियम में जनोपयोगी सेवाओं और अवैध हड़तालों से सम्वन्धित भाग अनावश्यक हैं। समाज़-सुरक्षा, जैसे पानी की पूर्ति, प्रकाश तथा सफाई आदि, में एकाएक की गई हड़तालें पहले से ही दण्ड-विधान (पीनल कोड) के अन्तर्गत दण्डनीय हैं। साधारण जनोपयोगी सेवाओं में होने वाली हड़तालों (उदाहरण के लिए, डाक, तार टेलीफोन या रेलवे) के सम्वन्ध में इतनी सख्ती न वरतनी चाहिए।

अगस्त, १६३७ से लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के वाद अधिनियम का प्रायः उपयोग किया जा रहा है, विशेप रूप से मद्रास प्रान्त में। जाँच न्यायालय और समझौता परिषद् की नियुक्ति-सम्वन्धी कार्यविधि भाराक्रान्त प्रतीत हुई। परिणामस्वरूप वम्बई की सरकार ने १६३४ में नवीन अधिनियम पास किया।

(२) श्रम-आयोग ने सिफ़ारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्तीय सरकार समझौते के लिए एक या एकाधिक अफसर रखे। मद्रास के श्रमायुक्त, पंजाव के उद्योग-संचालक-मध्य प्रान्त के सांख्यिकीय संचालक, सहायुक्त और उद्योग-संचालक को समझौता अफ़सर के अधिकार दिये गए हैं।

(३) **१६३४ का वम्बई व्यापार विग्रह समझौता अधिनियम (दि वॉम्बे ट्रेड डिसप्यूट्स कंसीलियेशन एक्ट)**—इसमें एक श्रम-आयुक्त की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गई जो पदेन प्रधान समझौताकार होता है। इसमें श्रमाधिकारी और सह-समझौताकार की भी व्यवस्था थ श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए १६३४ में एक श्रम-

आवश्यकता से अधिक सख्त और कामगरों के हड़ताल घोषित करने के स्वतन्त्र अधिकार का विरोधी है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि यह हड़ताल करने के अधिकार को समाप्त नहीं करता बल्कि इसके उपयोग को तब तक टालता रहता है जब तक कि सभी शान्तिपूर्ण तरीके, जिनसे व्यापारिक विग्रह का समझौता किया जा सकता है, समाप्त न हो जाएँ।

इस अधिनियम की दूसरी आलोचना यह है कि आन्तरिक संगठन के मूल्य को आँकने के लिए कुछ भी नहीं करता, जिससे श्रमिकों के सहयोग में बाधक मनोवैज्ञानिक अन्तर दूर किये जा सकते हैं। इसका आधारभूत विचार सामूहिक सौदे (कलेक्टिव बार्गेनिंग) का प्रचलन है, जिसमें एक ओर नियोक्ता और दूसरी ओर संगठित श्रमिक-समाज होता है।[1]

सन् १९३९-४५ के युद्ध-काल में और भी कानूनी व्यवस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो न केवल पर्याप्त रूप से लचीली ही हों बल्कि झगड़ों के समझौते के निश्चित उपाय भी प्रस्तुत करें। १९४२ में भारत सरकार द्वारा पास किये गए भारत-सुरक्षा-नियम ८१ 'अ' का यही मूल सिद्धान्त था। इससे श्रमिकों की हड़ताल करने की स्वतन्त्रता बहुत सीमित हो गई। १९४१ का आवश्यक सेवा (स्थापन) अध्यादेश (असेंशियल सर्विसेज़ मेण्टिनेंस एक्ट) भी इसी प्रकार का था। इसका उद्देश्य श्रमिकों को सरकार द्वारा आवश्यक घोषित की गई सेवाओं को छोड़ने से रोकना था।

(५) **बम्बई औद्योगिक सम्बन्ध अधिनियम** (१९४६) का उद्देश्य १९३८ के औद्योगिक विग्रह अधिनियम को स्थानान्तरित करना हैं, जिसकी प्रायः सभी धाराएँ पूर्ववत् रखी गई हैं तथा कुछ नई धाराएँ भी जोड़ी गई हैं। अनुभव से सिद्ध हुआ है कि मध्यस्थता तथा समझौतों और निर्णयों से पर्याप्त सफलता मिली है तथा श्रमिकों को भी लाभ हुआ है।

औद्योगिक विग्रह अधिनियम (१९४७)—यदि समझौताकार मैत्रीपूर्ण ढंग से समझौता नहीं करा सकता तो मामला समझौता-परिषद् के हाथ में चला जाता है, जिसमें एक स्वतन्त्र सभापति और दो से चार तक अन्य सदस्य होते हैं। यह आशा की जाती है कि परिषद् अपना काम दो महीने में समाप्त करेगी। यदि परिषद् समझौता कराने में सफल होती है तो यह समझौता छः महीने या दोनों दलों द्वारा स्वीकृत अवधि में से उस समय तक के लिए लागू किया जाता है जो अधिक लम्बा हो। इसमें एक जाँच-न्यायालय की नियुक्ति की भी व्यवस्था है जो कि सौंपे गए विवादास्पद प्रश्न की छानबीन करता है। न्यायालय में एक या अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। इसे उचित सरकार को अपनी जाँच छः महीने के अन्दर देनी होती है। उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) के न्यायाधीशों द्वारा निर्मित एक औद्योगिक मध्यस्थ न्यायालय (इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल) का निर्णय छः महीने या दोनों पक्षों को मंजूर किसी अन्य अवधि—

१. देखिए, इण्डियन जर्नल ऑफ़ इकनॉमिक्स, कॉन्फरेन्स अंक, १९४०, में श्री पी० एस० लोकनाथन का 'इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स एण्ड लेजिस्लेशन' नामक लेख।

समितियाँ-सी थीं जिनमें कुछ अफ़सर और कुछ चन्दा देने वाले सदस्य थे।[1] परिस्थिति धीरे-धीरे सुधर रही है। आन्दोलन की प्रारम्भिक दशा में आर्थिक कष्ट के एकमात्र सूत्र से श्रमिक बँधे रहते थे। यह बन्धन आर्थिक स्थिति के सुधार के साथ ही कमज़ोर होता जाता था। बाद में आन्दोलन में शक्ति आती गई। इसे १६२६ के श्रम-संघ अधिनियम द्वारा काफी बल मिला। भारत के व्यापार-संघ आन्दोलन को प्रारम्भ से ही एक अखिल भारतीय संस्था—अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस (ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस)—का सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके अधिवेशन १६२० से होते आ रहे हैं।

१६४८ के अन्तिम तथा १६४६ के प्रारम्भिक महीनों में ट्रेड यूनियन कांग्रेस से कितने ही संघ अलग हो गए। ट्रेड यूनियन कांग्रेस अब कम्यूनिस्टों के अधिकार में है। इधर हाल में कांग्रेस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अहमदाबाद में भी एक संघ बनाया गया। इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय श्रम-संघ कांग्रेस (इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस) है और यह धीरे-धीरे शक्ति संग्रह कर रही है। श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवादियों ने हिन्द मज़दूर पंचायत नाम का एक शक्तिशाली संगठन बनाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना से भारत में केन्द्रीय श्रम-संघ स्थापित होने में शीघ्रता हुई। जेनेवा सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधियों की उपस्थिति से भारतीय श्रम आन्दोलन पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आ गया।

१६४० में अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस में कुल १६१ संघ थे तथा इससे सम्बद्ध सदस्यों की संख्या ३५४,५४१ थी। १६४६-४७ में रजिस्ट्रीशुदा श्रम-संघों की संख्या १,७२५ थी, जिनमें से ६६८ ने अपना लेखा पेश किया। उनकी सदस्यता १,३३१,६६२ थी। स्त्रियों की सदस्यता कुल सदस्यता के ४ प्रतिशत से भी कम थी। १६५७-५८ में (जम्मू और काश्मीर, मैसूर और मनीपुर को छोड़कर) भारत में ६,६४४ श्रम-संघ थे। इनमें से ५,३१६ श्रम-संघों ने अपना लेखा प्रस्तुत किया। इनकी सदस्यता २५,६५,५१६ पुरुषों तथा ३,१०,५६४ स्त्रियों की है। ये सब संघ शक्ति और सामर्थ्य में समान नहीं हैं। लगभग आधे संघ तो सरकारी नौकरियों से सम्बद्ध व्यक्तियों के थे।

३६. भारत में श्रम-आन्दोलन की कठिनाइयाँ—सबसे प्रधान कठिनाई भारतीय श्रमिकों की परिवर्तनशीलता है (देखिए, सेक्शन ३)। द्वितीय, बम्बई तथा कलकत्ता-जैसे उद्योग-केन्द्रों में काम करने वाले व्यक्तियों में इतनी विभिन्नता है कि वे अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं और इसलिए एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट नहीं होते। जहाँ पर प्रवासी श्रमिकों की संख्या कम है, जैसे अहमदाबाद में, वहाँ व्यापार-संघ काफ़ी सुदृढ़ हैं। तीसरे, बहुत-से श्रमिक नियमित चंदा तथा संघ अनुशासन से भी घबराते हैं।

---

१. देखिए, हर्स्ट, पूर्वोधृत, पृ० १०१।

कचहरी में (२) किसी भी रजिस्ट्रीशुदा श्रम-संघ के खिलाफ इस आधार पर भी कोई मुकदमा दायर नहीं किया जा सकता कि कोई कर्मचारी व्यापारिक विग्रह को अग्रसर कर रहा है, जब तक कि यह न साबित हो जाए कि वह संघ की कार्यकारिणी को बिना बताए या उसके प्रकट आदेशों के विरुद्ध काम कर रहा है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम-संघ सदस्यों के नागरिक एवं राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए कोष इकट्ठा कर सकता है किन्तु इसके लिए चन्दा पूर्णतया ऐच्छिक होता है। १९६३ में श्रम संघों की संख्या २,६२५ थी और सदस्यों की संख्या २२,०८,२१९ थी।

औद्योगिक कल्याण[1]

४१. कल्याण-कार्य की प्रकृति—सरकार, श्रमिकों, नियोक्ताओं या सामाजिक संस्थाओं द्वारा ऐसे प्रयत्न किए जा सकते हैं। एक दृष्टिकोण से ऐसे प्रयत्नों को मानवता का कार्य कहा जा सकता है जिसका उद्देश्य औद्योगिक जनता का हित होता है। संकुचित और केवल उपयोगितावादी अर्थ में तथाकथित कल्याण-कार्यों को कुशलता-कार्य भी कहा जा सकता है। इसका श्रमिक के शारीरिक स्वास्थ्य और कुशलता पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

४२. कल्याण-कार्य का विभाजन—कल्याण-कार्य के दो प्रधान भाग हैं: (१) कारखाने के अन्दर के कल्याण-कार्य तथा (२) कारखाने के बाहर के कल्याण-कार्य। जहाँ तक कारखाने के अन्दर काम की दशाओं के सुधारने का सवाल है, इसके विषय में सरकार, नियोक्ताओं तथा अन्य साधनों द्वारा किये गए प्रयत्नों का विवेचन अध्याय में पहले ही किया जा चुका है।

बीते युग के नियोक्ताओं की ओर से श्रमिकों के अवकाश का सदुपयोग करने के प्रश्न पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। जो प्रयत्न किये गए वे औषधि-सम्बन्धी सहायता या शिक्षा और आवास की सहायता के रूप में थे। वर्तमान समय में बढ़ती हुई औद्योगिक अशान्ति के कारण इस पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। मई, १९२६ में भारत सरकार ने सभी प्रान्तीय सरकारों से काम पर न होने के समय श्रमिकों की रहने की दशा सुधारने के लिए किये गए प्रयत्नों के आँकड़े एकत्रित करने के लिए कहा। यह जाँच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन के छठे सम्मेलन की सिफारिश पर की गई। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने विभिन्न सरकारों से इस बात की प्रार्थना की कि वे श्रमिकों के खाली समय के उपयोग से सम्बन्धित अद्यतन सूचना दें।

बम्बई के कुछ उदार नियोक्ताओं द्वारा प्रदर्शित रुचि के अतिरिक्त कितने ही नियोक्ताओं ने अन्य औद्योगिक केन्द्रों, विशेषकर नागपुर, मद्रास, जमशेदपुर और कानपुर, में श्रम-कल्याण-कार्य की योजनाएँ प्रारम्भ की है। बकिंघम कर्नाटक मिलों

---

१. इस विषय पर श्रम-आयोग की रिपोर्ट का चौदहवाँ अध्याय देखिए।

का काम प्रारम्भ किया है। प्रान्तीय सरकारों ने ऐसी ऐच्छिक योजनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। जून, १९२४ में भारत सरकार द्वारा की गई अन्य जाँचों से भी स्पष्ट हो गया कि बंगाल के तीन प्रधान और संगठित उद्योगों—जूट, चाय और कोयला—में प्रसवकालीन लाभ की निश्चित योजनाएँ चालू थीं। आसाम के चाय के बगीचों, आसाम-रेलवे तथा व्यापार कम्पनी, बिहार और उड़ीसा की खानों और बम्बई के कारखानों में भी इस प्रकार की योजनाएँ चल रही थीं। इनमें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं, जैसे गर्भावस्था में कुछ समय की छुट्टी, दूध तथा दूध पिलाने वाली बोतलों का निर्मूल्य वितरण। इन सबके अतिरिक्त बम्बई में प्रसूति-गृह भी हैं। बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त लेडी डॉक्टर बेर्न्स ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में टाटा मिल-समूह द्वारा दी गई प्रसवकालीन सुविधाओं का रोचक विवरण दिया है। कम-से-कम ११ महीने काम कर चुकने वाली स्त्री को बच्चा पैदा होने के एक महीने पहले और एक महीने बाद की तनख्वाह भत्ते के रूप में दी जाती है, यदि वह किसी लेडी डॉक्टर द्वारा गर्भावस्था के आठ महीने पूरे होने का प्रमाण-पत्र पेश करे और यह आश्वासन दे कि वह मजदूरी पर अन्यत्र काम न करेगी।

१९३४ में संशोधित अधिनियम द्वारा बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह तक काम करना अवैध घोषित किया गया। आठ आने प्रतिदिन के हिसाब से प्रसवकालीन लाभ बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह पहले और बाद तक मिलेगा, बशर्ते कि वह नियोक्ता को इस बात की सूचना देने की तिथि के नौ महीने पहले से काम कर रही हो और सूचना देने के एक महीने बाद ही बच्चा पैदा होने को हो। यदि इस छुट्टी की अवधि में वह कहीं और काम करेगी तो उसे यह लाभ नहीं मिलेगा। १९३८ में यह अधिनियम सभी औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाली स्त्रियों पर लागू कर दिया गया। १९५८ में प्रसवकालीन लाभ अधिनियम मध्य प्रदेश में तथा १९५७ में केरल में भी पास किया गया। १९३५ में मद्रास में भी बम्बई-जैसा एक अधिनियम पास किया गया, जिसमें १९५८ में संशोधन किया गया। आसाम का अधिनियम ही कारखानों और चाय के बगीचों, दोनों में लागू होता है। शेष सभी अधिनियम केवल कारखानों पर ही लागू होते हैं। सभी प्रसवकालीन लाभ विधानों के आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, अर्थात् बच्चा पैदा होने के कुछ समय पूर्व और पश्चात् स्त्रियों को नकद आर्थिक सहायता दी जाए, प्रसव के बाद उन्हें अनिवार्य रूप से कुछ समय तक विश्राम करने दिया जाए और यदि वे बच्चा पैदा होने की सूचना देती हैं तो पहले भी करने दिया जाए। सभी अधिनियमों में लाभ मिलने के लिए एक निश्चित अवधि की नौकरी या काम आवश्यक है।

(४) **आमोद-प्रमोद**—आमोद-प्रमोद का महत्त्व स्वयं इतना स्पष्ट है कि उस पर विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है। श्रमिकों के नीरस जीवन में थोड़ी भी हरियाली लाने वाली कोई भी चीज़ स्वागत योग्य है। श्रमिक को ऐसे काम में लगाना आवश्यक है ताकि उसका फालतू समय शराबखोरी और नशे में व्यतीत न हो तथा औद्योगिक केन्द्रों में औद्योगिक काम के प्रति उसका आकर्षण बढ़ जाए और

अध्याय १७

राष्ट्रीय आय

१. राष्ट्रीय आय के अनुमान : दादाभाई नौरोजी का अनुमान—दादाभाई नौरोजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड दी ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में पहली बार भारत की राष्ट्रीय आय आँकने का गम्भीर प्रयास किया। यह अनुमान १८६७-७० के सरकारी आँकड़ों पर आधारित है। डॉ० नौरोजी ने जिन सिद्धान्तों का अनुसरण किया, उनकी व्याख्या वह निम्न शब्दों में करते हैं—"मैंने प्रान्त की एक या दो मुख्य उत्पत्तियों को उस प्रान्त की कुल उत्पत्ति का प्रतिनिधि मान लिया है। मैंने प्रत्येक ज़िले की जोती जाने वाली सम्पूर्ण भूमि, प्रति एकड़ उत्पादन एवं उसके मूल्य को लिया है; अब साधारण गुणा और जोड़ से कुल उत्पादन की मात्रा और मूल्य मालूम हो जाता है। इससे प्रति एकड़ औसत उत्पादन और सम्पूर्ण उत्पादन का मूल्य भी सही-सही मालूम हो जाता है।" इस आधार पर काम करते हुए वह इस परिणाम पर पहुँचे कि कृषि-उत्पादन का कुल मूल्य २७७,०००,००० पौंड है। इसमें से ६% वह बीज के लिए घटा देते हैं। इसके बाद २६०,०००,००० पौंड बचा। नमक, अफीम, कोयला और व्यापार में होने वाले लाभ का मूल्य प्राय: १७,०००,००० पौंड, निर्मित वस्तुओं का मूल्य १५,०००,००० पौंड, लगभग इतना ही मछली, दूध, गोश्त इत्यादि का मूल्य तथा ३०,०००,००० पौंड अन्य बातों के लिए रख लेने पर इन सबका योग ३४०,०००,००० पौंड होता है। जनसंख्या को १७०,०००,००० मानने पर ब्रिटिश भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ४० शिलिंग या २० रुपये हुई। जेल में दी जाने वाली खुराक और प्रवासी कुलियों को दिये जाने वाले राशन के आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि यह केवल जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय—३४ रु०—से भी कम है। "चूँकि राष्ट्रीय आय दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं थी, अतएव देश की उत्पादक पूँजी धीरे-धीरे प्रतिवर्ष व्यय होती गई और देश की बढ़ती गरीबी के साथ उत्पादन-शक्ति का ह्रास होता गया।"

डॉ० वी० के० आर० वी० राव का मत है कि दूध, मछलियाँ तथा मांस के सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी का अनुमान कम है। दूध, मांस और मछलियों का उत्पादन कृषि का चतुर्थांश है। इस प्रकार इन साधनों से प्राप्त आय ६५० लाख पौंड होगी न कि १५० लाख पौंड। उद्योगों पर अवलम्बित जनसंख्या कृषि-जनसंख्या के ६% से अधिक है तथा कृषि-जनसंख्या की तुलना में औद्योगिक श्रमिकों की आय भी अपेक्षाकृत अधिक है। अतएव निर्माणों से प्राप्त आय १५० लाख पौंड के बजाय ६०० लाख पौंड होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रशासन, परिवहन, पेशों और गृह-सेवकों

उनकी पारिश्रमिक दर से गुणा करके प्राप्त की गई। तृतीय वर्ग में सरकारी नौकरों के लिए सरकारी अनुमान (सिविल एस्टिमेट्स) और पेशेवर लोगों के लिए आय-कर को प्रयोग में लाया गया। इस आधार पर अर्टकिसन ने अनुमान लगाया कि १८७५ में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३०.५ रु० तथा १८९५ में ३९·५ रु० थी। इनमें से बीज, घिसाव आदि के लिए कुछ नहीं घटाया गया। इस प्रकार अन्तिम परिणाम में अतिरंजन का दोप आ गया और डॉ० राव ने इसमें सुधार करना आवश्यक समझा तथा अनुमान को ३९ रु० ८ आने से घटाकर ३१ रु० ८ आ० कर दिया।[1]

३. वाडिया और जोशी का अनुमान—१९१३-१४ की राष्ट्रीय आय का अनुमान श्री पी० ए० वाडिया और श्री जी० एन० जोशी ने लगाया है।[2] हम उनकी जाँच का परिणाम संक्षेप में नीचे दे रहे हैं। कृषि-उत्पादन का मूल्य १०,७२,९९,९३,२८२ रु० रखा गया। इसमें से बीज और खाद के लिए प्रतिशत घटाया गया। अतएव वास्तविक कृषि-आय ८,५८,३९,९४,६२६ रु० हुई। खनिज पदार्थों का मूल्य १४,४०,९५,००० रु० अनुमान किया गया। इसमें २० प्रतिशत घिसाव और मजदूरी से सम्बन्धित खनन का व्यय घटाया गया। (गणना में आगे खनिज-उत्पादन निर्माण (मेनूफेक्चर्स) में जोड़ लिया गया है।) इस तरह वास्तविक मूल्यांकन ११,५२,७६,००० रु० हुआ। जहाँ तक निर्मित वस्तुओं (मेनूफेक्चर्स) के मूल्य-निर्धारण का प्रश्न है, इसे कच्चे माल का $\frac{1}{5}$ अर्थात् २० प्रतिशत माना गया। इसका मूल्य (२०४,७६,६५,०००÷५)= ४०, ९५,३३,००० रु० हुआ। लेखकगण ऊपर बतायी गई पद्धतियों से इस कुल आय में से कई चीजें घटाकर निम्न आलेख प्रस्तुत करते हैं जो कि १९१३-१४ की कुल राष्ट्रीय आय में से घटाई गई राशि प्रदर्शित करता है—

(१) गृह-व्यय	२००,००,००० पौण्ड
(२) सरकार की ओर से विदेशी पूंजी का विनियोग	८०,००,००० पौण्ड
(३) भारत में लगी विदेशी पूंजी पर लाभ	३९०,००,००० पौण्ड
(४) भारत में नई विदेशी पूंजी का विनियोग	५०,००,०००[3] पौण्ड
(५) सरकारी अफसरों, यूरोपीय नौकरों आदि द्वारा भारत से बाहर भेजा जाने वाला द्रव्य	१००,००,००० पौण्ड
	८२०,००,००० पौण्ड
	=१२३,००,००,००० रु०

इस आय को ब्रिटिश भारत की जनसंख्या में विभाजित करने पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ४४ रु० ५ आ० ६ पा० आती है। १९११ की जनगणना के अनुसार ब्रिटिश भारत की जनसंख्या २४,४१,८९,७१६ थी। इसमें तीन वर्ष की सम्भावित वृद्धि

१. पूर्व उद्धृत, पृ० २८-३६।

२. 'दि वैल्थ ऑफ़ इण्डिया', पृ० ९७-११२।

३. वाउली रावर्टसन की रिपोर्ट के लेखकों का कहना है कि इस मद का मूल्य दो बार घटाया गया है।

६. वी० के० आर० वी० राव का अनुमान—डॉ० राव ने १९३१-३२ के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है। उनके अनुसार वास्तविक आय (ब्रिटिश भारत की) १,६०,००० लाख और १,८०,००० लाख रु० के बीच है और प्रति व्यक्ति आय ६५ रु०। इसमें मूल-संशोधन के लिए ६% जोड़ा या घटाया जा सकता है। नीचे की सारणी में विस्तृत वर्णन दिया गया है—

	मूल्य दस लाख रुपयों में	भूल की सीमा, प्रतिशत
कृषि-उत्पादन का मूल्य	५,९२७	—
पशु " "	२,६८३	=१०
मछली और शिकार "	१२०	=२०
जंगल के उत्पादन "	९२	—
खनिज " "	१८०	—
आय-कर पर लगी हुई आय	२,१६१	—
" से मुक्त आय (उद्योगों में लगे श्रमिकों की)	२,१००	=१७
" " " " रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ	५९०	—
व्यापार में लगे लोगों की आयकर से मुक्त आय	१,२३३	=१५
शिक्षा इत्यादि में " " " " "	४१६	=१५
रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ को छोड़कर परिवहन में लगे लोगों की आयकर से मुक्त आय	२८३	=२०
गृह-सेवाओं में लगे श्रमिकों का आय-कर	३२५	=२०
विविध मदों से मुक्त आय	७८०	=१०
योग	१६,८९०	= ६

डॉ० राव अपने अनुमान को इस आधार पर अधिक सही बताते हैं कि उन्होंने प्राप्य आँकड़ों को मांस, दूध की उत्पत्ति, उद्योग में लगे हुए लोगों की आय, स्थानीय अधिकारियों की सेवाओं इत्यादि के सम्बन्ध में की गई तदर्थ (एड हॉक) जाँचों द्वारा पूर्ण किया है।[1]

७. ईस्टर्न इकनामिस्ट का अनुमान—ईस्टर्न इकनामिस्ट ने अपने वार्षिक अंक (३१ दिसम्बर, १९४८) में १९३९-४० से १९४७-४८ के लिए राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में निम्न संख्याएँ दीं—

[1]. ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय (१९३१-३२), पृ० ४ और १८५-६।

समय हमें शाह-खंबाटा की प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाना पड़ेगा, क्योंकि ब्रिटिश भारत रियासतों की अपेक्षा थोड़ा अधिक धनी और आर्थिक दृष्टि से विकसित है। हमें अपनायी गई पद्धतियों से उत्पन्न अन्तर भी ध्यान में रखना होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, शिराज़ कुछ भी नहीं घटाते जबकि अन्य गणनाओं में थोड़ा-बहुत घटाया गया है। राष्ट्रीय आय के तत्त्वों के सम्बन्ध में भी मतभेद है, जबकि शिराज़ पेशों में हुई आमदनी को जोड़ता है अन्य गणनाएँ ऐसा नहीं करतीं।[2] अतएव विभिन्न अनुमानों की तुलना करते समय हमें दी गई वास्तविक संख्याओं को ध्यान में न रखकर उन संख्याओं को ध्यान में रखना चाहिए जो सबके द्वारा एक ही पद्धति अपनाने पर होतीं। एक और ध्यान देने की बात यह है कि बाद की गणनाएँ अधिक वैज्ञानिक आधार पर हैं। जैसा कि शिराज़ ने कहा है, यदि उसके विस्तृत तरीके के स्थान पर पुरानी पद्धति का अनुसरण किया जाए तो कृषि और अन्य पेशों से होने वाली आय का मूल्य काफ़ी कम होगा।

इन गणनाओं से आर्थिक समृद्धि के सम्बन्ध में परिणाम निकालते समय भी काफ़ी सावधानी से काम लेना होगा। यहाँ केवल प्रति व्यक्ति औसत आय को ही ध्यान में नहीं रखना होगा बल्कि राष्ट्रीय आय किन अंगों से मिलकर बनी है इसका भी ध्यान रखना होगा। भारत-जैसे देश के लिए यह महत्त्वपूर्ण होगा कि आय का कितना भाग खाद्य-सामग्री के रूप में है, क्योंकि यदि खाद्य-सामग्री जैसी जीवन की आवश्यकताओं में कमी है तो अन्य प्रकार की आय में वृद्धि उतने महत्त्व की नहीं होगी। यदि सेवाओं को राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत लेना है तो यह ध्यान रखना होगा कि क्या हमारी परतन्त्रता के युग में कुछ सेवाओं का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर मूल्यांकन नहीं किया जाता था ?

कभी-कभी तो दरिद्रता की तसवीर इसलिए बढ़ा चढ़ाकर खींच दी जाती है कि वे समझते हैं कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत कुटुम्ब की आय का प्रतिनिधित्व करती है। यदि हम जनता को ज़रूरत से ज़्यादा खुशहाल समझते हैं तो हम दूसरी दिशा में गलती करते हैं, क्योंकि ऐसा करने में हम यह भूल जाते हैं कि आय का वितरण असमान है। कुछ लोगों की आय औसत से बहुत ज़्यादा और बहुतों की औसत से बहुत कम है। विद्वत्तापूर्ण पेशों और ज़मींदारियों में अपेक्षाकृत अधिक आय है। छोटे-मोटे व्यापारियों की आय मध्यम श्रेणी की है। नगरों में आधी आय आबादी के दशमांश लोगों के हाथ में है। पढ़े-लिखे, पेशे वाले तथा बड़े-बड़े ज़मींदारों की आमदनी काफ़ी ज़्यादा है। ऐसे लोगों का ३८%, जिनकी आय २,००० रु० से ज़्यादा है, कुल आय के १७% का अधिकारी है, जबकि १% व्यक्तियों के पास कुल आय का १०% है।

शाह और खम्बाटा की गणना के अनुसार १ प्रतिशत या आश्रितों को

---

१. शिराज़ अपने खास अनुमान में खुले रूप से सेवाओं को शामिल नहीं करता, लेकिन अपनी गैर-कृषीय आय की जाँच एक तालिका द्वारा करता है जिसमें सेवाएँ सम्मिलित हैं।

की यह पहली गहन जाँच थी तथा इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा है।[1] इन सब जाँचों से भारतीयों की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है।

११. क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है?—घोर निर्धनता को एक निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकार करने पर प्रश्न यह उठता है कि यह घट रही है या बढ़ रही है या स्थिर है। अब दरिद्रता केवल कुछ प्रारम्भिक आवश्यकताओं की अतृप्ति ही नहीं बल्कि इस युग की नवीनतम वस्तुओं में भाग न पा सकने का नाम हो गया है। हालाँकि आज पाश्चात्य देशों में पचास साल पहले की अपेक्षा जनता को अच्छा भोजन, कपड़े और मकान प्राप्त हैं, किन्तु उसका असंतोष पहले से कहीं तीव्र है। कुछ लोगों के मतानुसार भारत में भी वैसा ही परिवर्तन हो रहा है और असन्तोष आर्थिक अवस्था में सुधार का परिणाम है। ऊपर दिये गए विविध अनुमान अपनी अपूर्णता के बावजूद इतनी बात तो स्पष्ट करते ही हैं कि भारत की आर्थिक अवस्था की गति सुधार की ओर है। इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि भारतीय औद्योगिक तथा कृषि श्रमिक की भावना में एक प्रकार की स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। १९३९-४५ के युद्ध-काल के पूर्व इस पर भी विश्वास किया जा सकता था कि भारत में प्रति व्यक्ति भोजन और कपड़े के उपयोग की मात्रा बढ़ रही है। सरकारी अधिकारियों का निश्चित मत था कि देश की आर्थिक दशा सुधर रही है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाएगा—"जहाँ तक साधारण कसौटी का उपयोग किया जा सकता है यह कहा जा सकता है कि भारतीय भू-धारक, व्यापारी, रैयत और दस्तकार की दशा आज से पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा सुधरी हुई है। वह चीनी, नमक, तम्बाकू तथा आयात-विलासिताओं (इम्पोर्टेड लक्सरीज़) का पहले की पीढ़ी की तुलना में अधिक मात्रा में उपभोग कर रहा है। जहाँ घर-घर जाँच की गई है वहाँ पता चला है कि साधारण ग्रामीण अपने पिता की अपेक्षा अच्छा खाना खाता और अच्छे कपड़े पहनता है। पीतल या अन्य धातु के बरतनों ने पुराने मिट्टी के बरतनों का स्थान ले लिया है और उसके घर में पहले की अपेक्षा अधिक कपड़े हैं।"[2] इस प्रकार की तसवीर की सत्यता पर गैर-सरकारी लोगों ने मतभेद और कुछ छोटी-छोटी बातों पर तो खुले आम सन्देह प्रकट किया। उदाहरण के लिए, ग्रामीणों का अधिक भोजन सर्वमत से स्वीकृति न पा सका। अन्य बातों के साथ यह बताया गया कि विशेषकर कस्बों के समीप के गाँवों का आहार-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। दूध का, जो कि एक शाकाहार-प्रधान देश में प्रधान खाद्य है, नितान्त अभाव होता जा रहा है और उसी उपयोगिता के आहार-रूप में और कोई

---

१. देखिए, कपास उगाने वालों की आर्थिक एवं विक्रय में की गई आठ जाँचों पर साधारण रिपोर्ट, १९२८।

२. 'रिजल्टस ऑफ़ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन इन दि पास्ट फिफ्टी ईअर्स', १९०९, पृ० २६। एल० सी० ए० नाउल्स द्वारा 'इकनामिक डेवलपमेण्ट ऑफ़ दि ब्रिटिश ओवरसीज़ एम्पाइर' में उद्धृत (१७६३-१९१४) भाग १, पृ० २७५।

ज़रा भी सहायता नहीं मिलती, इससे यह प्राय: व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इंगलैण्ड या अन्य देशों में उत्पादन, पारिश्रमिक एवं कीमतों के आँकड़े व्यक्तियों को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते हैं जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते हैं। वैतनिक कर्मचारियों की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत संस्थाओं से भी बड़ी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की संस्थाएँ भारत में नहीं हैं।

१३. बाउली-राबर्टसन जांच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल ऑव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० रावर्टसन (केम्ब्रिज़ में इकनामिक्स के प्राध्यापक) को अधिक सही और व्यापक आँकड़े इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने भी काम किया और इन लोगों के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ में एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक्स सेन्सस ऑफ़ इण्डिया)। संक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकड़े संकलित करने का संकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से संलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी-वर्ग नियुक्त किया जाए, जिसमें चार सदस्य हों। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के संगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नों पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट करेगा। सांख्यिकी संचालक को सूचना का प्रमुख अंग तथा सदस्य होने के अतिरिक्त और भी कार्य करने पड़ते थे—(१) जनगणना कराना, (२) उत्पादन-गणना कराना, (३) केन्द्रीय आँकड़ों का संयोजन और (४) प्रान्तीय आँकड़ों का संयोजन। इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए वाणिज्य सूचना विभाग की सांख्यिकीय शाखा उसके अधीन कर दी जाएगी और उसके कुछ स्थायी सदस्य भी बढ़ा दिए जाएँगे। 'वाणिज्य सूचना विभाग', जो केवल व्यावसायिक दुनिया की जाँच-पड़ताल का जवाब में लगा रहता है, वाणिज्य-विभाग का एक अंग हो जाएगा।

उत्पादन-गणना हर पाँचवें वर्ष होनी चाहिए। एक स्थायी सांख्यिकीय विभाग गणना की तैयारी तथा उसके परिणामों का विश्लेषण करेगा और उसे प्राय: सदैव कार्य-लग्न रहना पड़ेगा तथा दसवर्षीय जनगणना की अवस्था पर उसे थोड़ा-सा और बढ़ा दिया जाएगा। वर्गीकरण में एकता लाने के लिए सांख्यिकीय संचालक को अन्य विभागों में आँकड़े प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों से सलाह ले सकने का अधिकार होना चाहिए। इससे साधारण उपयोग के लिए आँकड़े प्राप्त होंगे और विभाग के कार्य के लिए भी आवश्यक आँकड़े एकत्र रहेंगे। उसे सांख्यिकीय सारांश (स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट) प्रकाशित करने के लिए भी उत्तरदायी होना चाहिए। हर प्रान्त में पूरे समय तक काम करने वाले सांख्यशास्त्री होंगे। प्रशासनात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें यथासम्भव स्वतन्त्रता मिलेगी तथा उसकी सेवाएँ हर

ज़रा भी सहायता नहीं मिलती, इससे यह प्रायः व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इंगलैण्ड या अन्य देशों में उत्पादन, पारिश्रमिक एवं कीमतों के आँकड़े व्यक्तियों को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते हैं जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते हैं। वैतनिक कर्मचारियों की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत संस्थाओं से भी बड़ी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की संस्थाएँ भारत में नहीं हैं।

१३. बाउली-राबर्टसन जांच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल ऑव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन (केम्ब्रिज में इकनामिक्स के प्राध्यापक) को अधिक सही और व्यापक आँकड़े इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने भी काम किया और इन लोगों के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ में एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक्स सेन्सस ऑफ़ इण्डिया)। संक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकड़े संकलित करने का संकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से संलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी-वर्ग नियुक्त किया जाए, जिसमें चार सदस्य हों। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के संगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नों पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट करेगा। सांख्यिकी संचालक को सूचना का प्रमुख अंग तथा सदस्य होने के अतिरिक्त और भी कार्य करने पड़ते थे—(१) जनगणना कराना, (२) उत्पादन-गणना कराना, (३) केन्द्रीय आँकड़ों का संयोजन और (४) प्रान्तीय आँकड़ों का संयोजन। इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए वाणिज्य सूचना विभाग की सांख्यिकीय शाखा उसके अधीन कर दी जाएगी और उसके कुछ स्थायी सदस्य भी बढ़ा दिए जाएँगे। 'वाणिज्य सूचना विभाग', जो केवल व्यावसायिक दुनिया की जाँच-पड़ताल का जवाब में लगा रहता है, वाणिज्य-विभाग का एक अंग हो जाएगा।

उत्पादन-गणना हर पाँचवें वर्ष होनी चाहिए। एक स्थायी सांख्यिकीय विभाग गणना की तैयारी तथा उसके परिणामों का विश्लेषण करेगा और उसे प्रायः सदैव कार्य-लग्न रहना पड़ेगा तथा दसवर्षीय जनगणना की अवस्था पर उसे थोड़ा-सा और बढ़ा दिया जाएगा। वर्गीकरण में एकता लाने के लिए सांख्यिकीय संचालक को अन्य विभागों में आँकड़े प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों से सलाह ले सकने का अधिकार होना चाहिए। इससे साधारण उपयोग के लिए आँकड़े प्राप्त होंगे और विभाग के कार्य के लिए भी आवश्यक आँकड़े एकत्र रहेंगे। उसे सांख्यिकीय सारांश (स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट) प्रकाशित करने के लिए भी उत्तरदायी होना चाहिए। हर प्रान्त में पूरे समय तक काम करने वाले सांख्यशास्त्री होंगे। प्रशासनात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें यथासम्भव स्वतन्त्रता मिलेगी तथा उसकी सेवाएँ हर

हिस्सा बहुत अधिक है—और वह हिस्सा जोकि स्थानीय सेवाओं से बदला जाता है, इनका भी मूल्यांकन होना चाहिए। यह मूल्यांकन स्थानीय मूल्य में ही होना चाहिए, न कि दूर के बाजारों के फुटकर मूल्य पर, जिसमें उठाने, ले जाने आदि की मज़दूरी भी शामिल रहती है जोकि स्थानीय मूल्य में नहीं होती।

(३,६) यह आवश्यक है क्योंकि जिस योग की हमें खोज है वह उपभोक्ताओं के विनिमय-मूल्य का कुल जोड़ है।

(४,५,१०) यह आसानी से देखा जा सकता है कि जब भारत सरकार रेलवे निर्माण के लिए इंगलैण्ड से ऋण लेती है तो जिन प्रतिभूतियों का आयात होता वे इंगलैण्ड के विनियोक्ताओं की वास्तविक आय का एक भाग होती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय चाय का आयात वास्तविक आय का भाग है।

(६) (१) सरलता के लिए यह मान लिया जाता है कि सरकारी नौकरों की सेवाएँ जनता को सीधा लाभ पहुँचाती हैं और उपयोगी हैं। अतएव वे वास्तविक राष्ट्रीय आय का एक अंग हैं। इनके मूल्यांकन में पेंशन-अधिकारों को भी शामिल कर लेना चाहिए।

राष्ट्रीय आय निकालने के लिए उत्पादन-गणना-विधि दोनों विधियों में अधिक आधारभूत है। दूसरी विधि (आय-गणना) के परिणाम उपर्युक्त विधि के परिणामों से मिल सकें, इसके लिए कुछ सावधानियाँ बरतनी पड़ेंगी।

(१) स्वयं उपयुक्त वस्तुओं तथा वस्तु-रूप में प्राप्त आय को गणना में शामिल करना होगा। इसकी कीमत उत्पादन के स्थान की कीमत के अनुसार लगानी होगी। इसी प्रकार जिन घरों में लोग रहते हैं—चाहे वे उसके मकान-मालिक ही क्यों न हों—उसका भी वार्षिक मूल्य लगाना होगा।

(२) सब प्रकार के व्याज, चाहे वे उपभोग के लिए लिये गए ऋण पर ही क्यों न दिये गए हों, व्यक्ति की आय में से घटाने होंगे।

(३) इसके अतिरिक्त हर एक व्यक्ति की आय, जिसमें सरकारी नौकरों की पेंशनें और सरकारी ऋण पर व्याज ज्यों-की-त्यों शामिल करनी होंगी, अर्थात् इन्हें कर देने से पूर्व शामिल करना होगा। कर में मालगुज़ारी भी शामिल है। सरकारी नौकरों की आय में उस वर्ष के पेंशन के अधिकार भी जोड़ लेने चाहिएँ। इस प्रकार के योग में कम्पनियों के अविभाजित मुनाफे और सरकारी कामों से होने वाले लाभों को भी जोड़ना होगा। इस प्रकार प्राप्त योग में से उत्पादक ऋणों के अतिरिक्त शेष सरकारी ऋण के व्याज की राशि तथा पहले के सरकारी नौकरों की पेंशनें—चाहे वे देश में दी जाएँ या विदेश में—भी घटानी होंगी।

(४) इस प्रकार प्राप्त योग में आयात-कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प-कर और स्थानीय कर (लोकल रेट्स) भी जोड़ने होंगे, क्योंकि यह उत्पादकों को मिलने वाले विनिमय-मूल्य का कुल योग है, जबकि उत्पादन-गणना-विधि से आकलित वास्तविक राष्ट्रीय आय उपभोक्ताओं को मिलने वाले विनिमय-मूल्यों का समूह है। अतः जब तक यह नहीं जोड़ा जाता, गलतियां होने की सम्भावना है।

कारखानों और रेलों को भी इसी विधि के अन्तर्गत लाना होगा।

यद्यपि फैक्ट्रियों में लगे व्यक्ति उद्योगों में लगे व्यक्तियों से अनुपात में बहुत कम हैं, फिर भी निर्यात की दृष्टि से विशेष महत्त्व होने के कारण इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह ध्यान में रखना होगा कि फैक्ट्री उद्योग कुछ अंशों में कुटीर उद्योगों को नष्ट करके आगे बढ़ रहा है और इन दोनों को सांख्यिकीय दृष्टि से सम्बद्ध करना होगा। इन उद्योगों की गणना-सामग्री की इस प्रकार भी तालिका बनायी जा सकती है कि जब वे फैक्ट्री के आँकड़ों के साथ उपयोग में लायी जाएँ तो इन दोनों संगठनों (उद्योगों) के आपेक्षिक महत्त्व का भी पता चल जाए।

ग्रामीण सर्वेक्षण—भारतीय आर्थिक सर्वेक्षण में यह आवश्यक है कि अन्य आयों के साथ भूमि से प्राप्त आय (चाहे रुपये के रूप में हो या अन्न इत्यादि के रूप में) की जानकारी प्राप्त की जाए और यह देखा जाए कि वह किस तरह मालिकों और मजदूरों के बीच वितरित होती है।

यह तो सम्भव नहीं है कि भारत के लाखों गाँवों में सबका विस्तृत सर्वेक्षण किया जा सके। खर्च बरदाश्त होने और इतनी संख्या में जाँच करने वाले व्यक्ति मिलने पर भी यह काम शीघ्र ही नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आधुनिक अनुमान—राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी जितने अनुमानों की चर्चा अभी तक की गई है, वे सभी अविभाजित भारत से सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत संघ की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान करने की आवश्यकता हुई। अतएव अगस्त, १९४९ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय समिति (नेशनल इन्कम कमेटी) नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष प्रो० पी० सी० महालनोबिस थे। फरवरी, १९५४ में समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। समिति ने उत्पादन-गणना तथा आय-गणना दोनों विधियों के समन्वय से काम किया। कृषि, वन, पशु-पालन, खनन आदि के सम्बन्ध में उत्पादन-गणना-विधि अपनायी गई, जबकि व्यापार, परिवहन, प्रशासन आदि के सम्बन्ध में आय-गणना-विधि अपनायी गई। समिति ने चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किए हैं। इन दोनों मूल्यों के आधार पर १९४८-४९, १९४९-५० तथा १९५०-५१ के लिए समिति ने राष्ट्रीय आय के निम्न अनुमान प्रस्तुत किए हैं—

	वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में		प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में	
	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६.९	२४६.९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३.९	२४८.६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५.२	२४६.३

चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों पर अनुमानित राष्ट्रीय आय की तुलना से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि १९४८-४९ से १९५०-५१ तक राष्ट्रीय आय में द्रव्य के रूप में तो वृद्धि हुई है, परन्तु वास्तविक आय की वृद्धि नहीं के बराबर है,

कारखानों और रेलों को भी इसी विधि के अन्तर्गत लाना होगा।

यद्यपि फैक्ट्रियों में लगे व्यक्ति उद्योगों में लगे व्यक्तियों से अनुपात में बहुत कम हैं, फिर भी निर्यात की दृष्टि से विशेष महत्त्व होने के कारण इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह ध्यान में रखना होगा कि फैक्ट्री उद्योग कुछ अंशों में कुटीर उद्योगों को नष्ट करके आगे बढ़ रहा है और इन दोनों को सांख्यिकीय दृष्टि से सम्बद्ध करना होगा। इन उद्योगों की गणना-सामग्री की इस प्रकार भी तालिका बनायी जा सकती है कि जब वे फैक्ट्री के आँकड़ों के साथ उपयोग में लायी जाएँ तो इन दोनों संगठनों (उद्योगों) के आपेक्षिक महत्त्व का भी पता चल जाए।

ग्रामीण सर्वेक्षण—भारतीय आर्थिक सर्वेक्षण में यह आवश्यक है कि अन्य आयों के साथ भूमि से प्राप्त आय (चाहे रुपये के रूप में हो या अन्न इत्यादि के रूप में) की जानकारी प्राप्त की जाए और यह देखा जाए कि वह किस तरह मालिकों और मज़दूरों के बीच वितरित होती है।

यह तो सम्भव नहीं है कि भारत के लाखों गाँवों में सबका विस्तृत सर्वेक्षण किया जा सके। खर्च बरदाश्त होने और इतनी संख्या में जाँच करने वाले व्यक्ति मिलने पर भी यह काम शीघ्र ही नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आधुनिक अनुमान—राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी जितने अनुमानों की चर्चा अभी तक की गई है, वे सभी अविभाजित भारत से सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत संघ की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान करने की आवश्यकता हुई। अतएव अगस्त, १९४९ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय समिति (नेशनल इन्कम कमेटी) नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष प्रो० पी० सी० महालनोबिस थे। फरवरी, १९५४ में समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। समिति ने उत्पादन-गणना तथा आय-गणना दोनों विधियों के समन्वय से काम किया। कृषि, वन, पशु-पालन, खनन आदि के सम्बन्ध में उत्पादन-गणना-विधि अपनायी गई, जबकि व्यापार, परिवहन, प्रशासन आदि के सम्बन्ध में आय-गणना-विधि अपनायी गई। समिति ने चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किए हैं। इन दोनों मूल्यों के आधार पर १९४८-४९, १९४९-५० तथा १९५०-५१ के लिए समिति ने राष्ट्रीय आय के निम्न अनुमान प्रस्तुत किए हैं—

	वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में		प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में	
	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६.९	२४६.९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३.९	२४८.६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५.२	२४६.३

चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों पर अनुमानित राष्ट्रीय आय की तुलना से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि १९४८-४९ से १९५०-५१ तक राष्ट्रीय आय में द्रव्य के रूप में तो वृद्धि हुई है, परन्तु वास्तविक आय की वृद्धि नहीं के बराबर है,

जिसमें अर्जन करने वाले के वर्तमान जीवन को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है और अपनी सुख-समृद्धि के लिए सन्तान स्वयं अपने ऊपर ही निर्भर होती है। सन्तान को निजी पूँजी से युक्त अर्थात् भली भाँति प्रशिक्षित अवश्य करा दिया जाता है।[1]

यहाँ भारत की उपभोग-समस्या के सब पहलुओं का विवेचन सम्भव नहीं है। परन्तु इतना तो सच ही है कि यद्यपि भारतीय दरिद्रता बहुत अंशों में कम उत्पादन का परिणाम है, फिर भी बुद्धिशील और अव्यवस्थित उपभोग ने भी समस्या को और जटिल बना दिया है। यहाँ हम केवल एक प्रकार के बुद्धिहीन उपभोग का, जिस पर इधर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है, वर्णन करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शारीरिक स्वास्थ्य, कुशलता तथा भोजन के बीच बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। जर्मन कहावत 'मनुष्य जो खाता है वही बनता है' में बहुत सत्य है। भारतीयों का भोजन स्थानीय परिस्थितियों और प्रथाओं पर निर्भर है। प्रायः जो वस्तुएँ एक स्थान पर उत्पन्न होती हैं वे ही वहाँ के भोजन में सम्मिलित होती हैं। इसको सीमित करने में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक बन्धनों ने भी सहायता पहुँचायी है। परिणामतः कुछ प्रान्तों के भोजन में आवश्यकीय पौष्टिक पदार्थों का अभाव रहता है। भारत की विभिन्न जातियों, यथा मद्रासी, पंजाबी, बंगाला, मराठा आदि, की शारीरिक क्षमता के विभेद को उनके भोजन की विभिन्नता द्वारा समझा जा सकता है और "अब तो इसे निश्चित रूप से भोजन के जीव-सम्बन्धी मूल्यों से सम्बद्ध कर दिया गया है।" शारीरिक असमता के कारण के रूप में आहार की अपौष्टिकता के सम्बन्ध में लेफ्टिनेण्ट कर्नल मैक् केरिसन द्वारा किये गए अनुसन्धान बड़े शिक्षात्मक हैं तथा उन्होंने विभिन्न राष्ट्रीय आहारों की सापेक्षिक पोषणता को ही अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया है। इन अनुसन्धानों से पता चलता है कि चावल, जो भारत में बहुत लोगों का, विशेषकर बंगालियों और मद्रासियों का भोजन है, निम्न कोटि का आहार है। इसमें कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्बनिक (आर्गनिक) नमक नहीं हैं तथा अत्यन्त आवश्यक विटामिनों का अभाव है। इनकी तुलना में गेहूँ और माँस आदि का भोजन करने वाले सिख, पठान और गोरखे अधिक शक्तिशाली होते हैं। चावल के साथ गेहूँ, दूध, माँस इत्यादि का सेवन करने से चावल का आहार बहुत अच्छा हो जाएगा। जैसा कि कृषि आयोग ने कहा था, 'अपौष्टिक आहार और भुखमरी एक ही बात नहीं है।' ऐसा सम्भव है कि अपोषणता से ग्रस्त एक व्यक्ति शरीर द्वारा आसानी से पचाए जा सकने की तुलना में अधिक भोजन कर रहा हो, जब कि उसका भोजन भली प्रकार सन्तुलित होने पर कम होता। भोजन में किसी खास पोषक तत्त्व के अभाव में

---

१. 'रिपोर्ट ऑफ़ दि कमेटी ऑन नेशनल डेट एण्ड टैक्सेशन' पर डब्लू० एच० कोट्स के कथन के लिए देखिए 'जर्नल ऑफ़ रायल स्टेटिस्टिकल सोसाइटी', '१९२७, खण्ड XC, भाग २, पृ० ३५६।

शालीनता का चिह्न समझा जाने लगा है। चाय पीना अधिक शराब पीने के दुर्गुणों को दूर करने का एक साधन माना जाने लगा है। डॉ० स्लेटर का मत है कि भारतीय किसान एक बात में बड़ा गरीब है और वह है पेय पदार्थ तथा वह इसके मूल्य को भी नहीं समझता।[1] "जनता का बड़ा भाग गन्दे स्थिर तालाबों, सिंचाई की नालियों या नदियों से प्राप्त गन्दा पानी पीता है जिसमें हर प्रकार की अशुद्धता और गन्दगी मिली रहती है।" डॉ० स्लेटर का मत है कि वर्तमान समय में उबाले हुए पानी के पेय पदार्थों में सबसे सस्ते पेय अर्थात् चाय का प्रचार करने से बहुत लाभ होगा। यह सच है कि जब तक भी पानी पिया जाता है तब तक गन्दा पानी पीने से होने वाली हानियाँ पूरी तरह से दूर नहीं की जा सकतीं। अच्छा तो यह होगा कि किसी प्रकार शुद्ध पानी की व्यवस्था की जाए। शराब के स्थान पर तो चाय एक वरदान ही है। हाँ, अधिक चाय पीना शरीर के लिए हानिकारक हो सकता है, विशेषकर जब निम्न कोटि की चाय का प्रयोग किया जाता है, जैसी कि भारत की अधिकतर चाय की दुकानों पर मिलती है। अच्छी चाय की व्यवस्था करने के लिए कुछ कदम उठाना आवश्यक प्रतीत होता है, ताकि गन्दी चाय पीने को न मिले, यद्यपि सबसे अधिक प्रभावपूर्ण कदम तो यह होगा कि जनता की रुचि में ही सुधार किया जाए।[2]

उपभोग के स्वरूप में परिवर्तन तो धीरे-धीरे ही होगा। सामाजिक और धार्मिक भावनाओं से निर्मित उपयोग का स्वरूप सहज ही परिवर्तित नहीं हो सकता। उसके लिए संतुलित आहार और पौष्टिकता के विषय में जनमत को शिक्षित करना होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् योजनाओं के कारण, देश की अर्थव्यवस्था अच्छी हो गई है। राष्ट्रीय आय १९५१-६१ में ४४ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय १८.५ प्रतिशत बढ़ गई। तीसरी योजना के पहले तीन सालों में राष्ट्रीय आय ९.५ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय २.५ प्रतिशत बढ़ी। इस प्रकार १९६१-६४ में तीसरी पंचवर्षीय योजना के ५ प्रतिशत वार्षिक आय के बढ़ने के मुकाबले में कम रही। निवेश दर १९५१-६१ में लगभग दुगुना हो गया। घरेलू बचत का दर इस समय में ५ प्रतिशत से बढ़कर ८.५ प्रतिशत हो गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना बनाने के समय यह आशा की गई थी कि राष्ट्रीय आय १९ हजार करोड़ रुपया १९६५-६६ से बढ़कर १९७०-७१ में २५ हजार करोड़

---

१. सम साउथ इण्डियन विलेजेज, पृ० २३२।

२. दक्षिण भारत में प्रचलित कॉफ़ी पीने पर भी इसी प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं। शराब पीने पर व्यय और उसके सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति का अन्यत्र विवरण दिया जाएगा (देखिए अध्याय १२)। और भी इसी प्रकार के गलत उपयोग भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के दिमाग में आएँगे, जैसे शादी और मृत्यु के अपव्यय, सोने-चाँदी के गहने बनाने की आदत आदि (अध्याय ११ में आसंचयन स्वभाव का सेक्शन देखिए)। आहार की पौष्टिकता के सम्बन्ध में पाठक बंगाल फ़ेमीन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, भाग २, पृ० १०६-४० देखें।

अध्याय १८

संवहन

१. परिवहन[1] का महत्त्व—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में परिवहन के साधन अत्यन्त ही अविकसित थे। उनकी तुलना इंगलैण्ड की अठारहवीं सदी की परिस्थिति से की जा सकती थी। हाँ, कुछ अच्छी जलवायु की परिस्थितियों के कारण भारत में सड़कों की हालत इंगलैंड की अपेक्षा कुछ अच्छी थी। देश में उस समय तक रेलें नहीं चली थीं तथा उत्तर भारत में मुग़ल शासकों द्वारा बनवाई गई थोड़ी-सी मुख्य सड़कें भी काम देने लायक नहीं रह गई थीं।[2] कितनी ही तथाकथित सड़कें भूमि पर गाड़ियों और छकड़ों द्वारा बनाई गई थीं, जिन पर बरसात में किसी भी पहियेदार गाड़ी का चलना असम्भव था। भारवाही पशु ही देश के अन्दर जाने के एकमात्र साधन थे। सड़कें सुरक्षित नहीं थीं। उन पर ठगों और पिण्डारियों का बोलबाला था। नौगम्य नहरें नहीं थीं। कुछ स्थान, जैसे गंगा और सिन्धु के किनारे के स्थान, अन्य स्थानों की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक भाग्यशाली थे। कुल मिलाकर सूखे मौसम में सफर योग्य मैदान, कुछ नौगम्य नदियाँ और थोड़ी-सी बनाई हुई सड़कों के कारण उत्तरी भारत में संचार की दशा दक्षिण प्रायद्वीप की अपेक्षा अधिक संतोषजनक थी। दक्षिण में बीहड़ पहाड़ों और तेज़ नदियों के कारण परिवहन की स्थिति बड़ी ही असंतोषजनक थी, केवल दोनों समुद्री किनारों पर थोड़ी-सी सुविधा थी।

इस अध्याय में हम इस सम्बन्ध में किये गए विभिन्न प्रयासों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

विवरण की सुविधा के लिए हम इसे चार उप-विभागों में विभाजित करेंगे—

(१) रेलवे, (२) सड़कें, (३) जल-पथ, और (४) वायु-परिवहन।

रेलवे

भारतीय रेलवे के इतिहास को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वतन्त्रता से पूर्व और (२) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

(१) स्वतन्त्रता से पूर्व

२. रेलवे के विकास के प्रधान काल-खण्ड—भारतीय रेलों के इस अवधि के इतिहास

---

१. 'ट्रांसपोर्ट' के लिए परिवहन और 'कम्यूनिकेशन' के लिए संचार शब्द का प्रयोग किया गया है। —अनु०

२. देखिए, डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड, 'इण्डिया एट दि डैथ ऑफ़ अकबर', पृष्ठ १६६-६७।

तत्कालीन परिस्थिति में इंगलैंड में बसे हुए लोगों की कम्पनियों का निर्माण ही उचित था, क्योंकि रेलों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक था और भारतीय पूंजी की लज्जाशीलता को देखते हुए अँग्रेज़ी पूंजी को आकर्षित करने के लिए कुछ सुविधाएँ और आश्वासन देना अत्यन्त आवश्यक था। इसके विपरीत (१८७२ में) विलियम थार्नटन ने संसदीय (पार्लियामेण्टरी) समिति के सामने यह गवाही पेश की कि यदि गारण्टी न दी गई होती तो भी अँग्रेज़ी पूंजी भारत में रेलों के निर्माण में विनियोजित की जाती, क्योंकि इंगलैण्ड की अपार धन-राशि दक्षिणी अमेरिका तथा अन्य देशों में विनियोग के साधन ढूंढ़ रही थी और कोई कारण नहीं दिखाई देता था कि वह लगातार भारत की उपेक्षा करती।[1]

४. सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (१८६९-७९)—भारत सरकार पुराने गारण्टी सिस्टम पर अधिक दिनों तक चलने के लिए तैयार न थी। इसके विशेष कारण ये थे—प्रथम, कम्पनियाँ अपव्ययी थीं। दूसरे, सरकार का उन पर नियन्त्रण अधूरा था। तीसरे, ब्याज-दर और उसे चुकाने का आश्वासन सरकार के लिए काफी खर्चीला सिद्ध हुआ। चौथे, सरकार को कम्पनियों को होने वाले लाभ की भी निकट भविष्य में कोई आशा न दिखाई पड़ी। इसलिए दो परिवर्तन किये गए। कुछ कम्पनियों के सम्बन्ध में, जैसे जी० आई० पी०, सरकार ने मुनाफे के वितरण की व्यवस्था बदल दी। सरकार ने २५ साल के बाद रेलों को खरीदने का अधिकार छोड़ दिया और प्रति छमाही में होने वाले लाभ का आधा हिस्सा माँगने लगी। इससे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—उस समय जब कि राज्य-निर्बाधता का व्यक्तिवादी सिद्धान्त अपने विकास की चरम सीमा पर था—तब हुआ जबकि भारत-सचिव (सेक्रेटरी ऑव स्टेट) ने यह निश्चय किया कि सरकार को अपनी साख का पूरा लाभ उठाकर स्वयं सस्ते में रेलों का निर्माण करना चाहिए। अतः १८६९ के बाद कई वर्ष तक सरकार ने स्वयं पूंजी लगाई और नये ठेके नहीं दिये गए। यह निश्चय किया गया कि सरकार द्वारा प्रबन्धित और अधिकृत रेलवे लाइनों के निर्माण के लिए प्रति वर्ष २० लाख पौण्ड ऋण लिया जाएगा तथा सस्ते अर्थात् मीटर गेज पर रेलों का निर्माण होगा। फलतः रेलों के निर्माण का कार्य बड़े ज़ोर-शोर से और सस्ते दाम पर होने लगा, लेकिन लगातार धन की व्यवस्था सबसे कठिन समस्या थी। पहले तो सैनिक एवं यौद्धिक कारणों से पंजाब और सिन्ध की लाइनें (जो बाद में नार्थ-वेस्टर्न रेलवे के नाम से प्रसिद्ध हुईं) मीटर गेज से ब्रॉड गेज में बदलनी पड़ीं। दूसरे, १८७४ और ७९ के दुर्भिक्ष तथा सीमाप्रान्त और अफगान युद्धों के कारण सरकारी खजाने पर काफी भार पड़ा। इसके अतिरिक्त १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने ५००० मील रेलों का निर्माण अनिवार्य बताया ताकि देश को दुर्भिक्ष के चंगुल से बचाया जा सके। यह तभी सम्भव था जब इस निर्माण (५००० मील) को मिलाकर कुल रेलवे लाइन २०,००० मील हो जाती।

---

१. देखिए, आर० सी० दत्त, 'दि हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज', पृ० ३६०।

मानना पड़ेगा कि पहले की अपेक्षा उसने काफी अधिक धन व्यय किया। इस कालावधि में रेलों की मीलों में दूरी १९०० में २४,७५२ मील से बढ़कर १९१३-१४ में ३४,६५६ मील हो गई और विनियोजित पूंजी ३२९.५३ करोड़ रुपये से बढ़कर ४९५.०९ करोड़ रुपये हो गई।

इस कालावधि की दूसरी विशेषता १९०० से रेलों को लाभ होना है। इससे पहले रेलवे से लाभ न होने का कारण अंशतः तो कम्पनियों का *मितव्ययितारहित* निर्माण और पुरानी गारण्टी-कम्पनियों का प्रबन्ध था और अंशतः यौद्धिक लाइनों, जैसे नार्थ वेस्टर्न रेलवे तथा दुर्भिक्ष में सहायता पहुँचाने के लिए बनाई गई रेलवे लाइनों, का निर्माण था। प्रारम्भिक अवस्था में यातायात की कठिनाइयों के कारण भी लाभ नहीं हुआ। रेलवे के प्रथम ४० वर्षों में सरकार का रेलों द्वारा हुआ घाटा ५८ करोड़ रु० था। इसके बाद सरकार को विनियोजित पूंजी पर लाभ होना प्रारम्भ हो गया। इससे देश के आर्थिक विकास, विशेषकर सिंचाई के विकास, के फलस्वरूप पंजाब और सिन्ध के आर्थिक विकास ने भी सहायता पहुंचाई, जिसके फलस्वरूप फ्रण्टियर रेलवे भी सुचारु रूप से संचालित होने लगी। लाभ होने का अन्य कारण पुराने ठेकों को बन्द कर अपने लिए लाभदायक शर्तों पर फिर से नया करना था। १९००-१० तक सरकार को लाभ कम ही हुआ, लेकिन १९२४ तक कुल लाभ १०३ करोड़ रुपये था। रेलवे से होने वाला मुनाफा प्रतिवर्ष बदलता रहता है, क्योंकि यह देश की कृषि एवं आन्तरिक व्यवसाय और वाणिज्य की अवस्था पर निर्भर करता है। अकवर्थ-समिति के सुझावों को अपनाने तथा (१९२२-२३) इंचकेप-समिति द्वारा सुझाई गई छँटनी (रिट्रेंचमेंट) के परिणामस्वरूप रेलवे एक सुदृढ़तर आर्थिक आधार पर स्थित हो गई। वास्तविक आय का प्रतिशत (कुल प्राप्ति में से चालू खर्च घटाने पर) पूंजी पर लगने वाले व्याज को बिना घटाए, १९१८-१९ में ७·५ प्रशित और १९२१-२२ में २·६ प्रतिशत था। १९१२ और १९३९ के बीच औसत दर ४ प्रतिशत से थोड़ी अधिक ही थी।[1]

छँटनी समिति (रिट्रेंचमेंट कमेटी) ने निर्धारित किया कि रेलों का उद्देश्य विनियोजित पूंजी से ५½ प्रतिशत लाभ प्राप्त करना होना चाहिए। सरकार द्वारा घोषित रेल के लाभ के सम्बन्ध में चन्द्रिकाप्रसाद का मत है कि "रेलों से लाभ की घोषणा करते समय स्टॉक के घिसने की व्यवस्था के साधारण व्यावसायिक सिद्धान्त को ध्यान में नहीं रखा गया।" उनके मतानुसार इस प्रकार घोषित मुनाफे में से इस मद के लिए काफी घटाना चाहिए। आकवर्थ-समिति ने भी इस बात को स्वीकार किया है और ज़ोरदार सिफारिश की कि हर रेलवे को अपने स्थायी मार्ग और रोलिंग स्टॉक को फिर से नया करने के लिए पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिए। रेलों की कार्यवाही के आर्थिक परिणामों की १२वें अध्याय में विवेचना की गई है।

---

१. व्यापारिक मन्दी के परिणामस्वरूप १९३०-३१ से १९३६-३७ तक व्याज-दर चुकाने के बाद रेलों को बड़ा घाटा उठाना पड़ा।

के लिए। ये सब कारण किसी-न-किसी हद तक भारत में सरकार द्वारा रेलों के प्रवन्ध की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त इस देश में यथार्थतः कम्पनी द्वारा प्रवन्ध असम्भव और अव्यवहार्य है।

हालाँकि कम्पनियाँ, जो अपना रुपया लगातीं, अपनी सम्पत्ति का स्वयं प्रवन्ध करतीं और लाभांश के रूप में परिणाम के आधार पर अपने अधिकारियों की नियुक्ति करती हैं, निश्चय ही सरकार द्वारा प्रवन्धित साहसिक कार्यों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होंगी। परन्तु भारत में रेलों का प्रवन्ध करने वाली अंग्रेजी कम्पनियाँ इस अर्थ में कम्पनियाँ नहीं थीं। उनको प्रवन्ध के लिए सौंपी गई सम्पत्ति उनकी अपनी नहीं थी और उनके द्वारा विनियोजित पूंजी भी अपेक्षाकृत कम थी।[1] इस प्रकार की योजना भूतकाल में कभी सफल नहीं हुई और न भविष्य में ही सफल हो सकती है। प्रवन्ध केवल नाम-मात्र के लिए ही कम्पनियों के हाथ में था क्योंकि सरकार अपने को मालिक समझती थी और कम्पनियों को प्रेरक शक्ति के कार्य के लिए कोई स्थान न था। सभी महत्त्वपूर्ण बातें, जैसे नये स्थानों और पदों का निर्माण सरकार के हाथ में था। जहाँ तक अल्पमत रिपोर्ट के इस प्रस्ताव का प्रश्न है कि प्रवन्ध अंग्रेज़ी कम्पनियों से भारतीय कम्पनियों के हाथ में सौंप दिया जाए, इसके सम्वन्ध में पहला विरोध यह है कि इस काम में भारतीय कम्पनियों का अल्पहित होगा और सरकार प्रभावशाली साझीदार वनकर आधे से अधिक संचालकों की नियुक्ति करेगी तथा अपना नियन्त्रण यथावत् वनाए रहेगी। सरकार और संचालक-मण्डल (बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स) के वीच कार्य का विभाजन अब भी रहेगा। अधिकारियों की भक्ति नियुक्त करने और तनख्वाह देने वाले संचालक-मण्डल और सरकार के वीच विभाजित रहेगी और वे पूर्ण क्षमता तथा ध्यान से काम न कर पाएँगे। योग्य व्यापारी संचालक-मण्डल में आने से इन्कार कर देंगे, क्योंकि यहाँ उनकी प्रतिभा को पूरा अवसर न मिलेगा, सरकारी नियन्त्रण और नियमन से उनका हाथ वँधा रहेगा। अतएव कम्पनियों को भारतीय कर देने से ही मामला हल नहीं हो सकता। भारत में सरकारी नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त कम्पनियाँ वनाना भी आसान न था, क्योंकि ऐसी स्थिति में आवश्यक धन मिलना वहुत कठिन होगा। सरकार को हमेशा इस काम में अधिक हिस्सा वँटाना पड़ेगा और सरकारी प्रवन्ध कम्पनियों के प्रवन्ध से कहीं अच्छा रहेगा। कम्पनी-प्रवन्ध भारत में कभी भी लोकप्रिय न होगा।

---

१. इस सम्वन्ध में निम्न संख्याएँ मनोरंजक हैं—मार्च १९४० के अन्त में कुल लगी पूँजी, जिसमें वनती हुई रेलें भी शामिल हैं, ८२५.५९ करोड़ रु० थी। इसमें ७५८.६२ करोड़ रु० सरकारी रेलवे का था, ९३.९७ करोड़ भारतीय रियासतों, ज़िला वोर्डों और कम्पनियों का था। इसमें अधिकांश प्रायः ७२९.७२ करोड़ रुपये सरकारी पूँजी थी और केवल १/२५ भाग, अर्थात् २८.८९ करोड़ रुपये कम्पनियों की पूँजी थी। इन संख्याओं में मार्च के अन्त तक का व्यय (३८.८२ करोड़) भी शामिल है जो कि यौद्धिक महत्त्व की लाइनों के लिए व्यय किया गया था। देखिए, 'रिपोर्ट आन इण्डियन रेलवेज़' (१९३९-४०), वाल्यूम १, पैरा ३३।

वर्ष की ३१ मार्च को काम समाप्त हो जाता है और नये सरकारी वर्ष के साथ फिर प्रारम्भ होता है, रेलवे के विकास के लिए घातक थी। अतएव केवल व्यावसायिक आधार पर रेलों के सुचारु संचालन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् पुरानी पद्धति की अनेक संदिग्धताओं और बुराइयों से सरकार को स्वतन्त्र करने के लिए भी रेलवे वित्त को पृथक् करने का निश्चय किया गया। विषय के महत्त्व को ध्यान में रखकर सितम्बर १९२१ में धारासभा में एक प्रस्ताव रखा गया और इस प्रश्न पर विचार करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति की नियुक्ति हुई। समिति ने यह निर्णय किया कि तुरन्त अलग करना व्यावहारिक राजनीति के बाहर की बात होगी। किन्तु उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि वर्तमान रेलवे लाइनें, जो युद्ध के कारण बिगड़ गई थीं या उपेक्षित थीं, उनको फिर से चालू किया जाए। इस काम के लिए उन्होंने १५० करोड़ रुपये व्यय करने की सिफारिश की जो कि पाँच वर्ष में रेलों के सुधार और तृतीय श्रेणी के यात्रियों को अधिक सुविधाएं देने के लिए व्यय किये जाएँ। १९२४ में धारासभा ने इसे स्वीकार किया और रेलवे वित्त को अलग करने की योजना को भी मानने के लिए तैयार हो गई। शर्त यह थी कि रेलवे के मुनाफे से प्रति वर्ष एक निश्चित धनराशि सरकारी बजट के लिए दी जाए। यह हिस्सा इस आधार पर तय किया गया कि वर्ष के अन्त में वाणिज्य-सम्बन्धी लाइनों पर लगी पूंजी पर १% (कम्पनियों और रियासतों द्वारा दी गई पूंजी को छोड़कर) तथा लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग उसी वर्ष के घाटे तथा यौद्धिक लाइनों पर लगी पूंजी के व्याज को घटाकर सरकार को दिया गया। धारासभा ने यह तय किया कि इस प्रकार निश्चित धनराशि को देने के पश्चात् यदि रेलवे सुरक्षित कोष (रिजर्व) को हस्तान्तरित किया जाने वाला मुनाफा ३ करोड़ से अधिक हो तो इस अधिक धन का $\frac{1}{3}$ साधारण आगम (रेवेन्यू) में दे दिया जाए। रेलवे सुरक्षित कोष (रिजर्व) का उपयोग वार्षिक अंशदान, बकाया अपकर्ष (डिप्रेसियेशन) पूरा करने और साधारण रूप से रेलवे की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए था।

११. अवसाद-काल (१९३०-३१ से १९३५-३६) तथा वेजवुड रेलवे-जाँच-समिति (१९३६-३७)—१९३०-३१ से १९३५-३६ तक का समय रेलवे के इतिहास में अवसाद का समय है। रेलवे की वार्षिक आय घटती चली गई। परिणाम यह हुआ कि बजट को सन्तुलित करने के लिए सुरक्षित कोष और अपकर्ष कोष (डिप्रेशियेशन फण्ड) का सहारा लेना पड़ा तथा सामान्य बजट के प्रति अंशदान भी बन्द करना पड़ा। इस अवधि में रेलवे की आर्थिक दशा में होने वाले भयंकर ह्रास ने विषय की जाँच-पड़ताल अनिवार्य कर दी। सर ऑटो नेमियर (एक वित्तीय विशेषज्ञ, जो १९३६ में भारत आये) ने रेलवे के खर्च में सम्पूर्ण परिवर्तन की राय दी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट, '१९३५ के संविधान के अन्तर्गत प्रान्तों और केन्द्र में वित्तीय व्यवस्था' में परिवहन के विभिन्न साधनों के संयोजन पर जोर दिया।[1]

१. इण्डियन फाइनेंशल इन्क्वायरी (नेमियर) रिपोर्ट, पैरा ३१, १९३६ में प्रकाशित, (अध्याय १२)।

पास था किन्तु वे सरकार की तरफ से वैयक्तिक कम्पनियों द्वारा प्रबन्धित थीं जिन्हें सरकार ब्याज की सुरक्षा दे चुकी थी (बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे और एम० एण्ड एस० एम०, आसाम-बंगाल रेलवे, बंगाल-नागपुर रेलवे और एस० आई० रेलवे)। दो महत्त्वपूर्ण लाइनें (बंगाल एण्ड नार्थ वेस्टर्न रेलवे तथा रुहेलखण्ड-कुमायूँ रेलवे) तथा कम महत्त्व की अनेक लाइनें व्यक्तिगत कम्पनियों की सम्पत्ति थीं। इनमें से कुछ तो स्वयं कम्पनियों द्वारा तथा कुछ सरकार द्वारा शासित होती थीं। कुछ लाइनें देशी रियासतों के अधीन थीं जैसे वाडी से हैदराबाद (हैदराबाद राज्य), खण्डवा से इन्दौर (होल्कर राज्य) तथा इन्दौर से नीमच-उज्जैन होते हुए (ग्वालियर राज्य) कितनी ही छोटी-छोटी लाइनें तो जिला बोर्डों के स्वामित्व में थीं या उन्हें इन बोर्डों द्वारा ब्याज की गारन्टी प्राप्त थी।

अब लगभग सभी रेलें सरकारी अधिकार और प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं।[1]

(२) स्वतन्त्रता के पश्चात्

१९४७ में विभाजन के फलस्वरूप रेलवे की पूँजी, रोलिंग स्टॉक, कारखाने आदि का बँटवारा रेडक्लिफ-निर्णय के अनुसार रेलवे भण्डार उपसमिति (रेलवे स्टोर्स सब-कमिटी) ने तय किया। कुल रेलमार्ग का लगभग १९ प्रतिशत पाकिस्तान के हिस्से में आया। वित्तीय देयता में भी पाकिस्तान का भाग लगभग १९ प्रतिशत ही रहा। पाकिस्तान की देयता लगभग १५० करोड़ रु० तथा भारत की देयता ६६० करोड़ रु० थी (१९४७-४८ के बजट के आधार पर)।

१९४९ में भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से रेलों के पुनर्स्थापन के लिए, ३४ करोड़ डालर का ऋण प्राप्त किया। इस ऋण की सहायता से ४१८ इंजन, २६ बायलर तथा अन्य भागों की खरीद के लिए आर्डर दिये गए। इसके अलावा भारत सरकार ने अपने साधनों से भी इंजन, डिब्बे तथा अन्य रोलिंग स्टॉक पर्याप्त मात्रा में खरीदे। दिसम्बर, १९५३ में भारत सरकार ने यू० स० टेकनीकल मिशन के साथ रेलों के पुनर्स्थापन के लिए एक और समझौता किया।

अगस्त १९४९ में भारत में ३७ रेल-व्यवस्थाएँ (रेलवे सिस्टम) थीं। रेलवे संगठनों की अधिकता व्ययशक्ति और अकुशल प्रबन्ध को जन्म देती है। अतएव भारतीय रेल-व्यवस्था को पुनः नये क्षेत्रों में वर्गीकृत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। रेल-व्यवस्था के पुनर्गठन के मूल में यही सत्य निहित था। इसके अतिरिक्त पुनर्गठन के फलस्वरूप प्रत्येक हेडक्वार्टर उच्चतम क्षमता से सम्पन्न हो सकेगा तथा रेलवे की अद्यतन प्रविधियों के अनुसरण में समर्थ होगा। अन्तिम पुनर्गठन से कोई गतिरोध और अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होगी।[2] इन सिद्धान्तों के आधार पर रेलवे को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की योजना १५ अप्रैल, १९५२ को तैयार हो गई थी। प्रारम्भ में

---

१. सरकारी रेलवे की लम्बाई ३४,१८१.०५ मील तथा गैर-सरकारी रेलवे की लम्बाई ७०२.८२ मील है। देखिए, टाइम्स ऑफ इण्डिया डाइरेक्टरी एण्ड ईअर बुक, १९६०, पृ० २९० ।

२. देखिए, सेकण्ड फाईव ईअर प्लान, पृ० ४६२ ।

तथा ६१, ७१३ रही होगी।

द्वितीय योजना में प्रधानतः रेल-व्यवस्था के विस्तार पर ज़ोर दिया गया ताकि व्यापार और उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। १९५८ में रेलवे को विश्व बैंक से ४०·५ करोड़ रु० का ऋण प्राप्त हुआ। ३१ मार्च १९५९ तक इस ऋण का उपयोग चल-स्टाक तथा रेलवे सम्बन्धी अन्य साज-सामान खरीदने के लिए किया जा चुका था। १९५८-५९ में रेलवे ने ३९९ इंजन (जिनमें ७१ डीज़ेल के इंजन भी शामिल हैं), १६४३ कोचिंग के डिब्बे तथा १३,४२२ माल-गाड़ी के डिब्बे प्राप्त किए।

द्वितीय योजना में १४४२ मील लम्बी रेल की लाइन का विद्युतीकरण प्रस्तावित था। बाद में इस लक्ष्य में परिवर्तन किया गया। परिवर्तन का कारण शक्ति की कमी तथा विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ थीं। हावड़ा-वर्दवान की मुख्य लाइन व श्योराफुली-तारकेश्वर ब्रान्च लाइन पर ८८ मील की दूरी के लिए विद्युतीकरण हो चुका है। १९५८-५९ तक इस क्षेत्र में ११२ बिजली से चलने वाली रेलें चलने लगी थीं। पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी रेलवे की मुख्य लाइन पर विद्युतीकरण का काम चालू था।

१४. रेलवे के आर्थिक प्रभाव—रेलवे या अन्य दूरी को नष्ट करने वाले साधनों के लाभ इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इनका बड़ा ही महत्त्व है। कुशल प्रशासन, सुरक्षा, दुर्भिक्ष-सहायता, व्यापार और उद्योग का विकास, प्राकृतिक साधनों का अधिक अच्छा उपयोग, जनसंख्या का सम-विभाजन, ये सब रेलों पर निर्भर हैं। कस्बों और बन्दरगाहों का विकास भी बहुत हद तक रेलवे के कारण ही सम्भव हुआ। रेलों द्वारा सफाई और कृषि-सुधार में भी बड़ी सहायता पहुँच सकती है। अन्त में सरकारी आय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप से बढ़ती है। प्रत्यक्ष रूप से सरकार रेलवे के मुनाफे में हिस्सेदार है। परोक्ष रूप से रेलों से देश की सम्पत्ति में वृद्धि होने से जनता की कर देने की शक्ति बढ़ जाती है।

१५. रेलों के और अधिक विकास की आवश्यकता—प्रारम्भ में रेलों से होने वाली अनेक हानियों का कारण देश में रेलों का निर्माण न होकर निर्माण की पद्धति और उसके सम्बन्ध में दिखाई गई अनुचित जल्दबाजी है। यह बात बहुत जरूरी है कि कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत देश में रेलों का विकास यथासम्भव शीघ्रता से हो। इससे देश का व्यावसायिक और औद्योगिक विकास सरलता से होगा। यह बात तो स्पष्ट है कि देश में अभी रेलवे का पूर्ण प्रसार नहीं हो पाया है। प्रमाण के लिए हम यूरोप को ले सकते हैं। यूरोप का क्षेत्रफल (रूस को निकाल देने पर) १,९९०,००० वर्गमील है, जिसमें १९०,००० मील रेल है। भारत का क्षेत्रफल १२,५९,७९७ वर्ग मील है, लेकिन इसमें केवल ३५,०८१ मील रेलवे लाइन है।

रेलवे प्रशासन की समस्याएँ

१. स्वतन्त्रता से पूर्व—हम पहले रेलवे प्रशासन की उन समस्याओं की चर्चा

रेलवे-विभाग के बीच अधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए तथा कृत्रिम खादों, ईंधन, चारा और दूध देने वाले पशुओं के यातायात को विशेष सुविधा दी जाए। उन्होंने कृषि के औज़ारों के कच्चे माल और औज़ारों के परिवहन की दर को फिर से जाँच करने की सिफारिश की।[1]

१९२६ में आकवर्थ-समिति के सुझाव के अनुसार एक अध्यक्ष, एक व्यवसायी हितों का प्रतिनिधि सदस्य, दूसरा रेलवे का प्रतिनिधि सदस्य, इनकी एक दर-परामर्शदात्री समिति (रेट्स एडावइज़री कमेटी) का निर्माण किया गया। इसे जाँच करके निम्न विषयों पर सुझाव देने के लिए कहा गया :

(१) अनुचित अधिमान की शिकायतों की जाँच। (२) यह शिकायत की कि रेलवे कम्पनियाँ व्यापार को पूरी सुविधा देने का कार्य नहीं कर रही हैं तथा अन्तिम स्थान-सम्बन्धी (टर्मिनल्स) झगड़े। (३) ये शिकायतें कि दरें उचित नहीं हैं। (४) नुकसान पहुँचने या पहुँचाने वाली सामग्री के परिवेष्टन (पैकिंग) से सम्बन्धित शर्तों के औचित्य-सम्बन्धी शिकायतें। (५) किसी दर से सम्बन्धित परिवेष्टन-सम्बन्धी शिकायतें। जैसी कि वेजवुड जाँच समिति ने सिफारिश की थी, १९४० में समिति की कार्य-विधि अधिक सरल कर दी गई।

१७. प्रभावपूर्ण निरीक्षण का प्रभाव—रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन : आकवर्थ-समिति ने रेलवे बोर्ड के पुनर्गठन पर ज़ोर दिया था ताकि इसे एक सन्तोषजनक माध्यम बनाया जा सके जिससे भारत सरकार सम्पूर्ण रेल व्यवस्था के ऊपर प्रभावपूर्ण निरीक्षण सरलता से कर सके। पुनर्गठित रेलवे बोर्ड की संरचना एक प्रधानायुक्त (चीफ़ कमिश्नर), एक वित्तायुक्त और तीन सदस्यों से मिलकर हुई।[2] आकवर्थ-समिति की सिफारिश थी कि रेलें तीन क्षेत्रों में विभाजित हों, जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र एक कमिश्नर के अधीन हो। इसके स्थान पर विषय के आधार पर काम को विभाजित करने का ढंग अपनाया गया। एक सदस्य प्राविधिक (टेकनिकल) विषयों का काम देखता है, दूसरा साधारण प्रशासन कर्मचारी और यातायात-सम्बन्धी विषयों का काम देखता है और तीसरा वित्तायुक्त, जो कि वित्त-विभाग का प्रतिनिधि होता है, सभी आर्थिक पहलुओं की देख-रेख करता है। बोर्ड की सहायता के लिए पाँच संचालक होते हैं। (सिविल इंजीनियरिंग, मेकेनिकल इंजीनियरिंग, यातायात, वित्त और संस्थापन—एस्टेब्लिशमेण्ट), जो कि प्रधानायुक्त और सदस्यों के दिन-प्रतिदिन के काम में सहायता पहुँचाते हैं ताकि वे अपना ध्यान रेलवे-नीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर केन्द्रित कर सकें और विभिन्न रेलों पर यात्रा करके स्थानीय सरकारों से पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सकें।

१८. भारतीयकरण की समस्या—आकवर्थ-समिति और ली-आयोग (१९२३) दोनों ने उच्च रेलवे सेवाओं के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करने की सुविधाओं के प्रसार की सिफारिश की थी। ली-आयोग ने ऐसे ७५ प्रतिशत पदों के लिए प्रशिक्षण की

---

१. कृषि-आयोग-रिपोर्ट, पृ० ३७७-९।

२. अतिरिक्त सुझावों के लिए देखिए, इण्डियन रेलवे इनक्वायरी रिपोर्ट (१९३७), पैरा ७८-९०।

बात तो इन हिदायतों का पालन है । सम-पार के फाटकों की दुर्घटनाओं, रेल-पथ में खराबी के कारण होने वाली घटनाओं तथा समाज-विरोधी तत्त्वों के तोड़-फोड़ के कार्यों को रोकने के लिए भी सरकार प्रयत्नशील है और आशा की जा सकती है कि आगामी वर्षों में रेल-यात्रा और अधिक सुरक्षित हो जाएगी।[1]

रेलवे की तीसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यात्रियों को सुविधा पहुँचाने की है। रेलवे प्रशासन के विरुद्ध यह आलोचना प्रस्तुत की जा रही है कि तीसरे दर्जे के यात्री-जिनसे अन्य यात्रियों की अपेक्षा सबसे अधिक आय प्राप्त होती है—सुविधा की दृष्टि से सबसे अधिक उपेक्षित हैं। लड़ाई के बाद भारतीय रेलों में यात्री-यातायात बराबर बढ़ता रहा है, उसकी वजह से गाड़ियों में भीड़ रहती है। चूँकि रेलवे के उपलब्ध साधनों से भीड़ में कोई खास कमी नहीं की जा सकती, इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि इन साधनों का उपयोग इस तरह से किया जाए कि भीड़ कुछ खास क्षेत्रों और गाड़ियों में अधिक न होकर, समान रूप से सब गाड़ियों और क्षेत्रों में बँट जाए। फिर भी इस बात की कोशिश की जा रही है कि बड़ी और मीटर दोनों लाइनों में सवारी गाड़ियों की मील-संख्या बढ़े।

द्वितीय योजना में रेल-उपभोगकर्त्ताओं की सुविधा के लिए १५ करोड़ रु० मंजूर किये गए थे। अनुमानित व्यय १५.१५ करोड़ रु० है। तीसरी योजना के प्रथम वर्ष में ३.०२ करोड़ रु० व्यय करने का विचार है।[2] उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट है कि सरकार यात्रियों को अधिक सुविधा प्रदान करने के प्रति जागरूक है। यात्री-सुविधा की दिशा में अभी बहुत-कुछ करना शेष है। रेल के डिब्बों में बैठने की आरामदायक सीट, पंखा, शौचादि की स्थिति में सुधार आदि। साधारण जनता यात्री-सुविधा से तभी प्रभावित होगी जबकि उपर्युक्त सुविधाएँ हर गाड़ी में प्रस्तुत की जाएँ।

१६. रेलवे में प्रगति तथा पंचवर्षीय योजनाएँ—क्योंकि रेलवे यातायात की सबसे बड़ी अभिकरण (Agency) है, इसलिए इसकी प्रगति सारी आर्थिक व्यवस्था पर बहुत प्रभाव डालती है। इसका पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष महत्व है। इसका विवरण निम्नलिखित तालिकाओं से मिलता है—

तालिका—१

व्यय तथा रेलवे का अंशदान (करोड़ रुपयों में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१. योजना में रेलवे पर व्यय	४२३.२३	१,०४३.६६	१,५८१.००
२. रेलवे का अंशदान योजना के कार्य	२८०.००	४६५.००	५३१.००
३. विदेशी मुद्रा की रेलवे के लिए आवश्यकता	—	३१६.४५	२८३.५०

१. देखिए, भारत की सरकारी रेलों में दुर्घटनाओं की समीक्षा (१९५९-६०) रेलवे मंत्रालय फरवरी १९६१ में प्रकाशित।

२. देखिए, यात्री सुविधा के प्रति—रेलवे मंत्रालय (१९६१-६२)।

दिया और यह माँग आज भी पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हो पाई है। लेकिन रेलों के प्रसार से होने वाले लाभ ने सरकार का ध्यान सड़कों की ओर कम जाने दिया, खास तौर से उन सड़कों की ओर जो रेलवे के समानान्तर चलती हैं।[1]

२१. भारतीय सड़कों की विशेषताएँ—इस समय देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई चार ट्रंक सड़कें हैं। इनके साथ अनेक सहायक सड़कें जुड़ी हुई हैं। सबसे प्रसिद्ध ट्रंक रोड, जो पुराने ज़माने में सेनाओं के आवागमन के लिए बनाई गई थी, ग्रांड ट्रंक रोड है। यह खैबर से कलकत्ता तक जाती है। अन्य तीन सड़कों में से, एक कलकत्ता और मद्रास को मिलाती है, दूसरी मद्रास को बम्बई से मिलाती है और तीसरी बम्बई को दिल्ली से मिलाती है। इन चारों प्रधान सड़कों की लम्बाई ५,००० मील है जब कि कुल पक्की सड़कें १२१,६१७ मील हैं। दक्षिण भारत में सहायक सड़कें अच्छी दशा में हैं; उनकी संख्या भी अधिक है। पक्की सड़कों के अतिरिक्त काफी कच्ची सड़कें भी हैं (१६५०-५१ मील)। ३८,१३६ मील लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण तो प्रथम योजना-काल में १६५६ तक सामुदायिक विकास-योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत हुआ। इनमें से कुछ तो सूखे मौसम में मोटर इत्यादि के लिए भी काफी अच्छी हैं। मोटरों के आविष्कार और प्रचलन के पहले भी देश की आवश्यकता के लिए भारतीय सड़कें अपर्याप्त थीं।[2]

जिस आश्चर्यजनक शीघ्रता से मोटर परिवहन—बसें और निजी कारें—का देश में विकास हुआ है उससे सड़कों के निर्माण और सुरक्षा से सम्बन्धित कितनी ही नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। यह बात सच है कि मोटर-लारी ने कृषि-उत्पादन और तैयार माल को (ले जाने) ढोने में बैलगाड़ियों के काम को कम ही प्रभावित किया है। सड़कों की यह दुर्दशा बिना पुलवाली नदियों और रेलगाड़ी की प्रतिद्वन्द्विता के कारण है। जब ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी तो हमें आशा है कि यन्त्र-सज्जित परिवहन (मेकनाइज़्ड ट्राँसपोर्ट) यातायात के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लेगा। यह विकास खासकर पहाड़ी इलाकों में अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि वहाँ रेलवे-निर्माण की अपेक्षा सड़कें बनाना सस्ता पड़ेगा और सम्भव भी होगा। इसके अतिरिक्त बड़े नगरों के समीप नष्ट होने वाली वस्तुओं के लिए भी

---

१. देखिए, रोड डिवेलपमेण्ट कमेटी रिपोर्ट, पैरा १७।

२. कृषि-आयोग (१६२८) ने बताया कि जबकि प्रति १०० वर्गमील क्षेत्र में संयुक्तराज्य में ८० मील सड़कें हैं, भारत में केवल २० मील (प्रतिशत वर्गमील) हैं (रिपोर्ट, पैरा १६६)। भारत अब भी केनेथ मिचेल द्वारा रखे गए आदर्श से काफी दूर है। जब मिचेल भारत सरकार के सड़क परिवहन के नियन्त्रक थे, उन्होंने कहा था कि १००० जनसंख्या का कोई भी गाँव सड़क से आधे मील से अधिक दूर न होना चाहिए। भारतीय सड़क और परिवहन-विकास-संस्था (इण्डियन रोड्स एण्ड ट्रांसपोर्ट डिवेलपमेण्ट एसोसिएशन) ने सुझाव रखा कि प्रत्येक ३०० निवासियों के गाँवों से अधिक-से-अधिक १ मील की दूरी पर १० फीट चौड़ी सड़क होनी चाहिए। यदि भारत के सब ७००,००० गाँवों को निकट के बाज़ारों, गाँवों और रेलवे स्टेशनों से जोड़ने के लिए औसतन १ मील सड़क भी मिले तो कुल ७००,००० मील सड़क की आवश्यकता होगी, जबकि इस समय केवल ३००,००० मील सड़क है।

से हानि पहुँचेगी, बिलकुल भ्रामक है। यह ठीक है कि रेलवे और सड़कों के बीच थोड़ी-सी प्रतिद्वन्द्विता रहेगी, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। यह बात बड़े नगरों के समीप और उपनगरों के लिए भी उतनी ही सच है, जितनी देश के अन्य भागों के लिए जहाँ रेलवे और मोटरें समानान्तर पर चलती हैं, जैसे अहमदनगर और पूना के बीच। रेलवे की सामान्य नीति सड़क-परिवहन से अधिक सुविधा देना तथा मोटरों द्वारा ढोये गए माल और व्यापार का भी पूरा लाभ उठाना है। मोटरें तभी चालू की जाती हैं जब किसी-न-किसी प्रकार जनता की माँग रेलों द्वारा पूरी नहीं हो पाती। जनता के दृष्टिकोण से यह प्रतिस्पर्धा लाभदायक ही सिद्ध हुई है, क्योंकि इसने रेलवे को जनता की सुविधाओं का अधिक ध्यान रखने के लिए बाध्य किया है।

२४. सड़कों की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए अपनाये गए उपाय—सड़क की प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए रेलवे ने निम्नलिखित तरीके अपनाए हैं—रेलवे ग्राम्नीबस सेवाएँ, सन्तरी कोचेज़, शटल ट्रेनें, टाइम टेबल में परिवर्तन, सस्ते वापसी टिकट, तृतीय श्रेणी के मौसमी और ज़ोन टिकट, बारातों के लिए रिआयती दर, कम दर पर स्पेशल ट्रेनें, रेलवे की सेवाओं का प्रचार तथा अन्य सुविधाएँ।[1] वेजवुड-समिति ने इस प्रकार के अनेक तरीके बताए जिनसे सड़कों की प्रतिद्वन्द्विता को कम किया जा सकता है।[2] जहाँ तक पैसेंजर ट्रेनों का सवाल है, सरकार ने तेज चलने वाली पैसेंजर ट्रेनें, ट्रेनों का एक-दूसरे से मेल, अधिक अच्छी सेवाएँ और नीचे दर्जे के यात्रियों को अधिक सुविधाएँ देना पसन्द किया। उन्होंने सड़कों की प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए किराये को एक साथ कम करने का विरोध किया। किराये किसी स्थान-विशेष पर जनता को रेलों के प्रति आकर्षित करने के लिए कम किये जा सकते हैं या वहाँ कम किये जा सकते हैं जहाँ यह भय है कि अन्य सवारियाँ रेलों से विमुख होकर किसी अन्य परिवहन की ओर चली जायेंगी। भारतीय रेलों को बुकिंग एजेंसी द्वारा यातायात के विकास का प्रयास करना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि इधर वेजवुड-समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप रेलवे प्रशासन का व्यावसायिक पक्ष पर्याप्त सुदृढ़ कर दिया गया है। जहाँ तक माल के यातायात का सवाल है, इस समिति ने तेज़ मालगाड़ियाँ, माल का जल्दी उतारना-चढ़ाना, लिखा-पढ़ी की विधि को सरल बनाना, एकत्र करने और छोड़ने की सेवाओं में विकास, कन्टेनर और रेलवे रेफ्रिजरेटर ट्रकों का प्रयोग आदि के सुझाव दिये।

२५. परिवहन संयोजन-नीति—१९३२-३३ में रेलवे और सड़कों की प्रतिद्वन्द्विता की जाँच करने के लिए नियुक्त अफसरों की एक छोटी-सी समिति की जाँच का फल थी। वे दोनों अफसर भारत सरकार के सड़क इन्जीनियर सर के० जी० मिचेल और एल०

---

१. रिपोर्ट ऑफ़ दि रेलवे बोर्ड आन इण्डियन रेलवेज़ (१९३९-४०), पैरा ६२-४।

२. भारत सरकार द्वारा वेजवुड-रिपोर्ट की सिफारिशों पर किये गए काम के विशेष विवरण के लिए देखिए, रेलवे बजट (१९३८-३९), पैरा ८-१० और (१९३९-४०), पैरा ९-१७।

विकास में बाधा पड़े। जन-सुरक्षा को ध्यान में रखकर एक ही प्रकार के नियम बसों-लारियों दोनों के लिए लागू किये जाने चाहिएँ। परिवहन की अनावश्यक (अधिक) व्यवस्था और दुर्वितरण से बचने के लिए जनता की आवश्यकताओं के अनुसार लाइसेंस दिए जाने चाहिए। टाइम-टेबल और किराया निश्चित होना चाहिए तथा यात्रियों को ले जाने वाली सेवाओं का मार्ग अनुज्ञा (लाइसेंस) द्वारा नियमित होना चाहिए। समिति ने माल ढोने वाली गाड़ियों की प्रादेशिक अनुज्ञा-प्रणाली (रीजनल लाइसेंसिंग) की सिफारिश की और भविष्य में वस्तुओं के भाड़े को नियन्त्रित करने के लिए वैधानिक व्यवस्था का सुझाव रखा। व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों ही लारियों के लिए एक-से ही नियम लागू किये जाने चाहिएँ। प्रान्तीय नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के लिए पुलिस की शक्ति और नियन्त्रण को सुदृढ़ बनाना होगा। प्रान्तों को मोटरगाड़ियों की कर-सम्बन्धी नीति में एकता लानी चाहिए।

अप्रैल, १९४५ में भारत सरकार ने एक पूरक माँग पेश की ताकि रेलवे समानान्तर सड़कों पर बस कम्पनियों में पूँजी लगा सके, लेकिन यह माँग स्वीकार करने के पहले धारासभा ने सरकार से सड़क और रेलवे के संयोजन के सम्बन्ध में एक स्पष्ट नीति के कथन की माँग की। अतएव सरकार ने जनवरी, १९४६ में एक व्हाइट पेपर प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया कि सरकार का उद्देश्य दोनों प्रकार के परिवहनों का विकास इस प्रकार करना है कि ये प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक रहें। जहाँ रेलवे और सड़कें सामानान्तर थीं और भीषण होड़ की सम्भावना थी, वहाँ सबसे सन्तोषजनक समाधान दोनों पक्षों के आर्थिक हितों का एकीकरण था। इसलिए एक संयुक्त मोटर बस-सेवा प्रारम्भ करने का विचार किया गया जिसमें बसों के वर्तमान मालिक, रेलवे और प्रान्तीय सरकार तीनों का हिस्सा रहे। ये संयुक्त कम्पनियाँ एक संचालक-मण्डल द्वारा प्रशासित होने को थीं। इसके लिए प्रबन्धकारक एजेण्ट (मेनेजिंग एजेण्ट) रखने की आवश्यकता नहीं थी। अनेक प्रान्तीय सरकारों ने योजना को कार्यान्वित करने का प्रयास किया, किन्तु ऐसा करने में बहुतों ने निर्दिष्ट साधारण नीति का उल्लंघन किया। केन्द्रीय धारासभा द्वारा सड़क-रेल-संयोजन की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई समिति ने योजना कार्यान्वित करने में अनेक गलतियाँ देखीं और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि जब तक प्रान्तों में लोकप्रिय सरकार न बन जाए तब तक इस प्रकार की कम्पनियाँ बनाने का काम स्थगित कर देना चाहिए।

भारत-सरकार इधर कुछ दिनों से पुनः परिवहन के सभी साधनों बल्कि मुख्यतः रेल और सड़क के संयोजन तथा भावी विकास पर विचार कर रही है। परिवहन के क्षेत्र में नियोजित विकास की दृष्टि से इन समस्याओं का विस्तृत परीक्षण सहायक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से भारत सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में मई, १९५९ में एक उच्च-स्तरीय समिति की स्थापना की जो निहित समस्याओं का अध्ययन करके राष्ट्रीय परिवहन-नीति निश्चित करने के लिए सुझाव प्रस्तुत करेगी।

२७. सड़क के मोटर यातायात (ट्रैफिक) का नियमन—१९१४ के अधिनियम के

एकरूपता लाने के लिए १६३६ के मोटर वेहीकिल्स-अधिनियम में अपेक्षित संशोधन करने के लिए २ मार्च, १६६० में संसद ने एक बिल पास किया।

२८. **भारतीय सड़क-विकास-समिति और सड़क वित्त**—जैसा कि भारतीय सड़क-विकास (जयकर) समिति ने कहा—"भारत का सड़क-निर्माण और विकास स्थानीय बोर्डों और स्थानीय सरकारों की आर्थिक क्षमता के बाहर होता जा रहा है और एक ऐसा काम होता जा रहा है जिसमें राष्ट्र को दिलचस्पी लेनी चाहिए। अतः केन्द्रीय वित्त से उसका काम करना उचित होगा। केन्द्रीय वित्त को सड़कों के विकास से केवल रेलवे की प्राप्ति में वृद्धि द्वारा ही लाभ नहीं होता, बल्कि सड़कों पर चलने वाली मोटरों, मोटर स्पिरिट से प्राप्त चुंगी इत्यादि से भी लाभ होता है, जो (मोटर-यातायात) इस समय शीघ्रता से बढ़ रहा है। एक सुसंतुलित मोटर-कर योजना में, पेट्रोल-कर, गाड़ियों का कर, किराये पर चलने वाली गाड़ियों की लाइसेंस-फीस इत्यादि शामिल होने चाहिएँ। इन सबसे होने वाली आमदनी को सड़कों के विकास पर खर्च करना चाहिए। सड़कों का पुनर्विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि कुछ *स्थानीय सड़कों को प्रधान (आरटीरियल) सड़कों के वर्ग में कर दिया जाए ताकि* स्थानीय संस्थाएँ उनके भार से मुक्त हो जाएँ और अपना ध्यान सहायक और स्थानीय महत्त्व की सड़कों के निर्माण और सुरक्षा की ओर लगा सकें। सड़क-समिति ने बताया कि तमाम दुनिया में यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि स्थानीय छोटी-छोटी संस्थाओं पर प्रधान सड़कों के निर्माण और सुरक्षा का भार छोड़ना न्यायसंगत नहीं है। स्थानीय संस्थाओं को प्रान्तों से और अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। यदि सड़क-समिति की सिफारिशें अपनाई जाती हैं तो उससे गाँवों में सड़कें बनाने के काम में परोक्ष रूप से सहायता मिलेगी, क्योंकि इस प्रकार स्थानीय और प्रान्तीय धन, जो बड़ी-बड़ी सड़कों की देखरेख और निर्माण में प्रयुक्त होता है, इस काम से बच जाएगा। सड़क-समिति ने यह भी सुझाव रखा कि रेलवे को भी अपनी सहायक सड़कों के निर्माण और देखरेख की ज़िम्मेदारी ग्रहण करनी चाहिए। समिति ने सड़कों पर किसी प्रकार की चुंगी (सिवाय पुलों के जहाँ नदियों को पार करने के लिए नावों के स्थान पर विशेष सेवा की जाती है) को सड़कों के निर्माण की प्रगति में बाधक और तेज़ परिवहन के विकास में अनुचित रुकावट माना।

कृषि-आयोग के मत में प्रचलित वित्त पर निर्भर न रहकर यदि सड़कों के विकास के लिए ऋण लिया जाए तो उनके विकास में सरलता और शीघ्रता होगी। सड़कों और उनसे सम्बन्धित काम के अर्ध-स्थायी स्वभाव को देखते हुए उनका विचार था कि ऋण को चुकता करने के लिए वार्षिक धन प्रान्त के साधनों की सीमा के बाहर न होगा।[1] सड़क-समिति का यह मत था कि ऋण किसी योजना के स्थायी भागों, जैसे पुलों के निर्माण, के लिए खर्च करना चाहिए, क्योंकि पुल का जीवन निश्चित रूप से मालूम किया जा सकता है तथा ऋण चुकाने के लिए आवश्यक कोष की

---

१. कृषि-आयोग-रिपोर्ट, पैरा ३०६।

एकरूपता लाने के लिए १९३९ के मोटर वेहीकिल्स-अधिनियम में अपेक्षित संशोधन करने के लिए २ मार्च, १९६० में संसद ने एक बिल पास किया।

२८. **भारतीय सड़क-विकास-समिति और सड़क वित्त**—जैसा कि भारतीय सड़क-विकास (जयकर) समिति ने कहा—"भारत का सड़क-निर्माण और विकास स्थानीय बोर्डों और स्थानीय सरकारों की आर्थिक क्षमता के बाहर होता जा रहा है और एक ऐसा काम होता जा रहा है जिसमें राष्ट्र को दिलचस्पी लेनी चाहिए। अतः केन्द्रीय वित्त से उसका काम करना उचित होगा। केन्द्रीय वित्त को सड़कों के विकास से केवल रेलवे की प्राप्ति में वृद्धि द्वारा ही लाभ नहीं होता, बल्कि सड़कों पर चलने वाली मोटरों, मोटर स्पिरिट से प्राप्त चुंगी इत्यादि से भी लाभ होता है, जो (मोटर-यातायात) इस समय शीघ्रता से बढ़ रहा है। एक सुसंतुलित मोटर-कर योजना में, पेट्रोल-कर, गाड़ियों का कर, किराये पर चलने वाली गाड़ियों की लाइसेंस-फीस इत्यादि शामिल होने चाहिएँ। इन सबसे होने वाली आमदनी को सड़कों के विकास पर खर्च करना चाहिए। सड़कों का पुनर्विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि कुछ स्थानीय सड़कों को प्रधान (आरटीरियल) सड़कों के वर्ग में कर दिया जाए ताकि स्थानीय संस्थाएँ उनके भार से मुक्त हो जाएँ और अपना ध्यान सहायक और स्थानीय महत्त्व की सड़कों के निर्माण और सुरक्षा की ओर लगा सकें। सड़क-समिति ने बताया कि तमाम दुनिया में यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि स्थानीय छोटी-छोटी संस्थाओं पर प्रधान सड़कों के निर्माण और सुरक्षा का भार छोड़ना न्यायसंगत नहीं है। स्थानीय संस्थाओं को प्रान्तों से और अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। यदि सड़क-समिति की सिफारिशें अपनाई जाती हैं तो उससे गाँवों में सड़कें बनाने के काम में परोक्ष रूप से सहायता मिलेगी, क्योंकि इस प्रकार स्थानीय और प्रान्तीय धन, जो बड़ी-बड़ी सड़कों की देखरेख और निर्माण में प्रयुक्त होता है, इस काम से बच जाएगा। सड़क-समिति ने यह भी सुझाव रखा कि रेलवे को भी अपनी सहायक सड़कों के निर्माण और देखरेख की जिम्मेदारी ग्रहण करनी चाहिए। समिति ने सड़कों पर किसी प्रकार की चुंगी (सिवाय पुलों के जहाँ नदियों को पार करने के लिए नावों के स्थान पर विशेष सेवा की जाती है) को सड़कों के निर्माण की प्रगति में बाधक और तेज़ परिवहन के विकास में अनुचित रुकावट माना।

कृषि-आयोग के मत में प्रचलित वित्त पर निर्भर न रहकर यदि सड़कों के विकास के लिए ऋण लिया जाए तो उनके विकास में सरलता और शीघ्रता होगी। सड़कों और उनसे सम्बन्धित काम के अर्ध-स्थायी स्वभाव को देखते हुए उनका विचार था कि ऋण को चुकता करने के लिए वार्षिक धन प्रान्त के साधनों की सीमा के बाहर न होगा।[1] सड़क-समिति का यह मत था कि ऋण किसी योजना के स्थायी भागों, जैसे पुलों के निर्माण, के लिए खर्च करना चाहिए, क्योंकि पुल का जीवन निश्चित रूप से मालूम किया जा सकता है तथा ऋण चुकाने के लिए आवश्यक कोष की

---

१. कृषि-आयोग-रिपोर्ट, पैरा ३०६।

शामिल है। (५) वार्षिक अनुदान से किये जाने वाले सब व्यय या एकत्रित शेष धन स्वीकृति के लिए वित्त-उप-समिति के समक्ष रखना होता था, जिसमें (वित्त-उप-समिति) स्थायी समिति का सभापति और वे सदस्य होते थे जो धारासभा के भी सदस्य थे।

१९३० के दिल्ली के अधिवेशन में ५ वर्ष के लिए इसे स्वीकार कर लिया गया।

३०. सड़क-खाते की आर्थिक दशा—पेट्रोल पर लगाये गए अधिभार के साथ ही सड़क के लिए प्राप्य पेट्रोल-कर का भाग १ अक्तूबर, १९३१ से २ आना प्रति गेलन से २½ आना प्रति गेलन हो गया।

३१. सड़क-सम्बन्धी नवीन प्रस्ताव—(१) सड़क-खाते का ५ वर्ष का परीक्षण-काल १९३३-३४ में बीत गया। १९३४ में केन्द्रीय विधानमण्डल ने एक नया प्रस्ताव अपनाया जिससे सड़कखाता स्थायी हो गया। इससे भारत सरकार का सुरक्षित धनकोष १०% से १५% हो गया ताकि वह अपेक्षाकृत अविकसित प्रान्तों को उदारता से धन दे सके। इसमें से सड़कों के विकास, निर्माण एवं सुरक्षित रखने के लिए ऋण भी दिया जा सकता था।

(२) परिवहन परामर्शदात्री समिति के सुझाव पर सड़क कोष से अनुदान के वितरण पर केन्द्रीय सभा द्वारा एक नया प्रस्ताव पास किया गया (फरवरी, १९३७)। इसके द्वारा निम्न परिवर्तन किये गए—(क) गवर्नरों के प्रान्तों को दिये जाने वाले धन को गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल तब तक अपने पास रख सकता था जब तक कि प्रान्तों द्वारा उस धन का तुरन्त उपयोग करने के लिए उसकी माँग न की जाती। (ख) यदि कोई प्रान्त बिना समुचित कारण के अपने धन का उपयोग सड़क-विकास के लिए समय से न कर पाता तो केन्द्र को अधिकार होता कि वह सम्पूर्ण धनराशि या उसका एक अंश देने से इन्कार कर दे। (ग) लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को यह अधिकार था कि यदि कोई प्रान्त उसके द्वारा बतलाये गए मोटरों के नियमन और नियन्त्रण से सम्बधित नियमों को कार्यान्वित करने में चूकता तो वह उसका भाग न दे। प्रान्तों ने इसे अनुचित हस्तक्षेप माना और कहा कि यह रेलवे की आय-व्ययक स्थिति को दृढ़ रखने का एक तरीका था। केन्द्रीय सरकार ने कहा कि इसका उद्देश्य एक संतुलित संचार व्यवस्था स्थापित करना था। (घ) शीघ्र ही मिलने वाली प्रान्तीय स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर सड़क-कोष से सड़कों का कर्ज़ चुकाए जाने की नीति बन्द कर दी गई।

मार्च, १९५६ के अन्त तक केन्द्रीय सड़क कोष की कुल प्राप्ति ५७·४३ करोड़ रु० तथा सुरक्षित कोष की कुल प्राप्ति ११ करोड़ रु० थी। १९५९ के प्रारम्भ में कोष में प्राप्त होनेवाला वार्षिक आगम ५½ करोड़ रु० था। इसमें एक करोड़ रु० का वार्षिक विशेष सुरक्षित कोष भी सम्मिलित था। केन्द्रीय सड़क-कोष स्थापना के १५ वर्ष बाद तक यही कोष नयी सड़कों के निर्माण तथा विद्यमान सड़कों के सुधार और नवीकरण के लिए पर्याप्त था, किन्तु अब स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। १९५९ में यह कोष मोटर-परिवहन पर लगे कर से प्राप्त कुल आय का केवल ६ प्रतिशत तथा द्वितीय

शामिल है। (५) वार्षिक अनुदान से किये जाने वाले सब व्यय या एकत्रित शेष धन स्वीकृति के लिए वित्त-उप-समिति के समक्ष रखना होता था, जिसमें (वित्त-उप-समिति) स्थायी समिति का सभापति और वे सदस्य होते थे जो धारासभा के भी सदस्य थे।

१९३० के दिल्ली के अधिवेशन में ५ वर्ष के लिए इसे स्वीकार कर लिया गया।

३०. सड़क-खाते की आर्थिक दशा—पेट्रोल पर लगाये गए अधिभार के साथ ही सड़क के लिए प्राप्य पेट्रोल-कर का भाग १ अक्तूबर, १९३१ से २ आना प्रति गेलन से २$\frac{1}{2}$ आना प्रति गेलन हो गया।

३१. सड़क-सम्बन्धी नवीन प्रस्ताव—(१) सड़क-खाते का ५ वर्ष का परीक्षण-काल १९३३-३४ में बीत गया। १९३४ में केन्द्रीय विधानमण्डल ने एक नया प्रस्ताव अपनाया जिससे सड़कखाता स्थायी हो गया। इससे भारत सरकार का सुरक्षित धनकोष १०% से १५% हो गया ताकि वह अपेक्षाकृत अविकसित प्रान्तों को उदारता से धन दे सके। इसमें से सड़कों के विकास, निर्माण एवं सुरक्षित रखने के लिए ऋण भी दिया जा सकता था।

(२) परिवहन परामर्शदात्री समिति के सुझाव पर सड़क कोष से अनुदान के वितरण पर केन्द्रीय सभा द्वारा एक नया प्रस्ताव पास किया गया (फरवरी, १९३७)। इसके द्वारा निम्न परिवर्तन किये गए—(क) गवर्नरों के प्रान्तों को दिये जाने वाले धन को गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल तब तक अपने पास रख सकता था जब तक कि प्रान्तों द्वारा उस धन का तुरन्त उपयोग करने के लिए उसकी माँग न की जाती। (ख) यदि कोई प्रान्त बिना समुचित कारण के अपने धन का उपयोग सड़क-विकास के लिए समय से न कर पाता तो केन्द्र को अधिकार होता कि वह सम्पूर्ण धनराशि या उसका एक अंश देने से इन्कार कर दे। (ग) लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को यह अधिकार था कि यदि कोई प्रान्त उसके द्वारा बतलाये गए मोटरों के नियमन और नियन्त्रण से सम्बन्धित नियमों को कार्यान्वित करने में चूकता तो वह उसका भाग न दे। प्रान्तों ने इसे अनुचित हस्तक्षेप माना और कहा कि यह रेलवे की आय-व्ययक स्थिति को दृढ़ रखने का एक तरीका था। केन्द्रीय सरकार ने कहा कि इसका उद्देश्य एक संतुलित संचार व्यवस्था स्थापित करना था। (घ) शीघ्र ही मिलने वाली प्रान्तीय स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर सड़क-कोष से सड़कों का कर्ज चुकाए जाने की नीति बन्द कर दी गई।

मार्च, १९५६ के अन्त तक केन्द्रीय सड़क कोष की कुल प्राप्ति ५७·४३ करोड़ रु० तथा सुरक्षित कोष की कुल प्राप्ति ११ करोड़ रु० थी। १९५६ के प्रारम्भ में कोष में प्राप्त होनेवाला वार्षिक आगम ५$\frac{3}{4}$ करोड़ रु० था। इसमें एक करोड़ रु० का वार्षिक विशेष सुरक्षित कोष भी सम्मिलित था। केन्द्रीय सड़क-कोष स्थापना के १५ वर्ष बाद तक यही कोष नयी सड़कों के निर्माण तथा विद्यमान सड़कों के सुधार और नवीकरण के लिए पर्याप्त था, किन्तु अब स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। १९५६ में यह कोष मोटर-परिवहन पर लगे कर से प्राप्त कुल आय का केवल ६ प्रतिशत तथा द्वि-

परिवहन के सुनियोजित विकास तथा विभिन्न प्रकार के परिवहन-साधनों तथा केन्द्र और राज्य की परिवहन-नीतियों में समन्वय स्थापित करने के लिए तीन परिवहन निकायों की स्थापना का निर्णय किया है। परिवहन-विकास-परिषद (ट्रांसपोर्ट डिवेलपमेंट काउन्सिल) व सड़क और अन्तर्देशीय जल परिवहन परामर्श समिति (द रोड एण्ड इनलैंड ट्रान्सपोर्ट एडवाइजरी कमेटी) तथा केन्द्रीय परिवहन संयोजन समिति (सेन्ट्रल ट्रांसपोर्ट कोआर्डिनेशन कमेटी) प्रथम एक उच्च स्तरीय निकाय होगा, जिसके सदस्य राज्य के परिवहन मन्त्री, संघीय क्षेत्र (यूनियन टेरिटरी) के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर और मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) तथा सम्बन्धित मन्त्रालयों के केन्द्रीय मन्त्री आदि होंगे। इसका कार्य सरकार को सड़क, सड़क-परिवहन तथा अन्तर्देशीय ज़िला परिवहन के सम्बन्ध में परामर्श देना होगा।

राष्ट्र की उन्नति के लिए सड़कें बनाने का कार्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १९५०-५१ में देश में १,५६,००० किलोमीटर पक्की सड़कें तथा २,४२,००० किलोमीटर सड़कें थीं। पहली पंचवर्षीय योजना में सड़कों के बनाने में १३५ करोड़ रुपया व्यय हुआ। दूसरी पंचवर्षीय योजना में देश की प्रगति तथा रेल के यातायात के बोझ को कम करने के लिए २४५ करोड़ रुपया सड़कों इत्यादि बनाने के लिए खर्चा गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस कार्य पर और भी ज़ोर दिया गया और यह आशा की गई कि १९६५-६६ में पक्की सड़कें २,७०,००० किलोमीटर तक पहुँच जाएँगी। इसी प्रकार बसें तथा ट्रकों की संख्या को भी बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। १९५०-५१ में व्यापार के उपयोग में आने वाली गाड़ियों की संख्या १,१५,००० (बसें तथा ट्रक) थी (१९६५-६६) में २,५५,००० तथा (१९७०-७१) में ४,७०,००० हो जाएगी तथा बसों की संख्या १९६५-६६ में ८०,००० से बढ़कर १,२६,००० हो जाएगी। तीसरी योजना में यातायात के राष्ट्रीयकरण करने के लिए २६ करोड़ रुपया रखा गया है, तथा इसके अतिरिक्त १० करोड़ रुपया रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन (Road Transport Corporation), बनाने के लिए रेलवे भी लगायेगी। इस प्रकार चौथी पंचवर्षीय योजना में यात्रियों की सेवाओं का ४० प्रतिशत भाग राष्ट्रीयकरण किये हुए परिवहन के हिस्से में आयेगा जबकि तीसरी योजना में ३३ प्रतिशत है।

जल-परिवहन

३२. (१) **अन्तर्देशीय जल-पथ**—जल-परिवहन का विवरण स्वभावतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तर्देशीय परिवहन, (२) सामुद्रिक परिवहन।

भारत में इंगलैण्ड-जैसी नदियाँ, जो स्वाभाविक जल-पथ का काम देती हैं, नहीं हैं। उत्तर भारतीय और प्रायद्वीप की नदियों का ज़िक्र करते समय हम इस विषमता की ओर संकेत कर चुके हैं।[1]

प्रायद्वीप की नदियाँ इस प्रकार नौगम्य नहीं हैं। मौसम के अनुसार कभी तो वे

१. खण्ड १, अध्याय २, सेक्शन १०।

समितियों को बढ़ावा व नदी-घाटी-योजनाओं में नौकागमन की सुविधाओं का विकास किया जाए। इस समिति की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में अन्तर्देशीय जल-पथों के विकास के लिए ७.६० करोड़ रु०[1] का व्यय प्रस्तावित है जबकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अनुमानित व्यय ७५ लाख रु० है। तृतीय योजना में अन्तर्देशीय जल-पथों के सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातें अधिक महत्त्वपूर्ण नदियों के सम्बन्ध में जलवर्णनात्मक सर्वेक्षण (हाइड्रोग्राफिक सर्वे) तथा ब्रह्मपुत्र नदी और सुन्दरबन क्षेत्र के लिए निकर्षकों (ड्रेजर) की खरीद आदि है। गंगा, ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियों पर जल-परिवहन के विकास को संयोजित करने के लिए गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन-परिषद (गंगा-ब्रह्मपुत्र वाटर ट्रांसपोर्ट बोर्ड) की स्थापना राज्यीय और केन्द्रीय सरकारों के ऐच्छिक सहयोग से १९५२ में हुई। गंगा-ब्रह्मपुत्र क्षेत्र में प्रमुख जल-पथों का निकर्षण (ड्रेजिंग) तथा चुने हुए स्थानों में अन्तर्देशीय बन्दरगाहों का विकास आदि बातें नियोजित कार्यक्रम में सम्मिलित हैं। तीसरी पंचवर्षीय योजना में प्रादेशिक सरकारों ने भी जल परिवहन परिषद पर १.४८ करोड़ रुपया खर्चना निश्चित किया। इस समय देश में ८ हज़ार किलोमीटर दरियाई जहाज़ या किश्तियाँ चलाई जा सकती हैं। इनमें से २ हज़ार मशीनों से चलनेवाले हैं और ६ हज़ार किश्तियाँ हैं।

३३. (२) **सामुद्रिक परिवहन**—जहाँ तक बाह्य जल-परिवहन का प्रश्न है यद्यपि भारत की इंगलैण्ड से तुलना न हो सकेगी क्योंकि यहाँ पर न तो इंगलैण्ड जैसा कटा-फटा समुद्र-तट है और न प्राकृतिक बन्दरगाह ही हैं, फिर भी उसकी सामुद्रिक स्थिति काफ़ी महत्वपूर्ण है। जैसा एस० एन० हाजी ने कहा है कि "एक देश, जो कि प्राचीन विश्व के महाद्वीपों में झुमके की भाँति जड़ा है, जिसका समुद्र-तट ४००० मील लम्बा है और जो अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माण की खान है जिन्हें अन्यत्र नहीं पैदा किया जा सकता, प्रकृति द्वारा एक नाविक देश होने के लिए ही बना है। इसके बन्दरगाह संख्या और आकार में इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं।"[2]

शायद यहाँ अतिरंजित चित्र खींचा गया है। यह चित्र भारत में प्राकृतिक बन्दरगाहों की कमी को उचित रूप से हमारे सामने नहीं रखता, फिर भी अपनी भौगोलिक स्थिति और विस्तृत समुद्र के कारण वह दुनिया का एक मुख्य जल-परिवाहक देश हो सकता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत को एक नवीन देश कहा जा सकता था। "जलयानों का निर्माण ऐसी अच्छी दशा में था कि भारत के बने जहाज़ अंग्रेजी जहाज़ों के संरक्षण में और उनके साथ टेम्स तक जाते थे।" १८०० में गवर्नर जनरल ने लीडेनहाल स्ट्रीट में अपने स्वामियों को सूचना देते हुए कहा कि "कलकत्ता के बन्दरगाह में भारत-निर्मित १०,००० टन के जहाज़ हैं जो इंगलैण्ड तक माल ले जाने योग्य हैं। सागवान की लकड़ी के बने बम्बई के जहाज़ इंगलैण्ड के

१. देखिए, थर्ड फाइव ईअर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २५१।
२. देखिए, इकनामिक्स ऑफ़ शिपिंग, पृ० ३६५-६।

उनके मालिक भारतीय थे।

विदेशी जहाज़ी कम्पनियों के विरुद्ध अन्य शिकायतें निम्न हैं—यात्रियों की सुविधाओं का कम ध्यान रखना, ऊँचे पदों पर केवल यूरोपियनों की नियुक्ति और उच्च पदों, जैसे इंजीनियर आदि, के लिए भारतीयों को काम न सिखाना आदि।

३६. व्यापारिक जहाजरानी समिति (१९२३)—इस समिति की नियुक्ति फरवरी, १९२३ में हुई। इसका कार्य भारतीय जहाजरानी और जलयान-निर्माण उद्योग के विकास के प्रश्न पर विचार करना था। समिति के विशेष सुझाव निम्न हैं—

(१) भारतीय व्यापारिक जहाज़रानी के लिए अनिवार्य अफ़सरों की प्रशिक्षा-हेतु सरकार द्वारा बम्बई में जलयान-प्रशिक्षण की स्थापना। (२) सामुद्रिक इञ्जीनियरों की ट्रेनिंग के लिए इञ्जीनियरिंग कॉलेजों में सुविधाएँ देना तथा सामुद्रिक अनुभवों की सुविधाएँ देना। (३) तटीय व्यापार लाइसेंस-प्राप्त जहाज़ों के लिए सुरक्षित रखना। (४) भारतीय अधिकारी और कर्मचारी वर्ग द्वारा तटीय व्यापार में पर्याप्त दक्षता दिखाने पर विदेशी समुद्र-पार व्यापार के लिए भारतीय कम्पनियों को अनुदान देने के प्रश्न पर विचार करना। (५) कलकत्ता को स्वतःचालित जलयानों के निर्माण का केन्द्र बनाना, (६) भारतीय कम्पनियों द्वारा जलयान-निर्माण प्रांगण (शिप बिल्डिंग यार्ड) की स्थापना में सरकार का सहायता देना तथा (७) प्रारम्भ करने के लिए विदेशों से विशेषज्ञों की सहायता लेना।

३७. तटीय यातायात को भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित करने का बिल—उपर्युक्त पहली सिफारिश के फलस्वरूप प्रशिक्षण-जलयान 'डफरिन' की स्थापना के अतिरिक्त सरकार समिति के अन्य किसी भी सुझाव को कार्यान्वित न कर सकी, अतः सितम्बर, १९२८ में मि० हाजी ने धारासभा में तटीय यातायात सुरक्षण के लिए एक बिल पेश किया। इसमें कुल हिस्सों का ७५% भारतीयों के हाथ में निहित करने की व्यवस्था थी।

गत कई वर्षों से जनता द्वारा की गई माँग के फलस्वरूप १९५० में भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। १ जनवरी, १९५१ को नये (भारतीय) तटीय सम्मेलन ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस सम्मेलन में अधिकांशतः भारतीय जहाज़रानी कम्पनियाँ हैं। दो ब्रिटिश जहाज़रानी कम्पनियाँ भी इस सम्मेलन की सदस्य हैं।

३८. विलम्बित छूट-व्यवस्था की समाप्ति-सम्बन्धी बिल—मि० हाजी ने विलम्बित छूट-व्यवस्था के उन्मूलन के लिए फरवरी, १९२९ में एक बिल पेश किया, जिसका उद्देश्य तटीय सुरक्षा बिल का पूरा करना था। जबकि सुरक्षा बिल जहाज़रानी से होने वाली आय को भारत में रखना चाहता था विलम्बित छूट बिल का उद्देश्य तटीय व्यापार के सुरक्षित हो जाने पर व्यापार का भारतीय जहाज़ों के बीच समुचित वितरण करना था। इस बिल का उद्देश्य था भारतीय-अभारतीय किसी प्रकार की कम्पनियों के एकाधिकार को समाप्त करना तथा एक नवीन युग का प्रारम्भ करना, जिसमें एकाधिकार का अन्त करके नवीन कम्पनियों के आगमन के पथ को प्रशस्त कर दिया

में एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना परिवहन-विभाग में जहाज़रानी-संयोजन-समिति (शिपिंग को-आर्डिनेशन कमेटी) की स्थापना है। यह समिति उपलब्ध भारतीय भारवाहिता (टनेज) के अधिकतम उपयोग की दृष्टि से विभिन्न मंत्रालयों तथा अन्य सरकारी संगठनों के बीच अधिक अच्छा सम्पर्क स्थापित करेगी। सरकार को जहाज़रानी नीति से सम्बन्धित बातों पर परामर्श देने के लिए राष्ट्रीय जहाज़रानी परिषद् (नेशनल शिपिंग बोर्ड) की स्थापना की गई (मार्च, १९५९)।

जहाज़रानी पर प्रथम योजना में १८.७ करोड़ रु० व्यय किये गए तथा द्वितीय योजना में उसके अन्त तक ५४ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है। तृतीय योजना में प्रस्तावित व्यय ५५ करोड़ रु० है।[1]

राष्ट्रीय जहाज़रानी परिषद् ने १९६५-६६ तक १४.२ लाख टन की क्षमता का लक्ष्य रखा है।

अनुमान है कि इस समय भारत के समुद्र-पार व्यापार का ८ या ९ प्रतिशत भारतीय जहाज़ ही ले जाते हैं।

४०. भारतीय व्यापारिक बेड़े की आवश्यकता—जहाजरानी और जहाज़ बनाने के सम्बन्ध में भारत के पास पर्याप्त सुविधाएं हैं। ऐसा कहा जाता है कि जापान, संयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी की भाँति सरकारी हस्तक्षेप से थोड़े ही दिनों में एक पर्याप्त व्यापारिक बेड़े का निर्माण हो सकता है। इंगलैण्ड की भी सामुद्रिक महत्ता और शक्ति का श्रेय बहुत अंशों में नौका-गमन अधिनियमों को है। ये अधिनियम प्राय: दो शताब्दियों तक लागू रहे और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में समाप्त कर दिये गए। एक दृढ़ राज्य-हस्तक्षेप के अभाव में भारतीय नाविकता यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों से होड़ लेने में असफल रही।

१७ सितम्बर, १९५८ को लोकसभा ने मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट, १९५८ पास किया। ३० अक्टूबर, १९५८ को राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम के अन्तर्गत ही राष्ट्रीय जहाजरानी परिषद् तथा जहाज़रानी-विकास-कोष की स्थापना हुई है। इनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को किसी भारतीय जहाज़ को किराये पर लेने की दरें निश्चित करने तथा तटीय व्यापार में संलग्न जहाजों के लिए यात्रियों और व्यापारिक माल लाने-लेजाने की दरें भी निश्चित करने का अधिकार है। केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई व्यक्ति जहाज़-सम्बन्धी अपने हिस्से या हित को न हस्तांतरित कर सकता है, और न प्राप्त ही कर सकता है। अधिनियम में यात्रियों के किराये पर अधिकार लगाने की भी व्यवस्था है। इससे प्राप्त आय यात्रियों के कल्याण पर ही व्यय की जाएगी। व्यापारिक बेड़ा-प्रशिक्षण-समिति ने १९४९ में सिफारिश की थी कि एक प्रशिक्षण-परिषद् की स्थापना की जाए। अब व्यापारिक बेड़ा-प्रशिक्षण-परिषद् (मर्चेंट नेवी ट्रेनिंग बोर्ड) की स्थापना हो गई है। इसकी उद्घाटन-बैठक ४ फरवरी, १९६० को हुई।

---

१. देखिए, थर्ड फ़ाइव ईअर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाईन, पृ० २५०।

पहुँचाया गया है। कोचीन, मद्रास इत्यादि बन्दरगाहों को बड़ा करने के लिए ७५ करोड़ रुपया रखा गया है। उड़ीसा सरकार परादीप नाम की बन्दरगाह को भी उन्नत कर रही है। इस प्रकार छोटी-छोटी बन्दरगाहों को उन्नत करने के लिए भी कोशिश की जा रही है और इस कार्य पर तीसरी योजना में १५.६८ करोड़ रुपया व्यय किया जाएगा और यह बन्दरगाह तीसरी योजना के अन्त तक ६० लाख टन को व्यापार तथा व्यवसाय को ठीक स्थान दे सकेगी।

चौथी योजना में जहाजों की जलपंखी १६६५-६६ के अंत तक १५ लाख से बढ़ाकर १६७०-७१ तक ३० लाख टन (GRT) की जाएगी। बड़ी बन्दरगाहों की शक्ति को लगभग ६ करोड़ तक बढ़ाया जाएगा और यह कोशिश की जाएगी कि भारतीय जलयान कुल व्यापार का ५० प्रतिशत भाग अपने जहाजों से करने लगें। सरकारी क्षेत्र में जलयान का भाग १६७५-७६ तक कुल का ५० प्रतिशत हो जाए।

वायु-परिवहन

४३. नागरिक उड्डयन—१६१४-१८ के युद्ध के बाद से नागरिक उड्डयन में विशेषतया पाश्चात्य देशों में बड़ी ही तीव्र प्रगति हुई है और इसने विश्व के परिवहन में एक क्रान्ति ला दी है।

कराची और बम्बई के बीच हवाई डाक-सेवा (पोस्टल एअर मेल सर्विस) के प्रारम्भ के साथ नागरिक उड्डयन में रुचि जाग उठी। भारत से होकर जाने वाली डच और फ्रेन्च नागरिक उड्डयन सेवाओं के प्रारम्भ होने, इंगलैण्ड और कराची के बीच नियमित साप्ताहिक साम्राज्य डाक के प्रारम्भ तथा विश्व के सभी देशों में नागरिक उड्डयन में हुई प्रगति के साथ ही भारतीय उड्डयन भी विकास की प्रेरणा पाने लगा। भारत अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सम्मेलन (इण्टरनेशनल ऐअर कनवेंशन) में शामिल हो गया है। भारत सरकार ने नागरिक उड्डयन का एक संचालक एवं उपसंचालक तथा वायुयान-प्रधान निरीक्षक नियुक्त किये हैं। व्यक्तिगत साहसोद्योगी भी सामने आये और भारत में उड्डयन सिखाने वाले अनेक उड्डयन-क्लब स्थापित हो गए हैं। उच्च उड्डयन की प्रशिक्षा के लिए उड़ाकों को दी गई सहायता के अतिरिक्त सरकार ने नागरिक उड्डयन छात्रवृत्तियाँ भी देना प्रारम्भ किया है। व्यक्तिगत संस्थाओं, जैसे 'रतन और दुराबजी टाटा ट्रस्ट' तथा अन्य कम्पनियों द्वारा भी छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। अन्तरिक्ष-विभाग ने भी उड्डयन में सुधार किये हैं।

१६३६-४५ के युद्ध ने शीघ्रता से उड्डयन का विकास करने की आवश्यकता का अनुभव कराया। क्रेनवेल में भारतीय सैनिक शिक्षार्थियों की ट्रेनिंग के उपरान्त १६३२ में भारतीय वायु सेना छोटे पैमाने पर स्थापित हुई। युद्ध के आरम्भ होने पर शीघ्रता से इसके विकास का कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया और तत्कालीन प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी काफी बढ़ा दी गईं।

जुलाई, १६४६ में एक वायु-परिवहन अनुज्ञा परिषद् (एअर ट्रान्सपोर्टिंग लाइसेंसिंग बोर्ड) की स्थापना हुई। १ अक्तूबर, १६४६ के बाद बिना बोर्ड से अनुज्ञा

विकास की महत्ता को बहुत बढ़ा दिया। इस कार्य में भी अग्रगामी होने का श्रेय श्री वालचन्द हीराचन्द को है। एक सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनी (ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी), जिसका नाम हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी लिमिटेड था और जिसकी अधिकृत पूंजी (ऑथराइज्ड केपिटल) ४ करोड़ रु० थी, की रजिस्ट्री दिसम्बर, १६४० में मैसूर राज्य में हुई। यह कम्पनी वालचन्द हीराचन्द और मैसूर सरकार के संरक्षण में स्थापित हुई। एक अमेरिकन विशेषज्ञ के निर्देशन में यह फैक्ट्री बंगलौर में स्थापित की गई। बंगलौर में कारखानों को स्थापित करने के दो कारण थे—एक तो वहाँ सस्ती विद्युत्-शक्ति सरलता से प्राप्त हो सकती थी और दूसरे भद्रावती आइरन एण्ड स्टील वर्क्स से उत्तम इस्पात प्राप्त हो सकता था। जुलाई, १६४१ में पहला वायुयान तैयार हुआ, दूसरे महीने में एक और बना। कारखाने की योजना इतनी विकसित हो गई कि १६४२ तक यह आशा की जाने लगी कि फैक्ट्री में शीघ्र ही प्रति मास १५ से ३० तक वायुयान तैयार होने लगेंगे। इसी समय भारत सरकार ने कारखाने को कम-से-कम युद्ध-काल तक स्वयं चलाने का निश्चय किया।

वैसा ही बना रहा और गिबन का यह कटु कथन कि, "पौर्वात्य व्यापार की वस्तुएँ भव्य और तुच्छ थीं' वस्तुत: १६वीं शताब्दी के लिए उतना ही लागू होता है जितना कि दूसरी शताब्दी के लिए।" आयात में प्रधानतया सोना, सिक्के बनाने और प्रदर्शन के लिए, बहुत बड़ी संख्या में घोड़े, धातुओं में जस्ता, राँगा पारा, ताँबा इत्यादि, विलास की वस्तुओं में हीरे, जवाहर और एम्बर आदि वस्तुएँ थीं। इनके बदले भारत से कपड़े, रंग की सामग्री, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुएँ, काली मिर्च तथा कुछ अन्य मसाले भेजे जाते थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तमाशा अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज हो जाने से पूर्व और पश्चिम में सम्बन्ध स्थापित हो गया और व्यापारिक मार्गों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। इसके पहले भारत का यूरोप से सामुद्रिक व्यापार हिन्द महासागर से अदन तक होता था, इसके बाद माल उतार दिया जाता था तथा जल-थल के मार्गों से भूमध्य सागर तक पहुँचाया जाता था। फिर इटली के व्यापारियों द्वारा यह माल वेनिस और जिनेवा पहुँचाया जाता था और वहाँ से समुद्र द्वारा सुदूर-पश्चिम या भूमि के रास्ते से आल्प्स के उस पार राइन द्वारा एण्टवर्प पहुँचाया जाता था जो उस समय पश्चिमी यूरोप का प्रधान वितरक था। इस लाभ को अपनाने के लिए ही पुर्तगालियों ने भारत के नवीन रास्ते की खोज प्रारम्भ की। इंगलैण्ड, हालैण्ड तथा फ्रान्स के आकर्षण का प्रधान कारण कच्चा माल नहीं था, वरन् लिनेन, छींट, हीरे, जरी के काम किये हुए कपड़े, ऊनी और रेशमी वस्तुएँ आदि थीं। यही वस्तुएँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लाभदायक व्यापार का आधार थीं, जिस पर अन्त में सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति और फ्रान्सीसियों की हार के उपरान्त उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो गया। एक समय इंगलैण्ड में भारत से व्यापार करने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बड़ा विरोध होता था। कारण यह था कि इंगलैण्ड में भारतीय सफेद कपड़ों और मसाले की बड़ी माँग थी और उसके बदले में नकद रुपया देना पड़ता था, क्योंकि इंगलैण्ड के ऊनी कपड़ों की भारत में खपत न थी।[1] सत्रहवीं शती के अन्त में भारतीय कपड़ों का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। इसके लिए या तो भारतीय कपड़ों पर इतना अधिक आयात-कर लगाया गया कि उसका आयात बिलकुल बन्द हो जाए या उसके प्रयोग की बिलकुल मनाही कर दी गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंगलैण्ड और भारत में होने वाले व्यापार के स्वभाव में काफी परिवर्तन हो गया। अब भारत उन्हीं वस्तुओं, उदाहरणार्थ कपड़ा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लंकाशायर में कपड़े का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि भारत में भेजी जाने वाली वस्तुओं का आधा भाग कपड़ा ही होता था।

---

१. बंगाल की दीवानी मिल जाने पर विनियोग की विपाक्त पद्धति से (जिसमें भारतीय मालगुजारी से निर्यात के माल खरीदे जाते थे) भारत में सोने का आना बन्द हो गया और भारतीय व्यापार के प्रति विरोध कम हो गया।

वैसा ही बना रहा और गिबन का यह कटु कथन कि, "पौर्वात्य व्यापार की वस्तुएँ भव्य और तुच्छ थीं' वस्तुत: १६वीं शताब्दी के लिए उतना ही लागू होता है जितना कि दूसरी शताब्दी के लिए।" आयात में प्रधानतया सोना, सिक्के बनाने और प्रदर्शन के लिए, बहुत बड़ी संख्या में घोड़े, धातुओं में जस्ता, राँगा पारा, ताँबा इत्यादि, विलास की वस्तुओं में हीरे, जवाहर और एम्बर आदि वस्तुएँ थीं। इनके बदले भारत से कपड़े, रंग की सामग्री, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुएँ, काली मिर्च तथा कुछ अन्य मसाले भेजे जाते थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तमाशा अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज हो जाने से पूर्व और पश्चिम में सम्बन्ध स्थापित हो गया और व्यापारिक मार्गों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। इसके पहले भारत का यूरोप से सामुद्रिक व्यापार हिन्द महासागर से अदन तक होता था, इसके बाद माल उतार दिया जाता था तथा जल-थल के मार्गों से भूमध्य सागर तक पहुँचाया जाता था। फिर इटली के व्यापारियों द्वारा यह माल वेनिस और जिनेवा पहुँचाया जाता था और वहाँ से समुद्र द्वारा सुदूर-पश्चिम या भूमि के रास्ते से आल्प्स के उस पार राइन द्वारा एण्टवर्प पहुँचाया जाता था जो उस समय पश्चिमी यूरोप का प्रधान वितरक था। इस लाभ को अपनाने के लिए ही पुर्तगालियों ने भारत के नवीन रास्ते की खोज प्रारम्भ की। इंगलैण्ड, हालैण्ड तथा फ्रान्स के आकर्षण का प्रधान कारण कच्चा माल नहीं था, वरन् लिनेन, छींट, हीरे, जरी के काम किये हुए कपड़े, ऊनी और रेशमी वस्तुएँ आदि थीं। यही वस्तुएँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लाभदायक व्यापार का आधार थीं, जिस पर अन्त में सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति और फ्रान्सीसियों की हार के उपरान्त उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो गया। एक समय इंगलैण्ड में भारत से व्यापार करने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बड़ा विरोध होता था। कारण यह था कि इंगलैण्ड में भारतीय सफेद कपड़ों और मसाले की बड़ी माँग थी और उसके बदले में नकद रुपया देना पड़ता था, क्योंकि इंगलैण्ड के ऊनी कपड़ों की भारत में खपत न थी।[1] सत्रहवीं शती के अन्त में भारतीय कपड़ों का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। इसके लिए या तो भारतीय कपड़ों पर इतना अधिक आयात-कर लगाया गया कि उसका आयात बिलकुल बन्द हो जाए या उसके प्रयोग की बिलकुल मनाही कर दी गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंगलैण्ड और भारत में होने वाले व्यापार के स्वभाव में काफी परिवर्तन हो गया। अब भारत उन्हीं वस्तुओं, उदाहरणार्थ कपड़ा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लंकाशायर में कपड़े का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि भारत में भेजी जाने वाली वस्तुओं का आधा भाग कपड़ा ही होता था।

---

१. बंगाल की दीवानी मिल जाने पर विनियोग की विपाक्त पद्धति से (जिसमें भारतीय मालगुजारी से निर्यात के माल खरीदे जाते थे) भारत में सोने का आना बन्द हो गया और भारतीय व्यापार के प्रति विरोध कम हो गया।

ने चुनौती दी। रूस और जापान के युद्ध के उपरान्त भारतीय व्यापार में जापान की दिलचस्पी तेजी से बढ़ने लगी। इन देशों का उद्देश्य भारत में अपनी निर्मित वस्तुओं की बिक्री बढ़ाना था, लेकिन इस उद्देश्य से निर्मित संगठनों ने भारत के कच्चे माल तथा खाद्यान्न, जो इन देशों के उद्योगों के लिए आवश्यक थे, के निर्यात को प्रेरणा दी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित तरीके काम में लाये गए—(१) राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं का विकास, (२) राष्ट्रीय बैंकों की शाखाओं की स्थापना, जैसे जर्मन ड्यूट्स्के एशियाटिक बैंक और जापानी याकोहामा स्पेशी बैंक, जो अपने देशवासियों को साख की विशेष सुविधाएँ देते थे और (३) बम्बई, कलकत्ता-जैसे व्यवसाय-प्रधान केन्द्रों में वाणिज्य-सदनों की स्थापना। इस कार्यवाही में उन देशों की सरकारों की भी पूरी सहानुभूति थी तथा उनके भारत-स्थित राजदूतों ने भी अपने देश के व्यापारिक हित को पूरा प्रोत्साहन दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने लन्दन द्वारा भारत से सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। १६१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद भी भारत में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए संयुक्त राज्य के प्रयत्न इतने जागरूक एवं कटिबद्ध नहीं थे जितने कि जापान और जर्मनी के।

४. **१६१४-१८ के युद्ध के पूर्व की स्थिति का सारांश**—१८७३ से शताब्दी के अन्त तक व्यापार के विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी थी। रुपये के मूल्य में भारी चढ़ाव उतार से स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों के साथ व्यापार में एक प्रकार की अनिश्चितता और परिकल्पना (सट्टेबाजी) शुरू हो गई, जिससे व्यापार की साधारण गति रुक गई।

नवीन शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों में विशेषकर १६०५ के बाद, भारत के विदेश-व्यापार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सबसे महान् वृद्धि प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले पाँच वर्षों में हुई। इन वर्षों में रुपये का मूल्य प्रायः स्थिर था। रेलवे और सिंचाई-जैसे जन-कार्य बड़ी तत्परता के साथ किये जा रहे थे, शताब्दी के अन्त में पड़ने वाले दुर्भिक्षों-जैसे दुर्भिक्ष भी नहीं पड़े थे और महामारी का प्रकोप भी कम हो रहा था। इसके अतिरिक्त, जैसे कि पहले कहा जा चुका है, जर्मनी, जापान तथा संयुक्त राज्य भी कुछ अपने व्यापार को आगे बढ़ाने का संगठित प्रयत्न कर रहे थे, जो इन देशों में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप तेज़ी से बढ़ रहा था तथा जिसने औद्योगिक दृष्टि से उन्हें इंगलैण्ड के समक्ष कर दिया था।

५. **प्रथम विश्वयुद्ध का भारत के व्यापार पर प्रभाव**—अगस्त, १६१४ में युद्ध प्रारम्भ होने पर भारत के विदेश व्यापार की दोनों शाखाओं को धक्का लगा। १६१६-१७ के बाद निर्यात का मूल्य तो अपनी पूर्व स्थिति में आने लगा, परन्तु आयात १६१८-१६ तक युद्ध-पूर्व की स्थिति से पीछे ही रहा। आयात व्यापार में विशेष रूप से कमी हुई और यह कमी युद्ध-काल में लगातार जारी रही। अब हम संक्षेप में इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी कारणों की विवेचना करेंगे। युद्ध प्रारम्भ होने पर शत्रु देशों के साथ व्यापार बिलकुल ठप हो गया। मित्र-राष्ट्रों, जैसे इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम इत्यादि, से भी युद्ध-पूर्व स्तर पर व्यापार कायम न रखा जा सका, क्योंकि ये देश स्वयं युद्ध में संलग्न थे। निष्पक्ष देशों के साथ होने वाले व्यापार पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये

में यह प्रवृत्ति दुनिया के और देशों में फैली। १९२९-३० से १९३३-३४ तक भारत के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाली इस व्यापारिक मन्दी के प्रधान कारणों को संक्षिप्त रूप में दिया जा सकता है। (१) कच्चे माल और निर्मित वस्तुओं का अत्यधिक मात्रा में उत्पादन—(२) द्राव्यिक कारण, विशेषकर अमेरिका तथा फ्रांस में स्वर्ण के एकत्रीकरण के परिणामस्वरूप अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के रक्षित धन की समाप्ति, जिसके कारण बैंकों द्वारा मुद्रा-संकुचन की नीति अपनायी गई और १९३१ में ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण-प्रमाप त्याग दिया गया। ब्रिटेन का अनुसरण अन्य देशों ने भी किया। (३) राजनीतिक अव्यवस्था, जो प्रधानतया भारत, चीन, दक्षिणी अमेरिका तथा बाद में अन्य देशों में भी फैली तथा आयात-निर्यात-कर, कोटा, विनिमय-नियन्त्रण आदि के रूप में लगाये गए व्यापारिक प्रतिबन्ध अन्य कारण थे।

निर्यात-व्यापार की मन्दी १९३२-३३ में प्रतिकूलतम थी, जबकि आयात का मूल्य घटकर १३६ करोड़ रु० हो गया और सौदों का दृश्यमान व्यापारिक सन्तुलन केवल ३ करोड़ रु० रह गया जो लिखित प्रमाणों में निम्नतम है। विश्वव्यापी मन्दी का भीषणतम रूप १९३२ के अन्त में समाप्त हो गया और १९३३ के प्रारम्भिक महीनों में अवमूल्यन और सस्ती मुद्रा की प्रेरणा से बहुत-से देशों में पर्याप्त व्यापारिक समुत्थान दृष्टिगोचर होने लगा। इसी समय आर्थिक राष्ट्रीयता से अभिभूत होकर प्रत्येक देश अपने बाजारों को अपने राष्ट्रवासियों के लिए सुरक्षित करने लगा। १९३३ में विश्व आर्थिक एवं द्राव्यिक सम्मेलन लन्दन में हुआ, किन्तु संयुक्त राज्य द्वारा विश्व की मुद्राओं के स्थिरीकरण की ओर अपनाये गए विरोधी रुख के कारण सम्मेलन असफल रहा। परिणामतः विश्व-व्यापार को अपनी पूर्व स्थिति में आने में बाधा पहुँची।

प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट समुत्थान योजना (रिकवरी प्लान) द्वारा प्रारम्भ किये गए उद्योग तथा वित्त के समाजीकरण-सम्बन्धी महान् प्रयोग ने विश्व के मूल्यों पर कुछ लाभप्रद प्रभाव डाला, किन्तु अमेरिका में मुद्रा-प्रसार की सम्भावना से मूल्यों की परिकल्पित वृद्धि के कारण विश्व-भर में वस्तुओं के मूल्यों की यथार्थ वृद्धि छायाग्रस्त हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के मार्ग में डालर की अनिश्चितता ने अन्य बाधाएँ उपस्थित कर दीं।

८. विश्व का आर्थिक समुत्थान और भारत का व्यापार—१९३३-३४ में भारतीय दशाओं में साधारण प्रगति दिखाई पड़ी। निर्यात-व्यापार और दृश्यमान व्यापारिक सन्तुलन में समुत्थान के चिह्न दृष्टिगोचर हुए, हालाँकि कृषि की दशा लगभग वैसी ही बनी रही। १९३४-३५, १९३५-३६ और १९३६-३७ में आर्थिक समुत्थान में प्रगति हुई। प्रारम्भिक दशाओं में प्रगति विशेष देशों और उद्योगों तक सीमित रहती, लेकिन १९३६ में विश्व निश्चित रूप से महान् मन्दी से बाहर आ गया। १९३४ से क्रमिक रूप से होती आई प्राथमिक वस्तुओं की कमी, कुछ मुख्य उत्पादकों द्वारा कितनी ही वस्तुओं का उत्पादन नियन्त्रित करने के लिए स्वेच्छापूर्वक लागू की गई योजनाएँ, फ्रांस के नेतृत्व में चलने वाले स्वर्ण-वर्ग (गोल्ड-ब्लॉक) का विनाश और सितम्बर, १९३६

३९ में आयात में कमी होने के कारण लगभग २ करोड़ रु० से भारत का व्यापारिक सन्तुलन (बेलेंस ऑफ़ ट्रेड) सुधर गया।

१०. युद्ध-काल (१९३९-४५) में भारत का विदेशी व्यापार—सितम्बर, १९३९ में युद्ध के प्रारम्भिक तथा आगामी वर्षों में उसके प्रसार और घनत्व के साथ-ही-साथ भारत के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाले कितने ही कारण सामने आये।[1] पहले तो इनमें से अनेक प्रतिकूल थे, लेकिन बाद में अनुकूल कारण भी दृष्टिगत हुए। वास्तविक परिणाम में कोई क्रमिक ह्रास नहीं दिखाई पड़ा, बल्कि कुछ सुधार ही हुआ। प्रतिकूल परिस्थितियाँ युद्ध-घोषणा के पूर्व की राजनीतिक अनिश्चितता का परिणाम थीं। जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड सितम्बर, १९३९ के पहले हफ्ते में ही समाप्त हो गए। १९४० के बसन्त तक नार्वे, हालैण्ड, डेनमार्क, बेलजियम, फ्रांस और इटली शत्रुओं द्वारा अधिकृत क्षेत्र हो गए। दूसरे वर्ष में शत्रु द्वारा पदाक्रान्त क्षेत्र के अन्तर्गत सारा दक्षिण-पूर्वी यूरोप आ गया। रूस के साथ व्यापार पहले ही समाप्त हो चुका था, लेकिन जून, १९४१ में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने पर रूस से फिर व्यापार शुरू हो गया। जुलाई, १९११ में भारत द्वारा जापान की सम्पत्ति पर अधिकार कर लेने से भारत और जापान के व्यापारिक सम्बन्ध को धक्का पहुँचा। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी एक शत्रु देश हो गया। जापान के तूफानी धावों तथा एक के बाद दूसरी विजय ने क्रमशः हिन्दचीन, स्याम, ईस्ट इण्डीज़, मलाया और बर्मा-जैसे महत्त्वपूर्ण बाज़ारों को बन्द कर दिया।

इस तरह वे प्रधान देश, जिनके साथ भारत का व्यापार सम्भव रह गया, केवल संयुक्त राज्य, इंगलिस्तान, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देश और एशिया तथा अफ्रीका के निकट एवं मध्य-पूर्वी देश थे, हालाँकि यहाँ भी एक बहुत बड़ी बाधा जहाज़ी सुविधाओं की कमी थी। जर्मनी के यू-बोट के डर के कारण किराये की दरें और बीमा का मूल्य बहुत बढ़ गया था। १९४० में इटली के साथ अंग्रेज़ों के राजनीतिक सम्बन्धों के खराब हो जाने के कारण भारत-यूरोपीय व्यापार उत्तमाशा अन्तरीप की ओर से होने लगा। तब जहाज़रानी की कमी का अनुभव बड़ी तीव्रता से हुआ। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी युद्ध के अखाड़े में कूद पड़ा। इससे प्रशान्त महासागर के मार्ग भी अरक्षित हो गए और संयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैंड के साथ होने वाले भारतीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

उपर्युक्त कारणों में अब हम एक और कारण भी जोड़ सकते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने के उपरान्त, जिन देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था प्रायः उन सभी ने व्यापारिक प्रतिबन्धों का एक जटिल जाल फैला दिया। भारत ने भी अपनी तरफ से ऐसी ही नीति का अनुसरण किया। युद्ध प्रारम्भ होने के ठीक बाद केन्द्रीय सरकार

१. द्वितीय विश्वयुद्ध से सम्बन्धित भारत के विदेशी व्यापार का विवरण बहुत अंशों में प्रो० एन० एस० पार्दशानी द्वारा प्रस्तुत किये गए नोट पर आधारित है।

फली के लिए भी लागू है। वह जूट के स्थान पर अधिकाधिक कपास और कागज की सामग्री का प्रयोग करता है, साथ ही अपनी खली स्वयं तैयार करता है और चमड़ा सिझाता है। दक्षिणी अमरीका में धुरी राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षाओं को रोकने के लिए किया गया हवाना पान-अमरीकन सम्मेलन अन्तर-अमरीकी व्यापार के विकास का एक अन्य कारण है। दक्षिणी अमरीका के अनेक कच्चे माल, जैसे अर्जेण्टाइना के तिल, मूँगफली, खली और बीज इत्यादि, प्रत्यक्ष रूप से भारतीय सामग्री के प्रतिस्पर्धी हैं।

१२. निर्यात-परामर्श-समिति तथा अन्य उपाय—ग्रेगरी-मीक की रिपोर्ट से यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि भारत को अपने खोये हुए यूरोपीय बाज़ारों के घाटे को भरने के लिए ग़ैर-अमरीकी बाज़ार ढूँढ़ने पड़ेंगे। इसमें थोड़े-से गैर-कॉमनवेल्थ देशों से होने वाले व्यापार का भी कुछ हाथ था। अफ्रीका और अरब को निर्यात किये जाने वाले कपड़े में हुई वृद्धि को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मई, १९४० में स्थापित निर्यात-परामर्श-समिति का भी उल्लेख आवश्यक है। इसका सभापति वाणिज्य-सदस्य होता था तथा विभिन्न व्यापारिक एवं औद्योगिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले २९ अन्य सदस्य होते थे। इसके निम्न कार्य थे—(१) वर्तमान निर्यात-कठिनाइयों पर वाद-विवाद, (२) प्रधान निर्यात-सामग्रियों के प्रसार के लिए सुझाव तथा वैकल्पिक बाज़ारों की खोज, (३) भारत-निर्मित वस्तुओं के प्रसार को प्रोत्साहित करना और अन्तिम (४) भारत द्वारा अन्य समुद्र-पार देशों में भेजने वाले व्यापारिक शिष्ट-मण्डलों को दी जाने वाली सुविधाओं पर विचार।

१३. राजकीय व्यापार-निगम और तदनन्तर—१९४७ में स्वतन्त्र होने के बाद प्रारम्भिक वर्षों में भारत का निर्यात-व्यापार बहुत सन्तोषप्रद रहा था। १९४८-४९ और १९५१-५२ के बीच भारतीय निर्यात में ६० प्रतिशत वृद्धि हुई। किन्तु विश्व के निर्यात की वृद्धि की तुलना में भारत के निर्यात की वृद्धि-दर बहुत कम रही। सरकार ने १९५६ में राजकीय व्यापार-निगम (स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन) की स्थापना की।

राजकीय व्यापार के सम्बन्ध में दो समितियों ने भी अपनी रिपोर्ट इसके पक्ष में प्रस्तुत की थी, किन्तु इनके अनुसार राजकीय व्यापार का क्षेत्र सीमित होना चाहिए। प्रथम समिति (१९४९), जिसके अध्यक्ष डॉ० पी० एस० देशमुख थे, ने खाद्यान्न, उर्वरक, केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों के आयात-निर्यात-सम्बन्धी कार्य, पूर्वी अफ्रीका के कपास का आयात, छोटे रेशे वाली कपास का निर्यात तथा कुटीर उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को ऐसे निगम को सौंपने की सिफारिश की थी। प्रथम योजना के द्वितीय चरण में श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता में नियुक्त दूसरी समिति ने केवल हथकरघे के कपड़े तथा चुने हुए छोटे पैमाने व कुटीर उद्योगों के निर्यात को निगम को सौंपने की सिफारिश की। कर-जाँच-आयोग (१९५३-५४) का मत राजकीय व्यापार के विरुद्ध था।

अस्तु, १८ मई, १९५६ को राजकीय व्यापार-निगम की स्थापना एक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी के रूप में की गई। प्राक्कलन-समिति (एस्टीमेट्स कमेटी)

निहित है कि निर्यात में निरन्तर वृद्धि होगी—एक तो उत्पादन की वृद्धि द्वारा रूढ़ि-निर्यात (ट्रेडीशनल एक्सपोर्ट) की वृद्धि तथा दूसरे नई वस्तुओं के निर्यात की वृद्धि ।

१५. भारत के समुद्र-वाहित व्यापार की विशेषताओं में हुए परिवर्तन—१९४७ तक आयात और निर्यात की प्रमुख वस्तुओं का सापेक्षिक महत्त्व दृष्टिगत रखने पर प्रायः कथित इस सत्य की 'कि भारत के निर्यात का अधिकांश खाद्यान्न तथा कच्चा माल और आयात का अधिकांश निर्मित वस्तुओं का है' पुष्टि होती है ।

भारत के वैदेशिक व्यापार की दूसरी विशेषता यह भी है कि जहाँ आयात वस्तुओं की परिधि काफ़ी विस्तृत है वहाँ उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुएं बहुत थोड़ी हैं, जैसे कपास, जूट, तिलहन तथा खाद्यान्न ।

तीसरी विशेषता यह है कि भारत के विदेशी व्यापार में इंगलैंड की दशा बहुत महत्त्वपूर्ण स्थिति में है, विशेष रूप से जहाँ तक हमारे आयात का सम्बन्ध है (देखिए, सेक्शन १५-१९) । निर्यात की दृष्टि से, यद्यपि भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राहक ग्रेट ब्रिटेन है, किन्तु कुल व्यापार सम रूप से अनेक देशों में विभाजित है ।

१९५०-५१ के बाद

भारत के विदेशी व्यापार की उपर्युक्त विशेषताएँ १९४७ से पूर्व काल की हैं । स्वतन्त्रता के पश्चात् विशेषकर १९५१ के बाद से हमारे विदेशी व्यापार की विशेषताओं में परिवर्तन हो गया । १९५१ के बाद भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताओं में हुए परिवर्तन इस प्रकार हैं—

आयात के १९५०-५१ के आँकड़ों की तुलना १९५८-५९ के आँकड़ों से करने पर पता चलता है कि प्राथमिकता का क्रम लोहे और इस्पात, खाद्यान्न, तेल, रसायन और धातुओं के बीच बदल गया है तथा मशीन सदैव चोटी पर रही है ।

अब भारत के विदेशी व्यापार में यू० के० और यू० एस० ए० महत्त्वपूर्ण हो गए हैं । यू० के० (इंगलिस्तान) का भाग तो घट रहा है । इन दो देशों के अलावा इधर हाल में रूस और जर्मनी भी महत्त्वपूर्ण हो गए हैं क्योंकि उद्योगीकरण की आवश्यकताएँ इनके द्वारा पूर्ण की जा रही हैं ।

हमारे विदेशी व्यापार की एक अन्य विशेषता द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते हैं । इनका उद्देश्य आवश्यक पदार्थों को सुलभ करेन्सी (सोफ़्ट करेन्सी) क्षेत्रों से आवश्यक सामान प्राप्त करना तथा भारतीय सामान के निर्यात को प्रोत्साहित करना है ।

राजकीय व्यापार की बढ़ती हुई महत्ता विदेशी व्यापार की ऐसी विशेषता है जिसकी तुलना अन्यत्र सरलता से नहीं की जा सकती । राजकीय व्यापार निगम का उद्देश्य अन्य बातों के अलावा साम्यवादी देशों के साथ व्यापार की वृद्धि करना है ।

१६. व्यापार की रचना में हाल में हुए परिवर्तन—१९३९-४५ के युद्ध-पूर्व कच्चे माल का निर्यात अग्रगण्य था । अब उनका स्थान निर्मित वस्तुओं ने ले लिया ।

युद्ध-काल में कच्चे माल के निर्यात में जो कमी हुई उसका कारण यह नहीं था कि देश के बढ़ते हुए उद्योगों में इनका उपभोग होने लगा था । इसका वास्तविक

में ५·८% हो गया।

निर्यात-व्यापार में भी ग्रेट ब्रिटेन से दूर हटने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के निर्यात का २९% इंगलैण्ड, २५% शेष यूरोप, २४% सुदुर-पूर्व, ७% संयुक्त राज्य तथा १५% अन्य देशों में वितरित था। १९१४ में इंगलिस्तान का हिस्सा घटकर २४%, शेष यूरोप का बढ़कर २९%, सुदूर-पूर्व का केवल १७% (अफीम और सूत का निर्यात घटने के कारण), संयुक्त राज्य का बढ़कर ९% तथा अन्य देशों का २१% हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि व्यापार का जो भाग इंगलिस्तान ने खोया वह महाद्वीपीय यूरोप ने प्राप्त किया।

१९. युद्धकाल (१९१४-१८) में भारत के व्यापार का वितरण—इस काल में इंगलैण्ड से दूर हटने वाली प्रवृत्तियाँ तो क्रियाशील रहीं ही, साथ ही उसके युद्ध में व्यस्त हो जाने के कारण वे और भी तीव्र ही गईं, क्योंकि गृह-सरकार ने निर्यात को प्रतिबन्धित कर दिया था तथा क़ीमतें भी काफ़ी ऊँची हो गई थीं। अतः इंगलैण्ड भारतीय बाज़ार में स्थान खोता गया। भारत के आयात-व्यापार में उसका हिस्सा ६४·१% से घटकर १९१८-१९ में ४५·५% हो गया। सम्पूर्ण युद्धकाल को दृष्टिगत रखने पर, उसका हिस्सा युद्ध-पूर्व औसत ६२·८% से घटकर युद्धकाल में औसतन ५६·५% रह गया। इससे तथा भारतीय बाज़ारों में जर्मनी के स्थान रिक्त करने से जो कमी हुई उसकी पूर्ति जापान और संयुक्त राज्य ने की। अब लोहा, इस्पात और कितने ही ऐसे सामान इन देशों से मँगाए जाने लगे। जापान से शीशे के बरतन, कपड़ा तथा काग़ज़ और संयुक्त राज्य से रंग-सामग्री आने लगी।

जहाँ तक निर्यात का प्रश्न है, युद्धकालीन क्रय तथा निष्पक्ष एवं शत्रु-देशों को निर्यात करने पर लगे प्रतिबन्धों के कारण, कुछ समय के लिए इंगलिस्तान और ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ व्यापार बढ़ा। इसका कारण यह था कि मित्रराष्ट्र होने से इनको लाभदायक स्थिति प्राप्त हो गई थी। इसके अतिरिक्त ये युद्ध के अखाड़ों से काफ़ी दूर भी थे। इनका निर्यात भी भारत के साथ पर्याप्त मात्रा में था और इन्होंने भारत के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न भी किये। इसके अलावा अन्यत्र औद्योगिक उत्पादन के लिए भारतीय माल की माँग भी घट गई थी। इस प्रकार कुल मिलाकर, भारत को युद्धकाल में अपनी सामग्री एक सीमित बाज़ार में भेजनी पड़ती थी। यह ठीक है कि इसके लिए उसे युद्ध-पूर्व कीमतों से ऊँची कीमतें मिलीं, किन्तु इनके बदले में उसे आयात पर कहीं अधिक मूल्य चुकाने पड़े।

२०. भारत के विदेशी व्यापार (१९१४-१८) की युद्धोत्तर प्रवृत्तियाँ—युद्धोत्तरकाल में इंगलैण्ड भारत के आयातों के सम्बन्ध में अंशतः पूर्वस्थिति स्थापित कर ही रहा था कि फिर ह्रास आरम्भ हो गया। १९३०-३१ और १९३१-३२ में कुछ राजनीतिक कारणों ने इसमें विशेष योग दिया।

भारत के आयात-व्यापार में जापान और संयुक्त राज्य को भी थोड़ा-सा स्थान छोड़ना पड़ा। जापान के स्थान छोड़ने का कारण १९२०-२१ का वाणिज्य-संकट था। दोनों देशों के निर्यात को प्रभावित करने वाला अन्य कारण पुराने प्रति-

में ५·८% हो गया।

निर्यात-व्यापार में भी ग्रेट ब्रिटेन से दूर हटने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के निर्यात का २९% इंगलैण्ड, २५% शेष यूरोप, २४% सुदूर-पूर्व, ७% संयुक्त राज्य तथा १५% अन्य देशों में वितरित था। १९१४ में इंगलिस्तान का हिस्सा घटकर २४%, शेष यूरोप का बढ़कर २९%, सुदूर-पूर्व का केवल १७% (अफीम और सूत का निर्यात घटने के कारण), संयुक्त राज्य का बढ़कर ९% तथा अन्य देशों का २१% हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि व्यापार का जो भाग इंगलिस्तान ने खोया वह महाद्वीपीय यूरोप ने प्राप्त किया।

१९. युद्धकाल (१९१४-१८) में भारत के व्यापार का वितरण—इस काल में इंगलैण्ड से दूर हटने वाली प्रवृत्तियाँ तो क्रियाशील रहीं ही, साथ ही उसके युद्ध में व्यस्त हो जाने के कारण वे और भी तीव्र हो गई, क्योंकि गृह-सरकार ने निर्यात को प्रतिबन्धित कर दिया था तथा कीमतें भी काफ़ी ऊँची हो गई थीं। अतः इंगलैण्ड भारतीय बाज़ार में स्थान खोता गया। भारत के आयात-व्यापार में उसका हिस्सा ६४·१% से घटकर १९१८-१९ में ४५·५% हो गया। सम्पूर्ण युद्धकाल को दृष्टिगत रखने पर, उसका हिस्सा युद्ध-पूर्व औसत ६२·८% से घटकर युद्धकाल में औसतन ५६·५% रह गया। इससे तथा भारतीय बाज़ारों में जर्मनी के स्थान रिक्त करने से जो कमी हुई उसकी पूर्ति जापान और संयुक्त राज्य ने की। अब लोहा, इस्पात और कितने ही ऐसे सामान इन देशों से मँगाए जाने लगे। जापान से शीशे के बरतन, कपड़ा तथा काग़ज़ और संयुक्त राज्य से रंग-सामग्री आने लगी।

जहाँ तक निर्यात का प्रश्न है, युद्धकालीन क्रय तथा निष्पक्ष एवं शत्रु-देशों को निर्यात करने पर लगे प्रतिबन्धों के कारण, कुछ समय के लिए इंगलिस्तान और ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ व्यापार बढ़ा। इसका कारण यह था कि मित्रराष्ट्र होने से इनको लाभदायक स्थिति प्राप्त हो गई थी। इसके अतिरिक्त ये युद्ध के अखाड़ों से काफ़ी दूर भी थे। इनका निर्यात भी भारत के साथ पर्याप्त मात्रा में था और इन्होंने भारत के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न भी किये। इसके अलावा अन्यत्र औद्योगिक उत्पादन के लिए भारतीय माल की माँग भी घट गई थी। इस प्रकार कुल मिलाकर, भारत को युद्धकाल में अपनी सामग्री एक सीमित बाज़ार में भेजनी पड़ती थी। यह ठीक है कि इसके लिए उसे युद्ध-पूर्व कीमतों से ऊँची कीमतें मिलीं, किन्तु इनके बदले में उसे आयात पर कहीं अधिक मूल्य चुकाने पड़े।

२०. भारत के विदेशी व्यापार (१९१४-१८) की युद्धोत्तर प्रवृत्तियाँ—युद्धोत्तरकाल में इंगलैण्ड भारत के आयातों के सम्बन्ध में अंशतः पूर्वस्थिति स्थापित कर ही रहा था कि फिर ह्रास आरम्भ हो गया। १९३०-३१ और १९३१-३२ में कुछ राजनीतिक कारणों ने इसमें विशेष योग दिया।

भारत के आयात-व्यापार में जापान और संयुक्त राज्य को भी थोड़ा-सा स्थान छोड़ना पड़ा। जापान के स्थान छोड़ने का कारण १९२०-२१ का वाणिज्य-संकट था। दोनों देशों के निर्यात को प्रभावित करने वाला अन्य कारण पुराने प्रति-

से मँगाकर पूर्वी देशों को भेजी जाती थीं।[1] इधर हाल में भी भारत के पुनर्निर्यात व्यापार में कुछ वृद्धि दिखाई पड़ी। १९२०-२१ के बाद से यह व्यापार क्रमशः घटने लगा। १९३३-३४ में पुनर्निर्यात व्यापार की दशा कुछ सुधरी और १९३२-३३ के ३.२२ करोड़ रु० से बढ़कर (जो १९२०-२१ के बाद निम्नतम था) ३.४२ करोड़ रु० हो गया। १९३५-३६ से और विकास हुआ—१९३८-३९ में एक बार घटने के बाद १९४०-४१ और १९४१-४२ में फिर क्रमशः बढ़ता हुआ यह ११.८१ करोड़ रु० और १५.३३ करोड़ रु० हो गया। प्रमुख देशों के हिस्से इस प्रकार रहे—(१९४१-४२) संयुक्त राज्य ८%; बर्मा ८%; अदन तथा अन्य आश्रित देश ६%; और अरब ५%; एंग्लो-मिस्री सूडान, ईराक और मिस्र ४%; लंका ३%। पुनर्निर्यात व्यापार का अधिकांश सिन्ध और बम्बई से होकर गुज़रता था, जो क्रमशः ४५% और ४३% व्यापार के लिए उत्तरदायी थे। इसके बाद बंगाल का स्थान था जिसके द्वारा व्यापार होता था। १९५१-५२ में भारत के पुनर्निर्यात का कुल मूल्य १३,७५,७४,००० रु० था। १९५६-५७ में पुनर्निर्यात का मूल्य ५,४९,६८,००० रु० था।[2]

पुनर्निर्यात व्यापार प्रधानतया सूती कपड़ों-जैसी निर्मित वस्तुओं का है, जो पश्चिमी देशों से मँगाई जाती हैं तथा जिन्हें ईरान, मुस्कात और पूर्वी अफ्रीका खरीदते हैं। पश्चिमी देशों को निर्यात की जाने वाली प्रधान सामग्री कच्चा चमड़ा और ऊन हैं। ईरान से प्राप्त होने वाला थोड़ा-सा समूर भी बम्बई से बाहर भेजा जाता है। वहीं से पहले बहरीन और मुस्कात से आयात किये हुए मोती भी बाहर भेजे जाते थे।

यह ठीक है कि भारत उन एशियायी देशों के लिए, जिनके पास अपने बन्दरगाह नहीं हैं, पुनर्निर्यात का यत्किंचित् काम करता रहेगा, किन्तु वर्तमानकालीन प्रत्यक्ष व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुनर्निर्यात व्यापार में भारत का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं है।

२३. व्यापारिक सन्तुलन—इंगलैण्ड के स्वर्णप्रमाप त्यागने के वर्ष (१९३१) से दिसम्बर १९३९ तक भारत से निर्यात किये जाने वाले स्वर्ण की कुल कीमत ३५१.४० करोड़ रु० थी। स्वर्ण के निर्यात ने निस्सारण (ड्रेन) की समस्या को जन्म दिया। स्वर्गीय श्री रानाडे तथा अन्य लेखकों ने इस आधार पर इसकी कटु आलोचना की कि यह अँग्रेज़ी सरकार के अपव्यय का परिणाम था।

व्यापारिक सन्तुलन की दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध के समय १९३९-४० में स्थिति फिर सुधरी। १९४१-४२ में जमा-बाकी १०७.९ करोड़ रु० तथा १९४२-४३ में ९१.९४ करोड़ रु० रही। ये संख्याएँ भारत में इंगलैण्ड की सरकार द्वारा किये गए क्रयों की गणना नहीं करतीं, अतः यह समझना चाहिये कि वास्तविक जमा-बाकी इनसे अधिक थी। अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १९४३-४४ में ८६.१७ करोड़ रु० और १९४४-४५ में ५०.६५ करोड़ रु० था। १९४५-४६ में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र आयात नीति के परिणामस्वरूप व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल रहा। व्यापारिक सन्तुलन दूसरे

---

१. देखिए, के० टी शाह 'ट्रेड, टेरिफ्स एण्ड ट्रान्सपोर्ट इन इण्डिया', पृ० ९२।

२. देखिए, स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट, १९५६-५७, पृ० ७७०।

द्वितीय योजनाकाल में आयात और निर्यात-सम्बन्धी अनुमान गलत सिद्ध हुए। निर्यात की अपेक्षा आयात-सम्बन्धी अनुमानों में अधिक गलती हुई। अतएव योजना में काट-छाँट आवश्यक हो गई। इस स्थिति के लिए मुख्यतः खाद्य-सम्बन्धी कठिनाई तथा विकास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ ही उत्तरदायी हैं, किन्तु कुछ अन्य कारण, जैसे स्वेज़ का संकट, व्यापारिक नीति को कार्यान्वित करने में प्रशासकीय कमियाँ आदि का भी हाथ है।

२४. भारत के स्थिति-विवरण पत्रक (बैलेंस शीट) में नामे और जमा की मदें—एक समुचित लेन-देन के लेखे में आयात और निर्यात में बिलकुल ठीक-ठीक सन्तुलन होगा। इस बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि हो जाएगी, यदि हम केवल दृश्यमान लेन-देन (जैसे आयात-निर्यात-कर के विवरण में सम्मिलित तथा प्रकाशित आंकड़ों में सम्मिलित मद) को ही न देखकर अदृश्य मदों को भी ध्यान में रखें। अदृश्य मद वे हैं जिनका कस्टम या अन्य प्रकाशित आँकड़ों में विवरण नहीं होता।

इसका कारण यह है कि सौदों का आयात अधिक होगा और निर्यात कम। दूसरे, विकास हेतु लिये गए ऋणों व उनके व्याज की अदायगी तथा विदेश-भ्रमण के मद को खर्च बहुत बड़ी राशि हैं। विदेशी ऋणों की सहायता से देश में आधार उद्योगों की स्थापना के बाद निर्यात में वृद्धि होने तथा ऋण और व्याज की अदायगी बन्द होने के पश्चात् सम्भवतः परिस्थिति बदल जाएगी, किन्तु इसमें समय लगेगा।

२५. देश का (भौमिक) सीमान्त व्यापार—भारत की भूमि-सीमा ६००० मील लम्बी है। पश्चिमोत्तर और उत्तर-पूर्व तक फैली यह सीमा-रेखा उसकी तटीय रेखा से अधिक लम्बी है, किन्तु घने, अभेद्य जंगलों और दुर्गम पहाड़ों के कारण व्यापार में अनेक बाधाएँ पड़ती हैं। दर्रों की कमी के कारण सीमाप्रान्त देशों से संचार कठिन था। हम भारत की पुरातन भूमि के स्वभाव और व्यापार की ओर निर्देश कर चुके हैं। मुगल काल में विदेशी व्यापार काफ़ी ज़ोर से चल रहा था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् १९४७ से भारत के सीमा-व्यापारों में एक मुख्य परिवर्तन हुआ। अफगानिस्तान और ईरान के साथ पाकिस्तान भी इस व्यापार का अंग बन गया। सीमा के निकटवर्ती स्टेशनों से तिब्बत, नेपाल, सिक्किम और भूटान से अब भी व्यापार होता है।

पाकिस्तान, अफगानिस्तान और ईरान से मुख्यतः कच्चा जूट, कच्ची कपास, चमड़ा और खाल, फल और तरकारियाँ, नमक आदि का आयात तथा कोयला और कोक, सूती कपड़े, रेशम की बनी वस्तुएँ, मसाले, चाय आदि का निर्यात होता है। तिब्बत, नेपाल, सिक्किम और भूटान को सूत और सूती कपड़े, रंजक पदार्थ, लोहे और इस्पात का सामान, चीनी, चाय आदि का निर्यात तथा जानवरों की खालें, तम्बाकू, कच्ची ऊन, तिलहन आदि का आयात होता है।

२६. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक समृद्धि—भारत के व्यापार का आकार इतना अधिक है कि उसे विश्व के देशों में पाँचवाँ स्थान प्राप्त है।[1] निकट भूतकाल में भारत

---

१. प्रति व्यक्ति व्यापार में भारत लगभग सबसे नीचे है। स्पष्टतया भारत जैसी जनसंख्या वाले देश

तथा स्टेट बैंक संविधान को परिवर्तित किया गया। एक निर्यात साख और गारन्टी कारपोरेशन भी बनाई गई है। एक डाइरेक्टोरेट ऑफ़ एक्जीबीशन (Directorate of Exhbition) तथा इंडियन इन्सटीट्यूट ऑफ़ फॉरेन ट्रेड देश के निर्यात को बढ़ाने में जुटे हुए हैं।

इन सबके बाद भी अदायगी शेष की हालत खराब है। देश की वस्तुओं का निर्यात चौथी पंचवर्षीय योजना में कुल ५१०० करोड़ रुपये होगा। इसके मुकाबले में वस्तुओं का आयात पाँच वर्षों में पी० एल० ४८० के आयात को छोड़कर ७२०० करोड़ रुपये का होगा। इस प्रकार वस्तुओं के लेखे में घाटा रिक्त (Deficit) २१०० करोड़ रुपये होगा। ऋण व्याज तथा सिद्धान्त की अदायगी पर ११०० करोड़ रुपया देना होगा। इस प्रकार अदायगी शेष की समस्या को दूर करने के लिए ३२०० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी।

आन्तरिक व्यापार

२७. (१) **तटीय व्यापार**—भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जलयानों के लिए सुरक्षित करने के सम्बन्ध में हम उसकी (तटीय व्यापार की) वर्तमान स्थिति और भावी महत्ता देख आए हैं। तटीय व्यापार को देश के आन्तरिक व्यापार का अंग मानना चाहिए, यद्यपि इसमें थोड़ा-सा विदेशी व्यापार भी शामिल है।

सांख्यिकीय सामग्री एकत्रित करने के लिए भारतीय तट को अप्रैल १९५७ से निम्नलिखित ९ क्षेत्रों में बाँटा गया है—(१) पश्चिमी बंगाल, (२) उड़ीसा, (३) आन्ध्र प्रदेश, (४) मद्रास, (५) केरल, (६) मैसूर, (७) बम्बई, (८) अण्डमान निकोबार द्वीपसमूह तथा (९) लंका द्वीप, मिनिकाय और अमिनदिवी द्वीपसमूह। १९५६-५७ में तटीय व्यापार का कुल मूल्य ३४३ करोड़ रु० था। इसमें १८० करोड़ रु० का आयात और १६३ करोड़ रु० का निर्यात शामिल था। आयात में १६९ करोड़ रु० से अधिक का व्यापार विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा १० करोड़ रु० का क्षेत्र के अन्दर व्यापार शामिल था। १९५७-५८ (अप्रैल-दिसम्बर) में तटीय व्यापार के आयात-निर्यात का मूल्य क्रमशः ११४,१८ लाख रु० तथा १२३,०७ लाख रु० था तथा तटीय व्यापार का कुल मूल्य २३७,२५ लाख रु० था।

भारत के तटीय व्यापार को पूरी तरह विकसित करने के लिए बन्दरगाहों के विकास की विस्तृत योजना, भारतीय व्यापारिक जहाज़रानी का निर्माण और तटीय तथा रेल के यातायात का समुचित संयोजन आवश्यक है। लेकिन इस विषय पर हम विस्तृत रूप से प्रकाश डाल आए हैं।[1]

२८. (२) **आन्तरिक व्यापार**—देश के आर्थिक विकास एवं संगठन के साथ ही आन्तरिक व्यापार भी बढ़ता जाएगा, क्योंकि इससे देश के गाँवों और नगरों में सम्पर्क और भी घनिष्ठ हो जाएगा।

---

१. देखिए, अध्याय ५।

बन्दरगाहों के अतिरिक्त दिल्ली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, वनारस, कानपुर, लखनऊ और नागपुर भी व्यापार के बड़े केन्द्र हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश का एक प्रधान रेलवे जंकशन है तथा वम्बई और कलकत्ता के बीच स्थित है। इस प्रकार यह विदेशी और गृह-वस्तुओं के वितरण का भी केन्द्र है। दिल्ला, जोकि भारत की राजधानी है, ६ रेलवे लाइनों का जंकशन है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों का निकास-गृह है—विशेषकर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की वस्तुओं में। वम्बई के बाद अहमदाबाद सबसे प्रधान नगर है। अमृतसर पुनर्निर्यात का ही प्रधान केन्द्र नहीं है, बल्कि यहाँ कपड़े का भी काफ़ी व्यवसाय होता है। यह दरी और कालीनों के लिए भी मशहूर है। आगरा दरी, कालीन, पत्थर का काम और ज़री के अतिरिक्त चमड़े के संकलन का भी एक प्रधान स्थान है। पंजाब के कृषि-उत्पादन के व्यापार का प्रधान केन्द्र लाहौर है। बनारस रेशम की बुनाई का केन्द्र है। लखनऊ अवध के कृषि-उत्पादन को एकत्र और वितरित करता है। नागपुर का व्यावसायिक महत्त्व बुनाई, कपास ओटने तथा दवाने की मिलों और फैक्ट्रियों के कारण है तथा यहाँ समीप ही मैंगनीज़ की खानें भी हैं।

३०. व्यावसायिक ज्ञान तथा व्यापार-संगठन[1]—व्यापार-आयुक्त विदेशों में नियुक्त किये जाते हैं और दूतों को विदेशों में रखा जाता है, जिनका प्रधान कार्य स्वदेश को विदेशों की व्यापारिक सूचना देना होता है। इन सब बातों से भारत अभी पूर्णतया सज्जित नहीं है। यद्यपि वाणिज्य-सूचना-विभाग का जन्म १६०५ में ही हो गया था, फिर भी सरकार के पास जनता या व्यक्तियों तक वाणिज्य-सूचना-प्रसार के लिए कोई माध्यम नहीं था। इस समय स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक है। १६२२ में पुनर्संगठित वाणिज्य-सूचना तथा सांख्यिकीय विभाग भारत सरकार और व्यावसायिक जनता के बीच की कड़ी का काम करता है। इसके दो प्रकार के काम हैं: (१) समुद्र-पार व्यापार की वे सूचनाएँ, जो भारतीय व्यापार के लिए हितकर हो सकती हैं; उनका संकलन एवं वितरण, (२) व्यापार और उद्योग आदि से सम्बन्धित अखिल भारतीय महत्त्व के आँकड़ों का एकीकरण और प्रकाशन। इस विभाग से पूछ-ताछ का जवाब दिया जाता और (विभाग के साप्ताहिक अंग) 'इण्डियन ट्रेड जनरल' प्रकाशित किया जाता था। यह इंगलैण्ड के उन व्यापारिक विकासों के सम्पर्क में भी रहता है जो भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए विभिन्न देशों में भारतीय व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये गए हैं। इस विभाग का काम भारत के उद्योग-संचालकों, लन्दन तथा अन्य देशों में स्थित भारतीय व्यापार-आयुक्तों, अंग्रेज़ी व्यापार आयुक्त तथा अन्य देशों के व्यापारिक अफ़सरों के सहयोग से होता है तथा इसका उद्देश्य समुद्र-पार के बाज़ारों में भारतीय उत्पादन और निर्माण की माँग को बढ़ाना है। १६२० से नियुक्त लन्दन-स्थित भारत के उच्च आयुक्त को कितने ही विविध वित्तीय काम दे दिये गए हैं, जिनमें से सरकारी भण्डारों की खरीद सबसे महत्त्वपूर्ण

१. देखिये, सेक्शन ३६-७ के साथ ही सेक्शन ११-१२।

बन्दरगाहों के अतिरिक्त दिल्ली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, बनारस, कानपुर, लखनऊ और नागपुर भी व्यापार के बड़े केन्द्र हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश का एक प्रधान रेलवे जंकशन है तथा बम्बई और कलकत्ता के बीच स्थित है। इस प्रकार यह विदेशी और गृह-वस्तुओं के वितरण का भी केन्द्र है। दिल्ली, जोकि भारत की राजधानी है, ९ रेलवे लाइनों का जंकशन है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों का निकास-गृह है—विशेषकर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की वस्तुओं में। बम्बई के बाद अहमदाबाद सबसे प्रधान नगर है। अमृतसर पुनर्निर्यात का ही प्रधान केन्द्र नहीं है, बल्कि यहाँ कपड़े का भी काफ़ी व्यवसाय होता है। यह दरी और कालीनों के लिए भी मशहूर है। आगरा दरी, कालीन, पत्थर का काम और ज़री के अतिरिक्त चमड़े के संकलन का भी एक प्रधान स्थान है। पंजाब के कृषि-उत्पादन के व्यापार का प्रधान केन्द्र लाहौर है। बनारस रेशम की बुनाई का केन्द्र है। लखनऊ अवध के कृषि-उत्पादन को एकत्र और वितरित करता है। नागपुर का व्यावसायिक महत्त्व बुनाई, कपास ओटने तथा दबाने की मिलों और फैक्ट्रियों के कारण है तथा यहाँ समीप ही मैंगनीज़ की खानें भी हैं।

३०. व्यावसायिक ज्ञान तथा व्यापार-संगठन[१]—व्यापार-आयुक्त विदेशों में नियुक्त किये जाते हैं और दूतों को विदेशों में रखा जाता है, जिनका प्रधान कार्य स्वदेश को विदेशों की व्यापारिक सूचना देना होता है। इन सब बातों से भारत अभी पूर्णतया सज्जित नहीं है। यद्यपि वाणिज्य-सूचना-विभाग का जन्म १९०५ में ही हो गया था, फिर भी सरकार के पास जनता या व्यक्तियों तक वाणिज्य-सूचना-प्रसार के लिए कोई माध्यम नहीं था। इस समय स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक है। १९२२ में पुनर्संगठित वाणिज्य-सूचना तथा सांख्यिकीय विभाग भारत सरकार और व्यावसायिक जनता के बीच की कड़ी का काम करता है। इसके दो प्रकार के काम हैं: (१) समुद्र-पार व्यापार की वे सूचनाएँ, जो भारतीय व्यापार के लिए हितकर हो सकती हैं; उनका संकलन एवं वितरण, (२) व्यापार और उद्योग आदि से सम्बन्धित अखिल भारतीय महत्त्व के आँकड़ों का एकीकरण और प्रकाशन। इस विभाग से पूछ-ताछ का जवाब दिया जाता और (विभाग के साप्ताहिक अंग) 'इण्डियन ट्रेड जनरल' प्रकाशित किया जाता था। यह इंगलैण्ड के उन व्यापारिक विकासों के सम्पर्क में भी रहता है जो भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए विभिन्न देशों में भारतीय व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये गए हैं। इस विभाग का काम भारत के उद्योग-संचालकों, लन्दन तथा अन्य देशों में स्थित भारतीय व्यापार-आयुक्तों, अंग्रेज़ी व्यापार आयुक्त तथा अन्य देशों के व्यापारिक अफ़सरों के सहयोग से होता है तथा इसका उद्देश्य समुद्र-पार के बाज़ारों में भारतीय उत्पादन और निर्माण की माँग को बढ़ाना है। १९२० से नियुक्त लन्दन-स्थित भारत के उच्च आयुक्त को कितने ही विविध वित्तीय काम दे दिये गए हैं, जिनमें से सरकारी भण्डारों की खरीद सबसे महत्त्वपूर्ण

---

१. देखिये, सेक्शन ३६-७ के साथ ही सेक्शन ११-१२।

सरकार को राय दी जा सकती है। विभिन्न संगठन अपने हितों से सम्बन्धित मत प्रस्तुत करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्री, उद्योगों का मत सरकार के सामने प्रस्तुत करता रहता है। विभिन्न उद्योगों के संगठन इसके सदस्य हैं। पंचवर्षीय योजना, करारोपण तथा सरकार द्वारा की जाने वाली किसी आर्थिक जाँच के सम्बन्ध में उपर्युक्त संस्था उद्योगों का मत भली प्रकार प्रस्तावित और प्रचारित करती रहती है।

(३) १६१४-१८ के युद्ध के पहले भारतीय निर्यात के ४०% की खपत ब्रिटिश साम्राज्य में होती थी, शेष (अधिकांश) अन्य देशों को भेजा जाता था। कुल निर्यात का २५% केवल इंगलिस्तान को ही भेजा जाता था। (४) प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त आयात-निर्यात दोनों में ही, परन्तु मुख्यतया आयात में ब्रिटेन और अन्य कॉमनवेल्थ देशों का महत्त्व घटता गया।

१६०३ में भारत सरकार ने यह मत प्रकट किया कि "आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य को भारत से बहुत थोड़ा लाभ हो सकता है तथा इसके बदले में भारत को कम या कुछ भी लाभ नहीं होगा और बहुत-कुछ खोने की सम्भावना है।"[1]

३. ओटावा-समझौता—जुलाई और अगस्त, १६३२ में ओटावा में हुए साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन में साम्राज्य के देशों में पारस्परिक अधिमान के आधार पर कई व्यापारिक समझौते हुए। भारत ने भी साम्राज्य अधिमान की इस विस्तृत योजना में भाग लिया, जिसके प्रति वह कड़ा विरोध प्रकट कर चुका था। भारतीय आयात-निर्यात-कर (ओटावा व्यापारिक समझौता) संशोधन अधिनियम (दिसम्बर, १६३२) ने २० अगस्त, १६३२ में भारत और इंगलैण्ड के बीच हुए साधारण व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनों को लागू किया।[2] कर-सम्बन्धी ये परिवर्तन १ जनवरी, १६३३ से लागू किये गए। लोहे और इस्पात के सम्बन्ध में एक पूरक समझौता २२ सितम्बर, १६३३ को किया गया।

४. ओटावा समझौता : पक्ष—१६२६ में प्रारम्भ होने वाले आर्थिक संकट की प्रथम दशा में सभी मूल्यों में भारी कमी हुई, लेकिन यह सापेक्षिक कमी कच्चे माल के सम्बन्ध में अधिक थी।

अन्य देशों में भी उत्पादन बढ़ रहा था—विदेशी निर्यातक, जो १६१४-१८ के युद्ध के पहले अपेक्षाकृत नगण्य थे, अब सबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो रहे थे। हमारे निर्यात की कुछ प्रधान वस्तुओं ने भी प्रतिद्वन्द्विता का अनुभव किया, जैसे तिलहन, कपास, खाद्यान्न, लकड़ी इत्यादि। कितने ही यूरोपियन देशों तथा संयुक्त राज्य द्वारा उष्ण और अर्ध-उष्ण देशों में अपने उपनिवेशों की उत्पत्ति की माँग बढ़ाने की नीति का अनुसरण करने से स्थिति और विषम हो गई। एक अन्य कारण संश्लिष्ट विकल्पों (सिन्थेटिक सब्स्टिट्यूट्स) का शीघ्र विकास था। इनसे भारत के निर्यात की कुछ प्रमुख वस्तुओं की माँग घट गई। इसके अतिरिक्त कितने ही देशों ने 'आर्थिक एकान्तवाद' (इकनॉमिक आइसोलेशन) की नीति का अनुसरण किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह पर आयात-निर्यात कर, विदेशी विनिमय कर, कठोर नियन्त्रण एवं अन्य अनेक प्रतिबन्ध लगाए तथा कण्टिजेण्ट और कोटा सिस्टम को अपनाया।

---

१. १६२३ में भारत के प्रतिनिधियों द्वारा साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन के समक्ष यह मत पुनः दुहराया गया।

२. देखिए, अध्याय १२, सेक्शन ४; ब्रिटेन के लिए लाभदायक अधिमान-कर भारत लोहा-इस्पात फैक्ट्री की सुरक्षा के लिए स्वीकार किये गए। देखिये, अध्याय ७, सेक्शन ११ और २५।

जा सकता।

५. ओटावा समझौता : विपक्ष—विरोधियों ने ओटावा समझौते का मुख्यतया इस आधार पर विरोध किया कि वह जान-बूझकर भारत के व्यापार की स्वाभाविक प्रगति को भिन्न दिशा में मोड़ देगा जिससे भारत को गम्भीर क्षति पहुँचेगी। कुछ वस्तुओं को दिया गया अधिमान एकदम अनावश्यक था। उदाहरण के लिए चाय का व्यापार चाय के प्रधान उत्पादकों, जैसे जावा, सीलोन और भारत, द्वारा 'चाय प्रतिवन्ध योजना' अपनाने के फलस्वरूप हुए व्यापारिक समझौते के कारण भली प्रकार चल रहा था। उन वस्तुओं के सम्वन्ध में अधिमान विल्कुल व्यर्थ था जो स्वयं वाज़ार में प्रधान स्थान की अधिकारी थीं; उदाहरणार्थ जूट-निर्मित वस्तुएँ, वकरी के चमड़े, रेड़ी केनीज़, लाख, आँवला, अभ्रक इत्यादि। अन्य वस्तुओं के प्रसार की सम्भावना वहुत कम थी। इसके कई कारण थे—(१) साम्राज्य के अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा, उदाहरण के लिए सिझे चमड़े में आस्ट्रेलिया, मूँगफली में ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका, चटाइयों में लंका, कहवा में ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका आदि प्रतिद्वन्द्वी थे। कुछ वस्तुओं, उदाहरणार्थ मूँगफली, के लिए विदेशों की तुलना में इंगलिस्तान का वाजार वहुत छोटा था। फिर, कुछ वस्तुओं के सम्वन्ध में भारत से होने वाला निर्यात इतना नगण्य था कि उसे अधिमान या किसी अन्य प्रकार से प्रोत्साहन देने की आवश्यकता ही न थी, जैसे चावल, तम्वाकू और जौ।[1]

दूसरी आपत्ति यह थी कि अधिमान से या तो सरकार को वित्तीय हानि होती थी (कर की कमी से) या उपभोक्ता को, क्योंकि उपभोक्ता सस्ती वस्तुओं के स्थान पर मँहगी अंग्रेजी वस्तुएँ खरीदने के लिए वाध्य होता था। लेकिन भारत में न तो सरकार ही और न उपभोक्ता ही इस प्रकार का त्याग करने में समर्थ थे।

साम्राज्य अधिमान उन उपनिवेशों और डोमिनियनों के लिए लाभदायक हो सकता था जिनका ब्रिटेन के साथ व्यापार पूरक-स्वभाव का रहा हो। इंगलैण्ड को प्राथमिक वस्तुओं की आवश्यकता थी और ये वस्तुएँ उसे कनाडा तथा आस्ट्रेलिया से मिल सकती थीं। ये देश ब्रिटिश निर्माणों को खपाने के लिए उत्सुक और समर्थ भी थे। इन दोनों वातों में भारत की स्थिति भिन्न थी। उसके लिए वांछनीय और लाभदायक यह था कि वह अपने उत्पादनों के लिए इंगलिस्तान के वजाय अन्यत्र वाज़ार ढूँढ़े। उसके विविध प्राकृतिक साधनों ने उसे यह भी सोचने पर वाध्य किया कि वह क्यों न इन सब वातों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करे। इस दृष्टि से उसे अनेक अंग्रेज़ी निर्मित वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा से संरक्षण की आवश्यकता थी।

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ साम्राज्य से उसे दूर खींचे ले जा रही हैं।[2] अतएव यह आवश्यक था कि वह अपने विदेशी वाजारों को सुरक्षित

---

१. सर आइसवर्ट ने धारासभा के विवाद में तम्वाकू के व्यापार को ६,०००,००० पौंड का मूल्यवान व्यापार वताया।

२. देखिये, अध्याय ६, सेक्शन १८।

मिल-मालिक संस्था, जिसके अध्यक्ष सर होमी मोदी थे और ब्रिटिश टेक्स्टाइल मिशन, जो सर विलियम क्लेयर लीज़ की अध्यक्षता में भारत आया था, के बीच हुआ। यह समझौता, जो 'मोदी-लीज़' समझौते के नाम से भी प्रसिद्ध है, ३१ दिसम्बर, १९३५ तक के लिए लागू था। भारतीय सूती मिलों के प्रतिनिधियों में काफ़ी मतभेद था और एक सामान्य मत पर आने के प्रयत्न असफल रहे, फिर भी लंकाशायर और बम्बई की मिल-मालिक संस्था के बीच समझौता सम्भव हुआ। यह समझौता आंग्ल-भारतीय पूरक समझौते का अग्रदूत था (देखिये, सेक्शन ७)। इसमें उद्योगों को इंगलिस्तान से भी संरक्षित रखने के भारतीय अधिकार को स्वीकार किया गया, परन्तु यह भी स्वीकार किया गया कि इंगलिस्तान की तुलना में अन्य देशों से उच्चतर स्तर का संरक्षण आवश्यक था।[1]

बम्बई-लंकाशायर समझौता साम्राज्य के औद्योगिक सहयोग द्वारा भारतीय और अँग्रेज़ी हितों के संयोजन का प्रथम प्रयत्न था। कुछ लोगों के मत में यह समझौता स्वयं ही पर्याप्त रूप से न्यायोचित था। इससे लंकाशायर द्वारा भारत की कपास की माँग में वृद्धि हुई और इस तरह भारत के किसानों को बड़ा लाभ पहुँचा। लंकाशायर ने अपने विरुद्ध भी भारत के वस्त्र-उद्योग को सुरक्षित करने की आवश्यकता को मान्यता दी और भारतीय वस्तुओं (कपड़ों) को उपनिवेशों तथा अन्य समुद्र-पार देशों के बाज़ारों में स्थान दिलाने का प्रयत्न करने का वचन दिया।

इसके विपरीत समझौते के आलोचकों का कथन है कि इसे सम्पूर्ण (भारतीय) सूती वस्त्र उद्योग का समर्थन प्राप्त नहीं था तथा भारत ने (सूती और कृत्रिम रेशमी कपड़ों पर कर घटाकर) लंकाशायर को निश्चित और पर्याप्त लाभ प्रदान किये, परन्तु इसके बदले में लंकाशायर ने केवल अनिश्चित आश्वासन-मात्र ही दिये। इसका फल यह हुआ कि पहले के संरक्षण की तुलना में उद्योग का बहुत-कुछ संरक्षण हट गया। समुद्र-पार बाजारों की दृष्टि से भी जब बम्बई की मिलें अपने देश के बाज़ार में ही बिना सहायता के खड़ी नहीं हो सकती थीं तो समुद्र-पार बाजारों में लंकाशायर की सहानुभूति से उनके स्थान प्राप्त करने की कम ही आशा थी। अन्त में, जहाँ तक लंकाशायर की मिलों द्वारा भारतीय कपास के उपभोग का प्रश्न था, लंकाशायर ने एक बड़ी ही अनिश्चित प्रतिज्ञा की थी कि जापान के समझौते की तरह लंकाशायर भारतीय कपास को कम-से-कम एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए बाध्य न था।

७. (१९३५) का पूरक आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता—१९३३ के बम्बई-लंकाशायर समझौते के उपरान्त १९३४ में (वस्तुतः ९ जनवरी, १९३५) एक आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता किया गया। यह ओटावा समझौते का पूरक था और उसकी अवधि तक ही लागू रहा।

इंगलिस्तान की सरकार ने भी अपनी ओर से भारत के उस कच्चे माल या आधे तैयार माल के आयात को विकसित करने का आश्वासन दिया, जो उन वस्तुओं

१. बी० के० मदन, इण्डिया एण्ड इम्पीरियल प्रेफरेन्स, पृ० १६२।

नोटिस देकर रद्द किया जा सकता है। यह भी कहा गया कि समझौता न भी हो तब भी दोनों पक्षों को अपने अधिमानों को दूसरे से राय लिये बिना हटाना या रोकना नहीं चाहिए।

६. आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता (१६३६)[१]—यह बातचीत ढाई वर्ष तक चलती रही। इसके उपरान्त पहले के दोनों समझौतों के स्थान पर १६३६ में एक नया समझौता किया गया। गवर्नर-जनरल ने अपने प्रमाणन (सर्टीफ़िकेशन) अधिकार का अनुसरण करते हुए इसे वैध रूप दिया। नये समझौते में ओटावा समझौते का रूप बहुत बदल दिया गया। यद्यपि अब भी भारत के निर्यात की अनेक वस्तुएँ अधिमान-क्षेत्र के अन्तर्गत थीं, किन्तु ब्रिटेन को दिये गए अधिमान का क्षेत्र काफ़ी संकुचित कर दिया गया, क्योंकि पुरानी अधिमान-पद्धति के अन्तर्गत खाद्य, पेय, तम्बाकू तथा कच्चे और अर्ध-निर्मित माल अब अधिमान के अधिकारी नहीं रहे। नये समझौते में अधिकतर मदों का सम्बन्ध विशिष्ट उत्पादनों (जिनका भारत में उत्पादन नहीं होता था) से था, जैसे मोटरकार, साइक़िल इत्यादि।

जहाँ तक अन्य मदों का सम्बन्ध था (उदाहरणार्थ ऊनी कालीन, कम्बल, औषधियाँ आदि) ब्रिटेन से इनके विशेष प्रकार मँगाए जाते थे जिनका उत्पादन भारत में नगण्य था। अधिमान की कुछ मदों की पुनः परिभाषा की गई, ताकि भारतीय उपभोक्ता के हित में अनेक वस्तुएं, जो पहले अधिमान की अधिकारी थीं, अब अधिमान न पाएँ। एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह हुआ, जबकि ओटावा समझौते में भारत में संरक्षण-प्राप्त वस्तुओं को बिलकुल अछूता छोड़ दिया था, कि नये समझौते में लंकाशायर की वस्तुओं पर लगे करों की व्यवस्था को सन्निहित किया गया था, हालाँकि सरकारी तौर पर भारतीय सूती वस्त्र उद्योग संरक्षित उद्योग था।

भारत ने ब्रिटेन से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं, जैसे रसायन, रंग, कपड़ों के अवशिष्ट, ऊनी कालीनों, सीने की मशीनों इत्यादि, पर १०% तथा मोटरकार, मोटर साइकिल और स्कूटर, साइकल तथा आम्नीबस पर ७½% अधिमान दिया।

जहाँ तक खान से निकले लोहे (पिग आयरन) का सवाल है, हालाँकि इसका आयात ब्रिटेन में बिना कर के था, फिर भी ब्रिटिश सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रखा था कि यदि १६३४ के लोहे और इस्पात-सम्बन्धी अधिनियम के समाप्त होने के बाद भारत में ब्रिटेन से भेजे गए लोहे और इस्पात की वस्तुओं पर अधिनियम में प्रस्तावित दरों से अधिक प्रतिकूल कर लगाये गए तो वह भी भारत के खान से निकले लोहे (पिग आयरन) पर (३१ मार्च, १६४१ के बाद) कर लगा देगा।

भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर कुछ अधिमान समाप्त हो गए (उदाहरणार्थ उत्खनित (खान से निकला) सीसा, चावल इत्यादि) और कुछ का मूल्य भी घट

---

१. देखिए, मदन, पूर्वोद्धृत, पृ० २२२-४६, तथा वी० पी० अदारंकर, 'द इण्डियन फिस्कल पॉलिसी', पृ० ५५६-६२।

को अति कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था, जबकि सरकारी अनुमान के अनुसार भारत द्वारा ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य ३६.८६ करोड़ रु० था और ब्रिटेन द्वारा भारत में भेजी जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का मूल्य केवल ७.६८ करोड़ रु०; गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार भारत की प्रभावपूर्ण अधिमान-प्राप्त वस्तुओं (जैसे अलसी, ऊनी कालीन, कम्बल आदि) का मूल्य केवल ६ करोड़ रु० था। इस श्रेणी में कर-मुक्त वस्तुओं की गणना करना उचित न होगा, क्योंकि ब्रिटेन उन वस्तुओं पर कर लगा ही नहीं सकता था (उदाहरण के लिए कच्चा जूट), क्योंकि ये वस्तुएँ प्रमुख ब्रिटिश उद्योगों के लिए अनिवार्य थीं। इसके विपरीत, ब्रिटेन को प्रधानतया निर्यात वस्तुओं, जैसे पेण्ट-रसायन, औज़ार और वस्त्र आदि, के सम्बन्ध में अधिमान दिया गया था, जो देश के गृह-उद्योगों के विकास में बाधक था, परन्तु ब्रिटेन द्वारा भारत को दिया गया अधिमान केवल उस कच्चे माल से सम्बन्धित था जो ब्रिटेन के उद्योगों और शस्त्रीकरण योजना के चालू रखने के लिए आवश्यक था।

लकाशायर के लिए भारतीय कपास के निर्यात को भारत में ब्रिटिश कपड़ों के आयात से सम्बद्ध करने की बहुत आलोचना हुई। इस अवस्था में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की उपेक्षा की गई। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसे समान लाभ मिलने की कोई व्यवस्था न थी। जहाँ तक इंगलिस्तान द्वारा एक निश्चित मात्रा में कपास खरीदने का प्रश्न था उससे ब्रिटेन की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना न थी। यह मात्रा भी साधारणतया लंकाशायर द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से कम ही थी। इसके स्थान पर भारत से ब्रिटेन की कपास की वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा खरीदने का आश्वासन देने के लिए कहा गया जो समझौते से पूर्व के आयात से कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की कपास के अनुपातों के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया, यद्यपि भारत के कपास-उत्पादकों ने इस बात की माँग की थी कि ब्रिटेन द्वारा खरीदी जाने वाली कपास का ६५ प्रतिशत छोटे रेशे की कपास होनी चाहिए। भारतीय गैर-सरकारी सलाहकारों के इस मत के बावजूद भी कि यदि भारतीय कपास-उद्योग पर और अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाया गया तो ब्रिटेन के कपड़ों पर भी प्रतिशुल्क लगा दिया जाएगा, लम्बे रेशे की कपास पर लगा आयात-कर दूना कर दिया गया। इससे भारत के सूती मिल उद्योग का संरक्षण कम हो गया, हाथ से बुनने वाले उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पड़ा और नये व्यापारिक प्रस्तावों के प्रति एक विरोधी धारणा उत्पन्न की गई।

नये समझौते को सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा लगता है कि ओटावा समझौते में काफ़ी सुधार हुआ है। जहाँ तक अधिमानों के पारस्परिक विनिमय का प्रश्न था, कपास के अनुच्छेद (कॉटन आर्टिकल) को छोड़कर इसे न्यायसंगत भी कहा जा सकता था। जहाँ तक लंकाशायर के कपड़े लेने और भारतीय कपास देने का प्रश्न है, भारत के लम्बे रेशे की कपास के आयात के द्विगुणित कर को ध्यान में रखते हुए, समझौता लंकाशायर के पक्ष में बहुत अधिक था।

को अति कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था, जबकि सरकारी अनुमान के अनुसार भारत द्वारा ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य ३६.८६ करोड़ रु० था और ब्रिटेन द्वारा भारत में भेजी जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का मूल्य केवल ७.६८ करोड़ रु०; गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार भारत की प्रभावपूर्ण अधिमान-प्राप्त वस्तुओं (जैसे अलसी, ऊनी कालीन, कम्बल आदि) का मूल्य केवल ६ करोड़ रु० था। इस श्रेणी में कर-मुक्त वस्तुओं की गणना करना उचित न होगा, क्योंकि ब्रिटेन उन वस्तुओं पर कर लगा ही नहीं सकता था (उदाहरण के लिए कच्चा जूट), क्योंकि ये वस्तुएँ प्रमुख ब्रिटिश उद्योगों के लिए अनिवार्य थीं। इसके विपरीत, ब्रिटेन को प्रधानतया निर्यात वस्तुओं, जैसे पेण्ट-रसायन, औज़ार और वस्त्र आदि, के सम्बन्ध में अधिमान दिया गया था, जो देश के गृह-उद्योगों के विकास में बाधक था, परन्तु ब्रिटेन द्वारा भारत को दिया गया अधिमान केवल उस कच्चे माल से सम्बन्धित था जो ब्रिटेन के उद्योगों और शस्त्रीकरण योजना के चालू रखने के लिए आवश्यक था।

लंकाशायर के लिए भारतीय कपास के निर्यात को भारत में ब्रिटिश कपड़ों के आयात से सम्बद्ध करने की बहुत आलोचना हुई। इस अवस्था में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की उपेक्षा की गई। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसे समान लाभ मिलने की कोई व्यवस्था न थी। जहाँ तक इंगलिस्तान द्वारा एक निश्चित मात्रा में कपास खरीदने का प्रश्न था उससे ब्रिटेन की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना न थी। यह मात्रा भी साधारणतया लंकाशायर द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से कम ही थी। इसके स्थान पर भारत से ब्रिटेन की कपास की वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा खरीदने का आश्वासन देने के लिए कहा गया जो समझौते से पूर्व के आयात से क़हीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की कपास के अनुपातों के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया, यद्यपि भारत के कपास-उत्पादकों ने इस बात की माँग की थी कि ब्रिटेन द्वारा खरीदी जाने वाली कपास का ६५ प्रतिशत छोटे रेशे की कपास होनी चाहिए। भारतीय गैर-सरकारी सलाहकारों के इस मत के बावजूद भी कि यदि भारतीय कपास-उद्योग पर और अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाया गया तो ब्रिटेन के कपड़ों पर भी प्रतिशुल्क लगा दिया जाएगा, लम्बे रेशे की कपास पर लगा आयात-कर दूना कर दिया गया। इससे भारत के सूती मिल उद्योग का संरक्षण कम हो गया, हाथ से बुनने वाले उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पड़ा और नये व्यापारिक प्रस्तावों के प्रति एक विरोधी धारणा उत्पन्न की गई।

नये समझौते को सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा लगता है कि ओटावा समझौते में काफ़ी सुधार हुआ है। जहाँ तक अधिमानों के पारस्परिक विनिमय का प्रश्न था, कपास के अनुच्छेद (कॉटन आर्टिकल) को छोड़कर इसे न्यायसंगत भी कहा जा सकता था। जहाँ तक लंकाशायर के कपड़े लेने और भारतीय कपास देने का प्रश्न है, भारत के लम्बे रेशे की कपास के आयात के द्विगुणित कर को ध्यान में रखते हुए, समझौता लंकाशायर के पक्ष में बहुत अधिक था।

पक्षों ने एक-दूसरे के प्रति परम अनुगृहीत राष्ट्रों-जैसा व्यवहार करने का निश्चय किया। (२) दोनों देशों ने अपने पास समय-समय पर परिवर्तन करने और नवीन प्रवेश्य-कर लगाने का अधिकार सुरक्षित रखा। यह व्यवस्था रुपये और येन के विनिमय-मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को ठीक करने के लिए की गई थी। (३) जबकि दोनों पक्षों ने इस प्रकार के परिवर्तन के अधिकार अपने पास रखे, वे इस बात पर तैयार थे कि यदि दोनों में से कोई पक्ष चाहे तो दोनों के पारस्परिक हितों के बीच समझौता करने के कार्य में अग्रसर हो सकता है।

मसविदा (प्रोटोकल) के प्रधान अनुच्छेद इस प्रकार थे—(१) भारत में आने वाली वस्तुओं पर लगने वाले प्रवेश्य-कर निम्नलिखित दर से अधिक न होंगे—(क) सादे भूरे कपड़े (प्लेन ग्रेज़) पर मूल्यानुसार ५०% या ५$\frac{१}{४}$ आने प्रति पौण्ड जो भी अधिक हो। (ख) अन्य पर मूल्यानुसार ५०%। (२) मसविदा (प्रोटोकल) में भारत में जापानी माल के आयात और भारत से कपास के निर्यात के लिए कोटा सिस्टम की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारत से प्रतिवर्ष (जो १ जनवरी से प्रारम्भ हो) १० लाख गाँठ कपास खरीदने पर जापान को ३२५० लाख गज कपड़ा प्रतिवर्ष (जो १ अप्रेल से शुरू हो) भेजने का अधिकार था। जापान द्वारा भेजे सूती कपड़े के थानों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया था—(क) सादा भूरा कपड़ा (प्लेन ग्रेज़) ४५%, (ख) किनारेदार कपड़ा (ग्रेज़) १३%, (ग) सफेद (कलफदार) कपड़ा ८%, (घ) रंगीन (रंगा हुआ, छपा हुआ) ३४%।

१२. १९३४ के भारत-जापानी समझौते की कार्य-विधि—१९३४ के समझौते से दोनों देशों के बीच की दुर्भावनाएँ समाप्त हो गईं। इससे कपास के उत्पादकों, व्यापारियों और कुछ अंशों तक मिल-मालिकों को भी राहत मिली। लेकिन सबसे अधिक लाभ भारत के कपास-उत्पादकों को हुआ और कोटा सिस्टम द्वारा वे निश्चित मात्रा से अधिक कपास जापान भेज सके। उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार से स्थानीय कपड़े के उद्योग के लाभान्वित होने की सम्भावना थी, क्योंकि जनता ही स्थानीय कपड़ों की सबसे बड़ी उपभोक्ता है।

भारतीय दृष्टिकोण से १९३४ के जापान-भारत व्यापारिक समझौते को कटु आलोचना का सामना करना पड़ा। देश में यह भावना थी कि भारत इस सौदे से घाटे में रहा। सबसे बड़ा असंतोष कोटा सिस्टम के विषय में था। जुलाई, १९३६ में इस समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध में शुरू हुई बातचीत के दौरान में भारतीय ग़ैर-सरकारी परामर्शदाताओं ने कहा कि इस पद्धति से बचने के अनेक उपाय थे। जापानी तथा जापान में रहने वाले भारतीय व्यापारियों ने इससे पर्याप्त लाभ उठाया। इस प्रकार समझौते का प्रधान उद्देश्य, अर्थात् जापान से आने वाले कपड़े का नियमन, पूरा न हो सका। परित्यक्त टुकड़े (फेण्ट्स)[१] कोटा सिस्टम के अन्तर्गत नहीं थे, अतः इनका व्यापार बहुत बढ़ गया। इसी प्रकार नकली रेशम की वस्तुएँ भी कोटा सिस्टम के अन्दर न थीं, इसलिए वे बड़ी मात्रा में जापान से भारत आने

१. फेण्ट्स कपड़े परित्यक्त टुकड़ों को कहते हैं जिन्हें कम प्रवेश्य-कर पर आयात किया जाता है।

कायम रही और फिर तीन वर्ष के लिए जापान परम अनुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार पाने का अधिकारी हो गया।

कुछ थोड़े-से परिवर्तनों को छोड़कर, जो १ अप्रैल, १९३७ को वर्मा के विभाजन के कारण आवश्यक हो गए थे, संशोधित मसविदा (प्रोटोकल) भी प्रायः पुराने मसविदे-जैसा ही था। जापान द्वारा १० लाख गाँठें खरीदे जाने पर उसके आयात का कोटा अब ३२५० लाख गज़ से घटाकर २८३० लाख गज़ कर दिया गया। यह कमी व्रर्मा-विभाजन के कारण भारतीय बाज़ार के संकुचित होने का परिणाम थी। इसी प्रकार जापानी कपड़े के आयात की उच्चतम सीमा, जो जापान द्वारा कच्ची कपास की १५ लाख गाँठें खरीदे जाने पर आधारित थी, ४००० लाख गज़ से घटाकर ३५८० लाख गज़ कर दी गई।

१९३७ में प्रारम्भ होने वाले समझौते में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं की एकमत सिफ़ारिशों को पूरा स्थान नहीं मिला और मूलतः यह पुराने समझौते से कुछ अधिक अच्छा नहीं था। भारत सरकार यदि चाहती तो जपानी प्रतिस्पर्धा से क्षति-ग्रस्त भारत के नवजात उद्योगों के संरक्षण के लिए अधिक उत्तम शर्तों पर समझौता कर सकती थी, लेकिन गृह-उद्योगों की सुरक्षा की माँग पर ध्यान दिए विना ही व्यापारिक समझौता वैसा ही रहने दिया गया। इस प्रकार दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध पहले-जैसे ही रहे। अतः इस अंश तक समझौता जापान के लिए हितकर रहा था।

जहाँ तक कपास के मसविदे (प्रोटोकल) का प्रश्न था, जो कुछ अन्तर हुआ वह भारत से वर्मा के अलग हो जाने के कारण था। जापान ने वर्मा से दूसरा समझौता कर लिया, जिसके अनुसार वर्मा में आने वाले जापानी कपड़े की मात्रा ४२० लाख गज़ थी। भारत का कोटा इतना ही कम कर दिया गया। ध्यान रहे कि पुराने मसविदे का आधारभूत कोटा कम करते समय वर्मा की आवश्यकताएँ ७०० लाख गज़ अनुमानित की गई थीं। चूँकि वर्मा का कोटा ४२० लाख गज़ ही रखा गया, भारत को वाकी २८० लाख गज़ की खपत करनी पड़ी।

यह कहा गया कि कॉटन फेण्ट्स को कोटे में नहीं शामिल किया गया, हालाँकि उच्चतम सीमा सूती कपड़े के कोटे की २½% अर्थात् ८९,५०,००० गज़ कर दी गई थी।

सिल्क फेण्ट्स और कृत्रिम सिल्क को भी समझौते से वाहर रखने पर कड़ी आलोचना की गई। लेकिन भारतीय सिल्क और कपड़े के उद्योग को १९३७ में वृत्ति विभाग के नोटिफ़िकेशन से लाभ पहुँचा, जिसके अनुसार कृत्रिम सिल्क के फेण्ट्स को भारत में आने से रोका गया और कृत्रिम सिल्क पर एक आना प्रति वर्गगज़ कर लगा दिया गया।

गैर-सरकारी सलाहकारों के कुछ सुझाव स्वीकार नहीं किये गए। उदाहरण के लिए विविध प्रकार की नियमित वस्तुओं, जैसे तौलिया और सूती कम्बल, के लिए अलग कोटे का इन्तज़ाम नहीं किया जा सका और न ही भारत के सीमाप्रान्तों से अफ़ग़ानिस्तान और नैपाल के वाज़ारों को पुनर्नियात करने पर रोक लगाई गई।

दी (जैसे कॉफ़ी, सिगार, कुछ मसाले, साबुन (नहाने के), बूट जूते आदि)। (घ) कुछ वस्तुओं पर विशेष दर से टैक्स लगाने की रिआयत दी गई—सुपारी २०%, शराब (एल बीअर) पर उत्पाद-कर के हिसाब से, तम्बाकू पर १ आना प्रति पौण्ड की दर से, और सिल्क (कृत्रिम) पर १५% के हिसाब से इत्यादि।

(२) **भारत द्वारा बर्मा को दी गई रिआयतें**—(क) भारत ने स्वीकार किया कि बर्मा की कुछ वस्तुएँ बिना किसी कर के भारत में प्रवेश पाएँगी (जैसे रँगने और सिझाने के सामान, गोंद, लाख, लकड़ी, शहतीर, वार्निश किये सामान, कच्चा लोहा, अल्यूमिनियम, जस्ता और सीसा)। (ख) कुछ वस्तुओं पर विशेष दर से कर लगाया जाएगा (जैसे आलू और प्याज ५%, कहवा १०%, सिगार १०%, तम्बाकू (न बनी हुई) १ आना प्रति पौण्ड। (ग) बर्मा से आने वाले मिट्टी के तेल और भारत से जाने वाले कपड़े के कर की अलग व्यवस्था की गई। कपड़े के लिए समझौते में केवल ७½% की व्यवस्था थी, परन्तु बर्मा सरकार ने प्रतिज्ञा की कि इस प्रकार की वस्तुओं पर १०% से अधिक कर न लगाएगी। इसके अतिरिक्त जापानी वस्तुओं पर कोटा सिस्टम कायम रखने से भारत के कपड़ों की स्थिति और दृढ़ हो गई। जहाँ तक मिट्टी के तेल का सम्बन्ध है, अधिमान कम करके ९ पाई प्रति गैलन कर दिया गया, जबकि पहले ११¼ पाई प्रति गैलन था। भारत सरकार ने युद्ध-काल में कुल अधिमान के बराबर अधिभार (सरचार्ज) लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह अधिभार (सरचार्ज) ७ अप्रैल १९४१ को कार्यान्वित किया गया। (घ) यह भी आवश्यक समझा गया कि भारत में आने वाले शहतीर और बर्मा को भेजी जाने वाली चीनी के लिए अलग कर-व्यवस्था की जाए। बर्मा की सरकार ने युद्ध-काल में शहतीर पर निर्यात-कर न लगाने का आश्वासन दिया और भारत से आने वाली चीनी को विशेष सुविधाएँ दीं (जहाँ तक स्थानीय परिस्थितियों में ऐसा कर सकना सम्भव था)। (ङ) चावल और टूटा चावल कर-मुक्त सूची (फ़्री लिस्ट) के अन्तर्गत रखे गए और तब तक बर्मा से आने वाले माल पर चुंगी न लगने की व्यवस्था थी जब तक कि अन्य देशों के माल बिना चुंगी के आते रहे। यदि टूटे चावल पर चुंगी लगे तो १०% का अधिमान दिया जाए। (च) एक देश से दूसरे देश को किये जाने वाले उन निर्यातों के सम्बन्ध में, जिन पर उत्पाद-कर (एक्साइज़ ड्यूटी) लगता है।

१६. द्विपक्षी (बिलेटरल) व्यापारिक समझौतों की नई नीति—व्यापारिक नीति की प्रमुखतम विशेषता विशेष रूप से १९३२ के बाद से, यूरोपीय देशों में अनेक देशों द्वारा कुछ समय के लिए द्विपक्षी व्यापारिक समझौता करने की हो गई है।

अनेक प्रकार के द्विपक्षी-समझौतों में सबसे अधिक प्रचलित निम्न हैं—(१) निकासी-समझौते (क्लियरिंग) तथा (२) क्षतिपूर्ति या अदला-बदली के समझौते (कम्पेंजेशन या बार्टर एग्रीमेण्ट्स)। दूसरे में वस्तुओं का सीधा विनिमय होता है। इस प्रकार चुकता करने की आवश्यकता ही नहीं उठती। इस प्रकार के समझौते दो देशों या व्यक्तियों या फर्मों के बीच हो सकते हैं। निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेण्ट्स) में विनिमय की जाने वाली वस्तुएँ निर्दिष्ट नहीं होतीं। इनका प्रधान उद्देश्य

अधिक होगी, क्योंकि इससे उसका विदेशी व्यापार कम हो जाएगा, निर्यात बढ़ जाएगा और आयात कम हो जाएगा। जर्मनी-जैसे संकटापन्न देशों के लिए आयात का नियंत्रण आवश्यक हो सकता है, लेकिन भारत-जैसे समृद्ध देश द्वारा इस नीति का अनुसरण कोरी हार होगी।

अब भारत की स्थिति विश्व के बाज़ारों में प्रधान खाद्यान्न और कच्चे माल के पूरक की नहीं रही। उदाहरण के लिए अब जर्मनी, जो कि पहले अधिकतर भारत से कच्चा माल खरीदता था, अब उन देशों से खरीद रहा था जिनके साथ निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेंट्स) किये गए थे। इस प्रकार कपास ब्राज़ील, पीरू, टर्की और मिस्र से, चमड़ा दक्षिणी अमेरिका से और तिलहन अर्जेण्टाइना तथा अन्य फ्रेंच उपनिवेशों से खरीदे जाने लगे। इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि इन देशों की मुद्रा-सम्बन्धी अनिश्चितताएँ तथा अनिश्चित आर्थिक स्थिति इनके साथ द्विपक्षी समझौतों के समुचित संचालन में बाधा पहुँचाएगी।

अन्य देशों के साथ भी कितनी ही कठिनाइयाँ थीं। उदाहरण के लिए फ्रांस अपने उपनिवेशों के आयात को प्रोत्साहन दे रहा था और वह चीन की हलकी सुस्वादु चाय को भारतीय चाय की अपेक्षा अधिक पसन्द कर रहा था। संयुक्तराज्य अब भी अपनी एकान्तवादी तिकड़ियों में लगा हुआ था और विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के वाणिज्य और विकास को अधिक महत्त्व दे रहा था। अतएव इन देशों से द्विपक्षी समझौता करने का अवसर कम ही था।

दीर्घकालीन दृष्टिकोण से तो यह कहा जा सकता है कि भारत विश्व से अलग रहकर व्यापारिक इकाई के रूप में अपना महत्त्व नहीं रख सकता। उसे अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए विश्व के बाज़ारों में स्थान ढूँढ़ना पड़ेगा और उसकी समृद्धि अन्ततोगत्वा, विश्व के व्यापारियों की समृद्धि से सम्बद्ध है। अतएव उसका हित विश्व-व्यापार के अबाधित और उन्मुक्त प्रवाह में ही है जिस पर विश्व की समृद्धि निर्भर है।

इसके विपरीत यह कहा गया कि विश्व के समुत्थान और स्वतन्त्र व्यापार के पुनर्स्थापन की बहुत कम आशा है तथा राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता, आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक द्विपक्षीयता कम होने के बजाय घनीभूत ही होगी। इस परिस्थिति में सुरक्षा के लिए भारत को नवीन व्यापारिक नीति का अनुसरण करना होगा और इसका प्रारम्भ भी भारत-जापान, भारत-ब्रिटिश और भारत-बर्मा समझौतों के रूप में हो चुका है।

अन्तरिम आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के पहले सत्र (सेशन) की तैयारी १६४६ तक कर ली थी, किन्तु हवाना चार्टर की स्वीकृति कम होने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जाएगी। आज तक इस संगठन की स्थापना नहीं हुई है और व्यापार तथा निराक्राम्य कर के सामान्य समझौते (जी० ए० टी० टी०—जनरल एग्रीमेण्ट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ्स) के बाद यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन

निर्यात की वस्तुओं की व्यवस्था की गई। इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने चीन को कलकत्ता होकर अपना माल तिब्बत भेजने के लिए सुविधा प्रदान की। इस समझौते के साथ ही एक अलग पैक्ट भी किया गया, जिसमें भारत से ६० लाख पौ० वर्जीनिया तम्बाकू के निर्यात (चीन को) और चीन से ६० लाख पौ० कच्चे रेशम के आयात का प्रबन्ध किया गया। १४ अक्तूबर, १९५४ को समझौता दो वर्ष के लिए किया गया।

प्रतिवर्ष कुछ व्यापारिक समझौतों में संशोधन या अवधि की वृद्धि की जाती है तथा नये समझौते किये जाते हैं। इनका उद्देश्य निर्यात के नये बाज़ार प्रस्तुत करने के साथ भारत के द्विपक्षीय व्यापार के असन्तुलन को दूर करना है। १९५९-६० में अफ़गानिस्तान, बल्गेरिया, चिली, पूर्वी जर्मनी, फ्रान्स, इटली, जोर्डन, पाकिस्तान, पोलैण्ड, रूमानिया, स्विट्ज़रलैण्ड और यूगोस्लेविया के साथ नये समझौते किये गए। इधर हाल में फ्रांस, जोर्डन और स्विट्ज़रलैण्ड के साथ ये व्यापारिक समझौते पहली बार किये गए हैं। ग्रीस, हंगरी, इण्डोनेशिया और वीतनाम के समझौतों की अवधि बढ़ा दी गई। हंगरी के साथ १ जून, १९६० को ३½ वर्ष की अवधि का एक नया समझौता भी किया गया।

इस समय भारत के व्यापार और भुगतान-सम्बन्धी समझौतों की संख्या २४ है।[1]

भारत के व्यापारिक समझौतों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ किये गए समझौते, (२) पश्चिमी यूरोपीय देशों के साथ किये गए समझौते तथा (३) अन्य देशों के साथ किये गए समझौते। प्रथम प्रकार के समझौतों में (जैसा कि रूस, पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी के १९५८ के समझौतों में है) भुगतान की व्यवस्था अपरिवर्तनीय भारतीय रुपयों में है। द्वितीय प्रकार के समझौतों का उद्देश्य भारत के आयात की अधिकता से उत्पन्न असन्तुलन को दूर करना है। इस सम्बन्ध में भारत तथा सम्बन्धित देश के प्रतिनिधियों के संयुक्त आर्थिक आयोग के संगठन का प्रस्ताव भी था।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि व्यापारिक समझौते तथा अन्य सामान्य समझौते, प्रतिनिधिमण्डल न केवल राष्ट्रों के बीच आर्थिक सम्बन्ध बनाते हैं बल्कि इसके साथ-साथ देश के व्यापार को असंगठित बनाते हैं जिससे विदेशी व्यापार के रुख तथा व्यापार के नक्शे पर प्रभाव डाल सकें। १९६४ तथा १९६५ में भारत ने कई नये व्यापारिक समझौते किये तथा पुराने समझौतों के समय को और बढ़ाया। नये समझौते बुलगारिया, दक्षिणी कोरिया, पूर्वी जर्मनी, ईरान, ब्राज़ील तथा अर्जेनटाइना के साथ किये गए। व्यापार समझौतों को फ्रांस, इटली, पाकिस्तान, लंका, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया और जोर्डन इत्यादि देशों के साथ पूर्व अवस्था में लाया गया।

अरब गणराज्य के साथ सितम्बर १९६४ में एक समझौते के अनुसार दोनों

१. देखिए, रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फ़ाइनेन्स, पृ० ९०, १९५९-६०।

अध्याय २१

चलार्थ और विनिमय (भाग १)

१. ब्रिटिश काल से पूर्व भारतीय चलार्थ (करेन्सी)—अकबर के समय से ही चलार्थ के रूप में सोने की मुहर और चाँदी का रुपया दोनों उत्तर भारत में प्रचलित थे, जिनका वज़न १७५ ग्रेन ट्राय था। इन दोनों में कोई निश्चित वैधानिक अनुपात नहीं था, परन्तु प्रत्येक का मुग़ल साम्राज्य के ताँबे के सिक्के (दाम) से निश्चित अनुपात था।[1] दक्षिण भारत, जो कभी भी पूर्णतया मुग़लों के अधीन नहीं रहा, में स्वर्ण ही प्रमुख चलार्थ (करेन्सी) था। हिन्दुओं के शासन में सामान्यतः सोना अधिक पसन्द किया जाता था जबकि मुसलमान चाँदी अधिक पसन्द करते थे। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर, अनेक छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गए। इनमें से बहुत-से राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता को चिह्नित करने के लिए अपनी अलग मुद्राएँ जारी कीं। यद्यपि सिक्के का मूल्य सामान्यतया उतना ही रखा गया, परन्तु परिष्कार और वज़न में वे हर तरह से भिन्न थे। जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में आई, उस समय यहाँ सोने और चाँदी की विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं। अनुमान किया गया है कि उस समय भारत में विभिन्न परिष्कार और वज़न की लगभग ९९४ प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं।[2]

२. प्रथम युग (१८०१-१८३५)—उन्नीसवीं शती में चलार्थ के इतिहास का विभाजन चार कालों में हो सकता है—(१) १८०१-१८३५, (२) १८३५-१८७४, (३) १८७४-१८९३, और (४) १८९३-१९००।[3]

टिप्पणी—भारत की तत्कालीन प्रचलित चलार्थ (करेन्सी) सम्बन्धी अव्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा किये गए पहले प्रयत्न के फलस्वरूप कम्पनी की मुहर लगे हुए सोने और चाँदी के सिक्के साथ-साथ जारी किये गए। इन सिक्कों का वज़न और परिष्कार तथा वैधानिक अनुपात निश्चित था। परन्तु दोनों धातुओं के बाज़ार-मूल्य के उतार-चढ़ाव के कारण इनके अनुपात को बनाए रखना असम्भव था। सरकारी अनुपात के अनुसार सोने का अधोमूल्यन हुआ, अतएव चाँदी ने उसे चलन से हटा दिया। लगभग इसी समय इङ्गलैण्ड में लार्ड लिवरपूल की 'ट्रीटीज़ ऑन दि क्वायन्स ऑफ़ दि रैलम' नामक प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित

---

१. बी० आर० अम्बेदकर, 'दि प्राब्लम ऑफ़ दि रुपी', पृ० ३।
२. एच० डी० मैक्लायड, 'इण्डियन करेन्सी', पृ० १३।
३. शिराज़, 'इण्डियन फ़ाइनेन्स एण्ड बैंकिंग', पृ० ९३।

न था। बैंकिंग भी अभी अव्यवस्थित ही था। नवम्बर, १८६४ में भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की, जिसके अनुसार सरकारी खज़ानों पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये के भाव से स्वीकार की जाने लगी तथा भारत सरकार सुविधानुसार अपने ऋणदाताओं की इच्छानुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन में ऋण चुकाती थी। १८६६ में कलकत्ता व्यापार-मण्डल ने स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) अपनाने के लिए पुनः ज़ोर दिया। भारत सरकार ने मैन्सफ़ील्ड आयोग की नियुक्ति की। भारतीय करेन्सी की समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर नियुक्त समितियों और आयोगों में यह सर्वप्रथम था। इन आयोगों और समितियों ने भारतीय चलार्थ के दोषों को दूर करने लिए अनेक विरोधात्मक उपाय बताए। मैन्सफ़ील्ड आयोग ने सिफारिश की कि (१) १५, १० और ५ रुपये का सोने का सिक्का जारी करना चाहिए, क्योंकि जनता ऐसे सिक्कों को इन्हीं मूल्य के नोटों की अपेक्षा अधिक पसन्द करेगी तथा स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) नोट के प्रचलन का मार्ग प्रशस्त करेगा। (२) चलार्थ सोने, चाँदी और कागज़ का होगा। १८६८ में एक अधिसूचना जारी की गई, जिसके द्वारा सावरेन और अर्द्ध-सावरेन स्वीकार करने की दर क्रमशः दस रुपये आठ आने और पाँच रुपये चार आने कर दी गई, क्योंकि पहली (दस रुपये, पाँच रुपये) बाज़ार दर के अनुरूप नहीं थी और फलस्वरूप सरकारी खज़ाने के लिए पर्याप्त सोना आकृष्ट करने में असमर्थ रही। मैन्सफील्ड आयोग का कोई हवाला न देते हुए भारत सरकार ने यह कदम उठाकर अन्ततः सोने को वैधानिक मुद्रा बनाने की इच्छा प्रदर्शित की। सोने को वैधानिक मुद्रा मानने की गलती और उसका परिणाम स्वीकार करने से पहले सरकार भारत में सोने और चाँदी के सापेक्षिक अर्घ को निश्चित कर लेना चाहती थी। १८७२ में सर रिचार्ड टेम्पल ने एक टिप्पणी में भारत सरकार को यह सुझाव दिया कि वास्तव में भारत में स्वर्ण प्रमाप तथा करेन्सी की आवश्यकता थी तथा सोने और चाँदी की दर निश्चित करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की सिफारिश की। गवर्नर जनरल की परिषद् इस प्रश्न पर एकमत नहीं थी और भारत सरकार द्वारा इस प्रस्ताव की अस्वीकृति के साथ १८७४ में भारतीय चलार्थ (करेन्सी) के इतिहास का द्वितीय काल समाप्त हो गया।

४. तृतीय काल (१८७४-९३)—१८७४ तक द्रव्य के रूप में चाँदी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन प्रारम्भ हो चुका था। १८७३ में जर्मनी ने चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया। १८७४ में स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क ने चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालों को बन्द कर इसी मार्ग का अनुसरण किया। लैटिन यूनियन के देशों ने भी इनका साथ दिया और इसके फलस्वरूप बाज़ार में चाँदी की बहुतायत हो गई। नई खानों एवं परिष्कृत विधाओं के कारण चाँदी की उत्पत्ति खूब बढ़ी। भारत में मूल्यों की वृद्धि की सुनिश्चित प्रवृत्ति का कारण अत्यधिक टंकन था। मूल्यों की वृद्धि सन् १९०० के बाद अधिक स्पष्ट हुई। चाँदी का मूल्य १८७५ में ५८ पैंस प्रति औंस से घटकर १८७९ में ५२$\frac{3}{4}$ पैंस प्रति औंस, १८८८ में ४३ पैंस प्रति औंस, १८९२ में ३७$\frac{1}{2}$ पैंस प्रति औंस तथा १८९९ में २७ पैंस प्रति औंस रह गया। चाँदी के अधोमूल्यन

वित्तीय कठिनाइयाँ, (२) भारत की जनता और वाणिज्य पर विनिमय-दर के कम होने के कुप्रभाव और (३) विनिमय-दर के गिराव के कारण भारत में यूरोपीय अफ़सरों की कठिनाइयाँ।

६. भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयाँ[1]—भारत सरकार की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इसको इंगलैण्ड के प्रति अपनी स्वर्ण देनदारियों, उदाहरणार्थ गृह-व्यय (होम चार्जेज़), के लिए प्रतिवर्ष काफी रुपया देना पड़ता था। इसके वास्तविक प्रभाव रुपये के स्वर्ण-मूल्य से निश्चित होते थे। यह मूल्य १८७४ तक लगातार कम होता गया और उसके बाद भी गिरने की आशंका बनी रही। १८८८ से १८९३ तक गर्वनर जनरल की परिषद् के वित्तीय सदस्य सर डेविड बार्बर ने भारत की इस कठिनाई का इस प्रकार वर्णन किया है—"हमारी वित्तीय कठिनाइयों का तात्कालिक कारण सोने की तुलना में चाँदी का अधिमूल्यन था, जिसके फलस्वरूप गत दो वर्ष में भारतीय व्यय ४ करोड़ रुपये और बढ़ गया। यदि यह अवमूल्यन रोका जा सके और इंगलैण्ड के साथ विनिमय-दर स्थायी रूप से वर्तमान आँकड़ों पर भी निश्चित की जा सके, तो वर्तमान घाटे की समस्या का हल अपेक्षाकृत सरल हो जाए। आगामी वर्ष में हमारी वित्तीय स्थिति विनिमय तथा उन लोगों की स्थिति पर निर्भर है जो किसी भी भाँति चाँदी के मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। यदि हम १५,९५,१०० रुपये के घाटे का बजट तैयार करें और विनिमय-दर एक पैंस ही बढ़ जाए तो हमें काफ़ी बचत होगी और यदि एक पैंस और कम हो जाए तो ३ करोड़ से अधिक का घाटा होगा। यदि हम १½ करोड़ रुपये का कर लगाएँ तो समय-चक्र इतने ही रुपये का कर बार-बार लगाने को बाध्य करेगा और हमें बाद में ज्ञात होगा कि कर की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

७. विनिमय-दर की गिरावट का भारतीय जनता पर प्रभाव[2]—पौण्ड देनदारियों को चुकता करने के लिए सरकार को अधिक रुपयों की आवश्यकता थी, जिसके कारण रुपये में और अधिक कर लगाया गया। विनिमय की गिरावट के कारण स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत निश्चित मालगुज़ारी देने वालों का भार कुछ कम हो गया और इसी प्रकार उन लोगों का भी भार कम हो गया जिनकी मालगुज़ारी का बन्दोबस्त अभी हाल में नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त बढ़े हुए नमक-कर से लोगों को बहुत कठिनाई हुई और उन लोगों पर कर और अधिक भारी हो गया जो लोग रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण ऊँचे मूल्यों से त्रस्त हो चुके थे।

आयात और निर्यात की क्रमशः स्थायी हानि और लाभ को छोड़ देने पर भी राज्य की निर्बाधता के विरुद्ध प्रमुख तर्क यह था कि भारतवर्ष के आयात का ७४% सोना प्रयोग करने वाले देशों से और २६% चाँदी प्रयोग करने वाले देशों से आती थी[3]। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से घनिष्ठ वित्तीय और वाणिज्य सम्बन्ध

---

१. हर्शेल कमेटी रिपोर्ट, पैरा ३-६।

२. पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, पैरा ३२-३४।

३. इसके लिए ई० डब्ल्यू० की 'माडर्न करेन्सी रिफार्म्स', पृ० २७-२८ देखिए।

वित्तीय कठिनाइयाँ, (२) भारत की जनता और वाणिज्य पर विनिमय-दर के कम होने के कुप्रभाव और (३) विनिमय-दर के गिराव के कारण भारत में यूरोपीय अफ़सरों की कठिनाइयाँ।

६. भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयाँ[1]—भारत सरकार की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इसको इंगलैण्ड के प्रति अपनी स्वर्ण देनदारियों, उदाहरणार्थ गृह-व्यय (होम चार्जेज़), के लिए प्रतिवर्ष काफी रुपया देना पड़ता था। इसके वास्तविक प्रभाव रुपये के स्वर्ण-मूल्य से निश्चित होते थे। यह मूल्य १८७४ तक लगातार कम होता गया और उसके बाद भी गिरने की आशंका बनी रही। १८८८ से १८९३ तक गवर्नर जनरल की परिषद् के वित्तीय सदस्य सर डेविड बार्बर ने भारत की इस कठिनाई का इस प्रकार वर्णन किया है—"हमारी वित्तीय कठिनाइयों का तात्कालिक कारण सोने की तुलना में चाँदी का अविमूल्यन था, जिसके फलस्वरूप गत दो वर्ष में भारतीय व्यय ४ करोड़ रुपये और बढ़ गया। यदि यह अवमूल्यन रोका जा सके और इंगलैण्ड के साथ विनिमय-दर स्थायी रूप से वर्तमान आँकड़ों पर भी निश्चित की जा सके, तो वर्तमान घाटे की समस्या का हल अपेक्षाकृत सरल हो जाए। आगामी वर्ष में हमारी वित्तीय स्थिति विनिमय तथा उन लोगों की स्थिति पर निर्भर है जो किसी भी भाँति चाँदी के मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। यदि हम १५,९५,१०० रुपये के घाटे का बजट तैयार करें और विनिमय-दर एक पैंस ही बढ़ जाए तो हमें काफ़ी बचत होगी और यदि एक पैंस और कम हो जाए तो ३ करोड़ से अधिक का घाटा होगा। यदि हम १$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये का कर लगाएँ तो समय-चक्र इतने ही रुपये का कर बार-बार लगाने को बाध्य करेगा और हमें बाद में ज्ञात होगा कि कर की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

७. विनिमय-दर की गिरावट का भारतीय जनता पर प्रभाव[2]—पौण्ड देनदारियों को चुकता करने के लिए सरकार को अधिक रुपयों की आवश्यकता थी, जिसके कारण रुपये में और अधिक कर लगाया गया। विनिमय की गिरावट के कारण स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत निश्चित मालगुज़ारी देने वालों का भार कुछ कम हो गया और इसी प्रकार उन लोगों का भी भार कम हो गया जिनकी मालगुज़ारी का बन्दोबस्त अभी हाल में नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त बढ़े हुए नमक-कर से लोगों को बहुत कठिनाई हुई और उन लोगों पर कर और अधिक भारी हो गया जो लोग रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण ऊँचे मूल्यों से त्रस्त हो चुके थे।

आयात और निर्यात की क्रमशः स्थायी हानि और लाभ को छोड़ देने पर भी राज्य की निर्बाधता के विरुद्ध प्रमुख तर्क यह था कि भारतवर्ष के आयात का ७४% सोना प्रयोग करने वाले देशों से और २६% चाँदी प्रयोग करने वाले देशों से आती थी[3]। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से घनिष्ठ वित्तीय और वाणिज्य सम्बन्ध

१. हर्शल कमेटी रिपोर्ट, पैरा ३-६।
२. पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, पैरा ३२-३४।
३. इसके लिए ई० डब्ल्यू० की 'माडर्न करेन्सी रिफार्म्स', पृ० २७-२८ देखिए।

इन व्यवस्थाओं के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—प्रथम, रुपये के विनिमय-मूल्य को ऊपर उठाना या उसके गिराव को रोकना। द्वितीय, विदेशी पूंजी के आयात को प्रोत्साहित करना। तृतीय, स्वर्ण-सावरेन के प्रयोग से लोगों को परिचित कराना; और अन्तिम चांदी के प्रयोग से लोगों को हतोत्साहित करना। सामान्यतः ये स्वर्ण-प्रमाप को उठाने के लिए पहले कदम थे और इनका उद्देश्य भारत को स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से तुरन्त सम्बद्ध करना था। स्वर्ण-प्रमाप की स्थापना के पूर्व एक संक्रमण-काल आवश्यक था।

११. फाउलर समिति (१८९८)—१८९३ के बाद चलार्थ की स्थिति निश्चय ही संक्रमणकालीन और अस्थायी थी तथा कुछ निश्चित कार्यवाही करना अब भी शेष था। कुछ समय के लिए कौंसिल बिलों की बिक्री रोक देने और टकसालों को बन्द कर देने के कारण द्रव्य बाज़ार में रुपये की कमी हो जाने से वाणिज्यिक समाज को बड़ी कठिनाइयों का अनुभव हुआ और उनके प्रदर्शनों ने शीघ्र ही कार्यवाही करना आवश्यक कर दिया। इस बीच धीरे-धीरे रुपये का विनिमय-मूल्य बढ़ रहा था[1] और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो भारतीय चलार्थ को स्वर्ण पर आधारित करने का समय आ गया हो। फलस्वरूप १८९८ में फाउलर समिति की नियुक्ति हुई।

समिति के समक्ष उपस्थित प्रस्तावों में से बंगाल बैंक के कोषाध्यक्ष और उपसचिव श्री ए० एम० लिण्डसे की योजना विशेष रूप से चर्चा योग्य है। इस योजना की महत्ता इस बात में है कि यह बाद में पेश की गई योजना से बहुत मिलती-जुलती थी। इस योजना ने इंगलैण्ड में १०७ लाख पौण्ड के दीर्घकालीन ऋण लेने और उसे इंगलैण्ड में ही स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित (गोल्ड-स्टेण्डर्ड रिज़र्व) कोष के रूप में रखने की सिफारिश की।

लन्दन में कम-से-कम १५,००० रु० के ड्राफ्ट १ शि० ४$\frac{१}{१६}$ पैं० प्रति रुपये की दर से प्रार्थियों को बेचने की व्यवस्था थी जो बम्बई और कलकत्ता में भुनाए जा सकते थे। स्टर्लिंग ड्राफ्ट के विक्रय से यदि भारत में रुपये की अधिकता हो जाती थी और इंगलैण्ड का सुरक्षा-कोष रिक्त हो जाता था, तो अधिक रुपया स्वर्ण-पिण्ड की तरह बेच दिया जाता था और प्राप्त राशि लन्दन के सुरक्षित स्वर्ण-कोष में जमा कर दी जाती थी। यदि भारत में रुपये का भण्डार अपर्याप्त होता तो भारत में रुपया बनाने के लिए लन्दन के सुरक्षित स्वर्ण-कोष से खरीदकर चांदी भेज दी जाती थी। इस योजना का यह आशय था कि भारत का माध्यम रुपया रहे और सोना कानूनी मुद्रा न हो। फाउलर समिति ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उन्हें भय था कि इसके अपनाने से भारत में पूंजी का प्रभाव, जिस पर देश की आर्थिक उन्नति निर्भर है, रुक जाएगा। भारत में इस प्रथा को स्थायी बनाने का भी उन्होंने विरोध किया, क्योंकि वह भारत के स्वर्ण-प्रमाप को सदा के लिए लन्दन में कुछ लाख

---

१. रुपये का १८९४ में औसत विनिमय मूल्य १ शि० १$\frac{१}{८}$ पैं० था। १८९८ में बढ़कर १ शि० ४ पैंस हो गया।

विस्तार और जनसंख्या में वृद्धि के कारण अत्यधिक अनुभव की जाने लगी। इस परिस्थिति के शमन के लिए १८९८ का एक्ट अस्थायी उपाय के रूप में पास हुआ। इस कानून के अन्तर्गत भारत सचिव द्वारा कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त राशि भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में सोने में रखी जा सकती थी। इस प्रकार सुरक्षित सोने के आधार पर भारत सरकार नोट जारी कर सकती थी और कोष की धनराशि को कम किये बिना भारत-सचिव के ड्राफ्टों को इन नोटों से खरीद सकती थी।[1] इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत सरकार के रुपयों के भण्डार की कमी बढ़ती गई।

(२) **नोट और रुपये जारी करना**—१९०० में भारत सरकार ने लाचार होकर बड़े पैमाने पर टंकन क्रिया को फिर आरम्भ किया। इसके लिए अपेक्षित चाँदी लन्दन के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के सोने से खरीदी गई। १८९८ का संकट पूर्णतया अस्थायी था। उसके अनुसार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा किया गया सोना भारत-सचिव के पास इंगलैण्ड में रहेगा, जब तक कि वे स्वयं इसे भारत न भेज दें अथवा भारत सरकार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त सोने के आधार पर जारी किये गए नोटों के बराबर सिक्के करेन्सी रिज़र्व के भाग के रूप में अलग रखकर सोना न माँग ले। सर्वप्रथम यह कानून ढाई वर्ष के लिए बढ़ाया गया और १९०० में पुनः दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। इस प्रकार प्राप्त हुए सोने से भारत में सिक्का बनाने के लिए चाँदी खरीदने और उसे पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में स्वीकार करने का अधिकार भारत-सचिव को था। इस प्रकार इंगलैण्ड में स्वर्ण सुरक्षित कोष के तीन स्पष्ट उद्देश्य थे—(क) इससे आवश्यकता पड़ने पर टंकन के लिए चाँदी खरीदने हेतु लन्दन में धन मिल सकता था। (ख) व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने तथा कौंसिल बिलों का विक्रय असम्भव अथवा अलाभप्रद होने पर भारत को विदेशी विनिमय में सहायता मिल सकती थी। ऐसी परिस्थितियों में भारत-सचिव अपने व्यय को पूरा करने के लिए पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से सोना ले लेगा और समान राशि स्थानांतरित कर दी जाएगी।[2] (ग) अन्तिम, यह एक ऐसा कोष था जिसमें विनिमय-दर को अनावश्यक रूप से ऊँचा होने से रोकने तथा भारत के लिए अवांछनीय प्रवाह बन्द करने के लिए भारत-सचिव अपनी आवश्यकता से अधिक कौंसिल बिल बेचकर राशि जमा कर सकता था। इस जमा की हुई राशि के आधार पर भारत में नोट जारी किए जाते थे।

---

१. जैसा कैमरर ने कहा है, यह उपाय व्यवहारतः सरकार द्वारा लिंडसे योजना को अपनाने के बराबर था (जिसे एक साल बाद फाउलर समिति की सिफारिशों पर अस्वीकार कर दिया गया)। इसका अर्थ लन्दन में भारत-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के आधार पर विक्रय करना था (उन दरों पर जो व्यवहारतः लन्दन का स्वर्ण निर्यात-बिन्दु प्रदर्शित करती थीं तथा जिनका प्रमुख उद्देश्य भारत में द्रव्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करेन्सी प्राप्त करना था)—कैमरर, पूर्व उद्धृत, पृ० १०२।

२. देखिए, सेक्शन १४।

जून १९०७ में भारतीय रेलवे वित्त-सम्बन्धी मैके समिति ने सिफारिश की कि १९०७ में रुपये के टंकन में हुए लाभ में से १० लाख सावरेन रेलों पर खर्च किया जाए। भारत-सचिव ने इस समिति की सिफारिश के आगे यह निर्णय किया कि जब तक स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष २०० लाख पौण्ड तक न पहुँच जाए, रुपये के टंकन से हुए लाभ का आधा रेलों पर खर्च किया जाएगा।

१४. १९०७ और १९०८ का संकट—भारत के कुछ भागों में फसलों के आंशिक रूप से खराब होने तथा अन्य भागों में यथार्थतः अकाल पड़ जाने के कारण भारतीय निर्यात कम हो गए। यूरोप में भी उन्नति-काल के बाद, जो १९०७ में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, अवनति का प्रारम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप व्यापारिक मन्दी और बेकारी फैलने लगी। इस प्रकार यूरोप की क्रय-शक्ति नष्ट हो गई और सामान्य द्राव्यिक कठिनाई के कारण परिस्थिति और खराब हो गई। यह कठिनाई न्यूयार्क में वित्तीय संकट से उत्पन्न हुई थी, जबकि जूट, रुई और गेहूँ इत्यादि के भारतीय निर्यात कम हो गए। चाँदी का आयात, विशेषकर उसकी कीमत में काफी कमी आ जाने से बढ़ गया। इन सभी कारणों के फलस्वरूप भारत की विदेशी विनिमय-स्थिति और खराब हो गई। सावरेन भण्डार शीघ्रता से घटने लगा और विनिमय बैंकों ने इंगलैण्ड के तार द्वारा स्थानान्तरण (टेलिग्राफिक ट्रान्सफर) के विक्रय पर जोर दिया। सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से कुछ शर्तों पर सोना देना स्वीकार किया। एक व्यक्ति को एक दिन में १०,००० पौण्ड से अधिक सोना नहीं दिया जा सकता था। स्थिति और खराब हो जाने पर भारत-सचिव ने भारत सरकार को टेलिग्राफिक ट्रान्सफर या रिज़र्व कौंसिल को १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० प्रति रुपये की दर से बेचने की राय दी और भारत के कोषों (ट्रेज़री)[१] से लन्दन में पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को रुपया स्थानान्तरित करने के बदले उसी कोष में से सोना दिया। उन्होंने रिज़र्व कौंसिल की भुगतान की माँग को स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को बाज़ार में बेचकर पूरा किया, यद्यपि इन प्रतिभूतियों का अधोमूल्यन हो चुका था। इन साधनों से सुधार हुआ और दूसरे वर्ष विनिमय-दर १ शि० ४ पैं० पर स्थिर हो गई जिसका प्रधान कारण समुत्थान था।

१५. स्वर्ण प्रमाप अथवा स्वर्ण विनिमय प्रमाप—संकट का सामना करने के लिए सरकार ने जाने-अनजाने में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप की दिशा में कदम उठाए। सर्वप्रथम आन्तरिक प्रयोग के लिए रुपये के बदले सोना स्वतन्त्र रूप से दिया गया; परन्तु व्यक्तिगत रूप से सोना बाहर भेजने के सम्बन्ध में बहुत अनिच्छा प्रगट की गई। इससे प्रकट था कि सरकार ने अभी तक अच्छी प्रकार न विचार ही किया था और न निश्चित रूप से स्वर्ण विनिमय प्रमाप को अपनाया ही था। लेकिन बाद में रिज़र्व कौंसिल की बिक्री ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जिसने भारतीय करेन्सी को लिण्डसे योजना के समीप ला दिया। लन्दन के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के स्वर्ण निक्षेपों के बदले

---

१. भारत के कोषों से तात्पर्य इण्डियन ट्रेज़रीज़ से है।

रखा जाए जिसके बारे में विचार किया जा रहा था।

१६. स्वर्ण विनिमय प्रमाप का स्वरूप—स्वर्गीय लार्ड केन्स ने, जो इस पद्धति के योग्यतम व्याख्याकर्ताओं में से थे तथा जिसका विकास ऊपर किया जा चुका है और जो १८९८-९९ से १९१५-१६ तक भली-भाँति कार्यशील रही, संक्षेप में निम्न विशेषताएँ वताई हैं—(१) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है, विधानतः अपरिवर्तनीय है, (२) सावरेन भी १ पौण्ड=१५ रुपये की दर से असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है और जब तक १८९३ की अधिसूचना वापस नहीं ली जाती तब तक वह इसी पर परिवर्तनीय है, अर्थात् सरकार को १ पौण्ड के बदले १५ रुपये देने पड़ेंगे, (३) शासन की दृष्टि से सरकार इस दर पर रुपये के बदले सावरेन देगी, परन्तु यह कार्य कभी-कभी रोका भी जा सकता है और रुपये के बदले यथेष्ट मात्रा में सोना सदैव प्राप्त नहीं किया जा सकता, और (४) शासन प्रवन्ध के विचार से सरकार लन्दन में रुपये के बदले में चुकता होने वाले बिलों को १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० प्रति रुपया की दर से कलकत्ता में बेचेगी।

इन प्रस्तावों में चौथा प्रस्ताव रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को सहायता देने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसे ठीक रखने के लिए सरकार ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, फिर भी इस सम्बन्ध में असफलता उनकी पद्धति को एकदम छिन्न-भिन्न कर देगी।

इस प्रकार द्वितीय प्रस्ताव रुपये के १ शि० ४ पैं० के स्टर्लिंग मूल्य को भारत में सावरेन भेजने के खर्चे से अधिक नहीं बढ़ने देगा और चौथा प्रस्ताव उसे १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० से नीचे गिरने से रोकेगा।

स्वर्ण विनिमय प्रमाप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि स्वर्ण प्रमाप और स्वर्ण करेन्सी से कहीं अधिक सस्ता होने के साथ ही यह स्वर्ण करेन्सी के सभी लाभों से पूर्ण है। यह स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रधान उद्देश्य रुपये और सोने का संतुलन बनाये रखना था। जिस समय विनिमय निर्बल होता उस समय तो सरकार स्टर्लिंग (रिवर्स कौंसिल) बेचने लगती और जब रुपये का मूल्य बढ़ता, तो वह स्थानीय (करेन्सी कौंसिल बिल) बेचने लगती। सरकार के ऐसे हस्तक्षेप का प्रभाव सोने और रुपयों के सुरक्षित कोष के पर्याप्त होने पर निर्भर था।

१७. कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा—१९१४ तक रिवर्स कौंसिल और कौंसिल बिल स्वर्ण विनिमय प्रमाप के महत्त्वपूर्ण अंग बन चुके थे, परन्तु सरकार रिवर्स कौंसिल बेचने के लिए कभी भी विधानतः बाध्य नहीं थी। इसके अतिरिक्त उन्हें बेचने के अवसर भी बहुत काम आए, परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, कौंसिल ड्राफ्ट पद्धति कौंसिल बिल और टेलिग्राफिक, ट्रान्सफर भारतीय करेन्सी विनिमय और वित्त के प्रबन्ध का आधार रही है।

भारत में हुंडियाँ (बिल्स ऑफ एक्सचेंज) बेचकर धन एकत्र करने की प्रथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से प्रचलित थी।[१] १८९३ तक नियम के रूप में कौंसिल

१. यह विवरण 'चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट' से संक्षिप्त रूप में लिया गया है, पैरा १७०-७६।

(१) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थायी आधार पर स्थापित करना भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। (२) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने के लिए अपनाये हुए उपाय १८९८ की समिति की सिफारिशों के उतने अनुरूप नहीं थे जितने कि उसके पूरक थे। (३)१९०७-८ के संकट-काल में इनकी खूब परीक्षा हुई और उस समय इन्हें सन्तोषजनक पाया गया। ऐसे संकट-काल का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार योजनाओं तथा अनुभव के अभाव में सरकार ने प्रारम्भ में कुछ गलतियाँ अवश्य कीं। उदाहरण के लिए भारत कार्यालय (इण्डिया ऑफ़िस) का विश्वास था कि कौंसिल बिल न बिकने पर लन्दन में भारत-सचिव की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का एकमात्र अथवा प्रमुख उद्देश्य था, जबकि भारत सरकार ने पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में निर्यात के लिए सोना न देने की गलती की, यद्यपि आन्तरिक सोने के खर्च पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दोनों ही अधिकारी इस बात को नहीं समझ सके कि सुरक्षित स्वर्ण कोष का प्रमुख उपयोग विनिमय के स्वर्ण बिन्दु से नीचे हो जाने पर विदेश भेजने के लिए सोने को स्वतन्त्र रूप से प्राप्य बनाना है। व्यवहार में गलतियाँ बड़ी जल्दी सुधार ली गई। विनिमय-दर को पूर्व स्थिति पर लाने और बनाए रखने के लिए उठाये गए कदम अपर्याप्त सिद्ध हुए। (४) गत १५ वर्ष का इतिहास साक्षी है कि स्वर्ण मुद्रा का सक्रिय चलन स्वर्ण प्रमाप की अनिवार्य दशा नहीं है, क्योंकि इस दशा के बिना भी स्वर्ण प्रमाप दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। (५) आन्तरिक प्रचलन के लिए सोने के अधिक प्रयोग को प्रोत्साहित करना भारत के लिए हितकर नहीं था। (६) भारत की जनता करेन्सी के रूप में प्रचलन के लिए न तो सोना चाहती थी और न वह अपेक्षित ही था। भारत की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्ततम करेन्सी रुपये और नोटों की थी। (७) करेन्सी या विनिमय हेतु स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की कोई आवश्यकता नहीं थी; परन्तु, यदि भारतीय भावनाएँ इसकी माँग करें और भारत सरकार खर्च सहने के लिए तैयार हो तो भारतीय अथवा शाही—किसी भी दृष्टि-कोण से इसे स्थापित करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए, बशर्ते कि टंकित सिक्का सावरेन या अर्ध-सावरेन हो। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसमें भारतीय भावनाओं के अनुरूप कार्य होना चाहिए। (८) यदि स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की स्थापना नहीं होती तो बम्बई की टकसाल पर करेन्सी के बदले परिष्कृत सोना स्वीकार किया जाए। (९) सरकार का उद्देश्य जनता को करेन्सी का वह रूप प्रदान करना होना चाहिए जो वह माँगती हो, चाहे वह रुपयों के रूप में हो अथवा नोट और सोने के रूप में, परन्तु नोट का प्रयोग प्रोत्साहित करना चाहिए। (१०) इस आन्तरिक करेन्सी को विनिमय कार्यों के लिए स्वर्ण और स्टर्लिंग पर्याप्त सुरक्षित कोष से सहायता देनी चाहिए। (११) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की कोई निश्चित सीमा नहीं होनी चाहिए। जब तक कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष स्वयं भार सहने योग्य न हो जाए तब तक पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष पर ही भरोसा करना चाहिए (१२) रुपयों के टंकन का लाभ कम-से-कम कुछ समय तक केवल सुरक्षित कोष में जमा करना

सामान्यतः सभी व्यापार तथा व्यवसाय ग्रस्त-व्यस्त हो गए। इसके प्रधान लक्षण विनियम की निर्बलता, सेविंग्स बैंक में जमा रुपयों को निकालना, नोटों के भुगतान की माँग तथा भारत के स्वर्ण भण्डार की अत्यधिक माँग होना है।

लड़ाई के पहले दो महीनों में ही सेविंग्स बैंक में जमा २४½ करोड़ रुपये में से ६ करोड़ रुपया निकाल लिया गया। १९१५-१६ में समय बदलने तक निकाले हुए रुपयों की मात्रा ८ करोड़ हो चुकी थी। रुपया निकालने की माँग को स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा किया गया, जिससे पुनः विश्वास उत्पन्न करने और निक्षेप आकर्षित करने में बड़ी सहायता मिली। ये निक्षेप पुनः १९१८-१९ तक १८ करोड़ रुपये हो गए (अर्थात् पूर्व राशि से ६½ करोड़ रुपये कम रहे)।

नोटों के रुपयों में भुगतान की माँग भी पूरी की गई। मार्च, १९१५ तक १० करोड़ रुपये के नोट खज़ानों को वापस किये गए, परन्तु उसके बाद नोटों के प्रचलन में लगातार वृद्धि हुई।

अन्तिम, भारत के स्वर्ण भण्डार की माँग नोटों के बदले सोना माँगने के रूप में बढ़ गई। इस प्रकार प्राप्त सोने के आन्तरिक प्रयोग के लिए बरती हुई सावधानियाँ व्यर्थ सिद्ध हुई। व्यक्तिगत कार्य के लिए सोना देना एकदम बन्द कर दिया गया और उसके बाद नोटों का भुगतान केवल चाँदी के सिक्कों में ही किया जाने लगा।

प्रथम काल के अन्त तक ये लक्षण लुप्त हो गए। सरकार ने परिस्थिति का सामना साहस और सफलता के साथ किया। बैंकिंग और व्यावसायिक समाज को धन विदेश भेजने हेतु सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लगातार पर्याप्त सुविधा प्रदान करने का आश्वासन और नोटों को रुपयों में भुगतान करने की तत्परता से जनता में शीघ्र ही विश्वास पैदा हो गया।

२०. द्वितीय काल (फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक)—युद्ध के प्रथम धक्के के समाप्त हो जाने के बाद करेन्सी यन्त्र कुछ समय के लिए बड़ी स्निग्धता से काम करता रहा। १९१६ के अन्त में गम्भीर जटिलता पैदा हो गई। चाँदी का मूल्य बड़ी तेज़ी से बढ़ता जा रहा था, इसीलिए भारत में चाँदी के सिक्कों की भारी माँग को पूरा करने के लिए उसे प्राप्त करने की कठिनाइयाँ भी बढ़ती जाती थीं।

भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार की ओर से भारी व्यय करने के कारण परिस्थिति और जटिल हो गई। १९१४ से दिसम्बर, १९१९ तक युद्ध के पूर्वी रंग-मंचों में सैनिक आवश्यकताओं और अधिकृत क्षेत्रों में नागरिक व्यय के ऊपर २४०० लाख पौण्ड खर्च किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ डोमिनियम और उपनिवेश तथा भारतीय उत्पत्ति के अफ्रीकी आयातकर्ताओं की ओर से की गई खरीद के अर्थ-प्रबन्धन के लिए भी इन्तज़ाम करना था।

इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि करेन्सी की माँग बहुत बढ़ गई। विदेशी सरकारों द्वारा बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने के फलस्वरूप उनके आयात में हुई कमी ने समस्या को और जटिल बना दिया। अनुकूल सन्तुलन

तम हो गया, जबकि लन्दन में चाँदी का भाव ८९ पैंस प्रति औंस हो गया।

२२. सरकार द्वारा किये गए उपाय—(१) सरकार का विनिमय पर नियन्त्रण—युद्ध के प्रथम धक्के सह लेने के बाद कौंसिल बिलों की माँग निर्यात-व्यापार के समुत्थान के साथ पुनः उत्पन्न हो गई। अक्तूबर, १९१६ तक निर्यात स्पष्ट रूप से साधारण ही रहा। उसके बाद व्यापारिक सन्तुलन की अनुकूलता बढ़ने के साथ बढ़ता गया। इसका विस्तार सोने के आयात द्वारा सम्भव नहीं था। इससे भारत में रुपये का सुरक्षित कोष खाली हो गया, जिससे नोटों की रुपयों में परिवर्तनशीलता संदिग्ध हो गई। अतएव दिसम्बर, १९१६ में कौंसिल बिल की बिक्री पर नियन्त्रण लगाया गया और इण्टरमिडियेट कौंसिल बिलों की बिक्री बन्द कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप बाज़ार और सरकारी विनिमय-दर में अन्तर हो गया। यह निर्यात-व्यापार के लिए हानिकारक था, परन्तु युद्ध के सफल संचालन के लिए निर्यात-व्यापार को अबाध रूप से बनाए रखना भी अति आवश्यक था। इसलिए सरकार ने कुछ नियंत्रण के उपायों से काम लिया तथा जनवरी, १९१७ में विनिमय-दर १ शि० ४$\frac{१}{४}$ पैंस निश्चित कर दी गई। कौंसिल बिलों की बिक्री कुछ चुनी हुई बैंकों और फर्मों तक सीमित कर दी गई, जिन्हें नियत दरों पर एक तीसरी पार्टी से व्यापार करना पड़ता था और अपने साधनों को कुछ चुनी हुई वस्तुओं के निर्यात-व्यापार में लगाना पड़ता था, जो मित्र-राष्ट्रों के लिए भी महत्त्वपूर्ण थीं। नियंत्रण के उपायों और बैंकों के सहयोग से विनिमय के चढ़ाव-उतार कुछ समय के लिए बन्द हो गए।

(२) विनिमय-दर की वृद्धि—अगस्त, १९१७ में विनिमय-दर बढ़ाकर १ शि० ५ पैंस कर दी गई और कुछ समय पश्चात् भारत-सचिव ने चाँदी के स्टर्लिंग मूल्य पर विनिमय-दर को आधारित करने की घोषणा की।[१] नीचे दी हुई तालिका यह परिणाम दिखा रही है—

विनिमय-दर में परिवर्तन

तारीख	स्टर्लिंग में विनिमय-दर	तारीख	स्टर्लिंग में विनिमय-दर
३ जनवरी, १९१७	१ शि० १$\frac{१}{४}$ पैंस	१२ अगस्त, १९१९	१ शि० १० पैंस
२८ अगस्त, १९१७	१ शि० ५ पैंस	१५ सितम्बर, १९१९	२ शि० ० पैंस
१२ अप्रैल, १९१८	१ शि० ६ पैंस	२२ नवम्बर, १९१९	२ शि० २ पैंस
१३ मई, १९१९	१ शि० ८ पैंस	१२ दिसम्बर, १९१९	२ शि० ४ पैंस

---

१. यह घोषणा भारत में १८७३ से पूर्व विद्यमान रजत-प्रमाप को पुनः स्थापित करने की घोषणा के बराबर थी। १८७३ से १८९३ तक चाँदी के स्वर्ण मूल्य के परिवर्तन के साथ भारत में मूल्य घट-बढ़ रहे थे। भारत में हर समय चाँदी के १६५ ग्रेन का स्वर्ण मूल्य वस्तुओं के विनिमय का माप था। उपर्युक्त परिस्थितियों के विचार में यही बात अब भी सच थी""। वकील और मुरञ्जन, 'करेन्सी एण्ड प्राइसेज़ इन इण्डिया', पृ० ११२।

३० मई, १६१६ को एक दूसरी विशेष समिति की नियुक्ति की गई।

संक्षेप में समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं—[1]

(१) रुपये को असीमित कानूनी मुद्रा ही रखना चाहिए। (२) इसका निश्चित विनिमय का मूल्य होना चाहिए, जो ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो, अर्थात् सावरेन के सोने के $\frac{१}{१०}$ के बराबर हो। (३) सावरेन को, जिसकी पहली दर १५ रुपये = १ सावरेन थी, १० रुपया = १ सावरेन की नई दर पर कानूनी मुद्रा बनाना चाहिए। (४) सोने के आयात और निर्यात से सरकारी नियंत्रण १० रुपया = १ सावरेन की दर स्थापित करते ही हटा लेना चाहिए। बम्बई में जनता द्वारा दिये गए सोने की सावरेन बनाने के लिए सोने की टकसाल खोलनी चाहिए। (५) सावरेन के बदले रुपया देने की सरकारी अधिसूचना वापस ले लेनी चाहिए। (६) निजी तौर पर चाँदी के आयात और निर्यात पर लगी बन्दिश हटा देनी चाहिए तथा राजकोषीय स्थिति के कारण आवश्यक होने तक चाँदी पर लगा आयात-कर हटा देना चाहिए। (७) स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष में प्राप्त अनुपात में सोना रखना चाहिए तथा शेष राशि को ब्रिटिश साम्राज्य की सरकारों (भारत सरकार को छोड़कर) द्वारा जारी की गई ऐसी प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए जो १२ महीने में परिपक्व होती हों। स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष का भाग, जो आधे से अधिक न हो, भारत में रखना चाहिए। रुपये का विनिमय मूल्य सोने के बराबर निश्चित करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी—

"यदि आशा के विपरीत विश्व के मूल्यों में शीघ्र कमी हो जाए और भारत में उत्पादन-लागत इन गिरे हुए मूल्यों से शीघ्र ही व्यवस्थित न हो सके, तो इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो सकता है।"

२४. रिपोर्ट पर सरकारी कार्यवाही[2]—सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाए—

(१) **विनिमय नियंत्रण**—जनवरी, १६२० में कौंसिल ड्राफ्ट की माँग समाप्त हो गई और रिवर्स कौंसिल की बहुत माँग होने लगी। जनवरी में कौंसिल ड्राफ्ट २ शि० ४ पैं० की दर पर बेचे गए। यह दर कौंसिल बिलों की बिक्री के लिए निश्चित की गई थी, परन्तु समिति की सिफारिशों के अनुरूप सरकार ने अधिसूचित किया कि कौंसिल ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर टेण्डर द्वारा बेचे जाएँगे और उनकी कोई निम्नतम दर नहीं होगी तथा अवसर आने पर भविष्य में रिवर्स ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर भारत में भी बेचे जाएँगे। इनका भाव (दर) ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने का स्टर्लिंग मूल्य होगा, जो विद्यमान स्टर्लिंग डालर विनिमय द्वारा निश्चित किया जाएगा। इस दर में से सोना बाहर भेजने की लागत कम कर दी जाएगी।

---

१. उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हिल्टन यंग कमीशन १६२५-२६ की रिपोर्ट की तीसरी परिशिष्ट से लिया गया है, परन्तु पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विधान और स्थिति-सम्बन्धी सिफारिशों में छोड़ दिया गया है।

२. देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन ऑन इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेंस १६२५, खण्ड २, परिशिष्ट ३ तथा एच० स्टेनली, जेवन्स 'बैंकिंग एण्ड एक्सचेंज इन इंडिया', अध्याय १५।

अधिकारियों को आदेश दिया गया कि यदि उचित मात्रा में नोट दिये जाएँ तो यथा-सम्भव उनकी अदायगी रुपये में की जाए।

२५. रिवर्स कौंसिल की बिक्री—अब हम अधिक विस्तार के साथ २ शि० सोने के अनुपात को निश्चित रखने के लिए सरकार के प्रयास और उसके असफल होने का विवरण देंगे। स्मिथ समिति के प्रकाशित होने के समय लन्दन और न्यूयार्क की विनिमय-दर[1] पौंड १=३.६५ डालर तक पहुँच गई थी। यदि सरकार रुपये के मूल्य को २ शि० सोने के बराबर रखने का निश्चय करती, तो स्पष्ट था कि रुपया स्टर्लिंग की विनिमय-दर बहुत ऊँची हो जाती। ऐसी परिस्थितियों में विनिमय के मँहगे हो जाने के भय से भारतीय निर्यातकों ने अपने बिलों को यथाशीघ्र भुनाने की कोशिश की, परन्तु भारतीय बिल भुनाने की आतुरता स्वयं रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को ऊँचा करने के लिए उत्तरदायी थी। यह मूल्य २ शि० स्वर्ण अनुपात की घोषणा के तीन दिन बाद ही २ शि० ८$\frac{१}{२}$ पैं० हो गया। लन्दन न्यूयार्क विनिमय-दर में गिराव आने के कारण यह विनिमय-दर और बढ़ गई तथा ११ फरवरी, १९२० को २ शि० १०$\frac{१}{४}$ पैं० हो गई। इसके बाद प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। निर्यातकों की बिल भुनाने की आतुरता कम हो गई। इधर अनुपात के सम्बन्ध में सरकारी निर्णय के कारण स्टर्लिंग की माँग बढ़ती ही गई। व्यापारिक फर्म तथा अन्य लोग विनिमय-दर के असाधारण रूप से ऊँचा होने का लाभ उठाने के लिए अपने-अपने विप्रेषण (रिमिटेन्स) इंगलैण्ड भेजने में शीघ्रता करने लगे, जो साधारणतया कई महीनों बाद किये जाते।

स्टर्लिंग की अत्यधिक माँग के कारण उसके मूल्य में वृद्धि तथा रुपये के मूल्य में कमी हो गई। बाज़ार-दर और सरकारी दर के अन्तर ने, जो कभी-कभी ३-४ पैं० तक हो गया, रिवर्स कौंसिलों की माँग को बढ़ा दिया।

जनवरी, १९२० में प्रारम्भ हुई प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन की प्रवृत्ति विनिमय को कम करने का महत्त्वपूर्ण कारण था। यह प्रवृत्ति प्रति माह बढ़ती गई। सरकार ने पहले ५ फरवरी को २ शि० ८ पैं० स्टर्लिंग की दर पर रिवर्स कौंसिल बेचना शुरू किया। १२ फरवरी को यह दर २ शि० १०$\frac{२७}{३२}$ पैं० कर दी गई, परन्तु इसके बाद स्टर्लिंग के अधिमूल्यन के साथ ही यह कम हो गई। जून के अन्त में व्यापारिक सन्तुलन बड़े ज़ोर से भारत के प्रतिकूल होने लगा। परिणाम यह हुआ कि विनिमय की बाज़ार-दर केवल सोने की समता से ही अलग नहीं हो गई, बल्कि २ शि० स्टर्लिंग से भी कम हो गई। इसके बाद सरकार ने २ शि० की दर को कायम रखने का प्रयत्न किया। तदनुसार २४ जून और उसके बाद टेलिग्राफिक ट्रान्सफर की बिक्री की दर १ शि० ११$\frac{१६}{३२}$ पैं० कर दी गई। इसके पक्ष में दिया गया प्रमुख तर्क यह था कि यह दर स्टर्लिंग की स्वर्ण से समता होने पर बनी रहेगी। यथार्थतः इसका अर्थ यह था कि सरकार ने स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित २ शि० की स्वर्ण दर को

१. भारत में लन्दन और न्यूयार्क की विनिमय-दर को न्यूयार्क क्रास रेट कहा जाता है। अपने देश के बाहर किन्हीं अन्य दो देशों की विनिमय-दर को क्रास रेट कहा जाता है। देखिए, जेवन्स, पूर्व उद्धृत, पृ० २१७।

रुपया पिघलाया भी जाता तो प्रचलन में रुपयों की बढ़ती हुई मात्रा को देखते हुए इसका कोई प्रभाव न होता।[१]

भारतीय विनिमय की वृद्धि के कारणों में चाँदी के मूल्य की वृद्धि को महत्ता देकर बैबिंग्टन स्मिथ समिति ने परिस्थिति को बिलकुल ग़लत समझा। रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के बढ़ने का प्रधान कारण रुपये के मूल्यों की तुलना में स्टर्लिंग के मूल्यों का अधिक बढ़ना था। सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार भी संतुलन[२] के लिए विनिमय-दर को ऊपर उठना चाहिए था। २ शि० स्वर्ण-दर का अर्थ क्रय-शक्ति की समता की तुलना में रुपये का अधिमूल्यन था। रुपये के लिए सोने का निश्चित मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न अपरिपक्व था, क्योंकि सोने के मूल्य में स्वयं बहुत परिवर्तन हो रहे थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों में बड़ी अस्थिरता थी।[३]

सरकार के विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह नहीं थी कि उसने अपनी नीति को प्रारम्भ में ही एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के आधार पर बना दिया, वरन् यह थी कि २ शि० स्वर्ण दर को प्रभावपूर्ण बनाने के सम्बन्ध में प्रयत्नों की निरर्थकता देखते हुए भी वे रिवर्स कौंसिल की बिक्री में लगे रहे। जून, १९२० के अन्त तक यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने एक असम्भव कार्य अपने ऊपर ले लिया था। अतः प्रारम्भ में ही अपनी हार मान लेना कहीं अधिक बुद्धिमानी और साहस का काम होता, परन्तु वे विनिमय-दर को बढ़ाने में लगे रहे तथा उन्होंने स्वर्ण-साधनों को रिक्त कर दिया और इस प्रकार औद्योगिक एवं व्यावसायिक दुनिया में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। जैसा कि सर स्टेनली रीड ने कहा है कि यह एक ऐसी नीति थी जो विनिमय की स्थिरता के लिए अपनाई गई थी, परन्तु जिसने देश के विनिमय में अत्यधिक परिवर्तन, व्यापारिक उथल-पुथल, राजकीय हानि तथा सैकड़ों व्यापारियों को दिवालिया बना दिया।[४]

२७. निष्क्रियता की नीति (१९२१-२५)—विनिमय को स्थिर करने के प्रयत्न में असफल होने पर सरकार कुछ समय तक कोई निर्णय किये बिना ही घटना-चक्र को शान्तिपूर्वक देखती रही।

१९२१ में भी व्यापारिक सन्तुलन भारत के प्रतिकूल था। विश्व के मूल्यों के सोने में गिरने के कारण निर्यात-व्यापार की दशा बुरी थी। इसका दूसरा कारण

---

१. देखिए, अम्बेदकर, पूर्व उद्धृत, पृ० २०७।

२. परिकल्पना (स्पेकुलेशन) के कारण चाँदी के मूल्य की वृद्धि केवल संयोगवश थी। स्मिथ समिति की आधी मौलिक भूल शीघ्र परिवर्तन होने वाले मूल्य-स्तरों के महत्त्व को न समझने और केवल चाँदी के मूल्यों पर ध्यान देने में थी। रुपये को २ शि० सोने की दर से सम्बन्धित करने में इसने वृद्धि के वास्तविक कारण को भुला दिया और इस दर को बनाए रखने के लिए आवश्यक मुद्रा संकुचन को कम आँका। अन्य देशों में मूल्यों की गतिविधि के सम्बन्ध में इनके अनुमान के हास्यास्पद उदाहरण हैं जो कि कदाचित् ही इतिहास में मिलें। वकील, मुरन्जन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३४०-४१।

३. गुस्टाव केसल्स मेमोरेण्डम और हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, खण्ड ३, परिशिष्ट ९२।

४. बी० ई० दादचंजी हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन करेन्सी

रुपया पिघलाया भी जाता तो प्रचलन में रुपयों की बढ़ती हुई मात्रा को देखते हुए इसका कोई प्रभाव न होता।[1]

भारतीय विनिमय की वृद्धि के कारणों में चाँदी के मूल्य की वृद्धि को महत्ता देकर वैबिंग्टन स्मिथ समिति ने परिस्थिति को बिलकुल गलत समझा। रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के बढ़ने का प्रधान कारण रुपये के मूल्यों की तुलना में स्टर्लिंग के मूल्यों का अधिक बढ़ना था। सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार भी संतुलन[2] के लिए विनिमय-दर को ऊपर उठना चाहिए था। २ शि० स्वर्ण-दर का अर्थ क्रय-शक्ति की समता की तुलना में रुपये का अधिमूल्यन था। रुपये के लिए सोने का निश्चित मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न अपरिपक्व था, क्योंकि सोने के मूल्य में स्वयं बहुत परिवर्तन हो रहे थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों में बड़ी अस्थिरता थी।[3]

सरकार के विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह नहीं थी कि उसने अपनी नीति को प्रारम्भ में ही एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के आधार पर बना दिया, वरन् यह थी कि २ शि० स्वर्ण दर को प्रभावपूर्ण बनाने के सम्बन्ध में प्रयत्नों की निरर्थकता देखते हुए भी वे रिवर्स कौंसिल की बिक्री में लगे रहे। जून, १९२० के अन्त तक यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने एक असम्भव कार्य अपने ऊपर ले लिया था। अतः प्रारम्भ में ही अपनी हार मान लेना कहीं अधिक बुद्धिमानी और साहस का काम होता, परन्तु वे विनिमय-दर को बढ़ाने में लगे रहे तथा उन्होंने स्वर्ण-साधनों को रिक्त कर दिया और इस प्रकार औद्योगिक एवं व्यावसायिक दुनिया में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। जैसा कि सर स्टेनली रीड ने कहा है कि यह एक ऐसी नीति थी जो विनिमय की स्थिरता के लिए अपनाई गई थी, परन्तु जिसने देश के विनिमय में अत्यधिक परिवर्तन, व्यापारिक उथल-पुथल, राजकीय हानि तथा सैकड़ों व्यापारियों को दिवालिया बना दिया।[4]

२७. निष्क्रियता की नीति (१९२१-२५)—विनिमय को स्थिर करने के प्रयत्न में असफल होने पर सरकार कुछ समय तक कोई निर्णय किये बिना ही घटना-चक्र को शान्तिपूर्वक देखती रही।

१९२१ में भी व्यापारिक सन्तुलन भारत के प्रतिकूल था। विश्व के मूल्यों के सोने में गिरने के कारण निर्यात-व्यापार की दशा बुरी थी। इसका दूसरा कारण

---

१. देखिए, अम्बेदकर, पूर्व उद्धृत, पृ० २०७।

२. परिकल्पना (स्पेकुलेशन) के कारण चाँदी के मूल्य की वृद्धि केवल संयोगवश थी। स्मिथ समिति की आधी मौलिक भूल शीघ्र परिवर्तन होने वाले मूल्य-स्तरों के महत्व को न समझने और केवल चाँदी के मूल्यों पर ध्यान देने में थी। रुपये को २ शि० सोने की दर से सम्बन्धित करने में इसने वृद्धि के वास्तविक कारण को भुला दिया और इस दर को बनाए रखने के लिए आवश्यक मुद्रा संकुचन को कम आँका। अन्य देशों में मूल्यों की गतिविधि के सम्बन्ध में इनके अनुमान के हास्यास्पद उदाहरण हैं जो कि कदाचित् ही इतिहास में मिलें। वकील, मुरञ्जन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३४०-४१।

३. गुस्टाव केसल्स मेमोरेण्डम और हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, खण्ड ३, परिशिष्ट ९२।

४. बी० ई० दादचंजी, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन करेन्सी एण्ड एक्सचेंज, पृ० १३७।

करना आवश्यक था। परन्तु उनका प्रयत्न व्यवहारतः तीन प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित था। १८६० में भारत के प्रथम वित्त सदस्य श्री जेम्स विलसन ने सरकारी पत्र-मुद्रा और प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट जारी करने के अधिकारों के उन्मूलन के लिए योजना बनाई। १८४४ के इंगलिश बैंक चार्टर एक्ट के आधार पर उस समय के भारत-सचिव सर चार्ल्स वुड ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

नोट जारी करने के दृष्टिकोण से पहले देश तीन निर्गम क्षेत्रों में विभाजित किया गया, जिनके प्रधान कार्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास थे। केन्द्रों की संख्या १९१० में बढ़कर सात हो गई। चार अतिरिक्त केन्द्र रंगून, कराची, कानपुर और लाहौर थे। १०, २०, ५०, १००, ५००, १०००, १०००० रुपये के नोट जारी किये गए। ५ रुपये का नोट १८९१ में जारी किया गया। ब्रिटिश स्वर्ण मुद्रा और रुपयों के बदले वे जनता में बेरोक-टोक जारी किये जा सकते थे। करेन्सी के कण्ट्रोलर की आज्ञा पर वे स्वर्ण-पिण्ड के बदले भी जारी किये जा सकते थे। अपने-अपने क्षेत्र के भीतर वे सरकारी खजानों और जनता के लेन-देन के लिए असीमित कानूनी मुद्रा माने गए।

जारी किये गए नोटों के बराबर मूल्य का सुरक्षित कोष धातु-पिण्ड और सिक्कों के रूप में बनाया गया, जिसका एक छोटा भाग भारत सरकार की 'रुपी सिक्योरिटीज़' में उनकी परिवर्तनीयता की गारण्टी देने के लिए विनियोजित था।

केवल नोट जारी करने वाले क्षेत्र के प्रधान कार्यालय पर ही नोटों का भुगतान कराने के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता था, साथ ही सरकार खजाने, रेलवे कम्पनी और यात्रियों के लिए अन्य क्षेत्रों के नोटों का भी भुगतान करती थी। सरकारी देनदारियों का भुगतान किसी भी क्षेत्र के नोटों में किया जा सकता था।

२६. **नकद भुगतान और कानूनी मुद्रा-सम्बन्धी प्रतिबन्ध**—भारत एक विशाल देश है तथा व्यापारिक दशाओं के कारण वर्ष के विभिन्न समयों में देश के एक भाग से दूसरे भाग को रुपये भेजे या मँगाये जाते हैं। नोटों का सबसे पहला प्रयोग विप्रेषण के लिए सोना भेजने के बजाय अधिक सुविधापूर्वक नोट भेजना होगा, यदि सरकार ने जारी करने वाले क्षेत्र तक ही नोटों को कानूनी मुद्रा न बनाया होता, तो सरकार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नकदी भेजनी पड़ती। इसके विपरीत, यदि नोटों को पूर्णतया कानूनी मुद्रा बना दिया जाता और उनका भुगतान केवल प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित होता, तो निस्सन्देह वर्ष में कुछ समय लोग सिक्कों को अधिक पसन्द करते तथा नोटों की लोकप्रियता कम हो जाती।

क्षेत्र-पद्धति (सर्किल सिस्टम) के कारण नोटों की लोकप्रियता और विस्तार में बहुत बाधा पहुँची और इसे समाप्त करने के लिए १९०३ में पहला कदम उठाया गया, जबकि ५ रुपये का नोट बर्मा को छोड़कर सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिया गया। यह रोक भी १९०९ में हटा ली गई। १९१४-१८ के युद्ध ने इस विकास को रोक दिया, क्योंकि इस समय रुपयों के टंकन में कठिनाई थी तथा विकसित आधार पर जारी किये गए नोटों का प्रचलन बढ़ गया था। बैबिंग्टन समिति ने युद्धकालीन प्रतिबन्धों को

रुपये का विनिमय-मूल्य बनाए रखने के लिए आवश्यक थीं और उनसे एक लाभ यह भी था कि भारत में आन्तरिक संकट आने की दशा में उनके अवमूल्यन की सम्भावना नहीं थी। इसके विपरीत यह कहा गया कि रुपये के विनिमय-मूल्य को बनाए रखना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का काम नहीं है। भारत में आन्तरिक संकट होने पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में अवमूल्यन भले ही न हो, परन्तु नोट निर्गम के सम्बन्ध में जनता का विश्वास सम्पूर्ण सुरक्षित कोष को भारत में रखने से ही हो सकता है।[1]

नोट निर्गम का कार्य पूर्णतया बैंकिंग के कार्यों से एकदम अलग कर दिया गया। केन्द्रीय बैंक की तरह की कोई चीज नहीं थी, इसलिए कोई सरकारी बैंकर भी नहीं था। केवल रिजर्व ट्रेज़री व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत विशेष सरकारी खज़ानों में रुपया रखा जाता था, जिसके फलस्वरूप वर्ष में कुछ समय के लिए द्रव्य बाज़ार में कठिनाई उपस्थित हो जाती थी।

कुछ प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को छोड़कर चैकों और निक्षेपों का तरीका भारत में अब भी अधिक प्रचलित नहीं है। दूसरा तरीका स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित किया गया था और स्वीकार भी कर लिया गया था। तीसरा तरीका भी रिज़र्व ट्रेज़री की समाप्ति और सरकारी कोष को इम्पीरियल बैंक में रखकर अपनाया गया है। रिजर्व बैंक के खुलने से पहले १९२१-३५ के इम्पीरियल बैंक ने सरकारी बैंक की तरह काम किया। सामान्य लोचहीनता दूर करने के लिए स्मिथ समिति का सुझाव था कि धात्वीय भाग कुल निर्गम के ४०% से कम नहीं होना चाहिए। उनका विचार था कि कारोबार के दिनों में परिनियत निम्नतम सीमा से अधिक कर रखना ही वांछनीय होगा। इस प्रकार कानून का आश्रय लिये बिना ही प्रचलन के विस्तार के साथ-ही-साथ विश्वासाश्रित सुरक्षित कोष भी बढ़ जाएगा। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, सरकार ने स्मिथ समिति के सुझाव को १९२० में स्वीकार कर लिया, यद्यपि उन्होंने धात्वीय कोष की अधिक प्रतिशत को अर्थात् ५०% को अपनाया।[2]

३२. १९१४-१८ के युद्ध का पत्र-मुद्रा पर प्रभाव—हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार, १९१४ में युद्ध के छिड़ने पर, प्रारम्भ में भय के कारण नोटों के भुगतान के लिए लोग पेपर करेन्सी ऑफ़िस पर जमा होने लगे तथा किस प्रकार विश्वास के उत्पन्न हो जाने पर नोट प्रचलन में विस्तार हुआ। मार्च, १९१५ से आगे पत्र-मुद्रा पर युद्ध के प्रभावों को संक्षेप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है :

(१) करेन्सी की अत्यधिक माँग के कारण पत्र-मुद्रा का प्रसार हुआ, जिसकी पूर्ति रुपये जारी करने से नहीं की जा सकती थी। इस असाधारण माँग के कारणों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। (२) विभिन्न कानूनों के परिणामस्वरूप विश्वासाश्रित (फिडूशरी) सुरक्षित कोष बहुत बढ़ गया। इन कानूनों के पूरक आर्डिनेन्स गवर्नर जनरल द्वारा जारी किए जाते थे। सुरक्षित कोष में रखने के लिए पर्याप्त

---

१. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की आलोचना के लिए अगला अध्याय देखिए।

२. देखिए, सेक्शन ३३।

चेम्बरलेन आयोग और स्मिथ समिति की आलोचना तथा युद्ध-काल में प्राप्त अनुभव को ध्यान में रखते हुए मार्च, १९२० के अस्थायी कानून के स्थान पर नया कानून पास करना आवश्यक हो गया। अतएव भारत में पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट[1] १ अक्तूबर, १९२० को कानून बना दिया गया। इस कानून के विधान (१) स्थायी और (२) अस्थायी दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं।

(१) **स्थायी विधान**[2]

(क) कुल सुरक्षित कोष का ५०% धात्विक रूप में होना चाहिए। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित ४०% से अधिक (५०%) को स्वीकार करने का कारण यह था कि भारत-जैसे देश में नोटों का तुरन्त नकद भुगतान करना और कारबार के दिनों में फसलों की गति के लिए आर्थिक सहायता हेतु, जब नोट सामान्यतः भुगतान के लिए उपस्थित किए जाते हैं, पर्याप्त सिक्का सुरक्षित रखना आवश्यक होता है।

(ख) २० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों को छोड़कर, जो भारत में रखी जाती थीं, शेष रुपया स्मिथ समिति के अनुसार १२ महीने या उससे कम अवधि की अल्प-कालीन प्रतिभूतियों के रूप में इंगलैण्ड में रखा जाता था।

(ग) ९० दिन में परिपक्व होने वाली भुनाई हुई अन्तर्देशीय हुण्डियों के आधार पर करेन्सी का कण्ट्रोलर ५ करोड़ रुपये के नोट जारी कर सकता था। अतिरिक्त निर्गम इम्पीरियल बैंक को दिये ऋण के रूप में हो सकता था, जिस पर बैंक को ८% ब्याज और स्वीकार की हुई हुण्डियाँ सरकार को देनी पड़ती थीं। १९२३ के इण्डियन पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट द्वारा ५ करोड़ की सीमा बढ़ाकर १२ करोड़ कर दी गई। परिनियत धात्विक कोष के ५०% सम्बन्धी विधान का अतिरिक्त निर्गम से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि धात्विक कोष निश्चित करने के लिए इस निर्गम पर विचार नहीं किया जाता था।

(घ) राज्य-सचिव लन्दन में ५० लाख पौण्ड के स्वर्ण-पिण्ड से अधिक नहीं रख सकता था।

(२) **अस्थायी विधान**

१५ रु०=१ सावरेन के स्थान पर १० रु०=१ सावरेन की दर से सोने और प्रतिभूतियों का पुनः मूल्यांकन करने हेतु उत्पन्न कठिनाई के कारण स्थायी विधान होने तक अस्थायी विधान बनाना आवश्यक समझा गया। १० रु० की दर से पुनः मूल्यांकन करने पर सुरक्षित कोष का धात्विक भाग ५०% से कम हो जाता, अतएव कुछ समय के लिए विनियोजित पूँजी ८५ करोड़ रुपये निश्चित कर देने की

---

१. यह सामान्यतः १९२३ के पेपर-करेन्सी एक्ट की ओर संकेत करता है जो कन्सालिडेटेड एक्ट कहलाता है।

२. ये विधान व्यवहारतः स्मिथ समिति की सिफारिशों के समान थे।

नीतिक और सामाजिक दशा तथा १ शि० ४ पैं० की दर की पुनःस्थापना की परिकल्पना के कारण पूंजी स्थानान्तरित करने की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी थी। घरेलू व्ययों को पूरा करने के लिए राज्य-सचिव को विप्रेषण (रेमिटेन्स) करने में कठिनाई पैदा हो गई और यही पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में १६३१ से १ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के पूर्ण लोप का कारण बताती है, क्योंकि भारत में नोटों के संकुचन के अनुसार इन प्रतिभूतियों को भारत-सचिव को हस्तान्तरित करना पड़ता था। रुपया प्रतिभूति में १६३०-३१ में और कमी आ गई जो इन प्रतिभूतियों के साथ करेन्सी के संकुचन से स्पष्ट है। इसी वर्ष सुरक्षित कोष में सोने की मात्रा में कमी होने का प्रमुख कारण ८½ करोड़ रु० का सोना स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा को चुका देना था। नवम्बर, १६३० और फरवरी, १६३१ के बीच विनिमय-सम्बन्धी परिकल्पना और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित जनता की माँग के प्रत्युत्तर में गृह-कोष (होम ट्रेज़री) की सहायता तथा १ शि० ५$\frac{४६}{६४}$ पैं० की परिणित दर पर स्टर्लिंग की बिक्री को पूरा करने के लिए ६२ लाख पौं० की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ पत्र-मुद्रा कोष के इंगलैण्ड-स्थित भाग से निकाल लेने के कारण ही उपर्युक्त राशि (८½ करोड़ रु०) भारतीय शाखा को दी गई थी। पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के निर्माण में अन्य उल्लेख्य परिवर्तन कोष में चाँदी के सिक्कों की वृद्धि थी, जिसके कारण नीचे दिये गए हैं।[1] इसमें और वृद्धि हुई होती, परन्तु हिल्टन यंग आयोग की सिफारिश के अनुसार विक्रय के लिए कुछ चाँदी निकाल लेने के कारण ऐसा नहीं हुआ।

मार्च, १६२७ से १६३५ तक भारत सरकार ने २२८,१८२,२५५ औंस शुद्ध चाँदी बेची। इस विक्रय से प्राप्त राशि का विनियोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में किया गया जो स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को स्थानान्तरित कर दी गई, परन्तु इसके विरुद्ध इस कोष से सोना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को स्थानान्तरित कर दिया जाता था जिसमें समान मूल्य की रुपया प्रतिभूति रद्द कर दी जाती थी। स्टर्लिंग की चालू आवश्यकताओं से अधिक खरीद के अतिरिक्त (सरप्लस) का प्रयोग भी इसी प्रकार किया गया। इन कारणों के फलस्वरूप पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष[2] का स्वर्ण भाग बढ़ गया, परन्तु चाँदी और चाँदी के सिक्के कम हो गए। १६३३-३४ और बाद के वर्षों में गृह कोष (होम ट्रेज़री) के अतिरिक्त धन और चाँदी के विक्रय के लाभ का प्रयोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के क्रय में किया गया और इस प्रकार पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग सम्पत्ति बढ़ाई गई। सरकारी करेन्सी कार्यों को रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित करते समय पत्र-

१. देखिए सेक्शन ३५।

२. रिजर्व बैंक को हस्तांतरित करते समय ३१ मार्च, १६३५ का भारत सरकार का स्वर्ण-भंडार ४४·४२ करोड़ था, जिसमें से ४१·५५ करोड़ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में था और २·८७ करोड़ रु० स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में था। यह रुपया परिनियत समता (दर) (१ रु० = ८·४७ ग्रेन सोना) पर मूल्यित था। उसका वास्तविक बाजार मूल्य लगभग ७३ करोड़ रुपये था।

को भारत के स्वर्ण प्रमाप छोड़ने से पहले सोने का मूल्य १६१४-१८ के स्तर से भी नीचा हो गया था (दूसरा अध्याय देखिए)। सर जार्ज शुस्टर का कहना था कि करेन्सी का संकुचन विश्व-मूल्यों में कमी आने का फल था तथा अत्यधिक संकुचन नहीं किया गया था।[1] मूल्यों की वृद्धि और अंशतः आर्थिक पुनरुत्थान के कारण नोटों की खपत बढ़ गई, परन्तु चांदी के सिक्के की वापसी के कारण यह अंशतः समाप्त हो गई। बेचे गए, बाहर भेजे गए तथा जोड़े गए सोने के स्थान पर नोट की सार्वजनिक माँग का संकेत हम ऊपर दे चुके हैं। १६३६-३७ में करेन्सी की कुल खपत की मात्रा २३·०४ करोड़ रु० थी। आर्थिक मन्दी के परिमाणस्वरूप १६३७-३८ में १४·७५ करोड़ रु० और १६३८-३६ में ६·६२ करोड़ रु० की वापसी हुई। १६३६-४० में करेन्सी की खपत की मात्रा ५६·५३ करोड़ रु० थी। खपत में १०·०८ करोड़ रु० और ४६·४५ करोड़ रु० के नोटों की वृद्धि हुई। १६१८-१६ को छोड़कर, जबकि सितम्बर, १६३६ में युद्ध छिड़ने के उपरान्त मूल्यों की वृद्धि और व्यापारिक तेजी के कारण खपत ६४·२० करोड़ रुपये हो गई थी, अन्य किसी वर्ष करेन्सी की इतनी खपत नहीं हुई। यह भारत में व्यापारिक क्रियाओं की वृद्धि और १६३६ के युद्ध के बाद मूल्य की वृद्धि को चिह्नित करती है। १६१६-२० के बाद किसी भी वर्ष करेन्सी की खपत १६३६-४० से अधिक नहीं हुई। किसी हद तक यह व्यापारिक तेजी और अच्छी फसलों के कारण भी थी, परन्तु अंशतः युद्धजनित परिस्थितियों के कारण धातु और सिक्कों को जोड़ने की प्रवृत्ति भी इसका कारण थी। युद्धजनित तनाव बढ़ने के साथ यह प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। तब जुलाई १६४० में भारत सरकार को एक रुपया के प्रचलन द्वारा इसे रोकना पड़ा (अगला अध्याय देखिए)। १४ फरवरी, १६४७ को जारी किये गए कुल नोटों की मात्रा १२५७ करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी।

युद्ध चलाने हेतु सामान की भारी खरीद के लिए अपनाई गई विशेष विधि के फलस्वरूप इंगलैण्ड-स्थित करेन्सी कोष में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे देश के नोट प्रचलन में बहुत वृद्धि हो गई, जैसा कि १६४० ४१ से १६४४-४५ तक के आँकड़ों से प्रकट है।[2] १६४५ में युद्ध समाप्त होने के साथ करेन्सी की वृद्धि की गति शिथिल होती गई।

प्रत्येक महीने में करेन्सी की खपत का अध्ययन इस तथ्य को प्रकट करता है कि करेन्सी की खपत सामान्यतः नवम्बर से जून तक कारोबार के महीनों में और जुलाई से अक्टूबर तक के मन्दे महीनों में करेन्सी कार्यालयों और खजानों को वापस लौट आती है।[3]

---

१. केन्द्रीय बजट १६३१-३२, पृष्ठ २८-२६; अध्याय ६ का सेक्शन १७ भी देखिए।

२. देखिए अध्याय १२, स्टर्लिंग सन्तुलन का सेक्शन।

३. अध्याय ११ भी देखिए।

(डिमाण्ड प्रोमेसरी नोट्स) के आधार पर अग्रिम देन पर आधारित थे, इसलिए करेंसी की सामयिक वृद्धि की सुरक्षा के रूप में देश के अन्दर व्यापारिक हुण्डियों की कमी हो गई और सितम्बर, १९२४ में सरकार ने घोषित किया कि आवश्यकतानुसार वे लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा ट्रेज़री विल के आधार पर करेन्सी जारी करने के अधिकार का प्रयोग करेंगे।

२. सुरक्षित कोष और शेष (बैलेन्सेज़)—हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक विशेष उद्देश्य के लिए निर्मित सुरक्षित कोष और शेष अन्य कार्यों के लिए विवेकहीनता से प्रयुक्त होते थे। सुरक्षित कोष और शेष का उपयोग किसी उचित नीति से नियन्त्रित नहीं होता था, जिसके फलस्वरूप उन्हें कभी एक-दूसरे से अलग समझा जाता था और कभी दोनों को मिला दिया जाता था, जिससे काफी गड़बड़ पैदा होती थी।

जहाँ तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रचना (बनावट) का सम्बन्ध है, स्थिति असन्तोषजनक थी। प्रधानतया इसे दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में लगाया जाता था और इसका बहुत थोड़ा भाग द्रव्य रूप में रखा जाता था। चेम्बरलेन आयोग[1] ने सिफारिश की कि इसके अधिकांश भाग को तरल रूप और सरलतापूर्वक वसूल होने वाली प्रतिभूतियों में रखना चाहिए तथा स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का उन्मूलन कर देना चाहिए। अन्तिम प्रस्ताव को सरकार ने स्वीकार कर लिया, परन्तु शेष सिफारिशें १९१४ का युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण कार्यान्वित न हो सकीं। उस युद्ध के समय लगभग सारा कोष लन्दन में प्रतिभूतियों के रूप में रखा था और ब्रिटिश युद्ध बॉण्ड और ट्रेज़री बिल खरीदे गए। अल्पकालीन प्रतिभूतियों में धन लगाकर सरलता से वसूल होने वाली प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में की गई सिफारिश पूरी की गई।

समिति ने सिफारिश की थी कि सुरक्षित कोष के पर्याप्त भाग को सोने में रखना वांछनीय था। उन्होंने यह भी सिफारिश की थी कि ये प्रतिभूतियाँ भारत सरकार के अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य की किसी अन्य सरकार द्वारा जारी की गई अल्पकालीन प्रतिभूतियों के रूप में होनी चाहिए।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के मिलने से पहले और १ अप्रैल, १९३५[2] से रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया को हस्तान्तरित होने से पूर्व, स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति यह थी कि इसका अधिकांश भाग विभिन्न रूपों में अल्पकालीन पत्रों में लन्दन में रखा गया।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का एक भाग लन्दन में रखा गया। चेम्बरलेन आयोग ने लन्दन में स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति को इस आधार पर उचित ठहराया कि लन्दन विश्व का निकास-गृह और ऋण-बाज़ार है। इसके अतिरिक्त भारत का प्रधान ग्राहक इंगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम) था और लन्दन वह प्रधान स्थान था

१. देखिए अध्याय ८, सेक्शन १८।
२. आगे सेक्शन २४ और अध्याय ११ देखिए।

की आवश्यकता से अधिक रुपया एकत्र करने से राज-सचिव ने ऋण से बचाव या उसमें कमी सम्भव कर दी। इस प्रकार अधिक धन लेने की प्रवृत्ति ने भारत में बचत की आय-व्यय की नीति को प्रोत्साहित किया। ऋणों से बचाव करने या उन्हें कम करने के स्थान पर भारत में कर कम करने की क्रिया का अनुसरण कहीं अधिक वाञ्छनीय होता।[1] इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि राज-सचिव का नकद शेष (बाक़ी) अधिक होने पर भी लन्दन में भारी ऋण लिये गए।

इस प्रकार राज-सचिव के हाथ में एकत्र अतिरिक्त रुपया लन्दन में बहुत थोड़े ब्याज पर 'स्वीकृत' ऋणकर्ताओं को उधार दिया जाता था। इन ऋणकर्ताओं की एक सूची राज-सचिव के पास रहती थी। सामान्य शिकायत यह थी कि इन ऋणों के सम्बन्ध में काफी पक्षपात दिखाया जाता था और ये शिकायतें इसलिए और गम्भीर हो गईं क्योंकि राज-सचिव की कौंसिल की वित्त-समिति के सदस्य ही वे संचालक और व्यापारी थे जो ऋण देने के लिए व्यक्तियों का चुनाव करते थे।

लन्दन में रुपये की आवश्यकता न होने पर भी कभी-कभी स्वर्ण आयात बिन्दु से निम्न दर पर भी कौंसिल बिलों की बिक्री की प्रथा पर आपत्ति की गई।

राज-सचिव की आवश्यकता से ऊपर कौंसिल बिलों की बिक्री का समर्थन मुख्यतया इस आधार पर किया गया कि यह भारत के विदेशी व्यापार के लिए बहुत सहायक था। परन्तु व्यापार को इस सहायता की आवश्यकता ही नहीं थी। वास्तव में व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन के लिए व्यापार को वैकल्पिक साधन ढूंढ़ने में कोई कठिनाई न थी और कौंसिल बिलों की बिक्री कम कर देने पर भी व्यापार को कोई कठिनाई नहीं हुई। अतः व्यापार की सहायतार्थ सरकार को अपना मार्ग छोड़ने के लिए कोई विशेष कारण तो नहीं था। उन्हें केवल इतना ही करने की आवश्यकता थी कि निर्यात के लिए स्वर्ण को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्य बना देते।

बैबिंग्टन स्मिथ समिति को दिये गए अपने स्मृतिपत्र में, सर स्टैनली रीड ने भारतीय विनियम पर राज-सचिव के नियन्त्रण के उन्मूलन की ज़ोरदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि भारत की सरकार और राज-सचिव दोनों पर ही भारत की अधिकांश जनता सन्देह करती थी। राज-सचिव भारत के बड़े वित्तीय केन्द्रों से ६००० मील की दूरी पर बैठकर काम करते थे। वे अभारतीय हितों से आवृत और स्वभावतः उन्हीं के पोषक थे। वे गोपनीयता के साथ काम करते थे और भारत में उन उपायों के मूल आधारों की—भले ही वे उपाय कितनी ही बुद्धिमानी से भरे और आवश्यक क्यों न हों—कोई भी सूचना प्राप्त करना असम्भव था। ऐसे पूर्ण अधिकार, जो जनता से इतनी दूर गोपनीय ढंग से कार्यान्वित होते थे, की राजनीतिक हानियों की अतिरंजना नहीं की जा सकती।

भारतीय प्रथा के प्रति मुख्य आपत्ति उसके अप्रबन्धित होने के सम्बन्ध में नह

---

१. देखिए, अध्याय १२।

थी। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि रजत प्रमाप की तुलना में स्वर्ण विनिमय प्रमाप विदेशी विनिमय को अधिक स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल रहा। परन्तु समस्त आलोचक इतना भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि युद्धकाल को निकाल देने पर भी स्वर्ण विनिमय प्रमाप प्रस्तावित (स्थायित्व प्रदान करने की) कसौटी पर खरा नहीं उतरता। युद्ध से पहले केवल १९०७ ८ के संकटकाल में ही इसकी परीक्षा हुई थी और उस समय इसे बाहरी सहायता से ही बनाए रखा जा सका। सरकार ने प्रमाप को बनाए रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर उधार लेने का आश्वासन दिया और सोने को रखने के लिए मजबूरन कर बढ़ाया, अतएव यह केवल अनुकूल परिस्थितियों की प्रथा थी तथा प्रतिकूलता के चिह्न-मात्र उपस्थित होने पर इसके निष्प्राण होने का भय रहता था।

७. स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप—सुधार के अनेक प्रस्तावों की परीक्षा करने के अनन्तर आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में सच्चे स्वर्ण प्रमाप की आवश्यकता थी। उन्होंने यह भी कहा कि स्वर्ण को प्रचलन में लाए बिना भी सच्चा स्वर्ण प्रमाप सम्भव था। उन्होंने प्रस्तावित किया कि भारत में प्रचलन का साधारण माध्यम वर्तमान नोट और चाँदी का रुपया ही रहे और स्वर्ण में करेन्सी का स्थायित्व करेन्सी को प्रत्यक्ष रूप से सारे उद्देश्यों के लिए सोने में परिवर्तनीय बना देने से प्राप्त किया जाए, परन्तु सोने को करेन्सी के रूप में आदि से अन्त तक कभी नहीं चलना चाहिए। (पैरा ५४)

आयोग के अनुसार सोने के प्रचलन के विरोध का प्रधान कारण यह था कि प्रचलन में सोने की जितनी ही अधिक मात्रा लाई जाएगी उतना ही स्वर्ण सुरक्षित कोष कम होता जाएगा और उस पर आधारित साख-व्यवस्था अधिक बेलोचदार हो जाएगी। उन्होंने चेम्बरलेन आयोग के इस विचार का समर्थन किया कि विनिमय की सहायता के लिए स्वर्ण प्रचलन की उपादेयता सन्दिग्ध थी। आयोग ने यह भी कहा कि स्वर्ण पिण्ड प्रमाप से तुरन्त ही पूर्ण स्वर्ण प्रमाप की स्थापना हो जाएगी तथा अन्य योजनाओं में विचारित कोई संक्रमण-काल भी नहीं होगा। विश्व की स्थितियों में कोई गड़बड़ी उत्पन्न किये बिना ही इससे स्वर्ण सुरक्षित कोष तो अधिक दृढ़ होंगे ही, साथ ही यह स्वर्ण करेन्सी के चलन के साथ व्यवस्थित भी की जा सकती थी। यद्यपि स्वर्ण करेन्सी का तुरन्त प्रचलन असम्भव था, परन्तु इसके लिए द्वार खुला रखना ही पड़ेगा। आयोग का मत था कि किसी भी स्थिति में स्वर्ण करेन्सी का चलन बुद्धिमानी की बात न होगी और उन्होंने आशा प्रकट की कि कुछ समय बाद भारत इसे जीर्ण-शीर्ण और पुराना आदर्श मानने लगेगा। युद्ध ने यूरोपीय देशों को स्वर्ण-मुद्रा की व्ययशील विलासिता से दूर रहना सिखा दिया। वास्तव में कुछ ऊँचे अधिकारियों के अनुसार स्वर्ण करेन्सी का प्रचलन पिछड़ी हुई सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा। आयोग की योजना के अन्तर्गत करेन्सी अधिकारियों पर कानूनन केवल इतना दायित्व रखा गया कि वे कम-से-कम ४०० औंस शुद्ध सोने की मात्रा में, सोने और रुपये की समता के हिसाब से निश्चित दरों पर सोने का क्रय-विक्रय करेंगे ताकि रुपये के मूल्य

नये सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न सिफारिशें प्रस्तुत कीं—(१) विनिमय के क्षतिपूरक प्रभाव, करेन्सी के प्रसार और संकुचन को निश्चित करने के लिए सुरक्षित कोष की बनावट और प्रगति कानून द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। (२) आनुपातिक सुरक्षित कोष पद्धति अपनानी चाहिए। स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ सुरक्षित कोष का कम-से-कम ४० प्रतिशत भाग हों। करेन्सी अधिकारियों को चाहिए कि वे इन्हें सुरक्षित कोष का ५० या ६० प्रतिशत तक कर दें। शीघ्र-से-शीघ्र स्वर्ण सुरक्षित कोष का २० प्रतिशत यथाशीघ्र स्वर्ण के रूप में हो जाना चाहिए और १० वर्ष के अन्तर्गत यह स्वर्ण २५ प्रतिशत हो जाना चाहिए। इस बीच में सोना सुरक्षित रखने के लिए किसी भी प्रकार का अनुकूल अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। स्वर्ण भण्डार का कम-से-कम $\frac{1}{2}$ भाग भारत में रहना चाहिए। (३) १० वर्ष के संक्रमण-काल में सुरक्षित कोष में रजत भण्डार को काफ़ी कम कर देना चाहिए। (४) शेष सुरक्षित कोष व्यापारिक हुण्डियों और भारत सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए। १० वर्ष के अन्तर्गत 'उत्पन्न की गई प्रतिभूतियों' का स्थान विपणन योग्य प्रतिभूतियों को ले लेना चाहिए। (५) रुपया प्रचलन के संकुचन की दृष्टि से ५० करोड़ रुपये का दायित्व पर्याप्त समझना चाहिए। प्रचलन में चाँदी के रुपये की संख्या में की गई वृद्धि अथवा कमी के $\frac{1}{5}$ भाग के बराबर की मात्रा इस दायित्व में जोड़ना अथवा घटाना चाहिए और इस प्रकार होने वाला लाभ अथवा हानि सरकारी आगम को सहना चाहिए।

आयोग ने कहा कि ऊपर कहे गए रूप में स्वर्ण सुरक्षित कोष को दृढ़ करने में निम्नतम जोखिम और व्यय होगा और यह निम्न कारणों से आवश्यक भी था—(१) ताकि करेन्सी अधिकारी करेन्सी के बदले सोना बेचने के दायित्व को पूरा कर सकें—विशेषकर नये नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनीयता के कारण। (२) स्वर्ण प्रमाण-पत्रों (गोल्ड सर्टीफिकेट्स) के लोकप्रिय होने पर सरकार उन्हें भुनाने योग्य बना सके। (३) स्वर्ण करेन्सी के प्रचलन को सुविधा देने के लिए यदि इसे रखने का निश्चय किया जाए।

आयोग ने सिफारिश की कि सुरक्षित कोष में भारत सरकार की रुपया-प्रतिभूतियों की मात्रा वापस न होने वाले प्रचलन के बराबर और इतनी अधिक राशि तक सीमित कर दी जाए जो सरकार की साख को बिगाड़े बिना ही सरलता से वसूल हो सके, क्योंकि ये प्रतिभूतियाँ व्यापारिक हुण्डियों से कम वाञ्छनीय हैं। रुपया-प्रतिभूतियों की तुलना में व्यापारिक हुण्डियाँ करेन्सी अधिकारियों की इच्छा और निर्णय से स्वतन्त्र देश की आवश्यकताओं के अनुसार करेन्सी के स्वाभाविक प्रसार और संकुचन का गुण रखती हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर सरकारी प्रतिभूतियों का वसूलना कठिन हो जाएगा। १९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना के बाद से पत्र-मुद्रा के निर्गम और सुरक्षित कोष की स्थिति-सम्बन्धी नये प्रबन्धों का विवेचन अध्याय ११ में किया गया है।

दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु से नीचे होने पर वम्बई की तुलना में लन्दन में अधिक अनुकूल दर पर सोने की विक्री के सम्वन्ध में आयोग के प्रस्ताव का उद्देश्य लन्दन में स्वर्ण देने (विक्रय के लिए) को प्रोत्साहित करना था। इससे स्वर्ण विनिमय प्रमाप की बुराइयाँ तो वनी ही रहेंगी, इसीलिए इसका विरोध किया गया।[1] इस सम्वन्ध में हम आयोग की इस सिफारिश की ओर संकेत कर सकते हैं कि रिज़र्व वैंक स्वर्ण-सिक्कों अथवा स्वर्ण-पिण्ड का कम-से-कम आधा भाग भारत में रखेगा। शेष आधा भाग देश के वाहर उसकी शाखाओं, एजेन्सियों अथवा उसके खाते में अन्य वैंकों में रखा जा सकता है। वैंक के स्वर्ण की कोई भी मात्रा, चाहे वह टकसाल में हो अथवा विप्रेषण के मार्ग में, कोष का एक भाग मानी जाएगी। आयोग की सिफारिश के अनुसार स्वर्ण प्रतिभूतियों के रूप में विशाल भण्डार रखने का अर्थ यह है कि उस सीमा तक हमारा सुरक्षित कोष वाहर विनियोजित किया जाएगा। लन्दन में सुरक्षित कोष रखने के कारण उत्पन्न सन्देह और अविश्वास के कारण भारतीय द्रव्य के लन्दन में रखने से सम्वन्धित किसी भी प्रवन्ध को प्रस्तावित करने के लिए विशेष ध्यान देना आवश्यक था।

रुपये का स्थायित्व

१४. **स्थायित्व का अनुपात**—आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण के साथ रुपये का स्थायित्व १ शि० ६ पैंस की विनिमय दर पर किया जाए और इस प्रकार रुपये को ८·४७ ग्रेन शुद्ध सोने के मूल्य के वरावर कर दिया गया। उनका विचार था कि उस दर पर विश्व के मूल्यों के साथ भारत के मूल्य व्यवस्थित हो चुके थे और उसमें परिवर्तन करने का अर्थ व्यवस्थापन का कठिन समय तथा अत्यधिक आर्थिक अस्त-व्यस्तता होगी।

आयोग ने तर्क उपस्थित किया कि जव विनिमय और मूल्य पर्याप्त समय तक स्थिर रहे तो विपरीत संकेतों के अभाव में यह स्वीकार करना उचित ही था कि मज़दूरी का उनसे सामंजस्य हो चुका था। विदेशी व्यापार के आँकड़ों से भी इस अनुमान की पुष्टि होती थी। संविदा के सम्वन्ध में आयोग का तर्क यह था कि वे अधिकतर अल्पकालीन थे और इसलिए उच्चतर अनुपात से प्रभावित नहीं थे।

यदि मूल्य और श्रम के साथ १ शि० ६ पैंस की दर के व्यवस्थापन को हम न भी मानें तो भी यह गम्भीरतापूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे किसी भी तरह १ शि० ४ पैंस की दर से व्यवस्थित थीं, क्योंकि गत ८ वर्ष में यह दर कभी भी पर्याप्त रूप से प्रभावपूर्ण नहीं रही। जहाँ तक व्यवस्थापन अथवा सामंजस्य का प्रश्न है, यह १ शि० ६ पैंस पर ही हुआ होगा। इन परिस्थितियों में १ शि० ४ पैंस की दर स्थापित करने से मूल्यों में १२½ प्रतिशत वृद्धि होना अवश्यम्भावी था जिससे

---

१. देखिए, पी० वी० जुनारकर, एन इक्ज़ामिनेशन ऑफ़ दि करेन्सी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ५५।

न दिखाई पड़े, परन्तु सूक्ष्म परीक्षण पर नये अनुपात के समर्थकों और विरोधियों द्वारा दिये गए तर्कों में अनेक दोष दिखाई पड़ेंगे।

(१) **बहुमत के तर्कों की आलोचना**—बहुमत के अनुसार १ शि० ६ पैंस की दर पर मूल्यों के व्यवस्थापन का तर्क देशनांकों पर आधारित था। देशनांक किसी प्रकार भी पथ-प्रदर्शक नहीं थे।[1]

जूट उद्योग के अतिरिक्त किसी अन्य उद्योग में १ शि० ६ पैंस के साथ मज़दूरी का सामंजस्य दिखाने के लिए बहुमत ने कोई सांख्यिकीय साक्षी प्रस्तुत नहीं की। दीर्घकालीन संविदाओं के सम्बन्ध में आयोग ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि १ शि० ६ पैंस की दर कठोर सिद्ध नहीं होगी क्योंकि, उदाहरण के लिए, १६१४ के मूल्यों में वृद्धि के कारण मालगुज़ारी बन्दोबस्त का वास्तविक आयात (इन्सीडेन्स) कम हो गया था। उन्होंने विनिमय के हेर-फेर के कारण मज़दूरों के पारिश्रमिक की छिपी हुई कमी के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किया। तर्कसंगत होने के लिए उन्हें मालगुज़ारी की छिपी हुई वृद्धि को १ शि० ६ पैंस की दर के विरुद्ध समझना चाहिए।

बहुमत का दृढ़तम तर्क यह था कि उच्चतर दर लगभग १ वर्ष से अधिक लागू रही और इसलिए पर्याप्त सामंजस्य अवश्य हो गया होगा। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पर्याप्त सामंजस्य के लिए एक वर्ष का समय काफ़ी नहीं था, अतएव यह तर्क सामंजस्य के विपक्ष में अधिक पड़ता है।[2]

(२) **१ शि० ४ पैंस की दर के पक्ष का आलोचनात्मक परीक्षण**—यह भी भली भाँति सिद्ध किया जा सकता है कि १ शि० ४ पैंस के समर्थकों ने भी ऐसे तर्कों का आश्रय नहीं लिया जिनका कोई अपवाद न हो। उदाहरण के लिए उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि १ शि० ६ पैंस के अनुपात को ठीक रखने के लिए सरकार ने मुद्रा का अत्यन्त संकुचन किया। यदि मुद्रा संकुचन सचमुच इतना अधिक किया गया था, तो वह अवश्य ही मूल्य के सामान्य स्तर को काफ़ी नीचे ले आता। मूल्यों में पर्याप्त कमी को स्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम १ शि० ६ पैंस की दर पर सामंजस्य को स्वीकार करते हैं।

उच्चतर अनुपात के विरोधियों ने ग्रामीण ऋणिता के बढ़ते हुए भार पर तो बल दिया, परन्तु किसानों को सस्ते औज़ारों की उपलब्धि और सामान्यतः कम लागत के रूप में प्राप्त अनुपात के क्षतिपूरक प्रभावों पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे यह समझने में भी असफल रहे कि अधिकांश कृषि-ऋण वस्तुओं के रूप में लिया जाता है और

---

१. देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, पैरा १७८-६।

२. अपनी विमति टिप्पणी (मिनट ऑफ़ डिसेण्ट) में (पैरा ८०) सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने केन्स के इस विचार को उद्धृत किया कि इंगलिस्तान-जैसे देश में विनिमय के १० प्रतिशत परिवर्तन के सामंजस्य के लिए लगभग २ वर्ष का समय आवश्यक है। यदि एक ऐसे देश में, जिसके व्यापार का अधिकांश भाग बाह्य है, इतना समय आवश्यक है, तो भारत-जैसे देश में यह समय अवश्य ही अधिक होना चाहिए, जिसका आंतरिक व्यापार विदेशी व्यापार की तुलना में कहीं अधिक है।

को मुख्य कारण के रूप में चुनना असम्भव है। हम यह आशा कर सकते हैं कि अनुपात के कारण उत्पन्न आर्थिक अव्यवस्था अनुपात स्थापित करने की निकटतम अवधि में उग्रतम होगी और धीरे-धीरे समय बीतने के साथ यह कम होती जाएगी।

परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने पर अनुपात किसी भी समय बदला जा सकता है, भले ही किसी समय उसका कितना ही सामंजस्य क्यों न हो गया हो। सितम्बर, १९३१ में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया था।[1] एकमात्र आर्थिक दृष्टिकोण से भी प्रश्न १ शि० ६ पैं० और १ शि० ४ पैं० के बीच चुनाव करने का ही नहीं है। नये अनुपात के परित्याग की सम्भावना का अर्थ १ शि० ४ पैंस के पुराने अनुपात की स्थापना नहीं है। हमें इसके लिए तत्पर रहना चाहिए कि यदि स्थिति का सम्पूर्ण और निष्पक्ष पुर्नविलोकन वर्तमान अनुपात का परिवर्तन आवश्यक समझता है (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) तो यह भी सम्भव हो सकता है कि इन परिवर्तित परिस्थितियों में उपयुक्त-तम अनुपात १ शि० ४ पैंस न होकर कोई अन्य अनुपात ही हो।

१८. सरकार द्वारा हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट का स्वीकरण—१६ जनवरी १९२७ को सरकार ने तीन बिल प्रकाशित किए जिनमें आयोग की सिफारिशें निहित थीं—(१) पहला बिल ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण प्रमाप करेन्सी स्थापित करने और रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का निर्माण करने के लिए था। (२) दूसरा बिल १९२० के इम्पीरियल बैंक कानून को सुधारने के लिए था। (३) तीसरा बिल कुछ उद्देश्यों के लिए १९२३ के पत्र-मुद्रा कानून और १९०६ के टंकन कानून को सुधारने और स्वर्ण विनिमय (बाद में बदलकर स्टर्लिंग हो गया) के खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में सरकार पर कुछ दायित्व रखने के लिए था। बैंकिंग के अध्याय में हम पहले और दूसरे बिल की चर्चा करेंगे। यहाँ हम तृतीय बिल से सम्बन्धित हैं जो विधान-सभा में ७ मार्च, १९२७ को सर बेसिल ब्लैकेट द्वारा प्रस्तावित किया गया। वित्त-मन्त्री ने करेन्सी बिल के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया, जिसमें कहा गया कि रुपये को स्थिर करने का समय आ गया था और भारत के वित्तीय इतिहास में पहली बार इस प्रकार निश्चित दर अनुपात को बनाए रखने के लिए करेन्सी अधिकारियों को कानूनन उत्तरदायी ठहराया।

१९. मार्च १९२७ का करेन्सी एक्ट—बम्बई की टकसाल में २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर से कम-से-कम ४० तोला (१५ औंस) वाले स्वर्ण-दण्ड के रूप में असीमित स्वर्ण-क्रय-सम्बन्धी कानून बनाकर सरकार ने १ शि० ६ पैंस के नये अनुपात को स्थापित किया। चाँदी के रुपयों और कागज़ी नोटों के स्वामी कलकत्ता के करेन्सी-नियन्त्रक (करेन्सी कण्ट्रोलर) अथवा बम्बई के करेन्सी

ने गोल्ड एण्ड स्टर्लिंग सेल्स रेगुलेशन आर्डिनेन्स को जारी किया, जिसने पुराने आर्डिनेन्स को रद्द कर दिया और पारिभाषिक रूप में १६२७ के करेन्सी कानून के विधानों को पुनः लागू किया, परन्तु इस आर्डिनेन्स के अन्तर्गत व्यवहार में स्टर्लिंग की बिक्री पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा गया और इस प्रकार नियन्त्रित स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप प्रारम्भ किया गया। नये आर्डिनेन्स के अन्तर्गत, स्टर्लिंग कुछ मान्यता प्राप्त बैंकों को ही बेचा जा सकता था जो इस सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व समझते थे। व्यापार की सामान्य आवश्यकताओं और २१ सितम्बर तक किये गए ठेकों के अर्थ-प्रबन्धन तथा उचित व्यक्तिगत एवं घरेलू उद्देश्यों के लिए यह पहली दर अर्थात् १ शि० ५$\frac{४६}{६४}$ पैंस की पुरानी दर पर बेचा जाता था। यह पिण्ड (बुलियन) के आयात अथवा परिकल्पनात्मक विनिमय के अर्थ-प्रबन्धन के लिए नहीं बेचा जाता था। भारत से धन के प्रवाह को रोकने और सरकार के स्वर्ण एवं स्टर्लिंग साधनों पर अनुचित भार न पड़ने देने के लिए इस प्रकार की सावधानियाँ बरती जाती थीं। इन नियन्त्रणों के लिए इम्पीरियल बैंक की एजेन्सी से काम लिया जाता था। स्टर्लिंग से सम्बन्ध होने के कारण सोने तथा उस पर आधारित अन्य करेन्सियों, जैसे डालर और फ्रैंक, के सम्बन्ध में रुपया स्टर्लिंग के अवमूल्यन एवं उतार-चढ़ाव में स्वाभाविक रूप से भागी होता था। स्टर्लिंग डालर-क्रास रेट में द्रष्टव्य स्वर्ण के मूल्य की स्टर्लिंग में वृद्धि का अर्थ रुपयों में भी स्वर्ण के मूल्य की वृद्धि होता था। सोने का मूल्य अगस्त, १६३१ के अन्त तक २१ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला था, परन्तु दिसम्बर, १६३१ में यह बढ़कर २६ रुपया २ आना प्रति तोला हो गया।[1] ऊँचे मूल्यों की प्रेरणा और अंशतः ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित आर्थिक कठिनाई ने जनता को सोना बेचने के लिए प्रस्तुत कर दिया।

सरकार की करेन्सी और विनिमय-सम्बन्धी नीति के इस पहलू ने तीक्ष्ण विवाद को जन्म दिया। भारतीय विधानमण्डल की राय लिये बिना ही राज-सचिव ने एक नई करेन्सी नीति की घोषणा कर दी, जिससे लोग अप्रसन्न हो गए। इसके अतिरिक्त सरकार के विपरीत की गई आलोचनाएँ दो भागों में विभाजित हो गईं—(१) १ शि० ६ पैंस पर रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध, (२) भारत से सोने का अनियमित निर्यात।

२१. **रुपये को १ शि० ६ पैंस से सम्बन्धित करना**—सरकार द्वारा अपनाई गई नीति के समर्थन में दिये गए मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं—(१) सरकार के पास दो विकल्प थे। रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध कर अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त करना तथा रुपये के विनिमय मूल्य को नियमित करने के किसी प्रयास के अभाव में पूर्ण अस्थायित्व का जोखिम उठाना। इन विकल्पों में से पहला विकल्प निश्चय ही अधिक पसन्द करने

---

१. बाद के वर्षों में सोने का मूल्य और अधिक हो गया। ७ मार्च, १६३५ को ३६ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला हो गया। ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण प्रमाप छोड़ने के बाद यह सबसे ऊँचा मूल्य था। एनुअल मार्केट रिव्यू (प्रेमचन्द रायचन्द एण्ड सन्स) १६३५, पृष्ठ ८०।

२२. भारत से स्वर्ण-निर्यात—सितम्बर, १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के बाद से जनवरी, १९४० के अन्त तक भारत से ३५१·४० करोड़ रुपये के स्वर्ण का निर्यात किया गया। इस निर्यात की व्याख्या भारत के स्वर्ण साधनों की बरबादी, देशी बैंकिंग प्रणाली की छिन्न-भिन्नता तथा पीढ़ियों की बचत की समाप्ति के रूप में की गई। यह तर्क उपस्थित किया गया कि स्वर्ण निर्यात के आकस्मिक सहयोग ने १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपये के अधिमूल्यन को छिपा दिया और सोने के अनियन्त्रित निर्यात ने देश का स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य तक पहुँचना असम्भव बना दिया। ऐसे अपूर्व पैमाने पर निर्यात किये गए सोने का पुनः खरीदना भारत के लिए आसान नहीं था। भारत के विपरीत विश्व के अन्य देश अपने स्वर्ण-भण्डारों को सुरक्षित रखे हुए थे और सम्भव होने पर उनमें वृद्धि करते जाते थे।

सरकारी नीति के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि विक्रीत सोना करेन्सी-स्वर्ण नहीं था वरन् व्यापारिक स्वर्ण था और मूल्य के भण्डार के रूप में काम करने वाली वस्तु थी। यह इसलिए बेचा गया क्योंकि इसके स्वामियों को इससे लाभ प्राप्त हो रहा था। इसे बेचने का एक अन्य कारण यह भी था कि अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए अनेक व्यक्ति अपनी सम्पत्तियों को नकद रुपये में बदलने के लिए विवश थे। प्रचलित आर्थिक कठिनाई अत्यन्त शोचनीय थी, परन्तु स्पष्टतया परेशान व्यक्तियों का हित सबसे महँगे बाजार में सोना बेचने के लिए दी गई असीमित स्वतन्त्रता में था। पुनः यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्तिगत अधिकार से सरकार सोने को उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि सोने का मूल्य उसके अधिकारियों के लिए पर्याप्त रूप से आकर्षक न हो। निर्यात किया हुआ सोना भारत के कुल सोने का एक अंशमात्र था। कुल स्वर्ण-भण्डार ७५०० लाख पौण्ड अनुमानित किया गया था। इस देश में जनता की प्रसिद्ध स्वर्ण-भूख का अकस्मात् लोप नहीं हो सकता था, अतएव कालान्तर में मूल्यों के सामान्य हो जाने पर वह पुनः खरीदकर वापस आ जाएगा। इस बीच में स्वर्ण-विक्रय व्यापारिक चक्र को स्निग्ध तथा उत्पादन की सहायता कर रहा था। व्यापारिक सन्तुलन पर इसका प्रभाव अनुकूल पड़ा और इसने गतिहीन धातु को सजीव मुद्रा का रूप प्रदान किया। राज-सचिव के लिए स्टर्लिंग विप्रेषण और स्टर्लिंग सुरक्षित कोष को दृढ़तर करने की दृष्टि से सरकार की आर्थिक स्थिति पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। इसने रुपया स्टर्लिंग विनिमय को १ शि० ६ पैंस की दर पर स्थायित्व प्रदान करने में भी सहायता पहुँचाई और लन्दन तथा विश्व में भारत की साख को सुधार दिया। स्वर्ण निर्यात ने नोट प्रचलन, पोस्टल केश सर्टिफिकेट, पोस्टल सेविंग्स डिपाज़िट, बैंक की जमा आदि में वृद्धि की सामान्यतः सस्ते द्रव्य की स्थिति उत्पन्न कर देश के व्यापारिक पुनरुत्थान में सहायता पहुँचाई।

पी० अदारकर के लेख 'इण्डियन जनरल ऑफ इकनामिक्स' जुलाई १९३५ और जनवरी १९३६ में देखिए।

किया। रिज़र्व बैंक से वर्तमान अनुपात (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) को उच्चतर और निम्नतर बिन्दु के बीच व्यवस्थित करने के लिए कहा गया, मानो रुपया स्वर्ण-प्रमाप पर था। चालीसवीं धारा के अनुसार रिज़र्व बैंक अपने कार्यालयों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली और रंगून—में कानूनी मुद्रा में भुगतान करने पर किसी भी व्यक्ति को लन्दन में देने के लिए १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पैंस की दर पर स्टर्लिंग बेचने के लिए बाध्य था। इस विधान का अर्थ रुपये को १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पैंस से नीचे गिरने से बचाना है, जो रुपये के निम्नतर बिन्दु के अनुरूप था। (१ शि० ६ पैंस—स्टर्लिंग की इस मात्रा को लन्दन में रखने का व्यय) इसके विपरीत धारा ४१ के अनुसार तत्काल ही लन्दन में देने के लिए १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पैंस की दर पर किसी भी व्यक्ति से स्टर्लिंग ख़रीदना बैंक के लिए आवश्यक था। यह दर रुपये के उच्चतर बिन्दु के अनुरूप थी (१ शि० ६ पैंस+इस मात्रा की स्टर्लिंग को लन्दन से बम्बई आयात करने का व्यय)। यह भी निर्धारित किया गया कि कोई भी व्यक्ति १० हज़ार पौण्ड से कम मात्रा में स्टर्लिंग की माँग बेचने और खरीदने के लिए नहीं कर सकता।[1]

करेन्सी के सम्बन्ध में आधुनिक व्यवस्था

मूल अधिनियम के अन्तर्गत यह प्रस्तावित था कि जारी किये गए नोटों के पीछे एक निश्चित अनुपात में सोना और विदेशी प्रतिभूतियाँ रखी जाएँ। कुल सम्पत्ति (एसेट) का ४० प्रतिशत सोना, सोने का सिक्का और विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में होना चाहिए, किन्तु किसी भी समय सोने और सोने के सिक्कों का मूल्य ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होना चाहिए। यह व्यवस्था लगभग २० वर्ष तक चलती रही।

नोट निर्गमन को विदेशी प्रतिभूतियों से सम्बन्धित करना अब भूतकाल की बात हो गई है। युद्ध एवं युद्धोत्तरकालीन वर्षों में केन्द्रीय बैंक-सम्बन्धी अधिनियमों की सामान्य प्रवृत्ति नोट निर्गमन से विदेशी सुरक्षित कोष को असम्बद्ध करने की रही है। अब लगभग सभी यह मानते हैं कि विदेशी विनिमय के सुरक्षित कोष का सामान्य उद्देश्य यही है कि देश भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल परिवर्तनों का सफलतापूर्वक सामना कर सके। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य के प्रसार तथा विकास-योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं की तीव्र प्रगति के फलस्वरूप चलार्थ (करेन्सी) में पर्याप्त विस्तार अपेक्षित होगा। इन सम्भावनाओं को दृष्टिगत रखकर ही रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५६, जो ६ अक्तूबर १९५६ से लागू हुआ, के अन्तर्गत आनुपातिक व्यवस्था के स्थान पर विदेशी सुरक्षित कोष की एक निम्नतम राशि अर्थात् ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रु० का सोना या सोने के सिक्के रखने का विधान है। इस अधिनियम ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष (आई० एम० एफ०) द्वारा मान्य सोने का मूल्य रु० ६२.५० प्रति तोला

---

१. अप्रैल, १९४७ के रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एमेंडमेंट एक्ट ने धारा ४०-४१ को रद्द कर दिया और इसलिए अब स्टर्लिंग को बेचने और खरीदने का कोई परिनियत दायित्व रिज़र्व बैंक पर नहीं है।

पुनर्जीवित कर देगा। स्टर्लिंग से सम्बद्ध होकर सोने की तुलना में रुपये का ४० प्रतिशत अवमूल्यन हो चुका था। अतएव रुपये के और अधिक अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उपर्युक्त अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत स्टर्लिंग क्षेत्र के आर्थिक पुनरुत्थान में भाग लेने योग्य हो गया था। रुपये को अधिमूल्यित नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि करेन्सी के अधिमूल्यन का कोई चिह्न ही न था। उदाहरण के लिए, वजट का घाटा, द्रव्य की ऊँची दर, करेन्सी सुरक्षित कोष में सोने की कमी, ह्रासमान व्यापारिक सन्तुलन और मुद्रा-संकुचन-जैसे कोई चिह्न विद्यमान नहीं थे। यूरोपीय करेन्सियों के अवमूल्यन ने भारत को अधिक प्रभावित नहीं किया और विदेशी करेन्सियों के अवमूल्यन के फलस्वरूप हुए राशिपतन से अपने उद्योगों की सुरक्षा के लिए १८९४ के प्रशुल्क अधिनियम (टेरिफ एक्ट) से भारत सुसज्जित था। जहाँ तक हमारे अति अभिलषित निर्यात व्यापार के पुनरुत्थान का सम्बन्ध है, अवमूल्यन प्रतिकार की भावना को उत्तेजित कर स्थिति को और बिगाड़ देगा। वास्तविक कठिनाई विदेशों की आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक प्रतिबन्ध थे, अतएव इसका उचित हल अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शान्ति की वृद्धि तथा करेन्सियों का स्थिरीकरण था। अन्त में यह भी कहा गया कि अवमूल्यन करना भारत के लिए बुद्धिमानी न होगी, क्योंकि इससे नए विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने के समय ओटोनिमेयर (आर्थिक) निर्णय गड़बड़ हो जाएगा।

१९३७-३८ की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप सोने और व्यापारिक माल के निर्यात में अवनति से रुपये के विनिमय अर्घ में हुई कमी ने अवमूल्यन आन्दोलन को पुनः जागृत करने के लिए समर्थन प्रदान किया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने रुपये के अनुपात को संशोधित कराने का काम अपने हाथ में ले लिया। भारत सरकार परिनियत अनुपात में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरुद्ध थी और उसने घोषणा की कि रुपये का वर्तमान मूल्य बनाए रखना भारत के हित में आवश्यक था तथा इस कार्य के लिए रिज़र्व बैंक और भारत सरकार के पास स्वर्ण एवं स्टर्लिंग सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में थी। फिर भी आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया और सितम्बर, १९३८ में भारतीय द्रव्यात्मक पद्धति के स्थायी आधार को निश्चित करने तथा रुपये के अनुपात के सम्पूर्ण प्रश्न पर रिपोर्ट देने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति का असफल प्रयत्न केन्द्रीय विधान सभा के कुछ गैर सरकारी सदस्यों द्वारा किया गया।

रुपया, जो १९३८ में अधिमूल्यित समझा जाता था, मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा करने के बाद अवमूल्यित समझा जाने लगा।[1]

२६. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष और रुपये का सम-मूल्य—३१ दिसम्बर, १९४५ से पहले दोनों समझौतों पर हस्ताक्षर करके भारत सरकार ने ब्रेटन वुड्स समझौते पर डटे रहने तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता के लाभ भारत के लिए प्राप्त करने का निर्णय

१. देखिए, एनुअल मार्केट रिव्यू (१९३९), पृष्ठ १८ और सेक्शन २८ भी देखिए।

(२) यद्यपि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य की तुलना में भारत के ऊँचे मूल्य-स्तर रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता का संकेत करते प्रतीत हो रहे थे, परन्तु इस बात की भी सम्भावना थी कि निकट भविष्य में मूल्य के दोनों स्तर भारत में मूल्यों के गिराव और इंगलिस्तान (युनाइटेड किंगडम) तथा संयुक्तराज्य में मूल्यों की वृद्धि के फलस्वरूप एक-दूसरे के अत्यन्त निकटतर आ जाएँगे।

(३) अवमूल्यन भारतीय मूल्यों के अत्यन्त ऊँचे स्तर को और ऊँचा कर देगा और अत्यधिक ऊँचे मूल्यों को कम करने के लिए अत्यधिक समर्थन-प्राप्त घोर उत्पादन तथा स्वतन्त्र आयात की नीति में बाधक सिद्ध होगा।

अवमूल्यन से मशीनों आदि के मूल्य में वृद्धि हो जाएगी। औद्योगीकरण के लिए भारत विदेशों से इनका आयात करने के बारे में सोच रहा था। अतएव इनका रुपया-मूल्य बढ़कर अवमूल्यन औद्योगीकरण में भी बाधक सिद्ध होगा।

(४) कोष की योजना के अन्तर्गत भविष्य में यदि अनुपात में उचित परिवर्तन करना आवश्यक हो, तो यह सदैव सम्भव होगा। सदस्य देश स्वयं सम-मूल्य के १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता था और मौलिक असन्तुलन को ठीक करने के लिए और अधिक परिवर्तन बाद में कोष की आज्ञा से किया जा सकता था।

२७. रुपये का अवमूल्यन (सितम्बर १९४९)—१९ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटिश सरकार ने पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन की घोषणा की। पौंड-डालर विनिमय की सरकारी दर १ पौंड=४·०३ डालर थी। नया अनुपात १ पौण्ड=२·८० डालर निश्चित किया गया। भारतीय रुपये ने इसका अनुसरण किया। परिणामतः रुपया १ शि० ६ पैं० के बराबर रहा, परन्तु डालर में ३०·२२५ अमरीकी सेण्ट के स्थान पर वह २१ सेण्ट के बराबर ही रह गया।[1]

ट्रेज़री बिल और स्टर्लिंग की पर्याप्त खरीद के फलस्वरूप हुआ। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि इस बीच रुपया-स्टर्लिंग विनिमय बहुत स्थिर रहा।

२६. रुपये के सिक्के को प्रचलन से वापस लेना और एक रुपये के नोट का प्रचलन—यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय करेन्सी पद्धति ने युद्ध की कठिनाइयों का सामना भली प्रकार किया और सामान्यतः कागजी करेन्सी में विश्वास बना रहा, परन्तु यूरोप में युद्ध-स्थिति खराब हो जाने से १६४० की मई-जून में प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। रुपये के सिक्के में नोटों का भुगतान करने के लिए रिज़र्व बैंक से माँग की गई। बैंकों से निकाला जाने वाला रुपया, जो पहले औसतन एक करोड़ रुपया प्रति सप्ताह निकाला जाता था, अकस्मात ४-५ करोड़ रु० प्रति सप्ताह हो गया। युद्ध होने के बाद रिज़र्व बैंक ने ४३ करोड़ से अधिक रुपये के सिक्कों की पूर्ति की, जिनका आसंचयन कर लिया गया जो निर्गम विभाग (इश्यू-डिपार्टमेण्ट) में रुपये के सिक्के के भण्डार की कमी से भी स्पष्ट है। युद्ध के आरम्भ में निर्गम विभाग में ७५.४७ करोड़ रुपये के सिक्के थे और ५ जुलाई, १६४० को केवल ३२ करोड़ रुपये के सिक्के थे। इन परिस्थितियों में सरकार ने रुपये की स्वतन्त्र वापसी की प्रारम्भिक नीति में परिवर्तन करने का निश्चय किया। यद्यपि भारत सरकार का रजत-भण्डार पर्याप्त था, तथापि भारत की टकसालों में उस दर पर रुपया बनाना असम्भव मालूम पड़ता था, जिस दर पर रुपया जनता द्वारा आसंचित किया जा रहा था। इसलिए २५ जून, १६४० को भारत सरकार ने व्यक्तिगत अथवा व्यापारिक आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के की प्राप्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था करने वाली एक अधिसूचना प्रकाशित की। कुछ समय तक रुपये के सिक्कों को नोटों से अधिक मूल्य पर माँगा गया और रुपये के सिक्कों तथा छोटे-छोटे सिक्कों (रेज़गारी) का अभाव हो गया। इन कठिनाइयों को शीघ्रता से हल किया गया और रिज़र्व बैंक ने छोटे सिक्कों के विस्तृत प्रचलन तथा रुपये की उचित माँग को पूरा करने के लिए प्रबन्ध किया।

३०. चाँदी के सिक्कों के रजत-तत्त्व में कमी—देश के रजत साधनों को सुरक्षित रखने का दूसरा उपाय कुछ सिक्कों के रजत-तत्त्व की शुद्धता के स्तर को कम करना था। अप्रैल, १६४० में केन्द्रीय विधानमण्डल ने सरकार को चवन्नी के $\frac{११}{१२}$ रजत-तत्त्व को $\frac{१}{२}$ रजत-तत्त्व तक कम करने का अधिकार दिया। इसका उद्देश्य साधारण तौर पर धातुओं के सरकारी भण्डार को और अधिक सेवा योग्य बनाना है। इस उद्देश्य के लिए १६०६ के इण्डियन क्वॉयनेज एक्ट को सुधारने के लिए २६ जुलाई, १६४० को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एक आदेश के अन्तर्गत अठन्नी के रजत-तत्त्व में भी इसी प्रकार की कमी की गई। रुपये के आसंचयन के बाद चवन्नी और अठन्नी की बढ़ती हुई माँग के फलस्वरूप यह कदम उठाया गया। २२ दिसम्बर, १६४० को रुपये में भी आधी चाँदी और मिलावट की व्यवस्था की गई। अप्रैल, १६४७ में इण्डियन क्वॉयनेज एक्ट को सुधारने के लिए एक बिल पास हुआ, जिसके फलस्वरूप गिलट के रुपये ने चाँदी के रुपये का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार संयुक्त राज्य को

उत्पादन-क्षमता सुरक्षित रखने के लिए भी आवश्यक थे, क्योंकि यूरोप से पूर्ति बन्द हो जाने के कारण इस देश से आयात बढ़ रहे थे। जापान के युद्ध में उतर आने के बाद जहाजरानी की स्थिति और भी खराब हो गई। अतएव अनुज्ञा (लाइसेंस) देने में जहाजों में स्थान की सुलभता पर अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। १९४२-४३ में आयात की अदायगी से प्राप्त डालरों में काफ़ी कमी हुई। यह कमी प्रधानतः मशीन और स्टील आदि के आयात के कारण हुई, जिसके लिए पहले बहुत अधिक मात्रा में डालर की आवश्यकता होती थी तथा जो उधार-पट्टे के अन्तर्गत थे। इस प्रकार के माल का आयात करने वाले भारत सरकार को रुपये में ही भुगतान कर देते थे और विदेशी विनिमय का कोई लेन-देन नहीं होता था। १९४४-४५ में तत्कालीन विनिमय-नियन्त्रण पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाली करेन्सियों की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा रहा और इन देशों को निर्यात की आज्ञा इस शर्त पर दी जाती थी कि प्राप्त राशि विदेशी विनिमय के अधिकृत व्यापारियों के हाथ बेची जाए। इस प्रकार देश के विदेशी विनिमय के साधनों की पूर्ण सुरक्षा और उनका उपयोग किया गया। यद्यपि पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तथापि विदेशी विनिमय की माँग के लिए अपनाई गई नीति में परिवर्तन किया गया और देश के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले कामों के लिए विदेशी विनिमय को उदारतापूर्वक सुलभ किया जाने लगा।

आयात की घनीभूत माँग को पूरा करने और मुद्रास्फीति को समाप्त करने के साधन के रूप में १९४५-४६ में भारत सरकार ने आयात अनुज्ञा पद्धति (इम्पोर्ट लाइसेन्स सिस्टम) के अन्तर्गत, उपभोग की वस्तुओं का आयात का कोटा काफ़ी बढ़ा दिया। इससे विशेषकर संयुक्तराज्य के साथ भारत के (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के) लेन-देन के सन्तुलन की अनुकूलता में तेज़ी से कमी आ गई।

१९४५ में युद्ध के समाप्त होने पर विनिमय-नियन्त्रण-नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जहाज़रानी की दशा में सुधार होने के कारण विनिमय-विचारों से अप्रभावित स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के आयात पर लगे प्रतिबन्ध ढीले कर दिये गए, परन्तु संयुक्तराज्य के डालर के व्यय के सम्बन्ध में कठोर मितव्ययता चलती रही।

३२. स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—ब्रिटिश भारत के अन्दर सोने के स्थानान्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु स्वर्ण का आयात-निर्यात रिज़र्व बैंक द्वारा दी गई अनुज्ञा के आधार पर ही हो सकता था। साधारणतया आयात के लिए अनुज्ञा दे दी जाती थी, परन्तु निर्यात की अनुज्ञा तभी मिलती थी जबकि सोना बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड को भेजा जाता हो। अमरीका भेजने के लिए अनुज्ञा उस समय दी जाती थी जब प्राप्त डालर बैंक ऑफ़ इंगलैंड की ओर से फ़ैडरल रिज़र्व बैंक को बेच दिये जाएँ।

यद्यपि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के निर्गम विभाग (इश्यू डिपार्टमेंट) में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ १ सितम्बर, १९३९ को ५९·५० करोड़ रुपया थीं और १ सितम्बर,

पोस्ट-वार डालर फण्ड नाम का एक और कोष था जिसमें १९४४ के लिए संचय ने २०० लाख डालर दिया। १९४३-४४ में साम्राज्य डालर संचय के प्रति पर्याप्त अंशदान देने और संयुक्त राज्य को पारस्परिक सहायता देने की हमारी इच्छा के कारण राजाधिराज सरकार ने जापान के साथ युद्ध समाप्त होने पर संयुक्त राज्य में पूंजी व्यय के लिए २०० लाख डालर का एक पृथक् कोष भारत को दिया। इन उद्देश्यों के सारे व्यय को इसी कोष में पूरा किया जाता था और इसके समाप्त होने तक इस प्रकार के व्ययों के लिए संचय से डालर नहीं लिये जा सकते थे। यह २०० लाख डालर हमारे १९४४ के व्यापारिक खाते का प्रतिशत अंश था तथा राजाधिराज सरकार इस बात पर राज़ी हो गई कि १९४५ में हमारी अर्जित आय १९४४ के बराबर होने पर वह इस कोष में हमें अधिक-से-अधिक २०० लाख डालर १९४५ के वर्ष के लिए भी देगी। १९४५ के लिए राजाधिराज सरकार ने २०० लाख डालर देने की सूचना दी।

सरकार की आयात-नियन्त्रण नीति की आलोचना दो बातों पर आधारित थी—(१) आयात अनुज्ञा प्रदान करने वाला शासन-यन्त्र शिथिल और अकुशल था। (२) विनिमय-नियन्त्रण की सख्ती के कारण आयातकर्ताओं के लिए मशीन और अन्य वस्तुएं स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से मँगाना बहुत कठिन हो गया। युद्ध की समाप्ति के कारण परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत सरकार ने इस आशा के साथ आयात-नियन्त्रण के शासन में परिवर्तन किया कि आयात के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि संक्षिप्त और सरल हो जाए। उन्होंने नियन्त्रित वस्तुओं की सूची से यथा-सम्भव वस्तुओं को हटाने और उन्हें स्टर्लिंग क्षेत्र के लिए अनुज्ञायुक्त (ओपन जनरल लाइसेन्स) करने की नीति अपनाई। कुछ अन्य वस्तुएँ पूर्णतया अनुज्ञायुक्त सूची (यूनिवर्सल ओपन जनरल लाइसेन्स) के अन्तर्गत रखी गईं, जिसका अर्थ यह था कि वस्तुओं का आयात स्वतन्त्रतापूर्वक स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर या बाहर कहीं से भी किया जा सकता था।

स्टर्लिंग क्षेत्रों में तुलनात्मक वस्तुओं के गुण, मूल्य और उन्हें प्राप्त करने की अवधि को ध्यान में रखते हुए अलभ्यता को निश्चित किया जाता था। अलभ्यता सिद्ध करने का भार आयातकर्ताओं से हटाकर सरकार को दे दिया गया, ताकि सरकार अपनी जाँचों से सन्तुष्ट हो सके कि बाहर से आयात की जाने वाली वस्तुएं स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर सुलभ थीं अथवा नहीं। एक दूसरा परिवर्तन करेन्सियों को प्राप्त करने की कठिनाई के अनुसार उनको क्रमबद्ध करना तथा उन्हें प्राप्त करने की सरलता के अनुसार आयातों के लिए अनिवार्यता और अलभ्यता की कसौटियों को ह्रासमान कठोरता के साथ अपनाना था।

जुलाई १९४७ से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों को भी सम्मिलित करने की दृष्टि से विनिमय-नियन्त्रण का क्षेत्र बढ़ा दिया गया। भौगोलिक निकटता तथा व्यापार के अनौपचारिक रूप के कारण अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के लिए यह नियन्त्रण फरवरी, १९५१ से लागू हुआ।

अध्याय २४

अधिकोषण (बैंकिंग) और साख[1]

भारतीय अधिकोषण का इतिहास

१. देशी अधिकोष—भारतीय अधिकोष प्रणाली इतनी ही पुरानी है जितनी कि यहाँ का व्यापार। सम्भवतः भारतवर्ष में संसार के अन्य देशों से भी पहले तथा उनसे भी अधिक, अधिकोप प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। चाणक्य के अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०) में ऐसे व्यापारी महाजनों के शक्तिशाली संघों का वर्णन है जो रुपया जमा लेते, उधार देते तथा अनेक ऐसे कार्यों का सम्पादन करते थे, जो आधुनिक अधिकोप करते हैं।

भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही यहाँ उथल-पुथल तथा अ-रक्षा काल का प्रारम्भ होता है, जो अधिकोप व्यवस्था के लिए अति हानिकारक है। अपने संचित धन को किसी को सौंपना खतरे से खाली न था, अतः इसे अब छिपाकर संचित किया जाने लगा। तो भी व्यक्तिगत साहूकार समृद्धिशाली होते ही गए। साधारणतया वे व्यापार तथा महाजनी दोनों कार्य साथ-साथ ही करते थे। वे राज्य को कर्ज़ देते थे तथा अनेक प्रभावशाली महाजन परिवारों का सम्बन्ध किसी-न-किसी देशी राजदरबार से होता था। 'बिना दरबारी महाजन के शाही दरबार अपूर्ण समझा जाता था। ऐसे महाजन को प्रायः एक मन्त्री की शक्ति प्रदान की जाती थी।' बंगाल के नवाबों के खानदानी महाजन जगतसेठ परिवार का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इन महाजनों का देश की राजनीति में कितना हाथ था।[2]

अब भी देशी अधिकोप प्रणाली इस देश की द्रव्य व्यवस्था का प्रधान अंग है। प्रत्येक गाँव, कस्बे तथा नगर में देशी महाजन[3] मौजूद हैं। एक ओर गाँव में ये छोटे

---

१. भारतीय अधिकोष तथा साख विषयक प्रामाणिक सूचना १९२९-३० में नियुक्त विभिन्न प्रांतीय अधिकोष खोज-समितियों तथा केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के साक्ष्य के विवरण तथा पुस्तकों में विस्तारपूर्वक दी गई है। अपनी रिपोर्ट पेश करने के पूर्व केन्द्रीय अधिकोप खोज समिति को प्रांतीय समितियों की रिपोर्ट तथा ६ विदेशी विशेषज्ञों के दृष्टिकोण से भी विचार करना था। विदेशी विशेषज्ञों ने अलग से अपनी एक रिपोर्ट तैयार की थी, जिसे केन्द्रीय समिति ने अपनी रिपोर्ट में ही शामिल कर लिया। इस परिच्छेद में केन्द्रीय अधिकोप खोज समिति तथा उसके अनुच्छेदों का निर्देश क्रमशः "के० अ० रि०" तथा अंकों द्वारा किया गया है।

२. देखिए, एच० सिन्हा द्वारा लिखित 'अर्ली यूरोपियन बैंकिंग इन इण्डिया', पृष्ठ १-३।

३. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने निम्नलिखित परिभाषा दी है—"देशी महाजनों से हमारा अभिप्राय इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया, विनिमय बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक तथा सहकारी समितियों को

स्थापित कर उन्हें सुविधा प्रदान नहीं कर सकते। इस स्थिति में भारतीय साहूकार अनिवार्य मध्यस्थ है। बैबिंगटन स्मिथ समिति के निम्नलिखित शब्दों से यह स्पष्ट है कि देशी महाजनों तथा आधुनिक द्रव्य-व्यवस्था के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है—जिन लोगों का बैंकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है वे प्रायः प्रसिद्ध शहरों के अच्छी स्थिति वाले सर्राफ ही होते हैं। वे अपनी निजी पूँजी से कारबार करते हैं और साधारणतया छोटे-छोटे सर्राफों तथा दूसरे लोगों की हुण्डियाँ[1] खरीद लेने के पश्चात् ही वे बैंकों का आश्रय लेते हैं। जिन सर्राफों की हुण्डियाँ बड़े सर्राफ खरीदते हैं वे अपने से भी छोटे सर्राफों को रुपया देते हैं। इस प्रकार यह क्रम गाँव के बनियों, अनाज बेचने वालों तथा सुनारों तक चलता है।

३. पुरानी तथा नई अधिकोष प्रणाली के एकीकरण की आवश्यकता—साधारणतया यह अनुभव किया जा रहा है कि देश के पूँजी के साधनों का उपयोग करने तथा इसके साख के संगठन के नियन्त्रण में एकता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि देशी अधिकोप-पद्धति और आधुनिक मिश्रित-पूँजी-प्रणाली के बीच निकटतम घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाए। १९३३ में सर जॉर्ज शुस्टर ने असेम्बली में रिज़र्व बैंक विधेयक पर बोलते हुए कहा था कि "भारत के सम्पूर्ण बैंकिंग तथा साख के सम्बन्ध में देशी महाजनों द्वारा किये गए कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना अति दुष्कर है। यह कथन अत्युक्ति नहीं कि इनका संगठन सम्पूर्ण साख-संगठन के ९० प्रतिशत से भी अधिक है। दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि सहकारी समितियों के विकसित होने तथा इम्पीरियल बैंक की सौ नई शाखाओं के खुल जाने के बावजूद भी देशी अधिकोष तथा आधुनिक अधिकोष-प्रणाली का सम्बन्ध अभी भी मामूली और अपरिपक्व दशा में ही है। देशी महाजनों के रूप में प्रकट (रिप्रेजेंटिड्) भारत के इस वृहत् अधिकोप तथा साख-संगठन का सहयोग जब तक आधुनिक द्रव्य बाज़ार के साथ, जिसका नियन्त्रण रिज़र्व बैंक करता है, नहीं होता, तब तक रिजर्व बैंक के लिए साख तथा सिक्के पर पूर्ण नियन्त्रण करना असम्भव है, यद्यपि पाश्चात्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का यह कर्तव्य समझा जाता है। भारत के गाँवों में निवास करने वाली जनता के लिए भी यह सम्भव नहीं होगा कि वह उचित शर्त पर साख तथा अधिकोष-सम्बन्धी वह लाभ प्राप्त कर सके, जिसे प्रदान करना एक सुसंगठित अधिकोप-प्रणाली का कर्तव्य है।"

४. देशी साहूकारों से सम्बन्ध स्थापित करने की रिजर्व बैंक की योजना—रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १९३४ की धारा ५५ (१) (अ) के अनुसार रिज़र्व बैंक को तीन वर्ष के अन्तर्गत ही शीघ्रातिशीघ्र गवर्नर जनरल की परिपद (गवर्नर जनरल इन

---

१. हुंडियाँ तीन उद्देश्यों से लिखी जाती हैं—(क) कर्ज प्राप्त करने के लिए (इस हालत में हुंडी व्यावसायिक हुंडी तथा हस्तपत्रक (हेंड विल) के समान होती है।) (ख) व्यापार को दैनिक योग देने के लिए जबकि यह विनिमय-पत्र के समान होती है, परन्तु विनिमय-पत्र की भाँति हुंडियों के साथ बिक्री के सौदे, बीजक, गोदाम की रसीद आदि स्वत्व-अधिकार-पत्र सदैव नत्थी नहीं किये जाते। साधारणतया केवल हुंडी ही दी जाती है। (ग) रुपये को व्यापार या किसी अन्य अभिप्राय से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए।

स्वीकृति से अपना अखिल भारतीय संगठन बना लें।

(ग) सर्राफ उद्योग तथा व्यापार को वित्तीय योग देते हैं। अतः उन पर ऋण-सम्बन्धी अधिनियम न लागू हों।

(घ) सर्राफ दर्शनी हुण्डियों के स्थान पर ९० दिन की हुण्डियों का प्रयोग करें और प्रोत्साहनस्वरूप उनकी ऐसी हुण्डियों की आधी स्टाम्प ड्यूटी सरकार कम कर दे।

(च) रिज़र्व बैंक, आवश्यकता हो तो, रिज़र्व बैंक अधिनियम में संशोधन कराके, अनुसूचित बैंकों के माध्यम से सर्राफों, विशेषतः शिकारपुरी सर्राफों की मुद्दती हुण्डियों का पुनर्बट्टा करे, जब तक सर्राफों का रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो जाता।

(छ) व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि छोटे व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धियों द्वारा लिखी तथा सर्राफों द्वारा पृष्ठांकित हुण्डियों का बट्टा करे, बशर्ते हुण्डी-सम्बन्धी पक्षों का बैंक को विश्वास हो।

५. आधुनिक अधिकोष का उदय—कलकत्ता के एजेन्सी हाउसों ने सर्वप्रथम इस देश में यूरोपीय अधिकोष प्रणाली का आरम्भ किया। उन लोगों के कारोबार के सहायक अंग के रूप में ही इसका उदय हुआ। साहूकारों की हैसियत से ये एजेन्सी हाउस यहाँ के धनी सौदागरों तथा उद्योगपतियों के साथ कारोबार करते थे तथा उनके जहाज़ों तथा नील की फैक्ट्रियों को बंधक रखकर उन्हें कर्ज़ देते थे। भारत में निवास करने वाली यूरोपीय जाति तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारीगण अपनी बचत सरकारी सिक्यूरिटी की अपेक्षा ब्याज की ऊँची दर के लोभवश एजेन्सी हाउसों के हवाले करते थे। सट्टेबाज़ी के कारण एजेन्सी हाउसों को मुसीबत का सामना करना पड़ा और १८२९-३२ के व्यावसायिक संकट ने तो उनका गला ही घोंट दिया। अस्तु यूरोपीय प्रणाली के आधार पर संगठित बैंक न तो उस समय ही मिश्रित पूँजी वाले थे, न आज ही वे पूर्णतया वैसे हैं। ग्रिंडलेज़-जैसी यूरोपीय फ़र्मों में निजी अधिकोष विभाग होता है। सर्वप्रथम अलेग्ज़ेंडर एण्ड कम्पनी ने कलकत्ता में बैंक ऑफ़ हिन्दुस्तान की स्थापना की, जो पूर्णतया यूरोपीय प्रणाली पर आधारित प्रथम अधिकोष था। १८२९-३२ के व्यावसायिक संकट के समय अलेग्ज़ेंडर कम्पनी और साथ में उस बैंक का भी दिवाला निकल गया। उसी ध्वंसावशेष पर तत्पश्चात् कलकत्ता के प्रायः सभी प्रमुख एजेन्सी हाउसों के सहयोग से यूनियन बैंक नामक मिश्रित पूँजी वाले बैंक की स्थापना की गई, पर १८४८ में वह भी बन्द हो गया।[1]

६. प्रेसीडेन्सी बैंक—प्रेसीडेन्सी बैंकों में सबसे पुराने तथा शक्तिशाली बैंक ऑफ़ बंगाल की कलकत्ता में १८०६ में ५० लाख की पूँजी के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक सनद द्वारा स्थापना हुई। इस पूँजी में १० लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी

---

१. इसके बाद भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की उन्नति का विवरण आगे पैरा १३ व १७ में दिया है।

तो यह थी कि वैंकों में निम्नतम से भी अधिक रकम रहती थी, लेकिन वे तो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। राजस्व का एक वड़ा भाग सरकारी खाते में ऐसे समय में पड़ा रहता था, जवकि द्रव्य-वाज़ार में उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। हमारे देश में साधारणतया नवम्बर से जून तक कारोबार का मौसम तथा जुलाई से अक्तूवर तक शिथिल मौसम होता है। केवल कलकत्ता में कारोबार का मौसम जुलाई से अक्तूवर तक का होता है। जनवरी से अप्रैल तक के ही चार महीनों में लगान की वसूली होने के कारण लगान का मौसम तथा व्यस्त कारोवारी मौसम एक ही साथ पड़ते हैं। सरकार को वहुत वड़ी मात्रा में कार्यशील रकम रखनी होती थी, क्योंकि मालगुज़ारी की प्राप्ति वारहों मास तो एक समान होती नहीं, पर उसे लगान वसूल करने का व्यय तो सालभर समान रूप से करना पड़ता है। इन सव परिस्थितियों से इस वात की सम्भावना समझी गई कि कारोवार के मौसम में सरकार अपनी वैत्तिक स्थिति को क्षति पहुँचाए विना ही द्रव्य-वाज़ार की अधिकाधिक सहायता कर सकती है।

८. प्रेसिडेन्सी वैंक के कारोवार तथा विकास—प्रेसिडेन्सी वैंकों को (१) विदेशी विनिमय-सम्वन्धी कार्य करने और (२) दूसरे पेशों से द्रव्य उधार लेने से मना कर दिया गया तथा (३) ऋण देने के लिए ऋण की मात्रा, ऋण-काल, ऋण के वन्धक-पत्रों सम्वन्धी कुछ प्रतिवन्ध लगा दिए गए।

इन सव प्रतिवन्धों तथा विघ्नों के होते हुए भी प्रेसिडेन्सी वैंकों की अनवरत समृद्धि रुकी नहीं। जिस तेज़ी के साथ उनका विकास हो रहा था उसमें इन प्रतिवन्धों ने प्रभाव तो अवश्य ही डाला, पर दूसरी ओर इन्हीं सवके कारण उन वैंकों की स्थिरता तथा शक्ति में वृद्धि भी हुई—विशेषत: १९१४-१८ के युद्ध के पूर्वकाल में इन वैंकों में निजी निक्षेपों की मात्रा में सतत वृद्धि हुई। भारतवर्ष के मिश्रित-पूँजी वाले वैंकों से भिन्न प्रेसीडेन्सी वैंक अपने उत्तरदायित्व के ३० प्रतिशत से भी अधिक रक्षित नकद रखकर अपनी स्थिति सुदृढ़ वनाये हुए थे। इन वैंकों में सरकार हर समय कुछ-न-कुछ रकम रखती थी, जो प्राय: निश्चित निम्नतम सीमा से अधिक ही हुआ करती थी तथा जहाँ-जहाँ भी इन वैंकों की शाखाएँ होतीं वहाँ वे कुछ सामान्य सरकारी कारोवार कर दिया करते थे, जिसके वदले उन्हें निश्चित पारिश्रमिक की प्राप्ति हो जाती थी। इसके अतिरिक्त करेन्सी नोटों को प्रचलित करने के उद्देश्य से ये वैंक अपनी शाखाओं में नोटों को भुनाने में भुगतान का सुभीता भी प्रदान करते थे। सरकारी सहयोग-प्राप्त वैंकों के असोसियेशन ने लाभदायक शर्तों पर निजी निक्षेप तथा वैंकिंग कारवार को आकर्षित कर वैंकों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए और देश की अधिकोप-पद्धति में इन वैंकों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

९. विनिमय वैंक (विदेशी वैंक)—ऊपर हम उल्लेख कर ही चुके हैं कि प्रेसिडेन्सी वैंकों को विदेशी विनिमय-सम्वन्धी कार्य करने तथा विदेश में पूँजी इकट्ठा करने की मनाही थी, लेकिन इस देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ इन दोनों कार्यों का

बैंकों का कार्य केवल देश के वाह्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने तक ही सीमित था, पर इधर हाल में उनमें से अधिकांश ने देश में, जहाँ-जहाँ इनकी शाखाएं हैं, वहाँ के आन्तरिक व्यापार का वित्तीय योग देना काफ़ी प्रारम्भ कर दिया है। विनिमय-बैंकों की अधिकांश हुण्डियाँ भारतीय निर्यातकों की निर्यात-हुण्डियाँ हैं, जो लन्दन के उन बैंकों या साख-गृहों के नाम होती हैं जिनसे निर्यात को साख-सुविधा प्राप्त होती है। ये निर्यात-हुण्डियाँ अधिकतर त्रैमासिक तथा स्वीकार करने पर दी जाने वाली डी० ए० होती हैं, यद्यपि कुछ मूल्य-प्राप्ति पर दी जाने वाली (डी० पी०) भी होती हैं। लंदन में विनिमय बैंक डी० पी० हुण्डियों को अपने पास तब तक रखते हैं जब तक ये लौटा नहीं ली जातीं या इनकी अवधि पूरी होने पर ये चुकता नहीं हो जातीं। डी० ए० बिल का बट्टा (या पुनर्वट्टा) प्रायः स्वीकृति के तुरन्त ही बाद में हो जाता है। इंगलैण्ड में इनका पुनर्वट्टा इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड की मिश्रित पूँजी वाले बैंकों या बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड द्वारा होता है। इस प्रकार विनिमय बैंकों द्वारा भारतवर्ष में दिये रुपये के बराबर इंगलैण्ड में पौंड मिल जाते हैं। व्यापार मन्दा होने या भारतवर्ष में कोष की तात्कालिक माँग न होने की हालत में कभी-कभी वे हुण्डी को अवधि पूरी होने तक रोक भी लेते हैं।[1] इस प्रकार भारतवर्ष के निर्यात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था मुख्यतः ब्रिटिश बैंकों की पूँजी से ही होती है। लन्दन के द्रव्य बाजार में हुण्डियों का पुनर्वट्टा कराने की सुविधा—भारत की अपेक्षा वहाँ बट्टा दर भी कम होती है—विशेष लाभदायक है, क्योंकि विनिमय बैंक जितनी निधि की हुण्डियों को अवधि पूरी होने तक अपने पास रख सकते हैं उससे अधिक निधि की हुण्डियाँ खरीद लेते हैं।

विनिमय बैंकों द्वारा भारत की निर्यात-हुण्डी खरीदने का अर्थ है अपने कोष को लन्दन भेजना। जब तक कौंसिल बिल तथा टेलीग्राफिक ट्रान्सफ़र खरीदने की पद्धति थी, तब तक विनिमय बैंक अपने कोषों की भारत वापसी के लिए खुलकर इन दोनों का क्रय लन्दन में करते रहे। अब वे अपनी निधि को लन्दन भेजने के लिए अपनी स्टर्लिंग की बिक्री रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के हाथ करते हैं। भारत में अपने कोष की वृद्धि करने के उनके कुछ अन्य तरीके भी हैं, जैसे आयात की हुण्डी के पक जाने पर उसे भुना लेना; विदेश-स्थित भारतीय छात्रों, मुसाफिरों तथा अन्य भारत से रकम भेजने वाले व्यक्तियों को ड्राफ्ट बेचकर तथा टेलीग्राफिक ट्रान्सफर करके तथा लन्दन में खरीदे गए भारतीय ऋणपत्रों को भारत में बेचकर, इत्यादि। अप्रैल, १९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् इस बैंक से वे लन्दन में भुगतान के लिए स्टर्लिंग ड्राफ्ट खरीद सकते हैं।[2]

भारतीय आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था या तो भारतीय आयातकों पर किये गए साठ दिनों की दर्शनी हुण्डी द्वारा या लन्दन बैंक की स्वीकृत 'हाउस

---

१ भारतवर्ष तथा यूरोप, संयुक्तराज्य अमरीका तथा उपनिवेशों के बीच स्टर्लिंग में ही हुण्डियाँ की जाती हैं। भारत और जापान के बीच येन में तथा भारत और चीन के बीच हुण्डियाँ रुपये में की जाती हैं।

२. हाल में की गई विनिमय नियन्त्रण की युक्तियाँ, ६वें परिच्छेद के २६वें पैरा में देखिए।

करने का एकाधिकार है और यह कहा जाता है कि भारतीय व्यापारियों की हानि करने के लिए वे इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं।[1]

केन्द्रीय अधिकोष समिति से कुछ गवाहों ने विनिमय बैंकों के कार्यों के सम्बन्ध में कानून बनाने की प्रार्थना की, क्योंकि उन पर किसी प्रकार का भारतीय कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था, यहाँ तक कि वे भारत में रजिस्टर्ड मिश्रित पूँजी वाले बैंकों पर लगाये गए अल्पसंख्यक कानूनी प्रतिबन्धों से भी मुक्त थे। यह भी कहा गया है कि यद्यपि वे भारत में ही निक्षेप इकट्ठा करते हैं, फिर भी भारतीय निक्षेपकों को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से भी जापान तथा अन्य देशों के ही समान विनिमय बैंकों की भारत-विरोधी नीति के शोधकस्वरूप तथा भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी उनके नियन्त्रण का समर्थन किया गया (के० अ० रि०, ४७७)।

अगर कोई विदेशी बैंक भारत में महाजनी का कारोबार करना चाहता हो तो उसे लाइसेंस की निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना चाहिए—

(१) रिज़र्व बैंक के आदेशानुसार वे अपने भारतीय कारोबार-सम्बन्धी आदेय तथा दायित्व का वार्षिक विवरण रिज़र्व बैंक को दें।

(२) कम-से-कम कुछ वर्ष तक वे अपने भारतीय तथा अभारतीय कारोबार का विवरण समय-समय पर रिज़र्व बैंक को दें।

(३) पारस्परिकता के आधार पर अन्य शर्तें भी रखी जा सकती हैं। अनेक देशों ने अपने यहाँ कार्यशील अन्य राष्ट्रीय बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया है। भारत सरकार भी भारतवर्ष में अधिकार-पत्र-प्राप्त विदेशी बैंकों पर इन्हीं शर्तों को लगाने की अपनी शक्ति का उपयोग करे। इस प्रकार भारत सरकार विदेशी बैंकों के साथ परस्परानुवर्ती व्यवहार कर सकती है (के० अ० रि०, ४५१)।

१२. भारतीय विनिमय बैंक का श्रीगणेश—विदेशी बैंकों पर लगाये गए इस तरह के प्रतिबन्ध हमारी वर्तमान स्थिति में कितना ही सुधार ला दें, पर वे हमारी कमज़ोरी के मूल कारण को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि भारतवासी आयात और निर्यात व्यापार तथा ऐसे व्यापार की बैंक-सम्बन्धी सुविधा के निर्देश में बहुत ही कम हिस्सा

---

१. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के समक्ष अनेक व्यावसायिक संस्थाओं ने कहा था कि विनिमय बैंक विदेशी निर्यातकों को भारतीय व्यावसायिकों के बैंकों के सम्बन्ध में असंतोषजनक संकेत देते हैं; भारतीय आयातकों को स्वीकृत होने पर देय ड्राफ्ट की सुविधा प्राप्त नहीं होती; स्वीकृत साख उल्लेख-पत्र की प्राप्ति के लिए भारत के आयातकर्ताओं को वस्तुओं की कीमत का १० से १५ प्रतिशत तक विदेशी बैंकों में जमा करना पड़ता है (जबकि विदेशी आयात पर यह शर्त लागू नहीं है); आयात-हुण्डी स्टर्लिंग मुद्रा में की जाती तथा इस पर ब्याज-दर ऊँची (६%) होती है: भारत के जहाजों तथा बीमा कम्पनियों के साथ विनिमय बैंकों का व्यवहार प्रतिकूल होता है, उनमें भारतीयों की नियुक्ति ज़िम्मेदार पद पर नहीं की जाती, इत्यादि। देखिए के० अ० रि० ४३६-४५। रिपोर्ट में भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि वह इन शिकायतों को दूर करने के लिए विनिमय बैंकों के साथ उपयुक्त परिपाटी का सृजन करे।

(घ) प्रत्येक वर्ष विदेशी बैंक अपने भारतीय कारोबार का हानि-लाभ विवरण तथा स्थिति-विवरण तैयार करके प्रकाशित करेंगे।

१३. मिश्रित पूँजी के बैंकों का इतिहास—भारतवर्ष के बढ़ते हुए व्यापार के कारण आधुनिक और सुव्यवस्थित श्रेणी के बैंकों की आवश्यकता थी। पर इस आवश्यकता की पूर्ति न तो प्रेसीडेन्सी बैंक ही कर सकते थे जो अनेक प्रतिबन्धों से मुक्त अर्ध-सार्वजनिक संस्था थे तथा कुछ ही बड़े शहरों में जिनकी शाखाएँ थीं और न विनिमय बैंक ही, जिन पर विदेशी व्यापार की पूँजी ने पहले से ही अपना अधिकार जमा रखा था। व्यवस्थित बैंकिंग की प्रगति १८६० तक, जबकि इस देश में पहले-पहल सीमित दायित्व का सिद्धान्त अपनाया गया, बहुत ही धीमी रही। इस यथेष्ट प्रगति के रुके रहने के कारण थे, रूई की तेज़ी द्वारा लाया हुआ १८६५ का वित्तीय संकट तथा रुपये के विनिमय मूल्य का गिर जाना। इस श्रेणी का सर्वप्रथम बैंक था बैंक ऑफ़ अपर इण्डिया (१८६३), जिसका अनुसरण इलाहाबाद बैंक (१८६५) तथा कुछ अन्य बैंकों ने भी किया, जिनमें एलाएंस बैंक ऑफ़ शिमला भी (१८७४), जिसका दिवाला १९२३ में निकल गया, एक था। १८७० में इस प्रकार के सात बैंक थे। १८९४ में यह संख्या १४ हो गई। उस समय उनमें से अधिकांश यूरोपीय प्रबन्ध में थे तथा अब भी उनकी वही दशा है। अवध कमर्शियल बैंक पहला बैंक था जिसकी स्थापना १८८१ में केवल भारतीय साहसियों द्वारा की गई। १८९४ में लाला हरकिशन लाल के प्रयत्नों से पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। १९०१ में पीपुल्स बैंक की स्थापना का श्रेय भी इन्हीं को था। पीपुल्स बैंक की प्रगति बहुत ही अच्छी रही। १९१३ में इसका दिवाला निकलने के समय इसके पास १०० शाखाएँ तथा १$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये से अधिक निक्षेप थे।[1]

१४. बैंकों का दिवाला[2]—आरम्भ के कुछ दिनों तक तो इन बैंकों ने अवश्य ही बड़ी प्रगति दिखाई, पर असल में बहुतों का कारोबार सट्टेबाज़ी से पूर्ण और अरक्षित था, तथा उनका नक़द रिज़र्व दायित्व की अपेक्षा इतना क्षीण था कि केन्स-जैसे विद्वान् के लिए उनके शीघ्र पतन की भविष्यवाणी करना कठिन बात नहीं थी। केन्स ने दुख के साथ अपनी इस भविष्यवाणी को सच होते भी देख लिया।[3] १९१३-१४ के बीच लगभग ५५ बैंकों की प्रतिक्रिया हुई। १९१४-१८ के युद्ध के समय तथा बाद की

---

१. देखिए बी० टी० ठाकुर द्वारा लिखित ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ इण्डियन बैंकिंग, पृ० ३१-३२।

२. देखिए, श्री एस० के० मुरन्जन द्वारा लिखित 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया' का ९वाँ परिच्छेद, जिसमें कुछ बैंकों के विशेष उल्लेख के साथ भारतवर्ष के बैंकों के दिवाले का अति पठनीय और स्पष्ट विश्लेषण दिया गया है।

३. केन्स ने भारतीय बैंकों के दिवाला निकलने के पूर्व १९१३ में लिखा था कि "छोटे-छोटे बैंकों का कारोबार ऐसे देश में है जहाँ अब भी संचय की ही प्रधानता है तथा ऐसे लोगों के साथ है, जिनके लिए बैंकिंग एक नई चीज़ है एवम् इन बैंकों की नकद रकम भी अति अपर्याप्त दिखाई पड़ती है। अतः इसमें सन्देह करने की कोई भी गुंजाइश नहीं कि आगामी मन्दी के समय ये तहस-नहस हो जाएँगे।"

अनुसूचित बैंकों के पास पुनर्भुगतान योग्य पर्याप्त आदेय का न होना उन्हें पेशगी प्रदान करने की कठिनाइयों में से एक है। १६१३-१४ तथा बाद में होने वाले दिवालों ने भी अधिकोषण सिद्धान्त तथा व्यवहार-सम्बन्धी उचित शिक्षण की व्यवस्था की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया। विस्तीर्ण प्रचार का महत्त्व भी सुशिक्षित बैंक कर्मचारियों तथा बैंक-सम्बन्धी कानूनों से कम नहीं है। जनता इसके सहारे किसी भी समय बैंकों की स्थिति का अनुमान आसानी से लगा लेती है। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि बैंक अपनी गौरवशाली परम्परा तथा जनता के प्रति अपनी ज़िम्मेवारी को बनाए रखें।

१६. पर्याप्त नकद कोष का महत्त्व—बैंकों के पास पर्याप्त नकद का रहना स्वस्थ महाजनी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, पर अनेक देशों में प्राय: देखा गया है कि इसके प्रति असावधानी के कारण काफ़ी बरबादी उठाने के बाद ही वे इस कल्याणकारी सबक को सीखते हैं। ऐसा लगता है कि भारत के मिश्रित पूंजी वाले बैंकों ने दिवाले के रूप में काफ़ी शुल्क चुकाकर कम-से-कम इस सबक को सीख ही लिया है। इसका प्रमाण है हाल में उनके द्वारा की गई काफ़ी सुरक्षित धन रखने की स्तुत्य आकांक्षा। इस विषय की महत्ता बम्बई अधिकोष खोज समिति के उस सुझाव से स्पष्ट हो जाती है जिसमें इसने कहा था कि संयुक्तराज्य अमरीका के समान हमारे देश के बैंक की एजेन्सियाँ पर्याप्त नकद कोष रखने के लिए कानून द्वारा बाध्य की जानी चाहिएँ। पर केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। उन्हें इस बात का भय था कि कानून द्वारा निश्चित की गई निम्नतम सीमा को बैंक के प्रबन्धकर्त्ता अधिकतम सीमा मानने लगेंगे तथा कानूनी पाबन्दी से बचने के लिए अन्य उपायों का भी सहारा लिया जाएगा। समिति ने यह विषय बैंकों की ही सद्बुद्धि तथा विवेक पर छोड़ देना अच्छा समझा (के० अ० रि०, ७०६)। लेकिन १६३६ में संशोधित कम्पनी एक्ट द्वारा निम्नतम नकद रखने का विधान कर दिया गया है (आगे देखिए, पैरा १६) तथा १६३६ में रिज़र्व बैंक ने एक बैंक एक्ट के लिए जो प्रस्ताव रखा उसका प्रयोजन बैंकों के साधनों की पर्याप्त तरलता की प्राप्ति करना ही है (आगे देखिए, पैरा २०)।

१७. बैंक-सम्बन्धी नियमन—बार-बार होने वाली बैंकों की उपर्युक्त भयावह असफलताओं तथा स्वस्थ राष्ट्रीय आधार पर बैंकों को विकसित करने के विचार से इनका साभिप्राय नियमन आवश्यक समझा गया। सरकार द्वारा परम्परागत निःहस्तक्षेप की नीति अपनाए जाने के कारण इस सम्बन्ध में हमारे देश की स्थिति १६३६ तक असन्तोषजनक ही रही। दूसरी सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियों के ही समान १६३६ तक सम्मिलित पूंजी वाले बैंक भी इण्डियन कम्पनी एक्ट १६१३ द्वारा शासित थे। इस कानून के केवल थोड़े-से परिच्छेद ही सम्मिलित पूंजी वाले बैंकों से विशेष रूप से सम्बन्धित थे। इस पुराने कानून में बैंकों के लिए वार्षिक बैलेन्स शीट को तैयार करने तथा साल में दो बार व्यवस्था-विवरण-पत्र को प्रकाशित करने की रीति के सम्बन्ध में थोड़े नियमों का पालन करने के अलावा और था ही क्या!

खिलाफ की जाने वाली कार्यवाही को रोक सके। रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि इस हेतु वह कम्पनी के ही खर्च पर उसकी वित्तीय व्यवस्था की जाँच कर सके।

१६. बैंकिंग के नियमन-हेतु हाल में की गई वैधानिक व्यवस्थाएँ[1]—नवम्बर, १६३६ में रिज़र्व बैंक ने सरकार के सामने जिन थोड़े-से प्रस्तावों को रखा वे इस सामान्य सिद्धान्त पर आधारित थे कि निक्षेपकों के हित की रक्षा करके देश में जनता के मध्य अधिकोष-प्रणाली का प्रचलन बढ़ाना ही सर्वप्रधान उद्देश्य होना चाहिए। वे सुसंचालित तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ अधिकोषों का जाल फैलाना चाहते थे, जिससे रिज़र्व बैंक को देश के साख-संगठन का समन्वय करने तथा रिज़र्व बैंक ऐक्ट द्वारा निर्दिष्ट साख-विस्तार की शक्ति का उचित उपयोग करने में समर्थ बना सके।

११ अप्रैल, १६४५ को असेम्बली ने रिज़र्व बैंक के प्रस्ताव के आधार पर तैयार किये गए एक बिल (बैंकिंग कम्पनी बिल १६४५) को अपनी कार्य-सूची में रख लिया, पर असेम्बली के भंग हो जाने से यह विधेयक गिर गया। १५ मार्च १६४६ को इसे पुनर्निर्वाचित असेम्बली के सामने पुनः रखा गया। जनमत को दृष्टि में रखते हुए इस बिल में कुछ संशोधन इस उद्देश्य से कर दिया गया कि बैंकों के ऊपर रिज़र्व बैंक का अधिक नियन्त्रण रह सके।

जिस समय व्यवस्थापिका सभा में इस बिल पर विचार हो रहा था, उसी समय केन्द्रीय सरकार ने १५ जनवरी, १६४६ को एक अध्यादेश जारी करके [बैंकिंग कम्पनीज़ (इन्सपेक्शन) ऑर्डिनेन्स १६४६] सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि रिज़र्व बैंक के निरीक्षण के विवरण के अवलोकन के पश्चात् अगर सरकार यह समझती है कि किसी बैंकिंग कम्पनी की कार्यवाहियाँ उसके निक्षेपकों के हित के विरुद्ध हैं तो वह उसे सुधारने का उपाय कर सकती है। जहाँ भी आवश्यकता पड़े सरकार तत्सम्बद्ध बैंकिंग कम्पनी को नया निक्षेप लेने से निषेध कर सकती, उसे अनुसूचित बैंकों की सूची में लेने से इन्कार कर सकती या अगर वह पहले से ही इस सूची में हो तो उसे निकाल भी सकती है। बैंकिंग कम्पनीज़ बिल पर विचार-काल में शाखाओं के अनियोजित विस्तार को नियन्त्रित करने[2] तथा शाखाओं के साधनों की अपेक्षा उन पर अधिक खर्च करने एवं अप्रशिक्षित (अनट्रेण्ड) कर्तृ-वर्ग को रखने आदि अवांछित विकास को रोकने के उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट (शाखाओं पर प्रतिबन्ध) १६४६ को पास किया गया जो २२ नवम्बर, १६४६ से लागू हो गया।

दि बैंकिंग कम्पनीज़ (कण्ट्रोल) आर्डिनेन्स, १६४८ में बैंकिंग कम्पनीज़ बिल की कुछ धाराओं को तुरन्त ही इस उद्देश्य से कार्यान्वित किया गया कि वह बैंकिंग पद्धति को ठीक तरह से नियमित करने में रिज़र्व बैंक की सहायता कर सके। इसके

१. रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फ़ाइनांस, १६४८-४६ का अनुच्छेद ६५ देखिए।

२. अनुसूचित बैंकों ने १६४६ के प्रथम तीन माह में ७६, अप्रैल से जून तक ७३ तथा जुलाई से सितम्बर, १६४६ ई० तक १४० शाखाएँ खोलीं।

दर के अनुसार मूल्यांकित स्वर्ण या ऋणमुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक त्रैमासिक अवधि के अन्त में उनके समय तथा माँग-दायित्व की ७५% निधि को अपने क्षेत्र में ही रखना भी आवश्यक है।

(६) किसी अधिकोष के संचालकगण को दूसरी कम्पनी का संचालन करने, प्रबन्ध अभिकर्त्ता (मैनेजिंग एजेण्टों) की नियुक्ति करने या किसी ऐसी फर्म को, जिसमें किसी संचालक का स्वार्थ निहित हो या किसी संचालक को असुरक्षित ऋण या पेशगी देने का निषेध है।

(७) रिज़र्व बैंक के इस समय निम्नलिखित कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य हैं—(क) बैंकों को ऋण-सम्बन्धी नीति तथा उसकी सीमा निश्चित करने व सूद लेने के सम्बन्ध में निर्देश जारी करना, (ख) किसी विशेष कार्य व किसी प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध में चेतावनी देने या उन्हें करने से निषेध करना, समय-समय पर तथा एतदर्थ ब्यौरा माँगना एवं उसे प्रकाशित करना, (घ) स्वयं ही या सरकारी आज्ञानुसार बैंकों का निरीक्षण करना, (च) नये शाखा-कार्यालयों को खोलने या किन्हीं वर्तमान शाखा-कार्यालयों का अन्तरण (ट्रान्सफर) करने की अनुमति देना या न देना; (छ) किसी बैंकिंग कम्पनी के कारोबार को बन्द करने वाले मुकद्दमे के सिलसिले में न्यायालय से स्वयं को सरकारी निस्तारक की नियुक्ति की माँग करना; (ज) देश में अधिकोषीय उन्नति व प्रवृत्ति के बारे में केन्द्रीय सरकार को एक वार्षिक विवरण देना व इसे समृद्धिशाली बनाने के उपायों के बारे में सुझाव देना। निरीक्षण के फलस्वरूप पता चला है कि बैंकों के कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय बुराइयाँ हैं—अपर्याप्त रिज़र्व; अति कम नकद-आदेय; अवधि पर न चुकाए ऋण; अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये अधिक ऋण तथा सन्देहात्मक ऋणों का अधिक अनुपात।

अधिकोषीय (संशोधन) अधिनियम १९५२ तथा अधिकोषीय (संशोधन) अधिनियम १९५६ के बाद १९५९ में पुनः अधिकोषीय (संशोधन) अधिनियम पास किया गया जो १ अक्तूबर १९५९ से लागू हुआ।

१९५९ के संशोधन अधिनियम की दो विशेषताएँ हैं: एक ओर तो वह बैंकों की कार्यवाही को लचीलापन प्रदान करता है, दूसरी ओर वह बैंकिंग व्यवस्था के ऊपर रिज़र्व बैंक के अधिकारों का अंशतः विस्तार करता है। उदाहरण के लिए इस संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक की लिखित अनुमति प्राप्त होने पर बैंकिंग कम्पनियाँ विदेशों में सहायक कम्पनियाँ खोल सकती हैं। बैंकों की हर आदेय (एसेट) की गणना के लिए रिज़र्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, तथा रिफ़ाइनेन्स कारपोरेशन से लिये गए ऋण देय-राशि में नहीं सम्मिलित किये जाएँगे आदि। रिज़र्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह किसी बैंक के अध्यक्ष (चेयरमेन), सचालक या प्रबन्धक या मुख्य प्रशासकीय अधिकारी को हटा सकता है, बशर्ते कि उसे किसी ट्रिब्यूनल या अधिकारी ने किसी विधान की व्यवस्था भंग करते पाया हो तथा रिज़र्व बैंक को यह सन्तोष हो कि बैंक के साथ ऐसे व्यक्ति का सहयोग अवाञ्छनीय ही है। किसी संचालक की नियुक्ति या पुनःनियुक्ति तथा प्रतिफल (चाहे संचालक

सम्बन्धित ज़िला सेविंग बैंकों की स्थापना हुई। १९१४ में किसी व्यक्तिगत निक्षेप की सम्भावी वार्षिक तथा कुल निक्षेप की रकम की सीमा बढ़ाकर और निक्षेपों को सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने की सहायता देकर सरकार ने निक्षेपकों को अधिक सुविधा प्रदान की। फलस्वरूप अत्यधिक संख्या में निक्षेप आने लगे। विशेषत: १९१३-१४ की बैंक असफलताओं के कारण व्यक्तिगत बैंकों पर जनता का विश्वास उठ गया था। १९१४-१८ का युद्ध डाकखाने के निक्षेपों में कुछ मंदी तो अवश्य ही लाया, पर युद्धोत्तर-काल में इस दिशा में काफी प्रगति भी हुई। १९२२-२३ के उपरान्त निक्षेप की रकम (२३.१९ करोड़ रुपया) १९१४-१८ की लड़ाई के पूर्व के निक्षेप की अपेक्षा बढ़ गई थी, पर यदि हम रुपये की क्रय-शक्ति के गिर जाने वाले समय का भी खयाल करें तो यह स्थिति उतनी संतोषप्रद नहीं रह जाती। विगत वर्षों में स्वर्ण-विक्रय के कुछ अंश का विनियोग कर देने के फलस्वरूप निक्षेप की रकम में अत्यन्त वृद्धि हो गई है। सितम्बर १९३९ में लड़ाई छिड़ते ही सेविंग बैंकों से वापस होने वाली रकम ७.९५ करोड़ तक थी, पर बाद के महीनों में पुन: विश्वास जमने के साथ-साथ इस दिशा में काफ़ी प्रगति हुई।

सेविंग्ज बैंकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के सुझावों में कुछ निम्नलिखित हैं—(१) निक्षेपों पर दिये जाने वाले सूद की दर अधिक हो, (२) आकस्मिक वापसी के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाकर हर साल जमा होने वाली रकम तथा रकम की बाकी की सीमा बढ़ा दी जाए,[1] (३) चेक द्वारा निक्षेप स्वीकार किये जाएं तथा चेक द्वारा रुपया निकालने दिया जाए, और (४) नये सेविंग्ज़ बैंक खोलने के लिए प्रचार किया जाए।

पोस्ट ऑफ़िस में जनता की बचत कैश-सर्टिफिकेट द्वारा भी आती है। ये सर्टिफिकेट १० रुपये या उसके अपवर्त्य (मल्टिपल) रकम में जारी किये जाते हैं तथा एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक दस हज़ार रुपये के अंकित मूल्य तक के सर्टिफिकेट खरीद सकता है। क्रय के दिन से ५ वर्ष के पश्चात् उनका भुगतान होता है तथा वे बट्टे पर जारी किये जाते हैं, जिसका अर्थ है कि ५ वर्ष के बाद ही उनके अंकित मूल्य का भुगतान होता है। लड़ाई प्रारम्भ होते समय सितम्बर १९३९ में अत्यधिक कैश सर्टिफिकेट भुनाये गए तथा नये कैश सर्टिफिकेट की बिक्री काफी गिर गई। इन पर जनता का पुनर्विश्वास हो जाने पर कैश सर्टिफिकेट की भुनाई कम हो गई। निर्गमित कैश सर्टिफिकेट का कुल मूल्य १९४६-४७ में ३९.२२ करोड़ रु० तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में) केवल ७.५० करोड़ रु० था।

१९४० में दसवर्षीय डिफेन्स सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट का प्रचलन हुआ। इनकी बाकी

---

१. साल-भर में निक्षेपक ७५० रुपये तक ही जमा कर सकता है और उसके हिसाब की कुल रकम ५००० रु० तक ही जा सकती है। एक बार कम-से-कम चार आना तक जमा किया जा सकता है तथा रुपये की वापसी सप्ताह में केवल एक ही बार हो सकती है। सूद की दर को घटाकर सन् १९३३ में ३% से २½%, १९३६ में २% तथा १९३८ में १½% कर दिया गया।

तथा देशी साहूकारों के बीच का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है और दूसरी बात यह है कि इसके पूर्व किसी सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित द्रव्य-बाज़ार का आविर्भाव हो सके, कुछ समय का व्यतीत होना भी आवश्यक है जिसके बीच केन्द्रीय बैंकिंग ढाँचे का प्रभाव देश की साख-व्यवस्था पर पड़ सके। रिज़र्व बैंक की स्थापना हुए २५ वर्ष से अधिक हो गए हैं किन्तु सुव्यवस्थित द्रव्य-बाज़ार का संगठन अभी नहीं हो सका है। इसका एक कारण भारत में बैंकिंग सेवाओं की सामान्य कमी है। इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। स्टेट बैंक स्वयं शाखाएँ खोलकर बैंकिंग सेवा का प्रसार कर रही हैं।

२३. द्रव्य की दरों में भ्रामकता तथा गोलमाल—द्रव्य-बाज़ार की अन्य विशेषता द्रव्य-दर की भिन्नता है। इस देश की द्रव्य-व्यवस्था अनेक खण्डों में विभाजित रहने के परिणामस्वरूप द्रव्य-दर में भ्रामकता तथा अनेकरूपता का होना अनिवार्य है। केन्द्रीय अधिकोषण समिति ने यह कहकर अत्युक्ति नहीं की कि माँग-दर $\frac{3}{4}$%[१], हुंडी-दर ३%[२], बैंक-दर ४%[३], तथा बम्बई में छोटे-छोटे व्यापारियों की हुण्डियों की बाज़ार-दर ६$\frac{3}{8}$%[४] एवं कलकत्ता में ऐसी ही हुण्डियों की बाज़ार-दर १०% एक ही साथ होने का स्पष्ट अर्थ यह है कि विभिन्न-बाज़ारों के बीच साख की गति शिथिल है। पर इसके ठीक विपरीत लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में द्रव्य की विभिन्न दरों में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अन्ततोगत्वा सभी दर बैंक-दर पर ही निर्भर करती हैं तथा उस दर में थोड़ा भी परिवर्तन होने पर ठीक उसी के अनुसार अपना भी समायोजन कर लेती हैं। भारत की द्रव्य-दर की दूसरी विशेषता कलकत्ता तथा बम्बई-जैसे दो प्रमुख केन्द्रों की दरों के बीच स्पष्ट अन्तर का होना है। इसी कारण प्रतिभूतियों की कीमत में उतार-चढ़ाव तथा व्यापार की गति में प्रतिक्रिया होती रहती है। १९५९ में बम्बई में अन्तर-अधिकोषीय द्रव्य-दर लगातार दृढ़ रही। गत वर्षों से इसकी तुलना करने में कठिनाई यह है कि सितम्बर, १९५८ तक प्रकाशित द्रव्य-दरों में दलाली भी सम्मिलित थी। बम्बई की बड़ी बैंकों की माँग-दर मई, १९५९ तक ३$\frac{1}{2}$-३$\frac{3}{4}$ प्रतिशत रही। किन्तु जुलाई, १९५९ तक उतरकर $\frac{3}{4}$-२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत तथा अक्तूबर के बाद $\frac{3}{4}$-२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत हो गई। कलकत्ता के द्रव्य-बाज़ार में भी लगभग

---

१. माँग (या माँग-द्रव्य) दर से तात्पर्य उस ब्याज की दर से है जो कम-से-कम २४ घण्टे के विनियोग हेतु प्राप्य द्रव्य पर ली जाती है।

२. इम्पीरियल बैंक जिस दर पर त्रैमासिक बिल प्रथम श्रेणी की हुण्डी का बट्टा करे वह (इम्पीरियल बैंक की) हुंडी-दर है।

३. रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व जिस दर पर इम्पीरियल बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के निमित्त माँग ऋण देने को तैयार रहता था उसी दर का निर्देश यहाँ (पुरानी) बैंक-दर से किया गया है। अब इसे इम्पीरियल बैंक की अग्रिम दर कहा जाता है। रिज़र्व बैंक द्वारा निर्धारित बैंक दर के आधार का स्पष्टीकरण पैरा ४६ के नीचे किया गया है।

४. कलकत्ता तथा बम्बई में सर्राफ लोग जिस दर पर हुंडियों का भुगतान करते हैं, उसे बाज़ार-दर कहा जाता है।

२५. हुण्डी के बाज़ार का अभाव—हुण्डियों की कमी, जो हुण्डियों में लगे बैंकों के आदेय की छोटी मात्रा से ही स्पष्ट है, के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं[1]—(१) चूंकि भारतीय बैंकों को पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक तरल (लिक्विड) स्थिति कायम रखनी होती है, अतः उनके आदेय का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रह जाता है। (२) अप्रैल, १९३५ में रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व तक बैंक अपनी हुण्डियों का भुगतान इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया के साथ इसलिए नहीं करना चाहते थे कि ऐसा करने से वे बाज़ार में कमज़ोर समझे जाते थे। (३) मिश्रित पूंजी वाले बैंक पुनर्वट्टा के लिए अपनी हुण्डियों को देने की अपेक्षा सरकारी ऋण-पत्र पर इम्पीरियल बैंक से उधार लेना इस कारण पसन्द करते थे कि इम्पीरियल बैंक तो खुद ही प्रतिस्पर्धी व्यावसायिक बैंक था, अतः कोई भी अन्य प्रतिस्पर्धी बैंक अपनी हुण्डी का रहस्य इसके सामने रखना क्यों पसन्द करता? इसके अतिरिक्त चूंकि इम्पीरियल बैंक सबके प्रति एक-से मापदण्ड और नीति के आधार न रखकर अपनी मरज़ी के अनुसार हुण्डियों का वट्टा करता था, कोई भी मिश्रित पूंजी वाला बैंक वित्त-योग प्राप्त करने के लिए अपने ग्राहकों द्वारा प्राप्त हुण्डी पर निर्भर नहीं रह सकता था। (४) एक दूसरी बाधा यह है कि बाज़ार में प्रचलित हुण्डियों की विभिन्नताओं के कारण बैंक उनका वट्टा तब तक नहीं करते जब तक बैंकों द्वारा मान्य सर्राफों में से कोई सर्राफ निजी ज़मानत न दे। बाज़ार में प्रचलित हुण्डी से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह शुद्ध वित्तीय हुण्डी है या किसी व्यापारी कार्य हेतु लिखी गई है, क्योंकि उसके साथ बिक्री के संविदे, बीजक तथा स्वत्वाधिकार-पत्र जैसे अधिकार-पत्र तो रहते नहीं जिससे यह समझा जा सके कि यह किसी फसल या वस्तु से सम्बन्धित है। हुण्डियों में लिखी जाने वाली भाषाओं में भी अनेक भेद, रिआयती दिन आदि की विभिन्नता तथा आम जनता की अशिक्षा आदि कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। (५) एक अन्य कारण नकद-साख की पद्धति भी है, जिसका उपयोग भारत के देशी व्यापार में अधिक होता है।

२६. हुण्डी के बाज़ार की वृद्धि करने के उपाय—केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने भारत में हुण्डी के बाज़ार की उन्नति करने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं (के० अ० रि० ५९३)—(१) रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया को व्यावसायिक कार्यों से सम्बद्ध प्रथम श्रेणी की व्यापारिक हुण्डियों तथा प्रपत्रों के प्रकाशित बैंक-दर (जो निम्नतम हो) पर खरीदने या वट्टा करने को तैयार रहना चाहिए तथा अधिकृत प्रतिभूतियों के आधार पर माँगे गए ऋण पर अपनी इच्छानुसार अधिक व्याज-दर लेनी चाहिए। मिश्रित पूंजी वाले बैंकों को रिज़र्व बैंक को अपना प्रतिद्वन्द्वी न समझना चाहिए। उनसे तो यह आशा है कि वे रिज़र्व बैंक द्वारा दिये गए व्यापारिक पत्रों के पुनर्वट्टा-सम्बन्धी

---

१. और अधिक वर्णन के लिए के० अ० रि० का 'दि बैंकिंग सिस्टम एण्ड मनी मार्केट' नामक परिच्छेद देखिए।

लाइसेन्स प्राप्त थे। चार वर्ष की अवधि में बैंकों द्वारा प्राप्त अग्रिम की मात्रा १९५२ के ८१ करोड़ रु० से बढ़कर १९५५ में २२५ करोड़ रु० हो गई। १९५८-५९ में निर्यात-बिलों को एक वर्ष के लिए प्रयोगात्मक रूप से बिल बाज़ार योजना में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

२७. केन्द्रीय बैंक की उपयोगिता—१९२० में ब्रुसेल्स में हुए अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास हुआ कि 'जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है, वहाँ उसकी स्थापना की जानी चाहिए।' इस प्रस्ताव के मूल में यह विचार है कि वित्तीय स्थिरता तथा केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था के बीच बहुत घना सम्बन्ध है। इस प्रस्ताव में निहित राय का अनुसरण यूरोपीय देशों तथा अभी हाल तक के 'विकेन्द्रीय बैंकिंग के देश' संयुक्तराज्य अमेरिका में हुआ।[1] हमारे देश में परिस्थितियों के वश में होकर स्वयं सरकार ही नोट जारी करने, नक़द रक़म का प्रबन्ध करने, विदेशी विनिमय की व्यवस्था करने आदि प्रमुख कार्यों को करने लगी थी, पर ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि ये काम केन्द्रीय बैंक द्वारा अच्छी तरह से सम्पादित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन कार्यों को बैंकिंग कारोबार से अलग रखना भी बहुत बड़ी त्रुटि थी। इस सम्बन्ध-विच्छेद ने ही बचत को सरकारी बचत तथा साहूकारों की बचत नामक दो भागों में विभक्त कर दिया। इन दोनों का सम्बन्ध भी अस्पष्ट था तथा इसके कारण ही द्रव्य पद्धति अत्यधिक लोचहीन हो गई। केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी के अभाव के ही कारण देश की बैंक-सम्बन्धी नीति अनियन्त्रित-सी थी। सिद्धान्ततः तो हमारे यहाँ बहुसुरक्षित कोष प्रणाली थी, जिसका अर्थ यह था कि विभिन्न बैंक अपना-अपना सुरक्षित कोष रखते थे, पर व्यवहार में ये धन कदापि ही पर्याप्त हो पाते थे तथा इस बात का खतरा बना रहता था कि संकटकाल में ये बैंक एक-दूसरे से सहायता की ही आशा करेंगे। १९१३-१४ की बैंक-असफलता ने इस तर्क की और भी पुष्टि की। एक केन्द्रीय बैंक से जिन अन्य लाभों की आशा की जाती थी वे ये थे—बैंक-दर के अत्यधिक उतार-चढ़ाव में कमी करना तथा बैंकिंग साधनों की वृद्धि एवं आपसी सहयोग द्वारा सामान्यतया ऊँचे रहने वाले द्रव्य-दर के स्तर को कम करना। केन्द्रीय बैंक पर्याप्त पुनर्बट्टा की सुविधा भी प्रदान कर सकता था, जिससे दूसरे बैंक अपने आदेय को तरल बनाने में असमर्थ हो सकते थे। इस सुविधा से उनकी साख में भी वृद्धि हो जाती। यह केन्द्रीय बैंक सरकारी कर्मचारियों से उन वित्तीय तथा अर्द्ध-वित्तीय कर्तव्यों की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ले लेता, जिन्हें वे ठीक तरह से नहीं कर पा रहे थे। हमारे देश में निपुण परामर्श तथा अनुभव के ही अभाव के कारण वित्तीय मामलों की शक्ति का केन्द्र इस देश से हटकर 'इण्डिया ऑफ़िस' तथा 'इण्डिया कौंसिल' के हाथ में चला गया, जो पर्याप्त रूप से भारतीय परिस्थिति के सम्पर्क में नहीं थे। केन्द्रीय बैंक प्रशिक्षित अनुभव तथा परामर्श दे सकेगा तथा भारत-सचिव और जन-आलोचना के बीच मध्यस्थ का भी काम करेगा। मुद्रा में स्थिरता रखने की ही दृष्टि

---

१. कीश एण्ड एलकिन, 'सेण्ट्रल बैंक्स', पृष्ठ २।

तथा लंका में भुगतान होने योग्य हुण्डियों तथा दूसरे विनिमय-साध्य ऋण-पत्रों को लिखना, स्वीकार, बट्टा तथा विक्रय करना तथा गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञानुसार विदेशों में चुकता होने योग्य हुण्डियों का बट्टा, खरीद तथा विक्रय करना। जिन व्यक्तियों की जायदाद का प्रबन्ध बैंक करता हो उनके लिए तथा अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं एवं ग्राहकों की निजी आवश्यकता के लिए हुण्डी-लेखन तथा साख-पत्रों की स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार बैंक को दिया गया। (५) भारत में ऋण लेना, निक्षेप लेना, सुरक्षित धरोहर-स्वरूप ऋण-पत्र रखना एवं उसका सूद वसूल करना तथा सोना-चाँदी खरीदना तथा बेचना। (६) बैंक की लन्दन-शाखा बैंक के व्यापार के लिए बैंक के आदेय की सुरक्षा पर इंगलैण्ड में रुपया उधार तो ले सकती थी, पर उसे रोक-ऋण (केश-क्रेडिट) खाते खोलने, दूसरों के नक़द हिसाब रखने या प्रेसीडेन्सी बैंक के पहले के ग्राहकों के अतिरिक्त किसी अन्य से निक्षेप लेने की आज्ञा नहीं थी।

३१. सार्वजनिक संस्था के रूप में कार्य—सरकारी बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक के निम्नलिखित कार्य थे—

(१) इस बैंक ने भारत सरकार के बैंक-सम्बन्धी सभी साधारण कार्यों का जिम्मा ले लिया। वह सरकार की ओर से रुपये-पैसे स्वीकार करता तथा सरकार के लिए खर्च भी। जहाँ-जहाँ इसके प्रधान कार्यालय तथा शाखाएँ थीं, सरकारी खज़ाने की सारी निधि इन्हीं में रखी जाती थी। इस प्रकार सुरक्षित खज़ाने की पद्धति समाप्त हो गई। (२) एक विशेष पारिश्रमिक पाने के बदले यह बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने लगा। (३) बैंक से कहा गया कि वह १०० नई शाखाएँ खोले, जिनके चतुर्थांश के स्थान का निर्णय सरकार करेगी। (४) बैंक से ऐसी आशा की गई कि वह जनता को अपनी शाखाओं के बीच द्रव्य-हस्तान्तरण की सुविधा मुद्राध्यक्ष द्वारा स्वीकृत उचित दर पर प्रदान करेगा। जिन दो स्थानों में इम्पीरियल बैंक का कारोबार हो वहाँ सरकार ने उनके बीच जनता को रक़म भेजने की सुविधा देना बन्द कर दिया। (५) जनवरी, १९२१ में स्थापित बैंक की लन्दन-शाखा ने भारत सरकार के कारोबार के कुछ ऐसे भाग को अपने जिम्मे ले लिया जो पहले बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड के हाथ में थे (जैसे भारत के हाई कमिश्नर का चालू हिसाब)।

३२. इम्पीरियल बैंक की आलोचना के विषय—१९२१ में निर्मित इम्पीरियल बैंक की बहुत ही आलोचना की जा चुकी है। इम्पीरियल बैंक पर भारतीय फर्मों तथा संस्थाओं से विभेद रखने तथा यूरोपीय फर्मों तथा संस्थाओं के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाने का आरोप भी लगाया गया। बैंक द्वारा घोषित अत्यधिक लाभांश का मेल राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के उद्देश्य के साथ नहीं बैठता था, जिसके लिए इस बैंक की सृष्टि हुई थी। बैंक तथा राज्य के बीच मुनाफे के बँटवारे के लिए कोई भी प्रबन्ध नहीं था। १९२० के एक्ट के अन्तर्गत बैंक के ऊपर राज्य का उतना प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था जितना होना चाहिए, क्योंकि मुद्राध्यक्ष द्वारा हस्तक्षेप की सम्भावना तभी की जाती थी जबकि राज्य का हित खतरे में पड़ गया हो। बैंक की शाखा

नियन्त्रण अब कम हो गया। (२) इम्पीरियल बैंक अब सरकार का महाजन नहीं रह गया (रिज़र्व बैंक ने अब यह पद ग्रहण कर लिया), पर उसे रिज़र्व बैंक के साथ इकरार करने का यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह उसके एकमात्र एजेंट रूप में सरकारी कारोबार का प्रबन्ध कर सके (आगे सेक्शन ४१ में यह और भी स्पष्ट है।) (३) बैंक के लन्दन शाखा के कार्यों पर लगाये गए पुराने प्रतिबन्ध हटा लिये गए। बैंक को भारतवर्ष तथा विदेशों में शाखाएँ या एजेन्सियाँ स्थापित करने की छूट दी गई। (४) केन्द्रीय परिषद् को यह अधिकार प्रदान किया गया कि पहले से गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा लिये बिना भी वह स्थानीय परिषदों की स्थापना या अपनी पूँजी बढ़ाए। (५) बैंक के कारोबार-सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों को हटाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिवर्तन किये गए—बैंक को विदेशों में चुकता होने योग्य हुण्डियों को खरीदने, भारत से बाहर रुपया उधार लेने तथा विदेशी विनिमय-कार्य करने के अधिकार प्रदान किये गए। मौसमी कृषि-कार्यों की वित्तीय व्यवस्था-सम्बन्धी पेशगी तथा कर्ज़ की (भुगतान की हुण्डी की भी) अवधि को बढ़ाकर ६ से ९ महीने तक कर दिया गया। बैंक को यह अधिकार था कि वह किसी ऐसी चल या अचल सम्पत्ति, जो किसी ऋण या पेशगी के लिए ज़मानत हो या ज़मानत से सम्बद्ध हो, सम्बन्धी अधिकार को प्राप्त करे, अपने अधिकार में रखे तथा अपने काम में लाए। रिज़र्व बैंक के हिस्सों की म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकारान्तर्गत गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा से निर्गमित ऋण-पत्र, देशी राजाओं के अधिकारान्तर्गत निर्गमित ऋण-पत्रों तथा केन्द्रीय बोर्ड की आज्ञानुसार सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के ऋण-पत्रों पर रुपया पेशगी और कर्ज़ देने तथा रोक-ऋणखाता खोलने का भी अधिकार बैंक को प्रदान किया गया। बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि अगर केन्द्रीय परिषद् विशेष आज्ञा दे तो ज़मानत पर रेहन की गई वस्तु के आधार पर पेशगी या रोक-ऋण दिया जा सकता है। कुछ पुराने प्रतिबन्ध (जैसे ज़मीन के रेहन, या पेशगी और ऋण की अवधि (पूर्व-वर्णित संशोधनों के साथ), व्यक्तियों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा-सम्बन्धी तथा बैंक के हिस्से पर कर्ज़ देने के निषेध इत्यादि) अब भी चलते रहे।

स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया

स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफ़ारिश मानकर भारत सरकार ने ५ जुलाई, १९५५ से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया है जिसको इम्पीरियल बैंक के सभी आदेय और दायित्व हस्तांतरित कर दिये गए।

स्टेट बैंक का संचालन १८-२० संचालकों के एक केन्द्रीय संचालक-मण्डल द्वारा किये जाने की व्यवस्था है जो निम्न प्रकार से निर्वाचित या मनोनीत होंगे—

(१) स्टेट बैंक के सभापति तथा उपसभापति, जिन्हें रिज़र्व बैंक के परामर्श से भारत सरकार नियुक्त करेगी।

बँटी हुई होगी। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में हिस्सेदारों के अलग-अलग रजिस्टर रखे गए। इन खातों में पहले से निर्दिष्ट किये गए हिस्सों का नामांकित मूल्य इस प्रकार था—बम्बई १४० लाख रुपया, कलकत्ता १४५ लाख, दिल्ली ११५ लाख, मद्रास ७० लाख तथा रंगून ३० लाख। बाद में होने वाले हस्तांतरण की वजह से हिस्सों के क्षेत्रीय वितरण में अत्यधिक परिवर्तन आ गए तथा वोटों के एकत्रीकरण और उनको निष्फल करने की प्रवृत्ति विशेषतः बम्बई क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ गई। अप्रैल १९३५ से ३० जून १९४० तक हिस्सेदारों की संख्या ९२,०४७ से घटकर ५६,०५७ हो जाने से यह स्पष्ट है। अतः बैंक के हिस्से को थोड़े लोगों के हाथों में एकत्रित होने से रोकने के उद्देश्य से मार्च, १९४० में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा यह निर्धारित हुआ कि अगर किसी व्यक्ति ने मार्च, १९४० के बाद अकेले या सम्मिलित रूप से किसी ऐसे अतिरिक्त हिस्से को प्राप्त किया है, जिससे उसके नाम के कुल हिस्सों का कुल मूल्य २०,००० रुपये से अधिक हो जाता है तो वह इस हिस्से के लिए हिस्सेदार निबन्धित नहीं किया जा सकता।[1]

३५. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया कार्यरूप में—१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का उद्घाटन हुआ और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में इसके कार्यालयों की स्थापना हुई। बाद में कानून द्वारा विधित लन्दन में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था की गई।

इसने बैंकिंग कम्पनी से सम्बन्धित नये विधानों को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट में समावेश करने के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी तथा भारतवर्ष में बैंक एक्ट बनाने का लाभकारी प्रस्ताव १९३९ में रखा। इसने देश के अन्तर्गत रुपया भेजने की सस्ती सुविधा दी है तथा ब्याज की दर कम करने में सहायता की है। देश में बैंक की सुविधा के विस्तार के लिए भी इसने अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया है।

इसने केवल अनुसूचित बैंकों, जो विधिवत् सदस्य-बैंक हैं, के ही साथ लाभकर सम्पर्क स्थापित नहीं किया बल्कि अगणित छोटे-छोटे ग़ैर-अनुसूचित बैंकों के साथ भी द्रव्य तथा साख के अधिकारी की हैसियत से विगत युद्धकाल में अनेक कठिनाइयों को बड़ी चतुरतापूर्वक झेलकर द्रव्य-बाजार में स्थिरता लाने में योगदान दिया। "यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक ब्याज-दर की उन मौसमी विभिन्नताओं को दूर करने में अत्यधिक हिस्सा लेता रहा है, जिनका भारतवर्ष के भविष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही प्रभाव पड़ता।"[2] इसने कृषि-साख तथा सहकारी आन्दोलन के अध्ययन के सम्बन्ध में बहुत काम किया है और ग्रामीण साख-संगठन-सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य सुझाव दिये हैं।

३६. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (सार्वजनिक स्वामित्व का हस्तान्तरण) एक्ट

---

१. रिज़र्व बैंक का वार्षिक विवरण (अगस्त, १९४०), पृ० ९।
२. मुरंजन, 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५।

के लिए वह बैंक दर, खुले बाजार कार्यों (ओपन मार्केट ऑपरेशन) के सामान्य उपायों के अतिरिक्त अधिकोषीय अधिनियम १९४९ (बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट १९४९) के अन्तर्गत चयनित साख-नियंत्रण (सेलेक्टिव क्रेडिट कण्ट्रोल) तथा प्रत्यक्ष साख नियमन का प्रयोग कर सकता है। (४) रिज़र्व बैंक का एक अन्य मुख्य कार्य सरकार के बैंकिंग और वित्तीय कार्यों का सम्पादन करना है। (५) एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य रुपये के विनिमय-मूल्य को स्थिर रखना है। राष्ट्र के आर्थिक विकास और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस कार्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोष (इण्टरनेशनल रिज़र्व्स) रिज़र्व बैंक की संरक्षता और प्रबन्ध के अन्तर्गत रहता है।

देश में आर्थिक विकास की बढ़ती हुई गति के साथ बैंक के कार्यों की परिधि में लगातार विस्तार हो रहा है। अतः अनेक कार्य, जो पहले केन्द्रीय बैंकों के क्षेत्र से बाहर समझे जाते थे, रिजर्व बैंक द्वारा किये जा रहे हैं।

नोट निर्गमन—मूल अधिनियम के अन्तर्गत नोट निर्गमन के लिए स्वर्ण और विदेशी प्रतिभूतियों का आनुपातिक सुरक्षा कोष निर्धारित किया गया था। इसके अनुसार कुल आदेय का ४० प्रतिशत स्वर्ण और स्वर्णमुद्रा तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में होना चाहिए, किन्तु सोने का मूल्य ४० करोड़ रु० से कम न होना चाहिए। यह व्यवस्था लगभग २० वर्ष तक रही। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५६ ने आनुपातिक सुरक्षा पद्धति के स्थान पर एक विदेशी सुरक्षा कोष की निरपेक्ष राशि निर्धारित कर दी। १९५६ से ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रु० का स्वर्ण या स्वर्णमुद्रा सुरक्षित कोष के रूप में रखा जाने लगा। द्वितीय संशोधन अधिनियम १९५७ पास किया गया। इसके अनुसार निर्गम विभाग के स्वर्ण मुद्रा, स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियों का कुल मूल्य २०० करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिए। इसमें स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण का मूल्य ११५ करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिए।

विदेशी विनिमय—केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक का एक मुख्य कार्य रुपये के वाह्य मूल्य को स्थिर रखना है। भारत के विदेशी लेन-देन का ७०% स्टर्लिंग में, १०% डालर में तथा शेष रुपयों में होता है अतएव पौण्ड स्टर्लिंग और रुपये का सम्बन्ध अब भी बना हुआ है। रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर अब भी १ शि० ६ पैं प्रति रुपया है। यह दर १९२७ में निश्चित हुई थी और तब से अब तक चली आ रही है। बैंक के विदेशी विनिमय-सम्बन्धी दायित्व रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट की धारा ४० के अन्तर्गत निर्धारित हैं। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण द्वारा भी रिज़र्व बैंक अपने उत्तरदायित्व को पूरा करता है।

अनुसूचित तथा ग़ैर-अनुसूचित बैंक—रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद सम्मिलित पूँजी वाली बैंक दो वर्गों में विभाजित हो गई—(१) अनुसूचित तथा ग़ैर-अनुसूचित। अनुसूचित बैंक वे हैं जो रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट की दूसरी अनुसूची में सम्मिलित हैं। इनकी तुलना यू० एस० ए० की सदस्य-बैंकों से की जा सकती है।

करघा वित्त। प्रत्येक एक उप-मुख्य-अधिकारी (डिप्टी चीफ़ अफ़सर) के अन्तर्गत है। कृषि साख विभाग के प्रादेशिक कार्यालय भी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और नई दिल्ली में स्थापित किये गए हैं।

३७. १९३९ के बाद भारतीय बैंकिंग—द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट तथा दिसम्बर, १९४१ में जापानी युद्ध के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भय के कारण जनता बैंकों से अपना रुपया वापस करने लगी, पर थोड़े ही दिनों बाद जनता ने इस त्रास की निरर्थकता को महसूस कर लिया और अपने को युद्ध की परिस्थिति के अनुकूल बनाने में समर्थ हो गई। १९३९ में अनुसूचित बैंकों का निक्षेप-दायित्व २४९·४५ करोड़ रुपये का था, पर जुलाई १९४४ के अन्त तक यह बढ़कर ७५९.२९ करोड़ रुपये हो गया। इसके दो मुख्य कारण हैं—बैंकिंग तथा राजस्व का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा लड़ाई के कारण मुद्रा-प्रसार, जो साख को और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है।

अवधि-निक्षेप (टाइम डिपाज़िट) की अपेक्षा माँग-निक्षेप में अधिक वृद्धि हुई, जिसका कारण था जनसाधारण द्वारा तरलता को अधिमान दिया जाना। वे अपना रुपया पूँजी-रूप में न लगाकर लाभदायक विनियोग के अवसर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

माँग-दायित्व के अपेक्षाकृत बढ़ जाने के कारण बैंक अपनी स्थिति को अधिकाधिक तरल रख रहे थे। पेशगी तथा हुण्डियाँ (जो बैंक के आदेय के लाभकारी मद हैं) तो बढ़ रही थीं, पर कुल निक्षेप में उनका प्रतिशत १९३९ में ५३ था जो १९४४ में केवल ३० रह गया। इसके दो मुख्य कारण थे—युद्ध के समय में व्यावसायिक विनियोग का अवसर कम हो गया तथा बैंकों ने अपनी रकम को युद्ध-ऋण (वार-लोन्स) में लगा दिया। उपर्युक्त अधिक तरलता की इच्छा ने ही सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाने की प्रेरणा दी। हिस्सा-पूँजी तथा रक्षित कोष की रकम भी बढ़ी पर वह निक्षेप जितनी न बढ़ सकी। १९४५ के मध्य से, जबकि युद्ध का अन्त समीप ही था, माँग तथा अवधि-दायित्व का असम अनुपात स्वयं ही ठीक होने लगा। १९४६-४७ में पिछले वर्ष के समान माँग-निक्षेप की अपेक्षा अवधि-निक्षेप अधिक तेज़ी से केवल बढ़े ही नहीं बल्कि जिस समय माँग-निक्षेप में कम होने की प्रवृत्ति थी उस समय भी अवधि-निक्षेप बढ़े। इससे स्पष्ट था कि जनता के तरलता-अधिमान (लिक्विडिटी प्रेफरेन्स) में ह्रास होने लगा तथा निक्षेप का ढाँचा युद्ध-पूर्व की स्थिति के समान बदल रहा था।

१९१४-१८ के युद्ध की तरह १९३९-४५ के द्वितीय विश्व-युद्ध में द्रव्य-सम्बन्ध स्थिति तंग तथा बैंक-दर ऊँची नहीं हुई। व्याज की दर पर कठोर नियन्त्रण युद्ध के खर्च को पूरा करने की नई शैली रही है तथा इसकी सफलता इसी से सिद्ध हो जाती है कि अत्यधिक बढ़े सार्वजनिक व्यय तथा सरकार द्वारा अत्यधिक उधार लेने की अपेक्षा होते हुए भी ब्रिटेन तथा भारत के द्रव्य-सम्बन्धी अधिकारी व्याज की दर को कम बनाये रहे हैं।

प्रथम युद्ध के सदृश विगत युद्ध ने भारतीय बैंकों के नकद कोष की स्थिति

ताकि वे मध्यकालीन अग्रिम सरलता से दे सकें। १९६० के 'ट्रेन्ड्स एण्ड प्रोग्रेस ऑफ़ बैंकिंग इन इण्डिया' (प्रकाशित जून १९६१) में कहा गया है कि तृतीय योजना के अन्त तक बैंकिंग व्यवस्था द्वारा सम्पादित कार्य लगभग दूना हो जाएगा। तृतीय योजना की चुनौती स्वीकार करने के लिए बैंकों को निक्षेप प्राप्त करने के प्रयत्न बढ़ाने चाहिए। उपर्युक्त प्रकाशन में इस हेतु तीन सुझाव दिये गए हैं—(१) अधिक शाखाएँ खोली जाएँ। (२) निक्षेपकों में विश्वास उत्पन्न किया जाए। (३) व्यापार नई दिशाओं में मोड़ा जाए।

३८. **औद्योगिक वित्त**—औद्योगिक वित्त की सुसंगठित पद्धति का अभाव भारत के आर्थिक ढाँचे की सबसे बड़ी कमी है। जर्मनी के बैंकों ने अपने देश के उद्योगों की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति में अत्यधिक योग दिया है। वे उद्योगों की प्रारम्भिक पूँजी के अधिकांश भाग का बन्दोबस्त करते हैं, जिसे कालान्तर में विनियोग करने वालों से प्राप्त कर लेते हैं। जोखिम को आपस में बाँटने के उद्देश्य से अनेक बैंक अपने संघ (कोन्शोर्सियम) बना लेते तथा निर्गमित हिस्सों के कुछ अंश को लेने की प्रतिज्ञा करते हैं। पर औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों में बैंकों का यह विनियोग औद्योगिक बैंकों द्वारा किए विनियोग के सदृश दीर्घकालीन विनियोग नहीं है, बल्कि इसे बैंक के साधनों की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के विनियोगों की भाँति सुरक्षित विनियोग समझा जाता है, जिसे बैंक अल्पकाल के लिए करते हैं। इन कार्यों से बैंकों को लाभ ही होता है, क्योंकि इस प्रकार उन्हें व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिलता है। नई पूँजी की प्राप्ति करने के लिए जर्मन औद्योगिक कम्पनियाँ सामान्यतः उन्हीं बैंकों से पूँजी की माँग करती हैं जिनके साथ उनका स्थायी बैंक-व्यवहार है। पर यह बात स्मरणीय है कि बैंक अपने साधनों का एक सीमित अंश ही औद्योगिक वित्त में लगाते हैं तथा उनका प्रधान कार्य बैंक का साधारण कारोबार करना ही होता है।[1] केन्द्रीय अधिकोष खोज-समिति ने जर्मन पद्धति को यथोचित संशोधनों के पश्चात् अपना लेने का स्वागत किया तथा यह सुझाव रखा कि इस दिशा में ख्याति-प्राप्त व्यापारिक बैंक कार्य का श्रीगणेश करें। इस कार्य में अत्यधिक अनुभव तथा विवेक के अतिरिक्त अधिक निजी पूँजी होनी चाहिए एवं प्रतिभूतियों के निर्गमन तथा विक्रय में सट्टेबाजी के प्रलोभन का संवरण करना आवश्यक है। ये गुण आज के थोड़े-से ही बैंकों के पास हैं। अगर देश के प्रमुख बैंकों को उद्योगों के प्रति सच्चा तथा सहानुभूतिपूर्ण अनुराग हो तो इन कठिनाइयों के होते हुए उद्योगों को काफ़ी वित्तीय सहायता दी जा सकती है। जर्मन नमूने का अनुकरण कुछ हद तक हम पारस्परिक विश्वास की सृष्टि करने के लिए कर सकते हैं, बशर्ते स्वस्थ बैंकिंग से असंगत उलझनों से बचे रहें। बैंकों के प्रबन्ध-

---

१. 'इण्डस्ट्रियल ऑर्गनाइजेशन इन इण्डिया' के पृष्ठ २४१-४२ पर डॉ० पी० एस० लोकनाथन यूरोपीय श्रेणी मिश्रित बैंकिंग के अनुकूल भारतीय व्यावसायिक बैंकिंग के निरूपण की कठिनाइयों का स्पष्ट करते हैं।

में तथा १० प्रतिशत सहकारी बैंकों के हाथ में रहेगा। इसमें सरकारें, रिज़र्व बैंक (१ जनवरी, १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण हो गया) तथा इम्पीरियल बैंक के हिस्से का योग कुल हिस्सों का ५२ प्रतिशत होगा जिससे इस पर सरकारी नियन्त्रण का होना निश्चित-सा हो जाता है।

निगम का प्रबन्ध १२ सदस्यों की एक समिति को सौंप दिया गया है, जिसमें मैनेजिंग डाइरेक्टर भी सम्मिलित हैं। यह १० करोड़ रुपये तक के निक्षेप स्वीकार कर सकता है, किन्तु उसकी अवधि पाँच वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। ऋण केवल सीमित दायित्व वाली कम्पनियों और सहकारी समितियों को प्रदान किया जाता है, पर शर्त यह रहती है कि वे स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा भी वांछित धन के एक उचित अनुपात की पूर्ति करें। ऋण देने के ढंग ये हैं—(१) ऋण देकर या २५ वर्ष के अन्तर्गत चुकता होने वाले औद्योगिक संस्थाओं के ऐसे ऋण-पत्रों को खरीदकर, जो सुरक्षित हैं या जिनके साथ जायदाद आदि वस्तुएँ भी गिरवी समझी जाती है, (२) कम्पनी के हिस्से, स्टाक तथा बिक्री-हेतु ऋण-पत्रों की स्वयं गारण्टी करके और (३) बाज़ार में बेचे जाने वाले २५-वर्षीय ऋण की वापसी की गारण्टी देकर।

ऋण के प्रार्थना-पत्रों पर विचार करते समय इन बातों पर ध्यान रखा जाता है—(क) आवेदक कम्पनी की आर्थिक स्थिति, जो लेन-देन के चिट्ठों का अध्ययन करने और खातों की जाँच करने के उपरान्त प्रकट होती है, (ख) योजना की यान्त्रिक दृढ़ता व व्यवस्था की कार्यकुशलता, और (ग) देश के आर्थिक ढाँचे में उस उद्योग का महत्त्व। निगम को अधिकार है कि वह पूँजीगत वस्तुओं को प्राप्त करने की सुविधा के लिए कम्पनियों को आवश्यकतानुसार भारतीय या विदेशी मुद्रा में ऋण दे।

निगम आय-कर के दायित्व से मुक्त नहीं है। मार्च, १९६० तक कारपोरेशन ने ७२·१८ करोड़ रु० का ऋण मंजूर किया था। ४७.४८ करोड़ रु० का ऋण वितरित किया जा चुका है। मंजूर किये गए ऋणों में दो-तिहाई ऋण स्वतन्त्रता के पश्चात् स्थापित नए कारखानों को दिये गए। १९५७ के औद्योगिक वित्त-निगम (संशोधन) अधिनियम द्वारा निगम की साधन-सम्बन्धी स्थिति और दृढ़ हो गई है तथा उसके कार्यों की परिधि भी विस्तृत हो गई है।

भारतीय राज्यों में प्रादेशिक वित्त निगमों के बन जाने के कारण यह निर्णय हुआ है कि (१) १० लाख रुपये और (२) अपने प्रदेश के वित्त निगम की प्राप्त पूँजी के दस प्रतिशत तक के ऋण के आवेदकों को औद्योगिक वित्त निगम ऋण न दे।

दिसम्बर, १९५९ तक भारत में १४ राज्यीय वित्त निगम बनाए जा चुके थे। १९५१ के अधिनियम के अनुसार ये निगम बांड तथा ऋणपत्र निर्गमित कर सकते हैं, कम्पनियों को गारण्टी दे सकते हैं तथा उनके ऋण-पत्रों आदि की बिक्री की सुविधा भी दे सकते हैं, परन्तु ये सभी कार्य कुल निधि-रूप में निगम की प्राप्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पांच गुने से अधिक न हों। १९५९-६० के अन्त तक निगमों के ऋण और अग्रिम की मात्रा १४·१७ करोड़ रु० थी।

बहुमूल्य धातुओं का भूमि से उद्धार करती है और दूसरी उन्हें पुनः भूमि के भीतर दफ़ना देती है।' यह भी कहा जाता है कि जो स्वर्ण भारत में सामान्य उपयोग के लिए पहुँच जाता है, वह शेष संसार के लिए सदैव के लिए लुप्त हो जाता है। दीर्घ-काल तक यूरोपवासी भारत में बहुमूल्य धातुओं की निरन्तर खपत पर हर्ष, आश्चर्य और संतोष के साथ विचार करते थे। यदि भारत में सोने-चाँदी की इतनी अधिक खपत न हुई होती, तो इधर पिछले वर्षों में नई खानों के अन्वेषण और धातु निकालने की प्रणाली में सुधार हो जाने के फलस्वरूप सोने-चाँदी के उत्पादन में विपुलता आ जाने व मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाने के कारण यूरोपीय देशों के आर्थिक जीवन में एक भीषण असन्तुलन आ जाता। किन्तु जब १९२४-२५ में इंगलैण्ड व यूरोप के अन्य देश अपनी मुद्राएँ स्थिर करने के लिए संघर्षरत थे, भारत यूरोप की आवश्यक-ताओं को तनिक भी ध्यान में न रखते हुए कम-से-कम ५० लाख पौंड के मूल्य का स्वर्ण एकत्र कर चुका था। तब यूरोपीय देशों ने अनुभव किया कि भारत संचय करने के अपने ढर्रे को पूरी सरगर्मी से जारी रखकर उनके मुद्रा स्थिर करने के प्रयास में भारी बाधा पहुँचा रहा है।'[1]

भारत में इस संचित धन के सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गए हैं। कदा-चित् सबसे पहला अनुमान श्री मेक्लायड (एच० डी०) का था। यह पहले अर्थशास्त्री थे जिनके मस्तिष्क में इस संचित धन के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उनका विश्वास था कि यह ३०० लाख पौंड से कम नहीं होना चाहिए। लार्ड कर्जन का अनुमान था कि यह ८२५ करोड़ रु० के निकट होगा, जबकि आर्नल्डराइट ने दिस-म्बर १९१६ के फिनान्शियल रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़ में लिखते हुए उसे ७००० लाख पौंड ठहराया था।

भारत के सोने व चाँदी के उपभोग की शिकायत करते हुए यूरोपीय लेखकों ने सारा दोष भारतवासियों के ही गले मढ़ दिया है और स्वर्ण के उपभोग[2] के सम्बन्ध में भारत को द्वेषपूर्ण दायित्व का दोषी करार करने के प्रयास के फलस्वरूप उत्तेजना-पूर्ण प्रत्युत्तर तक नौबत आ पहुँची और दोषारोपित करने वालों के सिर भी दोष मढ़े गए। यह इंगित किया गया कि स्वर्ण-संचय करने का दुर्व्यसन केवल भारतीयों के साथ ही नहीं है। संयुक्तराज्य अमरीका में ही १९१६ से लेकर १९२३[3] के बीच लग-भग ५० करोड़ पौंड का सोना खप गया और न्यूयार्क में द्रव्य के नाम पर स्वर्ण का

---

१. जब हम सितम्बर, १९३१ (जब १ रुपया १ शि० ६ पैं० के बराबर था) से जनवरी, १९४० के बीच के ३५१ करोड़ रु० के सोने का भारत से निर्यात का ध्यान करते हैं, तो उपर्युक्त दलील में कोई जान नहीं दिखाई पड़ती। पीछे अध्याय ९, सेक्शन २२ देखिए। जिस समय भारत से इतनी बड़ी मात्रा में सोने का निर्यात हो रहा था, ठीक उसी समय संयुक्तराज्य अमरीका तथा अनेक यूरोपीय देशों में (विशेषतः फ्रांस में) इसका अत्यधिक संचय किया जा रहा था।

२. सर स्टेनली रीड द्वारा बैबिंगटन स्मिथ समिति को दिया गया वक्तव्य।

३. वाडिया और जोशी, 'दि वेल्थ ऑफ़ इण्डिया', पृ० ३८८-८९।

आवश्यक ही है तथा इन बहुमूल्य पदार्थों को हम संचित धन तभी कह सकते हैं जबकि प्रयोजन मूल्य के संचित करने से सम्बद्ध हो।

वैंकिंग सुविधाओं का विस्तार जिस प्रकार नशाखोरी की फिजूलखर्ची को कम करने का साधन नहीं है, उसी प्रकार यह आभूषण पर की गई फिजूलखर्ची का भी साधन नहीं हो सकता (जब तक हम गहने को बैंक का स्थानापन्न न मानें)। वास्तव में भारतीय कृषक अपने रुपये प्रायः मच्छरदानी तथा भोजन-जैसी आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करने के बजाय अपने तथा अपनी पत्नी के आभूषण के लिए खर्च करता है। कभी-कभी तो रीति-रस्मों के कारण सोने तथा चाँदी का व्यवहार करना पड़ता है, धार्मिक तथा परम्परागत उत्सवों में भी इनका प्रमुख स्थान होता है। यह दुःख की बात तो अवश्य ही है, पर इन्हें दूर करने के लिए हमें मूल्य के समुचित ज्ञान तथा शिक्षा एवं सामान्य चेतना के प्रसार द्वारा सामाजिक तथा धार्मिक रस्मों को मृदुल बनाना पड़ेगा। इसके साथ-ही-साथ यह भी नहीं भूलना होगा कि इस पहलू का सम्बन्ध वास्तविक सञ्चय से न होकर उपभोग तथा व्यय की अच्छी या बुरी रीति से है।

वैंकिंग के जिस विस्तार को सञ्चय बन्द करने के उपाय के रूप में बताया जाता है सञ्चय के कारण वह खुद ही कठिन हो जाता है, क्योंकि जब तक जनता बैंकों में रुपया जमा नहीं करती तब तक वे अपना कार्य-संचालन ही कैसे कर सकते हैं, पर इसके साथ यह कहना भी ठीक है कि जब तक कोई बैंक है ही नहीं तब तक उसमें कोई अपना रुपया जमा ही कैसे कर सकते हैं? अतएव यह प्रश्न क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सम्बन्धित है और हमारे सामने केवल यही रास्ता बच जाता है कि हम अधिकाधिक बैंकों तथा लोगों की आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार के बैंकों की स्थापना करें तथा और बातों को शिक्षा एवं सतत प्रचार पर छोड़ दें।

संचय की प्रवृत्ति को दूर करने के उपाय—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जो संचय आपत्ति-काल के लिए ज़ेवरात के रूप में किया जाता है, उसे दूर करने का एक उपाय आपत्तिकाल के संचय के लिए वैकल्पिक साधनों को उपलब्ध कराना है। इस दिशा में पोस्ट ऑफ़िस सेविंग्स बैंक तथा विभिन्न प्रकार के बचत सर्टीफिकेट उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इनकी चर्चा की जा चुकी है। पोस्ट ऑफ़िस सेविंग्स बैंक चेक जारी करने की सुविधा प्रदान कर काफ़ी निक्षेप प्राप्त कर सकती है। ऐसा करने से सेविंग्स बैंक को अधिक निक्षेप मिलेंगे, साथ ही जनता में चेक का प्रयोग बढ़ेगा और संचय की प्रवृत्ति कम होगी।

१९५९-६० में ८४ करोड़ रु० अल्पबचत के रूप में प्राप्त हुआ जो १९५८-५९ की ८० करोड़ रु० की राशि से अधिक है। यह राशि स्वतः बहुत बड़ी नहीं है, किन्तु इसकी वृद्धि इस बात की सूचक तो है ही कि संचय की प्रवृत्ति के स्थान पर अल्प-बचत की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बड़े कारखानों और संस्थाओं में कर्मचारियों की अनुमति से अल्पबचत के लिए वेतन मिलने से पूर्व कटौती कराने की व्यवस्था है। इस समय

स्कीम बनी है (जुलाई १९६०), तब से लेकर १९६४ के अन्त तक इस स्कीम के नीचे १२,४७७ गारन्टियाँ, ४९·५३ करोड़ रुपये की कीमत की दी गई।

बढ़ती हुई कीमतों तथा ऊँची दर के ऋण और बैंकों की साख को देखते हुए रिज़र्व बैंक ने मार्च-सितम्बर १९६४ में अपनी साख देने की नीति को और कड़ा कर दिया। बैंक दर को ५ प्रतिशत बढ़ा दिया और उधार देने की नीति को और ऊँचा कर दिया, जिससे अन्य बैंकों को साख की बढ़ोतरी के लिए रिज़र्व बैंक के पास आश्रय लेने का प्रयत्न करें। इस प्रकार १९६४ में रिज़र्व बैंक ने साख पर लगाये गए प्रतिबन्धों को तेलों और खाद्य पदार्थों पर और भी मज़बूत कर दिया।

१९६५ के रिजर्व बैंक की साख नीति के कारण थोक वस्तुओं की कीमतों में ६ प्रतिशत बढ़ोतरी हुई जो कि १९६४ का $\frac{1}{3}$ हिस्सा है। १९६५ की नीतियाँ इसलिए अपनाई गई थीं कि ज़रूरी कामों के लिए साख मिल सके और बढ़ती कीमतों को रोका जाए। लोगों के पास धन की पूर्ति १०·२% से बढ़ी। बैंक दर को ५ से ६ प्रतिशत बढ़ाने और रिजर्व बैंक की अनुकूलता को कम करने के बाद भी व्यस्त समय में बैंक साख ४०७ करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार जब तक अच्छी साख की नीतियाँ नहीं अपनाई जाएँगी और बढ़ती कीमतों की रोकथाम नहीं की जाएगी, तब तक राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक स्थिति संकट से दूर न हो सकेगी।

व्यापार ३० तथा उससे अधिक काउण्ट के महीन कपड़ों तक ही सीमित था। भारत बड़ी कठिनाई के साथ बहुत थोड़ी मात्रा में २६ या उससे थोड़े अधिक काउण्ट के वस्त्र तैयार कर सकता था। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि आयात-कर ५ से ३½ प्रतिशत कर देने से विदेशी वस्त्रों के धनी उपभोक्ताओं को ही विशेष लाभ होता, पर देशी सूती वस्त्रों पर लगाया हुआ ३½% कर गरीबों को विशेष हानि पहुँचाता। इसलिए देशी सूती वस्त्रों के उत्पादन पर ३½% कर कभी भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

(ख) **१९१४-१८ के महासमर के पहले निर्यात प्रशुल्क**—१८६० तक निर्यात-कर प्रारम्भिक प्रशुल्क नीति का मुख्य अंग था और प्रायः प्रत्येक निर्यात की वस्तु पर ३% कर लगाया जाता था। यद्यपि यह कर बहुत कम था और आय की दृष्टि से लगाया गया था, पर निर्यात-कर के लगाये जाने का सिद्धान्त आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त समझा जाता था। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलने के कारण निर्यात-व्यापार को धक्का पहुँचने का भय था। इस विचार से १८६० से १८८० तक निरन्तर इस कर को हटा देने की नीति का ही अनुसरण किया गया। फलतः १८८० में केवल चावल पर ही वह कर लगा रहने दिया गया। १९०३ में भारतीय चाय उद्योग की प्रार्थना पर चाय के निर्यात पर एक साधारण कर लगा दिया गया।[1]

३. युद्धकालीन तथा उत्तर-युद्धकालीन निराक्राम्य प्रशुल्क पद्धति—युद्ध-काल में तथा उसके पश्चात् निराक्राम्य प्रशुल्कों में विस्तृत परिवर्तन हुए। उनका सारांश निम्न-लिखित है—

(क) **आयात-कर**—मूल्यानुसार लगाया जाने वाला कर सभी वस्तुओं, जैसे सूती वस्त्र, लोहा और इस्पात, रेल से सम्बन्धित वस्तुओं इत्यादि, पर बढ़ा दिया गया। उदाहरण के लिए चीनी पर लगा मूल्यानुसार कर १९१६-१७ में ५% से बढ़ाकर १० प्रतिशत कर दिया गया और १९२२-२३ में १५ से २५ प्रतिशत कर दिया गया। रूई कातने और बुनने की मशीनों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं पर १९२१-२२ में २½% कर लगाया गया, पर बाद में यह कर हटा लिया गया। विलासिता की सभी वस्तुओं, जैसे मोटरकार, सिनेमा के फ़िल्म, घड़ियाँ, रेशम के कपड़े इत्यादि, पर लगे कर १९२१-२२ में ७½ प्रतिशत से बढ़ाकर २० प्रतिशत और १९२२-२३ में बढ़ाकर ३० प्रतिशत कर दिये गए। १९२७-२८ में टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार, जिसमें मोटर परिवहन को प्रोत्साहन देने पर ज़ोर दिया था, मोटरकार पर कर ३० से २० प्रतिशत कर दिया गया और टायरों पर ३० से १५ प्रतिशत कर दिया गया। तीव्र आर्थिक अवसाद तथा केन्द्रीय बजट के महान् घाटे ने अधिक आय प्राप्त करने के लिए आयात-करों में भारी और विस्तृत वृद्धि करने पर बाध्य कर दिया। उदाहरणार्थ, मार्च १९३१ के वित्त अधिनियम ने (१) शराब, चीनी, चाँदी

---

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ६, पैरा ७, II (ii)।

१९५१ से नियोजन-युग प्रारंभ हुआ तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू हुई। अब आयात और निर्यात-कर नीति के पीछे मुख्यतः दो बातें हैं—आयात-कर उन वस्तुओं पर लगाया जाए या उन वस्तुओं पर उसकी दर बढ़ाई जाए जो देश में निर्मित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करती हों या उनके विकास में बाधक हों; निर्यात-कर इस ढंग से लगाया जाए ताकि (अ) संबन्धित उद्योग देश की आन्तरिक उपयोग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्यात करें तथा (ब) कर की मात्रा इस प्रकार निर्धारित की जाए कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उनकी प्रतिस्पर्धा शक्ति न घटे। निर्यात-उद्योगों के विकास-सम्बन्धी आयातों को अपेक्षाकृत अधिक सुविधा देने की व्यवस्था की जाए। योजना-काल के बजट इन्हीं प्रवृत्तियों को लक्षित करते हैं। १९६१-६२ के बजट में लगभग ४१ वस्तुओं पर कर (ड्यूटी) बढ़ा दिये गए। देश में मशीनों के निर्माण का तेजी से विकास हो रहा है। उनके विकास में सहायता करने के लिए मशीनों और उनके पुर्जों पर लगे कर की परिनियत दर मूल्यानुसार १० प्रतिशत से बढाकर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत कर दी गई। जी० ए० टी० टी० के अन्तर्गत आने वाले सामान पर कोई वृद्धि नहीं हुई।

(ख) निर्यात-कर— १९१६-१७ में दो नये निर्यात-कर चाय और जूट पर लागू किये गए। चाय पर तो निर्यात-कर १ रु० ८ आ० निश्चित कर दिया गया। १९२७-२८ में यह कर हटा दिया गया, परन्तु इसके हटाने का घाटा चाय उद्योग के मुनाफे पर लगे आय-कर में वृद्धि द्वारा पूरा कर दिया गया। जूट की ४०० पौण्ड की प्रत्येक गाँठ पर २ रु० ४ आ० निर्यात-कर निश्चित किया गया, जो कि लगभग ५ प्रतिशत के मूल्यानुसार लगाए कर के बराबर था। जूट से बने माल पर १० रु० प्रति टन बोरों पर और १६ रु० प्रति टन टाट पर कर लगाया गया। १९१७-१८ में जूट पर निर्यात-कर दुगुना कर दिया गया। अक्तूबर, १९१९ में कच्चे चमड़े पर भारतीय चमड़ा सिझाने के उद्योग की रक्षा के लिए १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर लगाया गया। १९३० के वित्त अधिनियम ने चावल पर लागू निर्यात-कर में एक-चौथाई की कमी कर दी अर्थात् ३ आने से घटाकर २ आना ३ पाई प्रति मन कर दिया, ताकि चावल के मूल्य में हुई संसार-व्यापी कमी का मुकाबला किया जा सके तथा बर्मा और स्याम की, जोकि इस व्यापार में उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे, मुकाबला कर सके और बर्मा के किसानों की सहायता एवं उनके प्रति न्याय हो सके।

१९१४-१८ के युद्ध-काल में धन की आवश्यकता तथा युद्धोत्तरकालीन आर्थिक घाटे के कारण निराकाम्य-कर पर अधिकाधिक निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। निराकाम्य-कर से प्राप्त आय में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण शत्रु-देशों से व्यापार बन्द होने के ही कारण नहीं वरन् आयात में प्रतिबन्ध लग जाने तथा जहाजों द्वारा माल के ले आने तथा ले जाने की सुविधा में कमी होने से बहुत कमी हो गई। जब से युद्ध समाप्त हुआ है, निराकाम्य-कर पर निर्भरता की प्रवृत्ति पुनः बढ़ती जा रही है।

१९२४ तक प्रशुल्क में ये परिवर्तन (कच्चे चमड़े पर निर्यात-कर को छोड़कर)

पर्याप्त न होने के कारण बाहर से मँगाना पड़ता है। अतएव मिट्टी के तेल के उपयोग की दर कम करने की दृष्टि से अच्छे प्रकार के मिट्टी के तेल पर उत्पाद-कर ४६% बढ़ा दिया गया और इस प्रकार उत्पाद-कर ९५·५५ रु० प्रति किलोमीटर हो गया। इस प्रकार ४·४५ रु० के वर्तमान अतिरिक्त-कर को सम्मिलित कर लेने पर कुल कर की मात्रा १०० रु० प्रति किलोमीटर हो गई। निम्न कोटि का मिट्टी का तेल, जिसका उपयोग अधिकतर गाँवों में होता है, पर यह कर नहीं लगाया जाएगा।

परिष्कृत डीज़ेल तेल तथा डीज़ेल तेल के बीच उत्पाद-कर में भारी अन्तर होने के कारण डीज़ेल तेल को परिष्कृत डीज़ेल तेल में मिलाने का चलन हो गया है। अतएव डीज़ेल तेल पर २८.१५ रु० का कर बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया।

औद्योगिक विकास के साथ ही अनेक वस्तुओं पर उत्पाद-कर लगाना सम्भव हो गया। अतएव १९६१-६२ के बजट में निम्न प्रस्ताव किये गए। सोडा एश, कास्टिक सोडा और ग्लिसरीन पर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत उत्पाद-कर, पेटेण्ट दवाओं पर (जिनमें एलकोहल न हो) १० प्रतिशत तथा शृंगार-प्रसाधनों पर २५ प्रतिशत उत्पाद-कर लगाया गया। इसी प्रकार प्लास्टिक के सामान पर मूल्यानुसार २० प्रतिशत कर लगाया गया। मिल के बने ऊनी और सूती धागे पर एक विशिष्ट कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। इस प्रकार होज़री तथा कुछ अन्य वस्त्र भी उत्पाद-कर की परिधि के अन्दर आ गए। शीशे और शीशे के सामान, पोर्सलीन तथा चीनी मिट्टी के सामान, जिनमें प्याले-प्लेटें भी शामिल हैं, पर मूल्यानुसार ५ प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक का उत्पाद-कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। शैक्षणिक तथा अनुसन्धानशालाओं में प्रयोग होने वाले शीशे के सामान पर कम दर से उत्पाद-कर लगाने की व्यवस्था की गई। १९६१-६२ के बजट में ताँबे और जस्ते पर भी उत्पाद-कर लगा दिया गया। गोलाकार और चादरों पर ३०० रु० प्रति मीट्रिक टन तथा नली और ट्यूब (पाइप और ट्यूब) पर मूल्यानुसार १० प्रतिशत कर लगा दिया गया। वातानुकूल मशीनरी (एअर कण्डीशनिंग मशीनरी), रिफ्रिजरेटर, बेतार के सेट यानी रेडियो (वायरलेस सेट) पर भी उत्पाद-कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। १५० रु० के मूल्य के रेडियो उत्पाद-कर से मुक्त थे। १५० रु० से ३०० रु० तक के मूल्य के रेडियो सेट पर रिआयती दर से उत्पाद-कर लगा था। ३०० रु० से अधिक मूल्य के रेडियो पर मूल्यानुसार अधिक-से-अधिक २० प्रतिशत कर लगाया जा सकता था। मिल के बने सिल्क के कपड़े पर अभी तक राज्यों द्वारा बिक्री-कर लगाया जाता था। उसके स्थान पर एक अतिरिक्त उत्पाद-कर लगा दिया गया।

१९६१-६२ के प्रस्तावों के फलस्वरूप उत्पाद-करों से ३०·९० करोड़ रु० अधिक की आय होगी। इसमें से २·३ करोड़ रु० राज्यों को मिलेगा। १९६५-६६ में केन्द्रीय उत्पाद-कर ७०४ करोड़ रुपये मिलने की आशा थी जबकि १९६६-६७ में ७९९ करोड़ रुपया।

५. आय-कर का इतिहास—१८७७ तक कोई नया कर नहीं लगाया गया, पर

लिए धारा १५ सी के अन्तर्गत संस्थान (अंडरटेकिंग) में होटल भी शामिल कर लिया गया है। धाराएँ २३ ए, ३५ तथा ५६ ए में भी संशोधन किये गए हैं।

प्रतिवर्ष वित्त अधिनियम (फ़ाइनेन्स एक्ट) पास होता है तो उसके अन्तर्गत आय-कर में प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ परिवर्तन प्रस्तावित होते रहते हैं। १९६० में निम्न परिवर्तन हुए—(१) नये औद्योगिक संस्थानों की आय-कर से मुक्ति की अवधि (आय-कर अधिनियम की धारा १५ सी) ५ वर्ष के लिए—१९६५ तक—बढ़ा दी गई। (२) दान में दी जाने वाली धनराशि की कर-मुक्ति सीमा १ लाख रु० या कुल आय के ५% से बढ़ाकर १½ लाख रु० या कुल आय के ७½ प्रतिशत तक कर दी गई। (३) १ अप्रैल १९५० से पहले निर्मित सम्पत्ति पर स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाए गए कर की पूर्ण राशि सम्पत्ति की करारोप्य आय निर्धारित करने में घटा दी जाने लगी। अभी तक स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाये गए करों की केवल आधी राशि ही घटाई जाती है। (४) कृषि ग्रामीण साख तथा कुटीर उद्योगों से सम्बन्धित सहकारी समितियों को छोड़कर शेष सहकारी समितियों की १५,००० रु० से अधिक आय पर आय-कर लगा दिया।

१९५९-६० के वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटना प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति (डाइरेक्ट टेक्सेज़ एडमिनिस्ट्रेशन इन्क्वाइरी कमेटी) की रिपोर्ट थी। सरकार ने १९६०-६१ में उसकी सिफारिशों की परीक्षा कर ली तथा अनेक सिफारिशों के सम्बन्ध में अपने निर्णय की घोषणा की। इन सिफारिशों को कार्यान्वित किया जा रहा है। विधान आयोग को यह कार्य सौंपा गया था कि वह आय-कर अधिनियम की मूल-संरचना को प्रभावित किये बिना ही उसमें ऐसा संशोधन प्रस्तुत करे ताकि उसके अन्तर्गत दी गई व्यवस्थाएं अधिक स्पष्ट हो जाएँ। १९६६-६७ के बजट में १६४ करोड़ रु० आय-कर से मिलने की सम्भावना है जबकि १९६५-६६ के संशोधन आगणन के अनुसार १३७ करोड़ रु० आय-कर रूप में प्राप्त हुआ।

९. **आय-कर में सुधार**—सर वाल्टर लेटन ने, जो साइमन कमीशन (१९३०) के वित्त-सदस्य थे, तत्कालीन आय-कर पद्धति के अनेक दोष बताए तथा उनके सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किये।

उनके द्वारा सुझाये गए बहुत-से सुधारों (आय-कर की प्रगामिता को अधिक तीव्र बनाने) को १९३१-३२ के बजट में ही स्थान दे दिया गया। अक्तूबर, १९३५ में भारत सरकार ने भारतीय आय-कर पद्धति तथा प्रशासन की सम्पूर्ण जाँच एक कमेटी द्वारा करवाई, जिसके सदस्य दो अंग्रेज़ विशेषज्ञ तथा सबसे अधिक अनुभव-प्राप्त एक आय-कर कमिश्नर था। भारतीय आय-कर का संशोधन करने के लिए कमेटी की सिफारिशों के अनुसार केन्द्रीय धारासभा द्वारा १९३९ में एक बिल पास किया गया। इसने पहले प्रचलित सीढ़ी-प्रणाली, जिसके अनुसार समान कर की दर पूरी आय पर आरोपित की जाती थी, के स्थान पर वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) का प्रयोग आरम्भ कर दिया, जिसमें बढ़ती हुई दर से आय के विभिन्न अंशों पर कर आरोपित किया जाता था। आय-कर देने वालों के वर्गों की इस प्रणाली में कुछ

चाय, कहवा, रबर और काली मिर्च पर कृषि-आय-कर लगाना प्रस्तावित किया।

यू० पी० कृषि-आय-कर विधान को संशोधित करने के लिए ११ मई, १९५४ की धारासभा में एक बिल पेश किया गया, जिसके अन्तर्गत अधिकर (सुपर टैक्स) समाप्त करने और कर-मुक्ति की सीमा ८,००० रु० निश्चित करने की व्यवस्था थी। बिल में कर की नई दरें भी प्रस्तावित की गईं, यथा—

कर लगने वाली आय के पहले १५०० रु० पर कोई कर नहीं लगेगा।

बाद के ३५०० रु० पर १ आ० प्रति रु० का कर लगेगा।

,, १०,००० ,, ,, २ आ० प्रति रु० ,, ,,

,, १०,००० ,, ,, ४ ,, ,, ,, ,,

,, १०,००० ,, ,, ८ ,, ,, ,, ,,

,, शेष आय पर १० ,, ,, ,, ,,

८. उत्तराधिकार-कर—१५ अक्तूबर, १९५३ से हमारे देश में उत्तराधिकार-कर (एस्टेट ड्यूटी) लागू कर दिया गया है। इस कर को लगाने के सम्बन्ध में बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि सम्पत्ति को एकत्र करने में सरकार का बहुत योग होता है। अतः व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त कर के रूप में इस सम्पत्ति का कुछ भाग ले लेना उचित ही है। परन्तु सच तो यह है कि उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति कर देने की क्षमता की सूचक है, अतएव उस पर कर लगाना उचित है। व्यक्तियों के लिए कर की न्यूनतम सीमा १ लाख रु० और संयुक्त परिवार के लिए ५०,००० रु० है।

सितम्बर, १९५८ में उत्तराधिकार कर (संशोधन) अधिनियम पास हुआ। इसके अन्तर्गत (१) मुक्ति-सीमा एक लाख रु० से घटाकर पचास हजार रुपये कर दी गई, तथा कर की दर निम्न वर्गों के लिए कुछ कम कर दी गई। (२) मिताक्षर, मरुमकट्टयम या अलियसंथान की विधान-प्रणाली का अनुसरण करने वाले अविभाजित हिन्दू परिवार के मृत सदस्य की सम्पत्ति पर कर के लिए संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति में न केवल मृतक के वरन् पैतृक वंशजों के संदायद हितों (कोपार्सनरी) को ध्यान में रखने की व्यवस्था की गई है। (३) निर्धारण (एसेसमेण्ट) तथा अपील-सम्बन्धी व्यवहार अन्य प्रत्यक्ष करों के अनुरूप कर दिया गया है। कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार-कर राज्यीय विषय है। संविधान की धारा २५२ के अन्तर्गत उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १९५८ के राज्यों में स्थित कृषि-भूमि पर लागू होने के लिए राज्यीय विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक थी। अप्रैल, १९६० में अन्तिम स्वीकृति प्राप्त हुई। सभी 'स्वीकृति' को कार्य-रूप देने के लिए उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १९६० पास हुआ। दोनों संशोधन अधिनियम (१९५८, १९६०) १ जुलाई, १९६० से ही लागू हुए। १९५८ के संशोधन के अन्तर्गत (१) और (२) व्यवस्था (जिसकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है) तभी लागू होगी जबकि मृत्यु १ जुलाई १९६० या उसके बाद हुई हो।

उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १९६० यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत

जाता है।

११. उपहार-कर—यह पहली अप्रैल १९५७ के बाद दिये गए सभी उपहारों पर लागू है तथा १९५८-५९ के वर्ष से लागू किया गया है। यह कर सभी के द्वारा देय है चाहे व्यक्ति हो या कम्पनी। यह कर देने योग्य उपहारों के कुल मूल्य पर लगाया जाता है। यह कर निम्न दशाओं में नहीं लगता—

(१) भारत से बाहर स्थित अचल सम्पत्ति के उपहार पर कोई कर नहीं लगता।

(२) भारत में रहने वाले विदेशियों पर भारत से बाहर स्थित चल सम्पत्ति पर भी कोई कर नहीं लगता।

(३) विदेशी कम्पनी की भारत से बाहर स्थित चल सम्पत्ति पर उसी हालत में कर लगता है जबकि कम्पनी भारत में हो।

इनके अलावा कुछ उपहार कर-मुक्त हैं :

(१) दातव्य संस्था या कोष को दिए उपहार।

(२) पत्नी को किसी एक वर्ष या कई वर्षों में अधिक-से-अधिक १ लाख रु० का उपहार।

(३) बच्चों की शिक्षा के लिए उपहार।

(४) बोनस, ग्रेचुटी, पेन्शन।

(५) करदाता द्वारा किए जाने वाले रोजगार, या पेशे के लिए उपहार आदि।

उपहार-कर १९६६-६७ के बजट के अनुसार इसकी दरों में कुछ परिवर्तन किए जाएँगे ताकि उन्हें भू-सम्पत्ति-कर के बराबर कर दिया जाए। इस प्रकार दरों को कम करने से १·७१ करोड़ रुपया सरकार को पहले से कम मिलेगा।

१२. अफ़ीम—१९३५ के अन्त तक अफ़ीम से आय प्राप्त करने के तीन साधन थे—(१) विदेशों को भेजने के लिए सरकारी कारखानों में निर्मित अफ़ीम से प्राप्त एकाधिकार लाभ, (२) अफ़ीम की खरीदारी पर आरोपित निर्यात-कर से प्राप्त आय जो कि राजपूताना और मध्यभारत की रियासतों से भेजी जाती थी, और (३) ब्रिटिश भारत में अफ़ीम के उपभोग से प्राप्त एकाधिकार लाभ, जोकि लाइसेंस फीस अथवा ठेकेदारी की फ़ीस के रूप में मिलता था। यह आय उत्पाद-कर के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी और पहले दो साधनों से प्राप्त आय अफ़ीम के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी।

फरवरी, १९२६ में लॉर्ड रीडिंग ने यह घोषणा की कि भविष्य में सरकार की नीति अफ़ीम के निर्यात को लीग ऑफ़ नेशन्स के आदेशानुसार औषधि-सम्बन्धी प्रयोगों को छोड़कर और सब प्रकार के प्रयोगों के लिए पूर्णतः बन्द कर देने की है। भारत सरकार इस बात से भी सहमत हो गई कि १९३५ के पहले ही अफ़ीम का निर्यात पूर्णतः बन्द कर दिया जाएगा, जिसका फल यह हुआ कि अन्य प्रयोगों के लिए अफ़ीम के निर्यात से प्राप्त आय का १९३५ से अन्त हो गया। अब अफ़ीम से प्राप्त

कर दिया। बम्बई में कांग्रेस सरकार की पूर्ण निषेध की नीति प्रचलित करने में कुछ कानूनी और व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण १९४० में निषेध-नियमों को कुछ ढीला करना पड़ा। कुछ प्रान्तों ने छोटे-छोटे क्षेत्रों को चुना, अन्य ने दुकानों को बन्द करवाकर शराब की बिक्री की रोकथाम की और लाइसेन्स पर नियन्त्रण रखा। मद्रास ने २ अक्तूबर, १९४८ से पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित कर दिया है, जिससे १७ करोड़ रुपये की आय का घाटा हुआ। बम्बई ने ४ वर्ष में पूर्ण निषेध का इरादा किया, जो कि १९४७ से आरम्भ हुआ और ७ अप्रैल, १९५० में पूरा हो गया। यदि अन्य राज्य ज़रा धीमी गति से चलने के लिए बाध्य हैं तो ऐसा आर्थिक विचारों के फलस्वरूप अनिवार्य हो गया है। परन्तु सभी राज्य यथासम्भव तीव्र गति से एक ही दिशा में चल रहे हैं और सबने एकमत होकर पूर्ण निषेध को ही मद्यपान के दोष दूर कर देने का एकमात्र उपाय मान लिया है।

मद्य-निषेध के विरोधी बराबर यह कहा करते हैं कि यदि इसकी रोक के लिए जल्दी की गई अथवा कठोर नियम प्रचलित किये गए तो दोहरी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। सबसे पहले तो तुरन्त आय में कमी हो जाएगी और प्रतिबन्ध लगाने वाली संस्थाओं पर, जो चौर्यपरायण तथा अवैध शराब खींचने की रोकथाम के लिए स्थापित की जाएँगी, खर्च भी बढ़ जाएगा। करोड़ों रुपये, जो अन्यथा शिक्षा, सिंचाई की सुविधाओं तथा देश की उन्नति के लिए अन्य कामों पर खर्च किए जा सकते हैं, वे सब व्यर्थ हो जाएँगे। यदि पूर्ण मद्य-निषेध के लिए एकबारगी प्रयास किया गया तो यथार्थ में ये कठिनाइयाँ बड़े भयंकर रूप में उपस्थित होंगी। दूसरा भय इस बात का है कि बुराई, जो भय के कारण दबा दी जाती है, वह कोई दूसरा उग्रतर रूप धारण करके उपस्थित होती है। इस प्रकार यह शिकायत की जाती है कि देशी शराब के प्रयोग पर रोकथाम लगाने के परिणामस्वरूप विदेशी शराब के प्रयोग में वृद्धि हुई है और लोग शराब के स्थान पर मेथिलेटिड स्पिरिट पीते पाये गए हैं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय आबकारी से ३९८·८७ करोड़ रु० राज्यों को मिला। १९६६-६७ के इस वर्ष १६५·६६ करोड़ रु० मिलेगा।

१५. आय के अन्य साधन—(१) स्टाम्प—स्टाम्प से आय व्यापार तथा न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्पों की बिक्री से प्राप्त होती है। न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्प वे हैं जो मुकदमों और अन्य आवश्यक कागज़ों की फीस के रूप में माल और फौजदारी की कचहरियों में जमा किये जाते हैं। व्यापारिक स्टाम्प वे हैं जिनका प्रयोग उन व्यापारिक लेन-देन में होता है जो लिखा-पढ़ी में होते हैं, जैसे जायदाद, भूमि और हुण्डी आदि एक व्यक्ति से दूसरे के पास जाने में। न्यायालय में प्रयोग किए जाने वाले स्टाम्प की आय कुछ लोगों के मत से वास्तव में कर से प्राप्त आय नहीं है, क्योंकि वे इसे न्यायालय-जैसे महँगे विधान की सेवाओं के लिए दी जाने वाली रकम समझते हैं। मद्रास राज्य के विभाजित होने से पूर्व स्टाम्पों से सबसे अधिक आय मद्रास में होती थी और सबसे कम आसाम में। मद्रास के विभाजित होने पर सबसे अधिक आय

बिक्री पर बिक्री-कर लगाने का अधिकार प्राप्त था। व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण कपड़े पर बिक्री-कर लागू नहीं किया गया। १९३९ का मद्रास का सामान्य बिक्री-कर अधिनियम (जनरल सेल्स टैक्स एक्ट) सर्वांगीण था, जो सभी वस्तुओं पर लागू होता था। यह कर मद्रास में कुल बिक्री से आवश्यक खर्चे निकाल देने पर वास्तविक बिक्री पर लगाया जाता था। वस्तुओं की बिक्री पर इसी प्रकार का सामान्य कर बंगाल में बंगाल वित्त अधिनियम द्वारा १९४१ में आरोपित किया गया।[1]

नये करों ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के करारोपण और वसूली के वैधानिक अधिकारों के प्रश्न को जन्म दिया। उदाहरण के लिए पेट्रोल-कर, जिसे मध्य प्रदेश की सरकार ने लगाया था, के विरुद्ध केन्द्रीय सरकार ने संघानीय न्यायालय में यह मुकदमा चलाया कि प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार के कर लगाने (उत्पाद-कर) के अधिकारों का, जो उन्हीं के लिए सुरक्षित हैं, अतिक्रमण कर रही है। संघानीय न्यायालय ने इस आधार पर प्रान्तीय सरकारों के हित में न्याय किया कि केन्द्रीय विधानमण्डल को वस्तुओं पर उत्पाद-कर लगाने का उसी समय तक एकाकी अधिकार है जब तक कि वे किसी प्रान्त-विशेष की सम्पत्ति नहीं बन जातीं (अर्थात् उत्पादन अथवा निर्माण की स्थिति तक ही) और उसके बाद प्रान्तीय सरकारों को उन वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाने का एकाकी अधिकार है। संघानीय न्यायालय के इस हितकारी फैसले ने 'वस्तुओं की बिक्री पर' (देखिए सेक्शन ३७) वाक्यांश का वास्तविक अर्थ स्पष्ट कर दिया और प्रान्तों के लिए कर लगाने का एक विस्तृत क्षेत्र खोल दिया। साथ-ही-साथ, जैसा कि प्रधान न्यायाधीश ने भी नोट दिया था, पारस्परिक सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता है, ताकि करारोपण के अधिकार वाली दोनों सरकारें कहीं अपने-अपने अधिकारों का एक साथ ही प्रयोग करके आन्तरिक परोक्ष-कर इतना न बढ़ा दें कि वस्तु का मूल्य इतना अधिक ऊँचा हो जाए कि उसका उपभोग अत्यन्त कम हो जाए। १९६५-६६ के बजट अनुसार इससे २८७·३ करोड़ रु० इकट्ठा होगा।

मोटर वेहीकिल्स अधिनियम के अन्तर्गत आरोपित कर तथा कुछ अन्य कर भी प्रांतीय आय के साधन हैं। मोटर वेहीकिल्स अधिनियम के अन्तर्गत १९५६-५७ में पश्चिमी बंगाल को १·३६ करोड़ रु०, उत्तर प्रदेश को १·४० करोड़ रु०, उड़ीसा को ४७.८३ लाख रु०, केरल को ५१·४८ लाख रु०, आसाम को ५४·५२ लाख रु० तथा आन्ध्र को २·०० करोड़ रु० की आय हुई, जबकि १-११-१९५६ से ३१-३-१९५७ की अवधि में बम्बई को ८६·७३ लाख रु०, बिहार को २.४८ लाख रु०, दिल्ली को १·०९ लाख रु०, मध्य प्रदेश को ७·१७ लाख रु०, मद्रास को २५·३५ लाख रु०, पंजाब को २५·०४ लाख रु०, राजस्थान को १९·६५ लाख रु० की आय हुई।[2]

---

१. अन्य वस्तुएँ, जो सेल्स टैक्स के लिए चुनी गई, बिजली, तम्बाकू तथा विलासिता की वस्तुएँ, जैसे मोटरगाड़ी, रेडियो आदि थीं। बिहार में १९४८ से कोयला, कोक और अभ्रक भी बिक्री-कर के अन्तर्गत आ गए हैं।

२. देखिए, स्टैटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, १९५६-५७, पृ० २१७-२२१।

वस्तुओं के निर्माण की शक्ति बढ़ जाए और बहुत-सा सामान सुरक्षित रखा जा सके। भारत को युद्ध का मोर्चा लेने के लिए तैयार रखने के उपायों पर खर्च करने से भी रक्षा-व्यय पर काफी धन खर्च किया गया। इन सब बातों को विचाराधीन रखते हुए नवम्बर, १९३९ में इंगलैण्ड की सरकार और भारत सरकार के बीच एक आर्थिक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत भारत को निम्न व्यय अपने ऊपर लेने पड़े[1]—

(क) लड़ाई के पहले के व्यय की निर्धारित ३६·७७ करोड़ रु० की रकम;

(ख) मूल्य की वृद्धि के लिए अतिरिक्त धन (३·५५ करोड़ रु०);

(ग) युद्ध-सम्बन्धी उन उपायों का खर्च, जिनके लिए पूर्ण रूप से भारत को इसलिए उत्तरदायी समझा जा सकता था क्योंकि वे व्यय भारत अपने हित के लिए कर रहा था (३५·४० करोड़ रुपये); और

(घ) एक करोड़ रुपये की एकत्र रकम जो भारत की रक्षा-सेना को समुद्र-पार बनाए रखने के लिए विदेशों में रखी गई थी (८·४१ करोड़ रु०)।

पहले शीर्षक से चौथे तक का योग ८४·१३ करोड़ रुपये होता है। युद्धकाल में भारत का रक्षा पर वार्षिक व्यय जितनी रकम से पहले से तीसरे शीर्षक तक के खर्चों के योग से बढ़ता था वह रकम इंगलैण्ड की सरकार से मिलनी थी। केवल शर्त इतनी थी कि युद्ध के पश्चात् जो-कुछ भी समझौता भारत में दोनों देशों के हित के दृष्टिकोण से खरीदी हुई युद्ध-सामग्री के बचे हुए कोश के सम्बन्ध में होता, उसके अनुसार परिवर्तन हो सकता था। अप्रभावशाली खर्चों के विषय में अलग से विचार होना था। भारत को अपनी उत्पत्ति में से ही अपने युद्ध-सम्बन्धी उपाय पर जो-कुछ खर्च करना था उसके लिए तथा युद्ध-सम्बन्धी संयुक्त उपायों पर व्यय होने वाली रकम में से अपने हिस्से के लिए, जिसमें वस्तुओं को सुरक्षित रखने का खर्च भी सम्मिलित था, मूल्य देना था और इंगलैण्ड की सरकार को बाकी सभी इकट्ठी रखी जाने वाली युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं के लिए तथा उस सारी पूँजी के लिए, जो उत्पत्ति तथा एकत्र रखने की सुविधाओं के बढ़ाने के लिए लगाई गई थी।

युद्ध-काल की तरह पूरी सेना को बनाए रखने के स्थान पर शान्ति-काल में ऐच्छिक पद्धति के अनुसार थोड़ी-सी सैनिक सेवा बनाए रखने का भी सुझाव दिया गया था। युद्ध की समाप्ति के बाद आशा की जाती थी कि रक्षा-व्यय में भारी कमी होगी, परन्तु यह आशा सफल नहीं हो सकी जैसा कि नीचे के आँकड़ों से प्रकट है—

भारत का रक्षा-व्यय करोड़ रु० में (ऑन रेवेन्यू अकाउण्ट)

१९४७-४८ (७½ माह)	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१
८६·६३	१४६·०५	१४८·८६	१६४·१३

---

१. कोष्ठक में लिखी हुई संख्याएँ १९४१-४२ के रक्षा-बजट से सम्बन्धित हैं। १९३९ का आर्थिक समझौता ३१ मार्च, १९४७ को रद्द कर दिया गया।

नागरिक प्रशासन की इधर हाल की वृद्धि इस बात से स्पष्ट है कि १९५२-५३ में यह व्यय २·९५ करोड़ रु० था जबकि १९५५-५६ में यह बढ़कर ३·३३ करोड़ रु० तथा १९५६-५७ में ४·८५ करोड़ रु० हो गया।[1]

भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९५३ को कर-जाँच आयोग की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष डॉ० जान माईथ थे।[2] १९२५ में पिछले कर-जाँच आयोग द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बाद से लेकर अब तक भारत की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। अतएव इन नई परिस्थितियों में इस आयोग को अन्य बातों के साथ-साथ केन्द्रीय, राज्यीय तथा स्थानीय करारोपण का विभिन्न राज्यों में विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले भार की परीक्षा का कार्य सौंपा गया। आयोग ने ३० नवम्बर, १९५४ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

आयोग के मतानुसार ग्रामीण क्षेत्र से नगर-क्षेत्र की ओर बढ़ने पर प्रति व्यक्ति कुल व्यय से रोकड़ व्यय का अनुपात भी बढ़ता जाता है, अधिक करारोपित वस्तुओं की अधिक खरीद के कारण रोकड़-व्यय से कर का अनुपात भी बढ़ता जाता है। इनके फलस्वरूप नगर-क्षेत्रों में कर-तत्त्व (टैक्स एलिमेण्ट) और कर-भार बढ़ता जाता है, यद्यपि ग्रामीण जनसंख्या के आधिक्य के कारण अप्रत्यक्ष करों के प्रति ग्रामीण क्षेत्रों का कुल अंशदान कहीं अधिक है।

युद्ध-पूर्व काल की तुलना में नगर-क्षेत्रों में कर का कुल भार अपेक्षाकृत बढ़ गया है।

१९. कर-भार का वितरण—अर्थशास्त्र में कर-भार की समस्या सबसे अधिक जटिल समस्याओं में से एक है और भारत में तो प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय के वितरण के सम्बन्ध में ठीक-ठीक आँकड़े न प्राप्त होने के कारण और भी अधिक जटिल हो गई है। १९२४ में कर-भार के वितरण के विषय में जाँच करने तथा इस बात की परीक्षा करने के लिए कि केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय करारोपण की प्रणाली वैज्ञानिक और न्यायोचित है अथवा नहीं, कर जाँच समिति (टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी) नियुक्त की गई। उन्होंने जनसंख्या से कुछ विशेष वर्गों को चुनकर कुछ सारांश निकाले। कमेटी को इस बात का पता चला कि कर का भार किसी भी वर्ग के लिए दुर्वह नहीं था, पर उसका वितरण असमान था। कुछ वर्ग अपने हिस्से के उचित कर को भी बचा जाते थे, जैसे बड़े-बड़े जमींदार और गाँव का महाजन।[3] १९१४ के पहले कर-भार समाज के विभिन्न वर्गों में बहुत ही असमान ढंग से बँटा हुआ था। निर्धन लोग मालगुजारी, नमक-कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प आदि के रूप में कर का भार पूरा पूरा वहन करते थे और धनी वर्ग के लोग अपना न्यायपूर्ण भाग भी बचा जाते थे, जैसा कि प्रोफ़ेसर के० टी० शाह द्वारा १९२३-२४ के लिए दी गई निम्न

१. देखिए, स्टैटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, १९५७-५८, पृ० २१५।
२. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन, १९५३-५४, खण्ड १।
३. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ४७८-९२।

ने कुछ समय हुआ (१५ नवम्बर, १९४९) अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करवाई, जिसमें उन्होंने उच्च अथवा मध्यम और निम्नवर्ग के लोगों के ऊपर केन्द्रीय तथा राज्यीय करों का कितना भार पड़ता है, इसका सांख्यिक अनुमान लगाने का प्रयास किया है। इस अध्ययन में उन्होंने २००० मासिक आय को दोनों वर्गों के पार्थक्य की सीमा माना है। केन्द्रीय और प्रान्तीय करों से प्राप्त आय को १९४९-५० के बजट में दो वर्गों में बाँटा गया है। पहला वह वर्ग, जिसमें निम्न वर्गों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता और दूसरा वह वर्ग, जिसमें उच्च अथवा मध्यम वर्ग वाले लोगों के साथ-साथ निम्न वर्ग के लोग भी कर देते हैं। पहले वर्ग के उदाहरण हैं आय-कर, निगम-कर, व्यवसायों पर कर, कृषि-आय-कर और ऐसी वस्तुओं पर निराक्राम्य-कर, जैसे शराब, स्पिरिट, बूट और जूते, बेतार के तार के औज़ार, तम्बाकू, कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे, चाय पर निर्यात-कर, शराबों के उत्पादन पर तथा व्यापारिक कामों में आने वाली स्पिरिट पर उत्पाद-कर और नगर-स्थित अचल सम्पत्ति पर कर इत्यादि। दूसरे वर्ग की वस्तुओं पर विभिन्न प्रतिशत में निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा कर दिया जाता है। योजनाओं के फलस्वरूप करों की मात्रा में लगातार वृद्धि हुई है, किन्तु इसके आधार पर कर-भार के वितरण के सम्बन्ध में निश्चयात्मक परिणाम नहीं निकाला जा सकता। द्वितीय योजना-काल में केन्द्र द्वारा ७९७ करोड़ रु० की अतिरिक्त-कर आय प्राप्त की गई तथा राज्यों द्वारा २४४ करोड़ रु० नये करों द्वारा प्राप्त किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजना-काल में कुल १०४१ करोड़ रु० अतिरिक्त-कर आय के रूप में प्राप्त हुआ। किन्तु कर-आय और राष्ट्रीय आय (चालू मूल्यों पर) के अनुपात पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। १९५५-५६ में कर-आय राष्ट्रीय आय के ८ प्रतिशत के बराबर थी और १९६०-६१ में ९ प्रतिशत के बराबर है। यह तो निश्चित है कि अतिरिक्त-कर आय का अधिकांश बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से प्राप्त हुआ है।

२०. भारतीय वित्त का संक्षिप्त इतिहास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक और शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी खातों में गड़बड़ी; कम्पनी के प्रशासन में सदा रहने वाला घाटा; गदर का आर्थिक भार; कालान्तर में पृथक् वित्त सदस्य की नियुक्ति; आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ओर धीरे-धीरे विकास; दुर्भिक्षों, सरहदी युद्ध और विदेशी विनिमय में कमी के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ; सरकार की ऋण-नीति; १९१४-१८ के महा-युद्ध के पहले बजट में बचत इत्यादि मुख्य समस्याएँ हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ जाते ही युद्ध के पहले की आर्थिक सुगमता तथा बजट में बचत का युग अनायास ही समाप्त हो गया। युद्ध-काल में भारतीय वित्त की विशेषताएँ बजट में घाटा, व्यय कम करने के कठोर उपायों का अपनाना, रेल और सिंचाई की सुविधाओं में भारी कमी, निराक्राम्य-करों में वृद्धि, आय-कर, नमक-कर, उत्पाद-कर और भारत में ही जनता से बड़े-बड़े कर्ज़ लेना आदि थीं।

२१. घाटे के बजट—१९१४ के पहले के अतिरेक बजटों के विपरीत अब केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन में निरन्तर घाटे के बजट दिखाई पड़ने लगे। यूरोपीय युद्ध के

में वृद्धि करके पूरा करने की आवश्यकता की ओर संकेत किया था, जो कि युद्धजनित अतिरिक्त आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण हुई थी। केवल रक्षा-बजट ही ५२·५२ करोड़ रुपये का था।

१९४१-४२ के बजट में १९४०-४१ के संशोधित अनुमानों के अनुसार ८·४२ करोड़ रु० की तथा १९४१-४२ के बजट में २०·४० करोड़ रु० की कमी दिखाई गई थी। १९४१-४२ के बजट में होने वाली २०·४० करोड़ रु० की भारी कमी बहुत बड़े रक्षा-बजट के कारण पैदा हुई, जिसमें ८४·१३ करोड़ रुपये रक्षा पर तथा युद्ध के कारण शासन-व्यवस्था पर व्यय किये जाने का अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि यह कमी ६·६१ करोड़ रु० तक नये करों के आरोप द्वारा तथा शेष ऋण लेकर पूरी कर ली जाएगी।

१९४२-४३ का बजट पेश करते समय वित्त-मन्त्री ने १७ करोड़ रुपये की उसी वर्ष और ४७ करोड़ की अगले वर्ष कमी दिखाई थी। १९४२-४३ में रक्षा पर १३३ करोड़ रु० का व्यय अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि इस कमी को ३५ करोड़ रुपये के कर्ज द्वारा और १२ करोड़ रु० के नये करों की वृद्धि द्वारा पूरा किया जाएगा।

१९४३-४४ के बजट-आगणन में १९९·३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान किया गया था, जबकि १९४२-४३ के संशोधित आगणन में आय केवल १७८·७६ करोड़ रुपये ही थी और २५९·५९ करोड़ रुपये के व्यय की सम्भावना की गई थी। ६०·२९ करोड़ रुपये की कमी को २०·१ करोड़ रुपये तक नये करों के आरोप द्वारा और बाकी कर्ज द्वारा पूरा करने का इरादा था। उस वर्ष संशोधित आगणन में ३५·५० करोड़ रुपये की आय में वृद्धि और ८७·३४ करोड़ रुपये की व्यय में वृद्धि दिखाई गई। इस प्रकार वर्ष के अन्त में आय से ९२.४३ करोड़ रुपये की कमी रही।

१९४४-४५ के बजट में वर्तमान समय में आरोपित कर के स्तर पर कुल आय का अनुमान २८४.९७ करोड़ रुपये था और कुल व्यय ३६३.१८ करोड़ रुपये था, इसलिए होने वाली कमी ७८.२१ करोड़ रु० की अनुमानित की गई थी, जिसको कुछ सीमा तक नये करों के आरोप द्वारा और कुछ सीमा तक अनिवार्य रूप से जमा कराए धन द्वारा पूरा करने का इरादा था। ऐसे आय-कर के पेशगी जमा कर दिये जाने की सुविधा, जिस पर उद्गम के स्थान पर ही कर नहीं वसूल कर लिया जाता था, एक बहुत बड़ा आय का साधन था।

१९४५-४६ की आय का अनुमान ३५३.७४ करोड़ रुपये किया गया था। रक्षा पर लगभग ३९४.२३ करोड़ रुपये और आय की प्राप्ति के साधनों और पूँजी लगाने में ५९.४१ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान किया गया था। शासन-व्यवस्था पर व्यय १२३.४० करोड़ रुपये के लगभग रखा गया था। १६३.८९ करोड़ रुपये की जो कमी होने वाली थी उसे मुख्यतः १५५.२९ करोड़ रुपये तक ऋण लेकर और ८.६० करोड़ रुपये तक करों के द्वारा पूरा करने का विचार था (जो तम्बाकू पर कर बढ़ाकर, डाक द्वारा भेजे जाने वाली पारसल की दर बढ़ाकर और तार-टेलीफोन

उदार आयात-नीति के कारण तथा निर्यात-कर से रुपये का अवमूल्यन हो जाने के कारण अधिक आय की प्राप्ति के कारण हुई।

वर्तमान कर के स्तर पर १९५०-५१ में कुल आय ४०५·८६ करोड़ रुपये और कुल व्यय ३४६·६४ करोड़ रुपये ५९·२२ करोड़ रुपये के अतिरेक के साथ आगणित किये गए थे। इसके तीन कारण थे—(१) भारतीय संघ में मिलने वाली देशी रियासतों से प्राप्त आय, (२) कर की बकाया रकम की तत्परता के साथ वसूली और (३) आय-कर अधिनियम के १८ (अ) भाग के अन्तर्गत पेशगी वसूली।

युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन घाटे के बजटों ने अर्थ-प्रबन्धन की प्राचीन मान्यताओं को बदल दिया। 'संतुलित बजट' का सिद्धान्त केवल आदर्श-मात्र रह गया। १९५१ में अखिल भारतीय स्तर पर नियोजन प्रारम्भ होने के कारण विकास की मदों पर व्यय की आशातीत वृद्धि हुई। परिणाम यह हुआ कि घाटे के बजट समाप्त नहीं हुए। वस्तुत: घाटे के बजट के बारे में अब यह धारणा हो गई है कि जब तक वे मूल्य-वृद्धि को अनावश्यक रूप से बढ़ावा न दें, तब तक उन्हें देश के आर्थिक विकास के अर्थ-प्रबन्धन के साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। १९५५-५६, १९५६-५७, १९५७-५८ में भारत सरकार की आय व्यय से क्रमश: ४०·४५ करोड़ रु०, ८९·४० करोड़ रु०, ४२·०५ करोड़ रु० अधिक थी, किन्तु १९५८-५९, १९५९-६० में क्रमश: ५·२५ करोड़ रु० तथा १५·३९ (संशोधित अनुमान) करोड़ रु० का घाटा हुआ। १९६०-६१ के बजट में ६०·३७ करोड़ रु० के घाटे का अनुमान था। २९ फरवरी, १९६१ को १९६१-६२ का बजट संसद के समक्ष पेश हुआ। इस बजट में प्रस्तावित व्यय १,०२३·५२ करोड़ रुपये तथा प्रस्तावित आय (कर के वर्तमान स्तर पर) ९६२·२९ करोड़ रुपये है। इस प्रकार ६०·६० करोड़ रु० का घाटा इस बजट में निहित है; किन्तु नये करों से ६०·८७ करोड़ रु० की अनुमानित आय को ध्यान में रखने पर बजट में नाम मात्र के लिए २७ लाख रु० की बचत होगी, ऐसा अनुमान है।

१९६५-६६ में श्री० टी० टी० कृष्णमाचारी ने जो बजट संसद के सामने रखा था कई बातों में सर्वश्रेष्ठ था। पहली बार कई वर्षों के बाद इस बजट में कुछ लोगों को नये बोझ के स्थान पर परिहार प्राप्त हुए। दूसरे, कई वर्षों के बाद पहली बार बेशी का बजट दिखाया गया जो कि न केवल राजस्व बजट में बेशी दिखाई गई, घाटे के वित्त को बिल्कुल रद्द करते हुए बेशी दिखाई गई। इस प्रकार कृष्णमाचारी ने कर-नीति को इस प्रकार बनाया जिसमें निजी कर और कम्पनी-कर में परिवर्तन किये, जिससे कर ढांचे को एक अच्छे और उचित आधार पर खड़ा कर दिया।

२८ फरवरी १९६६ में देश के नये वित्त मन्त्री श्री सचीन चौधरी द्वारा देश की आर्थिक दशा और आर्थिक उन्नति के नियमित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ध्यान रखा गया। इस प्रकार नये बजट में राष्ट्र के सभी विशेष क्षेत्रों में उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। वित्त मन्त्री के आदेशानुसार जमा को बढ़ाने के लिए इस प्रकार का वातावरण बना देना चाहिये जिससे संचय-शक्ति बढ़ सके और यह

योजना में ३,०३३ करोड़ रुपये और तीसरी योजना में ४,८३६ करोड़ रुपये) मार्च १६६७ के अन्त तक यह बढ़कर १२,३६८ करोड़ रुपये हो जाएगा।

२२. भारत में लोक-ऋण का सर्वेक्षण—१८६७ के बाद, जब से लोक-निर्माण-कार्य करने की नीति अपनाई गई, जिसे बाद में उत्पादक-कार्य कहा जाने लगा, जैसे रेल, सिंचाई आदि, लोक-निर्माण ऋण अथवा उत्पादक ऋण में निरन्तर वृद्धि हुई है। १८७६ के बाद से अनुत्पादक ऋण को साधारण ऋण कहा जाने लगा। जब से सरकार को भी कर्ज लेने की आवश्यकता पड़ी, कुछ रेलों को कम्पनियों से खरीदने के लिए अथवा कर्ज देने के लिए सरकार के उत्पादक ऋण में वृद्धि हुई। १८७८ में प्रवर समिति (सिलेक्ट कमेटी) की सिफ़ारिशों के अनुसार किसी एक वर्ष की अतिरेक आय का प्रयोग ऋण की अदायगी में नहीं होना चाहिए, वरन् उसका प्रयोग उत्पादक कार्यों में करना चाहिए, जिसके लिए अन्यथा सरकार को ऋण लेना ही पड़ता। साधारण ऋण में कमी का अर्थ दूसरी ओर लोक-निर्माण कार्य के लिए लिये गए ऋण में वृद्धि थी।

१६१४-१८ के युद्ध के पहले भारत के लोक-ऋण का अधिकांश इंगलैंड में लिया गया था। सरकार ने नीति का अनुमोदन इस आधार पर किया कि इंगलैंड और भारत में व्याज की दर में इतना अन्तर था कि इंगलैंड में उधार लेने से यदि कोई हानि की सम्भावना हो तो वह पूरी हो जाए। उन्हें भारत के द्रव्य-बाजार का बहुत ही भ्रमपूर्ण ज्ञान था, जिसकी उधार देने की शक्ति वे किसी भी वर्ष ५ करोड़ रुपये से अधिक नहीं समझते थे। १६१४-१८ के महायुद्ध में यह सिद्ध हो गया कि उनका यह अनुमान बहुत कम था। इस काल में साधारण लोक-ऋण बड़ी तीव्र गति से बढ़ा। ३१ मार्च, १८१६ में ३.१ करोड़ रुपये था और मार्च १६२४ में वह २५७·७० करोड़ रुपये हो गया। यह भारत के युद्धकालीन १००० लाख पौण्ड[1] का अंशदान नई दिल्ली के व्यय और केन्द्रीय सरकार के युद्धोत्तरकालीन घाटे के बजटों के फलस्वरूप था। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत में लगातार युद्धकालीन ऋण लिये गए। इंगलैंड के द्रव्य-बाजार पर वहीं की सरकार द्वारा युद्ध के लिए माँगे हुए कर्ज का भार पहले ही शक्ति-भर पड़ चुका था और भारत से १६१७ में ५३ करोड़ रु० का और १६१८ में ५७ करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त हो चुका था। इससे और अधिक ऋण पाने की आशा भी थी। युद्ध-काल में भारत की धन के बाजार की ऋण देने की शक्ति का जो परिचय मिला वह युद्धोत्तर-काल में भी जारी रहा। युद्ध-सम्बन्धी ऋण की बड़ी मात्रा के अतिरिक्त इस ऋण की एक दूसरी विशेषता ऋण देने वालों की संख्या थी। इसके लिए हमें प्रभावशाली विज्ञापन और लोक-ऋण प्रशासन द्वारा अधिकाधिक सुविधाओं, जो राज्य के खजानों और

---

१. १६१८ में युद्ध के और अधिक चलने की दशा में युद्ध-सम्बन्धी ४५० लाख के अतिरिक्त अंशदान का वचन दिया जा चुका था, परन्तु १६१६-२० में अफगान-युद्ध के कारण १६० लाख पौण्ड का भारी खर्च हो जाने के कारण युद्ध-सम्बन्धी अंशदान की मात्रा बहुत घटा दी गई।

१९४२-४३ से युद्धकालीन वित्त-सम्बन्धी विकास का नया रूप आरम्भ हुआ, जिसकी एक विशेषता लोक-ऋण की वृद्धि की गति में तीव्रता तथा युद्धकालीन व्यय में निरन्तर वृद्धि के कारण घाटे के बजट और मुद्रा-प्रसार का बढ़ता हुआ भार था।

१९५३-५४ में यह २६९५ करोड़ रुपये था। इसमें से २५५४ करोड़ रु० आन्तरिक ऋण था तथा शेष १४१ करोड़ रु० बाह्य ऋण था। १९५४-५५ में भारत का ऋण बढ़कर ३०३९ करोड़ रु० हो गया। इसमें से २९०० करोड़ रु० आन्तरिक और १३९ करोड़ रु० बाह्य ऋण था। आशा की जाती है कि मार्च, १९५६ के अन्त तक ऋण में ४७० करोड़ रु० की वृद्धि होगी और ऋण बढ़कर ३५०९ करोड़ रु० हो जाएगा।

१९६० के संशोधित अनुमान के अनुसार भारत के आन्तरिक लोक-ऋण की मात्रा ३८३४·८१ करोड़ रु० थी तथा १९६१-६२ के बजट अनुमान में इसकी मात्रा ४०५६·६२ करोड़ रु० प्रस्तावित है। इन्हीं वर्षों के लिए बाह्य ऋण की मात्रा—जिसमें इंगलैंड, यू० एस० ए०, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, जापान, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, स्विट्ज़रलैण्ड तथा विश्व बैंक के ऋण भी सम्मिलित हैं—६२६०·६० करोड़ रु० तथा ७११०·१३ करोड़ रु० है।[1] १९६६-६७ में बाह्य ऋण की मात्रा ३२९३·४४ करोड़ रुपये हो जाएगी।

यहाँ लोक-ऋण के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। जो ऋण भारत में लिया जाता है उसे रुपये का ऋण कहा जाता है, क्योंकि रुपये में ही यह प्राप्त होता है और मूलधन तथा ब्याज आदि सब रुपये ही में अदा किए जाते हैं। भारत में रुपये का ऋण दो भागों में विभाजित है—प्रथम भारतीय विनियोजक और दूसरा यूरोपीय विनियोजक। यह सुझाव दिया गया है कि सभी ऋण, चाहे रुपये के हों और चाहे स्टर्लिंग के, चाहे भारत में प्राप्त हुए हों और चाहे इंगलैण्ड में, यदि गैर-भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो बाह्य ऋण हैं और यदि भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो आन्तरिक ऋण हैं।

२३. **पौण्ड-पावना**—पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग के रूप में भारत सदैव से इंगलिस्तान में स्टर्लिंग रखता आया है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत निर्गम-विभाग (इशू डिपार्टमेण्ट) की सम्पत्ति का कम-से-कम ४० प्रतिशत स्वर्ण या स्वर्ण-सिक्के अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में होना आवश्यक है। साथ ही शर्त यह भी थी कि स्वर्ण की मात्रा का मूल्य कम-से-कम ४० करोड़ रुपये हो। सितम्बर, १९३९ में पौंड-पावने ५२० लाख पौण्ड थे। १४ अगस्त, १९४७ को यह ११,३७० लाख पौण्ड थे। पौण्ड-पावना एकत्रित होने का मुख्य साधन युद्ध के लिए ब्रिटिश सरकार और मित्र देशों द्वारा भारत से भण्डार और अन्य वस्तुओं का क्रय था। इस क्रय के लिए रुपया रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट की उस धारा के अन्तर्गत प्राप्त किया गया, जिसके अन्तर्गत बैंक असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीदने के लिए बाध्य

---

१. देखिए, इण्डिया १९६१, पृ० २२८।

१९४८ में १५० लाख पौण्ड (२० करोड़ रु०) देने की व्यवस्था थी और ३ वर्ष के अन्त में स्थिति के पुनर्विलोकन की व्यवस्था थी।

जैसा ऊपर (४) कहा जा चुका है, सैनिक भण्डारों, पेन्शनों आदि के मद में भुगतान करने के बाद भारत के पौण्ड-पावने ८००० लाख पौण्ड थे। यदि पहले तीन वर्षों में मिलने वाला १६०० लाख पौण्ड इसमें से घटा दिया जाए तो पौण्ड-पावने कुल ६४०० लाख पौण्ड के थे।

किन्तु जून, १९५१ में समाप्त होने वाले स्टर्लिंग समझौते को ३० जून, १९५७ तक के लिए बढ़ा दिया गया और उसमें निम्न परिवर्तन किये गए—

(१) (करेन्सी) मुद्रा-सुरक्षित-कोष के रूप में रिज़र्व बैंक द्वारा रखे जाने के लिए खाता नं० २ से ३१०० लाख पौण्ड खाता नं० १ में स्थानान्तरित कर दिये गए।

(२) १ जुलाई, १९५१ से १२ महीने की ६ अवधियों में प्रत्येक वर्ष खाता नं० २ से खाता नं० १ में अधिक-से-अधिक ३५० लाख पौण्ड स्थानान्तरित किया जा सकता था, बशर्ते कि (क) खाता नं० १ की न्यूनतम राशि ३४०० लाख पौण्ड बनाए रखने के लिए स्थानान्तरण हो, या दोनों सरकारों को मान्य इससे कम रकम का स्थानान्तरण इसी उद्देश्य से हो; (ख) ३५०० लाख पौण्ड का स्थानान्तरण योग्य कोई भी भाग, जो किसी अवधि में स्थानान्तरित न किया जाए, वह बाद के वर्षों में स्थानान्तरण-योग्य राशि में जोड़ दिया जाए; (ग) यदि किसी अवधि में भारत सरकार खाता नं० २ से ३५०० लाख पौण्ड से अधिक लेने की आवश्यकता समझे तो बाद की अवधि में स्थानान्तरण-योग्य राशि ५० लाख पौण्ड कर दी जाएगी। यदि भारत सरकार बाद की अवधि में इससे अधिक की आवश्यकता समझे तो दोनों सर-कारें इसे आपस में तय कर लेंगी; (घ) ३० जून, १९५७ को खाता नं० २ में जो कुछ भी होगा वह खाता नं० १ को स्थानान्तरित कर दिया जाएगा।

फरवरी १९५२ में पौण्ड-पावने के १९५१ के समझौते को ३० जून, १९५७ तक के लिए बढ़ा दिया गया। जुलाई, १९५३ में एक औपचारिक समझौता और किया गया, परन्तु पौण्ड-पावने की १९५१ की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

२४. १९१९ के सुधारों के पूर्व के वित्तीय सम्बन्ध—१८३३ से १८७१ तक वित्त-शक्ति पूर्ण रूप से भारत सरकार के ही हाथों में केन्द्रित थी और वही प्रान्तीय सर-कार के व्यय की छोटी-से-छोटी बातों पर नियन्त्रण रखती थी।

१८७७ में लॉर्ड लिटन द्वारा विकेन्द्रीकरण की ओर एक कदम और उठाया गया, जिसमें वित्त-मन्त्री सर जॉन स्ट्रेची ने सहयोग दिया। आय के प्रान्तीय प्रकृति के सभी साधन, जैसे मालगुजारी, उत्पादन, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, न्याय आदि, प्रान्तों को दिये गए। विभागों से प्राप्त आय और प्राचीन धन के अनुदान के अति-रिक्त कुछ आय के साधन, जैसे उत्पाद-कर, स्टाम्प और न्याय प्रान्तीय सरकारों को दे दिये गए। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत आय के साधनों को प्रान्तीय और केन्द्रीय दो

सरकारें घाटे को पूरा करने का न तो कोई प्रबन्ध ही कर सकती थीं और न अपने अतिरेक को स्वतन्त्रतापूर्वक खर्च ही कर सकती थीं।

२५. १९१९ के सुधारों के अन्तर्गत पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध—सुधार के बाद से केन्द्रीय सरकार के साथ आर्थिक सम्बन्ध बिलकुल बदल गए। आय-व्यय का नवीन बटवारा निम्न प्रकार किया गया—(१) केन्द्रीय आय के साधन—अफ़ीम, नमक, निराकाम्य-कर, आय-कर, रेल, डाक और तार, सेना से आय; (२) प्रान्तीय आय के साधन— मालगुज़ारी (सिंचाई को सम्मिलित करते हुए), स्टाम्प (व्यापारिक और न्यायिक), रजिस्ट्रेशन, उत्पाद-कर और वन। जो माण्टेगू चेम्सफ़ोर्ड सुधार और मेस्टन कमेटी द्वारा आय-कर केन्द्रीय करार दिया गया था, उसे प्रान्तों से पूर्णरूपेण ले लिये जाने के विरुद्ध मुख्यतः बम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्तों द्वारा आन्दोलन करने के कारण अन्त में यह निर्णय किया गया कि प्रान्तों को इस कर से प्राप्त आय का एक छोटा-सा अंश दे दिया जाए, जोकि आधार-वर्ष १९२०-२१ में आय-कर की निर्धारित आय के उपरान्त जितने रुपये की आय पर कर-निर्धारण किया गया, उससे प्राप्त करके प्रत्येक रुपये के ३ पाई के बराबर होगा। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि यह नियम अपने उद्देश्य में असफल रहा। वस्तुतः किसी एक आधार-वर्ष के अनुसार बटवारा करना नितान्त अशुद्ध था।[1]

२६. मेस्टन परिनिर्णय—बाँटे जाने वाले आय के स्रोतों के अन्त और कुछ स्रोतों, जैसे मालगुज़ारी और स्टाम्प आदि, को प्रान्तों को दे देने का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार की आय में ९८३ लाख रुपये की कमी हो गई, जिसको प्रान्तीय अंशदान की किसी योजना से पूरा करना था। १९२० में एक कमेटी लार्ड मेस्टन के सभापतित्व में इस प्रश्न पर तथा इससे सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई और इसकी सिफ़ारिशें मेस्टन परिनिर्णय के नाम से पुकारी जाती हैं। इस कमेटी ने इस भार के बटवारे के लिए यह प्रस्ताव किया कि १९२१-२२ में प्रान्त एक प्रारम्भिक अंशदान दें, जिसकी मात्रा प्रान्तों की बढ़ी हुई व्यय-शक्ति के आधार पर निश्चित की जाए।

२७. प्रान्तीय अंशदान का अन्त—मेस्टन परिनिर्णय से कोई प्रसन्न न था, वरन् प्रान्तों में इससे बड़ा असन्तोष फैल गया। बम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्त आय-कर के घाटे को सहन करने को कभी भी तैयार न थे और कृषि-प्रधान प्रान्त, जैसे मद्रास, पञ्जाब और उत्तर प्रदेश, इस बात से अप्रसन्न थे कि उनका प्रारम्भिक अंशदान बहुत अधिक था। ये अंशदान यथार्थ में भार लगने लगे, जबकि प्रान्तों को मेस्टन कमेटी के अनुमानित सुखदायी अतिरेक के स्थान पर लगातार आय की कमी का सामना करना पड़ा। जो आय के स्रोत उनको दिये गए थे, जैसे मालगुज़ारी, वे सामान्य विकास-सम्बन्धी व्यय के लिए ही—समय-समय पर आने वाली विपत्तियों की कौन कहे—अपर्याप्त और लोचहीन थे। इसलिए अंशदान के अन्त के लिए निरन्तर माँग होती रही।

---

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ५२९।

का आरोपण और वसूली, चाहे एक अधिकारी करे, परन्तु उसे दूसरे अधिकारी को दिया जा सकता है।

संघीय वैधानिक तालिका में निम्न विषय थे—निराकाम्य-कर, जिनमें निर्यात-कर सम्मिलित था, तम्बाकू और अन्य वस्तुओं पर उत्पाद-कर, जो भारत में उत्पादित अथवा निर्मित हों; सिवाय (१) शराब के, जो मनुष्यों के प्रयोग के लिए थी, (२) अफ़ीम, भारतीय गांजा या भांग और दूसरी प्रमीलक (नारकोटिक) जड़ी-बूटियाँ तथा अप्रमीलक जड़ी-बूटियाँ, (३) उपचार-सम्बन्धी और प्रसावन-सामग्री, जिसमें अलकोहल अथवा नं० २ में सम्मिलित वस्तुएँ मिश्रित हों; निगम-कर नमक-कर, कृषि-आय के अतिरिक्त आय-कर, पूंजी-सम्पत्ति पर कर, व्यक्तियों और कम्पनियों की खेती की भूमि को छोड़कर कम्पनियों की पूंजी पर कर, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर खेती की भूमि को छोड़कर लगाया हुआ कर, हुण्डियों पर स्टाम्प-कर तथा चेक प्रामिसरी नोट, बिल ऑफ़ लेडिंग, साख-पत्र, बीमा-पॉलिसी, वस्तुओं और यात्रियों पर सीमा-मार्ग-शुल्क, चाहे वे रेल से अथवा वायुयान से यात्रा करें, और रेल-किराये तथा शुल्क पर कर।

प्रान्तीय वैधानिक तालिका में निम्न सम्मिलित थे—मालगुज़ारी, जिसमें मालगुज़ारी का निर्धारण और वसूली भी सम्मिलित थी, निम्न वस्तुओं पर उत्पाद-कर, जो कि प्रान्त में ही उत्पादित अथवा निर्मित थीं और वैसी ही वस्तुओं पर, वे चाहे कहीं भी भारत में निर्मित अथवा उत्पादित हों, उसी दर पर अथवा उससे कम दर पर प्रतिशुल्क, (१) मानव-प्रयोग के लिए शराब, (२) अफीम, भारतीय गाँजा और अन्य प्रमीलक जड़ी-बूटियाँ, तथा अप्रमीलक जड़ी-बूटियाँ, (३) औषधीय और प्रसाधन-सामग्री, जिसमें सुपव (अलकोहल) अथवा नं० २ में आने वाली वस्तुएँ मिश्रित हों; कृषि-आय पर कर, भूमि और भवनों तथा चूल्हों और खिड़कियों पर कर, कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कर।

३०. सर ऑटो निमेयर द्वारा वित्त-सम्बन्धी जाँच—सर ऑटो निमेयर की, जिन्हें भारत-मन्त्री ने गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट १९३५ की १३८ और १४०-४२ धाराओं के अन्तर्गत विचारित वित्त-सम्बन्धी जाँच करने के लिए नियुक्त किया था, १९३६ की रिपोर्ट की मुख्य सिफारिश केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों को ५०% आय-कर दे देने से सम्बन्धित थी। सर ऑटो निमेयर के अनुमान के अनुसार आय-कर से प्रतिवर्ष १२ करोड़ रु० की प्राप्ति थी। इसका आधा अर्थात् ६ करोड़, जो प्रान्तों को अभिहस्तांकित किया जाना था, वह पहले पाँच वर्ष तक केन्द्रीय सरकार के पास रखा रहेगा और इस बीच केन्द्रीय सरकार अपनी स्थिति दृढ़ कर लेगी। अगले ५ वर्ष में प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ-काल के ६७वें वर्ष से (पर १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट की धारा १३८ (२) के अन्तर्गत) ६ क़िस्तों में यह आय धीरे-धीरे प्रान्तों को दी जाने वाली थी, ताकि दस वर्ष के पश्चात् प्रत्येक प्रान्त आय-कर के अपने हिस्से को पाने लगता। इस प्रकार जब तक कि बाँटी जाने वाली रकम, जो केन्द्रीय सरकार के पास रखी जाती थी, टैक्स-प्राप्त अंशदान के साथ

की जा सकती, पर एक ही प्रश्न (यद्यपि वह कठिन प्रश्न है) उठता है कि पक्षपात-रहित न्यायपूर्ण बटवारे का आधार कैसे निश्चित किया जाए और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक दृढ़ता, स्थिरता और साख का ध्यान सर्वप्रथम होना चाहिए।

भारत सरकार ने सर ऑटो निमेयर के सुझावों को पूर्णतः स्वीकार कर लिया और प्रान्तीय स्वायत्त-शासन आरम्भ करने के लिए १ अप्रैल, १९३७ की तिथि प्रस्तावित की। इसलिए २७ मई, १९३६ को कौन्सिल से आय के बटवारे तथा प्रान्तीय स्वायत-शासन के आरम्भ की आज्ञा जारी की गई।

३३. प्रान्तों द्वारा आपत्ति—जैसी कि आशा थी बहुत-से प्रान्त असंतुष्ट थे और उन्होंने अन्याय की शिकायत की। उड़ीसा को यह शिकायत थी कि उसके लिए अर्थ-सहायता केवल ५० लाख रुपये की थी, जबकि सिन्ध के लिए १०५ लाख रु० थी। इस बात की भी शिकायत की गई कि प्रान्तों को दी गई सहायता का बटवारा वास्तविक आवश्यकता के विचार से किया गया था, न कि उनके गुणों के विचार से, इसलिए प्रान्तों में आय का बटवारा अन्यायपूर्ण और निराधार था। वे प्रान्त, जिन्होंने अपना अर्थ-प्रबन्ध मितव्ययता और योग्यता से नियमित किया था, वे ऐसे प्रान्तों की तुलना में, जो फिजूलखर्ची करने वाले और अयोग्य थे, सबसे अधिक घाटे में रहे। उदाहरण के लिए बम्बई इसलिए दुःखी था कि इतने वर्षों की उसकी कष्टकारी मितव्ययता, जिसके लिए उसे मेस्टन के परिनिर्णय के कारण बाध्य होना पड़ा था, उचित ध्यान नहीं रखा गया। उसने आय-कर में से अधिक बड़े भाग की इस अतिरिक्त आधार पर माँग की थी कि २५% से अधिक आय-कर बम्बई में ही वसूल होता था और बम्बई को औद्योगिक जनसंख्या के हित के लिए अनेक मँहगी सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी। बम्बई ने इस बात पर आपत्ति की कि आय-कर से सहायता का बटवारा पूर्णरूपेण रेलवे-विभाग की सफलता पर आधारित था और इस बात पर जोर दिया कि काल्पनिक ऋण, जिसका सृजन अनुत्पादक सिंचाई के साधनों के सम्बन्ध में किया गया था और जिसे आय से पूरा किया जाता था न कि ऋण से, विलोपित कर दिया जाए। बम्बई सरकार की ओर से यह तर्क भी उपस्थित किया गया था कि यदि बंगाल को जूट के निर्यात-कर से लाभ मिलना था तो उसे भी रूई के निर्यात-कर से लाभ मिलना चाहिए। इस प्रकार मद्रास की यह भावना थी कि उसे अधिक मिलना चाहिए था, क्योंकि यदि जनसंख्या को ही आधार बनाया जाए तो उसे २० प्रतिशत के स्थान पर आय-कर का लगभग २४ प्रतिशत मिलना चाहिए था। मद्रास सरकार ने अपनी तुलना बंगाल-जैसे प्रान्तों से की जिसने अपनी आय-व्यय का संतुलन करने की तनिक भी चिन्ता नहीं की थी और यह शिकायत की कि बम्बई को आय-कर का बहुत बड़ा भाग दिया गया है। बिहार ने अपने को सबसे अधिक निर्धन प्रान्त कहकर अधिक सहायता की माँग उपस्थित की और यह इच्छा प्रकट की कि बटवारे का आधार यदि जनसंख्या होता तो अधिक अच्छा होता। पंजाब की यह शिकायत थी कि उसके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से पृथक किये जाने की बहुत

की देयता का अन्त होने से और केन्द्रीय सरकार की आय में वृद्धि होने से निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत यह सम्भव न हो सका कि प्रान्तों को आय-कर का निर्णीत भाग १९३७-३८ के आर्थिक वर्ष से देना आरम्भ किया जा सके।

३५. प्रान्तों को आय-कर का भाग अभिहस्तांकित करने में निमेयर-सूत्र में संशोधन—फरवरी, १९४० में आय-कर में से प्रान्तों को उनका भाग देने के सम्बन्ध में निमेयर के सूत्रों में संसद ने संशोधन कर दिया। कौन्सिल की संशोधित आज्ञा के अन्तर्गत (जो १ अप्रैल, १९३९ से लागू हुई है) रेल-विभाग का अंशदान पूर्ण रूप से केन्द्रीय धन-राशि की गणना से, जोकि प्रान्तों को बाँटने के लिए प्राप्त थी, अलग कर दिया गया और केन्द्र का भाग बाँटी जाने वाली धनराशि में पिछले तीन वर्ष के औसत पर नियत कर दिया गया, अर्थात् ४½ करोड़ रुपया १९३९-४०, १९४०-४१, १९४१-४२ के लिए था; बाकी रुपया प्रान्तों के बीच बाँट दिया गया। बाद के संशोधनों के साथ यही व्यवस्था १९४२-४३, १९४३-४४, १९४४-४५ में लागू रही। प्रान्तों के भाग में से जितना केन्द्र को अपने पास रखना था वह घटाकर १९४५-४६ में ३·७५ करोड़ रु० और १९४७-४८ में ३ करोड़ रु० कर दिया गया। इस परिवर्तन का औचित्य युद्ध के कारण आर्थिक परिस्थितियों में हुआ परिवर्तन था, जिसके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार को व्यय का बहुत अधिक भार उठाना पड़ा था और जिसने निरा-काम्य-कर की आय में बहुत कमी कर दी थी।

३६. देशमुख परिनिर्णय—भारत के बँटवारे के कारण पहले के बंगाल, पंजाब और आसाम प्रान्त के अंश पाकिस्तान में चले गए। इसलिए यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि इन प्रान्तों के कुछ अंश के पाकिस्तान में चले जाने के कारण उनके लिए निश्चित आय के अंश में से कितना वापस ले लिया जाए और भारतीय संघ के राज्यों में वह पुनः किस प्रकार बाँटा जाए। नये विधान की धारा २७ के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर की आय में भाग पाने वाले प्रान्तों के लिए अनुदान निश्चित करने का प्रश्न भी हल करना आवश्यक था। ये दोनों जाँच और सिफारिश के लिए नवम्बर, १९४९ में श्री चिन्तामणि देशमुख को सौंप दिये गए।[1] श्री देशमुख का परिनिर्णय, जो भारत सरकार के पास जनवरी, १९५० तक भेजा गया, १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ।

निमेयर-परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर के बाँटे जाने वाले भाग के बँटवारे का प्रतिशत अनुपात ऊपर दिया जा चुका है। पाकिस्तान में चले गए प्रान्त के भागों के प्रतिशत की गणना करने में श्री देशमुख ने इस समस्या को हल करने में यह जानने का प्रयत्न किया कि पाकिस्तान में चले गए भागों को अलग प्रान्त मान लेने पर इनके समान क्षेत्रफल और वित्तीय स्थिति वाले प्रान्तों की तुलना में निमेयर इनके लिए कितना भाग निश्चित करते।

जूट के निर्यात-कर के सम्बन्ध में देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत सहायक

---

१. पहले रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के गवर्नर थे और १९५० में भारत सरकार के वित्तमंत्री थे।

अदायगी में यदि अपेक्षित हों तो, परिवर्तन ।

वित्त आयोग का मत यह था कि आय-कर में राज्यों को दे दिया जाने वाला भाग जनसंख्या के आधार पर होना चाहिए, न कि कर की वसूली के आधार पर। वितरण के सिद्धान्त के रूप में कर की वसूली को उन्होंने धीरे-धीरे दूर करने की सिफारिश की और यह प्रस्ताव किया कि राज्यों के भाग का वितरण १० प्रतिशत कर की वसूली और ९० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर किया जाए।

प्रथम वित्त आयोग ने तम्बाकू (निर्मित तम्बाकू सम्मिलित है), दियासलाई, वनस्पति पदार्थ (वेजीटेबिल प्रोडक्ट्स) पर लगे उत्पाद-कर की ४० प्रतिशत आय को वितरित करने की सिफारिश की थी। द्वितीय वित्त आयोग ने इस सूची में चीनी, चाय, कहवा, कागज तथा वेजीटेबिल तेल के उत्पाद-करों को जोड़ दिया, किन्तु वितरित करने के लिए प्रतिशत घटाकर २५ कर दिया।

द्वितीय वित्त आयोग की अन्य महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश उत्तराधिकार-कर (एस्टेट ड्यूटी) के सम्बन्ध में है। इससे पूर्व इस मद से प्राप्त आय राज्यों के बीच आय-कर के अनुपात में ही बाँटी जाती थी। द्वितीय आयोग की सिफारिश थी कि इस आय का एक प्रतिशत संघीय क्षेत्रों के लिए अलग कर देने के बाद शेष राशि अचल तथा अन्य सम्पत्ति के कुल मूल्य (ग्रॉस वेल्यू) के अनुपात में बाँट दी जाए। तदनन्तर अचल सम्पत्ति की राशि प्रान्तों में स्थित अचल सम्पत्ति के अनुपात में बाँट दी जाए तथा अन्य सम्पत्ति की आय जनसंख्या के आधार पर बाँट दी जाए।

सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में आयोग ने सिफ़ारिश की कि अनुदान के लिए राज्य की उपयुक्तता का निर्णय विस्तृत अर्थ में वित्तीय आवश्यकता के आधार पर किया जाना चाहिए जो योजना की प्राथमिकताओं और व्यवस्था के अनुरूप हो। दूसरे राज्य की आय और व्यय के अन्तर के करों में भाग प्राप्त करके ही पूरा करना चाहिए तथा सहायक अनुदान को अवशिष्ट (रेजीडुअरी) सहायता के रूप में सामान्य और विना शर्त के अनुदान के रूप में होना चाहिए। वृहद् उद्देश्यों के लिए भी सहायक अनुदान दिये जाएँ, किन्तु उनका व्यय उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिए।

सरकार ने राज्यों को दिये गए ऋण के सम्बन्ध में की गई सिफारिशों को छोड़कर शेष सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

इस आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप केन्द्रीय करों में प्रान्तीय भाग दूने से भी अधिक हो गया। १९५६-५७ में केन्द्रीय कर-आय से राज्यों को प्राप्त हुई आय कुल ७९·४ करोड़ रु० थी। १९५८-५९ १९५९-६०, १९६०-६१ (संशोधित अनुमान) में यह क्रमशः १६२·१ करोड़ रु०, १६९·९ करोड़ रु० तथा १७८·८ करोड़ रु० थी। १९६१-६२ (बजट अनुमान) में यह १६०·०० करोड़ रु० होगी।

इस समय तीसरा वित्त आयोग, जिसे राष्ट्रपति ने २ दिसम्बर, १९६० को नियुक्त किया था, कार्यशील है तथा निकट भविष्य में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। आयोग को निम्न विषयों के सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करनी हैं—

केन्द्र के बड़े घाटों के बजट में नितान्त विपरीत रक्षा पर अधिक व्यय के कारण था।[1]

प्रान्तीय कर-व्यवस्था में कृषि-आय पर कर उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। अनेक प्रान्तों, जैसे पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आसाम, उड़ीसा आदि, ने पहले से ही यह कर लगा रखा है और दूसरे प्रान्त लगाने की बात सोच रहे हैं।

१९५१-५२ में नियोजन-युग के सूत्रपात के पश्चात् प्रान्तीय आय-व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। इसका कारण, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, विकास-कार्यों के लिए सेवाओं की स्थापना और प्रसार है। इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रगति के लिए अपेक्षित विनियोग के फलस्वरूप पूँजी-व्यय भी बहुत बढ़ गया है। १९५८-५९ (एकाउण्ट्स) में भारत के सभी राज्यों के पूँजी-बजट सम्मिलित करने पर १२,९६ लाख रु० का घाटा था। १९५९-६० (संशोधित अनुमान) में यह ३९,३८ लाख रु० था तथा १९५०-५१ के बजट में १२,७७ लाख रु० था। आय के मद में इन्हीं वर्षों में ४८,३१ लाख रु०, २३,४७ लाख रु० तथा ५६८ लाख रु० की बचत थी।

रेल-वित्त

३८. सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत रेल-विभाग के आर्थिक परिणाम—१९२४ के सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत रेल-विभाग के कार्यों के आर्थिक परिणामों का सारांश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—१९२४-२५ से १९३५-३६ तक के काल पर विचार करने से यह पता लगता है कि प्रथम ६ वर्ष उत्कर्ष के वर्ष थे और अन्तिम ६ वर्ष अपकर्ष के। यदि पूरे काल को लिया जाए तो पहले ६ वर्षों में कुल अतिरेक-आय जो अर्जित की गई वह ५२,६४ लाख रुपये थी और पिछले ६ वर्षों की कमी ११,६३ लाख रुपयों की थी। इस बदलते हुए भाग्य की लंबी अवधि में ११०१ लाख रुपये का वास्तविक अतिरेक हुआ, अर्थात् नित्य-प्रति के कार्यों का व्यय काटकर, अवक्षयण की व्यवस्था करके और ऋण ली हुई पूँजी पर पूरा-पूरा व्याज देकर प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपये से कुछ कम का अतिरेक हुआ।

१९३०-३१ के वर्ष से घाटे का युग आरंभ हुआ, जो कि मुख्यत: विश्वव्यापी आर्थिक अवसाद, वस्तुओं के मूल्य में कमी, गेहूँ के निर्यात में कमी, राजनीतिक स्थिति में अशान्ति, बाढ़ और भूकंपों से पहुँचाई हुई हानि, सड़कों की तीव्र प्रतिस्पर्धा[2], नदी और समुद्र की बढ़ी हुई प्रतियोगिता, मजदूरी में वृद्धि के कारण नित्य-प्रति के कार्यों के खर्च में वृद्धि आदि के कारण था। संसार के समस्त देशों की, जिनमें से अधिकांश शान्तिकाल से हमारे सर्वोत्तम ग्राहक थे, प्रशुल्क-पद्धति ने रेल की आय की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला।

---

१. बंगाल, जिसके बजट में १९४३-४४ व १९४४-४५ में बहुत बड़ी कमी हो गई थी, एक अपवाद था।

२. वेजवुड इन्क्वायरी कमेटी (१९३७) के अनुमान से सड़क यातायात द्वारा रेलवे को ४½ करोड़ प्रति वर्ष का घाटा [illegible] पैरा १६९।

सामान्य आय में जमा कर दिया गया और ६·२० करोड़ की बेची हुई रकम रेलवे रक्षित कोष में जमा कर दी गई, जिससे उस कोष में अब कुल ३८·१३ करोड़ रुपया इकट्ठा हो गया। १९४६-४७ के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार अतिरेक ८·६४ करोड़ रुपये का आँका गया था। पिछले वर्ष के समझौते के अनुसार, जिसमें १९४६-४७ में रेल-विभाग के सामान्य आय के अंशदान को उतनी रकम पर निश्चित कर दिया था जितनी कि बराबर होती है, व्यापारिक ढंग पर पूँजी के ऊपर लगाई हुई १ प्रतिशत रकम के, जिसमें से सैनिक महत्त्व रखने वाली रेलों पर घाटा निकाल दिया जाए और जिसमें ३ करोड़ रुपया सुधार-कोष (जो १९४६ में कायम हुआ, जिसमें आरम्भ में ही १२ करोड़ रुपया रेलवे रक्षित कोष से यात्रियों और कर्मचारियों को सुविधा देने के लिए निकाल लिया गया था) में जमा कर देने के बाद जितना बचे उसका आधा जोड़ दिया जाए; बाद को सामान्य आय में ५·६१ करोड़ रुपये के दिये जाने की सम्भावना थी। बटवारे के फलस्वरूप भारतीय संघ को कुल ३३,८६५ मील रेल की लाइन ६७८ करोड़ रुपये की पूँजी के साथ तथा अवक्षयण-कोष ९३·२२ करोड़ रुपया, रेलवे-रक्षित कोष ७·९८ करोड़ रुपया और सुधार-कोष ११·७१ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ।

बहुत बड़ी मात्रा में प्रतिस्थापन के बकाया और मूल्यों के बढ़ जाने से प्रतिस्थापन के व्यय में वृद्धि होने के कारण भारतीय रेलवे जाँच कमेटी (कुंजरू कमेटी) ने पाँच वर्ष तक २२ करोड़ रुपये के वार्षिक अंशदान का प्रस्ताव किया है। १९४९-५० के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार ११·०२ करोड़ रुपये का अतिरेक था, जिसमें से ७ करोड़ रु० सामान्य आय में जमा किया गया और ४·०२ करोड़ रु० अवक्षयण कोष में।

१९२४ का कान्वेन्शन १ अप्रैल, १९४३ से रद्द हो गया—मार्च, १९४३ में विधानसभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावानुसार अवक्षयण-कोष का बकाया ऋण देने के पश्चात् १९४३-४४ में व्यापारिक रेलों से लाभ सामान्य आय के साथ ३ : १ के अनुपात में बाँटा जाने वाला था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक रेलों पर अतिरेक सामान्य आय और रेलवे-रक्षित कोष के बीच दोनों की आवश्यकतानुसार बाँटे जाने वाले थे।

१९४९ में बिठाई गई कान्वेन्शन कमेटी ने १९२४ के जटिल सूत्र को अस्वीकृत कर दिया और दूसरी सरल तथा काम में लाई जाने योग्य व्यवस्था को अपनाया, जिसके अन्तर्गत सामान्य आय में ४% का लाभांश प्रयुक्त पूँजी पर (केपिटल एट चार्ज) दिया जाता। १९५०-५१ में ३१·८५ करोड़[1] रुपये की बजट में व्यवस्था की गई। १९५०-५१ में आय के अतिरेक की गणना १४·०१ करोड़ रुपये की की गई (आय २३३·५० करोड़ रु०, व्यय २१८·४९ करोड़ रु०)।

---

१. इसमें २·५७ करोड़ रुपया सम्मिलित है, जो लगभग ६५०० मील दूर तक फैली हुई १० रियासतों की रेलों के लिए था और जो १ अप्रैल, १९५० से केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थीं।

सामान्य उपकर ने ले लिया। १८७१ और १९०५ के बीच कुछ उपकर केन्द्रीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए। अकाल-बीमा-कोष १८७८ में आरम्भ हुआ, जिसमें कुछ प्रान्तों में अन्य गाँवों के कर्मचारियों को देने के लिए प्रान्तीय उपकर भी जोड़ दिये गए। भारत सरकार की आर्थिक स्थिति की उन्नति के कारण १९०५-६ में उन उपकरों को छोड़कर, जो स्थानीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए थे, और सब उपकर हटा दिये गए। इस सुधार का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर आरोपित उपकरों की मात्रा में कमी करने का नहीं था, वरन् धन-राशि का प्रान्तों से स्थानीय आवश्यकताओं के लिए स्थानान्तरित करना था। प्रान्तीय सरकारों का यह घाटा केन्द्रीय सरकार ने पूरा किया। हाल में कुछ प्रान्तों में उपकरों की दर में वृद्धि करने अथवा जैसा मद्रास ने किया है विशेष कार्यों, जैसे प्रारम्भिक शिक्षा आदि, के लिए नये अतिरिक्त उपकर लगाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। भूमि पर लगाये हुए इन स्थानीय उपकरों का आधार मालगुज़ारी की प्रथा के अनुसार बदलता रहता है। भूमि पर उपकर यद्यपि कर देने की शक्ति के अनुपात में नहीं लगाया गया है, क्योंकि इसका आरोप समान रूप से एक ही दर पर होता है; फिर भी प्रत्येक स्थान पर इसे उचित कर मानते हैं, क्योंकि इसका प्रयोग सम्पत्ति के लाभ के लिए किया जाता है, जिन्हें स्थानीय बोर्डों के कार्यों से लाभ पहुँचता है।

४०. नगरपालिका-वित्त—नगरपालिकाओं की आय के मुख्य स्रोत कर और शुल्क हैं, जिनसे लगभग $\frac{2}{3}$ आय प्राप्त होती है। बची हुई $\frac{1}{3}$ आय नगरपालिका की सम्पत्ति और प्रान्तीय सरकारों की आय के अंशदान तथा अन्य साधनों से प्राप्त होती है। स्थानीय अधिकारियों द्वारा आरोपित कर चार वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—(१) व्यापार पर कर, जैसे चुंगी, सीमा-मार्ग शुल्क; (२) सम्पत्ति पर कर, जैसे घरों तथा उनकी स्थिति पर कर, (गाँवों में भूमि पर उपकर); (३) व्यक्तियों पर कर, जैसे परिस्थिति, व्यवसाय, व्यापार, पेशा, धार्मिक यात्री, घरेलू नौकर-चाकर आदि; (४) फीस और लाइसेन्स। फीस म्युनिसिपैलिटी द्वारा की गई किसी विशेष सेवा, जैसे सफाई, के लिए वसूल की जाती है अथवा विलासिता पर कर के रूप में वसूल की जाती है, या कभी-कभी नियमित करने के लिए भी लगाई जाती है, जैसे गाने पर लाइसेन्स, गाड़ियों पर, कुत्तों और अन्य पशुओं पर। अप्रिय और खतरनाक व्यापारों पर भी लाइसेन्स फीस लगाई जाती है। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने इस बात का संकेत किया था कि परोक्ष-करों के सम्बन्ध में विशेष रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता है, जैसे व्यापार पर कर, जो चुंगी का रूप धारण करता है और सीमा-मार्ग-शुल्क, जिससे अन्तर्प्रान्तीय आवागमन में अनावश्यक बाधा पड़ती है। चुंगी और मार्ग-शुल्क पर, जो कि करारोप के सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, विशेष आपत्ति की गई थी और उनके स्थान पर फुटकर बिक्री अथवा पेशों पर कर लगाए जाने की राय दी गई थी। कमेटी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण सुझाव नगर की सम्पत्ति पर ऊँची दर से कर लगाने का दिया, क्योंकि उन्हें नगरपालिका के कार्यों से विशेष लाभ पहुँचता है। जो-कुछ भी हो, कर निर्धारित करने और वसूल करने के यन्त्र को आज की

क्षेत्र प्रायः इतना विस्तृत होता है कि उनका करदाताओं से कोई प्रभावशाली सम्बन्ध ही नहीं रह पाता। यदि ऐसा न हुआ होता तो गाँवों, घरों और व्यक्तियों पर स्थानीय बोर्डों द्वारा कर-आरोप बड़ा सरल होता। इस दृष्टिकोण से गाँव-पंचायतों के प्रभाव को फिर से स्थापित करना तथा वर्तमान स्थानीय बोर्डों के कर्तव्यों को सीमित कर देना वांछनीय होगा।

४३. साधनों की उन्नति—यद्यपि विकेन्द्रीकरण-आयोग के प्रस्तावों तथा १९१९ के सुधारों के प्रचलित होने से स्थानीय अधिकारियों कोब हुत अधिक आर्थिक-स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, फिर भी जहाँ तक आरोपित करों की प्रकृति से सम्बन्ध है, इसके सिवाय और कुछ नहीं हुआ है कि वे कर, जो बिना भारत सरकार की आज्ञा लिये हुए आरोपित किये जा सकते हैं, उनका स्पष्टीकरण परिगणित कर-नियमों में कर दिया गया है। टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने निम्न प्रस्ताव स्थानीय संस्थाओं के आय-साधनों की वृद्धि के दृष्टिकोण से किये हैं—(१) मालगुजारी का नीची दर पर प्रामाणिक कर देना, ताकि स्थानीय कर-आरोप का अधिक अवसर प्राप्त हो सके; (२) प्रान्तीय सरकारों द्वारा नगरों से भूमि के वसूल किये हुए किराये और कृषि के अतिरिक्त अन्य काम में आने वाली भूमि पर वसूल किये हुए शुल्क का एक अंश स्थानीय संस्थाओं को देना; (३) नगरपालिकाओं को विज्ञापन पर कर लगाने का अधिकार देना; (४) मनोरंजन तथा जुए पर कर-आरोप के क्षेत्र को बढ़ाना और स्थानीय संस्थाओं को इस प्रकार प्राप्त हुई आय का पर्याप्त अंश देना; (५) परिस्थिति और सम्पत्ति तथा पेशों पर कर लगाने की व्यवस्था को अधिक उन्नत तथा विस्तृत करना; (६) मोटरगाड़ियों पर आयात-कर घटाना और प्रान्तीय सरकारों को इस योग्य बनाना कि वे एक प्रान्तीय कर मार्ग-शुल्क के स्थान पर लगा सकें जो कि स्थानीय संस्थाओं को दिया जा सके; (७) चुने हुए क्षेत्रों में स्थानीय संस्थाओं को विवाहों के रजिस्ट्रेशन पर फीस लगाने का अधिकार देना; और (८) स्थानीय संस्थाओं के साधनों को आर्थिक सहायता द्वारा बढ़ाना, जो कि साधारणतया राष्ट्रीय महत्ता की सेवाओं तक सीमित होनी चाहिए और इस प्रकार दी जानी चाहिए कि प्रान्तीय सरकार कुशलता पर जोर दे सके।[1] बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार किया और स्थानीय संस्थाओं के साधनों को बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव दिए। नगरपालिकाओं के आय के साधन निम्न प्रकार बढ़ाए जा सकते हैं—(१) स्थायी सम्पत्ति के स्थानान्तरण पर कर लगाकर, (२) नगरपालिकाओं के अन्दर भवनों के निर्माण किये जाने वाले भूमि के टुकड़ों पर लगाये हुए कर का एक अंश देकर, (३) विवाह, गोद लेने तथा दावतों पर कर लगाकर और (४) मनोरंजन-कर के एक अंश को देकर तथा बिजली के अधिकार से प्राप्त आय का ५०% देकर। गाँव की स्थानीय संस्थाओं के लिए कमेटी ने निम्न सिफारिशें की थीं—(१) स्थानीय धनराशि पर उपकर १ आने के स्थान पर १½ अथवा २½ आने

१. देखिए, 'टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट', पैरा १९४-९६।

अध्याय २६

बेरोज़गारी

१. अध्ययन का क्षेत्र—पाश्चात्य देशों में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक योजना में यत्किंचित् बेरोजगारी (वृत्तिहीनता) अनिवार्य है। १९१४-१८ के युद्ध के उपरान्त वाली मन्दी से वृत्तिहीनता की एक अभूतपूर्व परिस्थिति उत्पन्न हो गई। तत्कालीन परिस्थिति की भयंकरता और अभूतपूर्वता के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की परिस्थिति (औद्योगिक वृत्तिहीनता) बिलकुल नई नहीं थी।

भारतवर्ष में बेरोज़गारी से उत्पन्न समस्याओं के कुछ ऐसे पहलू हैं जो पाश्चात्य देशों के लिए बिलकुल नये प्रतीत होंगे। प्रथमतः देश की जनता का अधिकांश अपनी रोजी के लिए कृषि पर निर्भर है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शिथिल मौसमों में ५ से लेकर ९ महीने तक बेकारी रहती है। इस प्रकार की अनिवार्य बेकारी के लिए पूरक उद्योगों की चर्चा हो चुकी है। किन्तु बेकारी का एक और भयंकर पक्ष भी है। यह परिस्थिति पूर्णतः या आंशिक रूप से मानसून की विफलता का परिणाम होती है, जिससे दुर्भिक्ष उत्पन्न हो जाता है। एक विस्तृत क्षेत्र में कृषि-कार्य बन्द हो जाने से कृषि तथा उससे सम्बद्ध पूरक उद्योगों में लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। यह भारत में होने वाली बेकारी का सबसे भयंकर पक्ष है।

उद्योगों तथा अन्य पेशों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि श्रमिक दो वर्गों में विभाजित हैं—एक तो हाथ से काम करने वाले श्रमिक, दूसरे मस्तिष्क से काम करने वाले बाबू लोग, अर्थात् तथाकथित पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोग। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है हमारी समस्या उतनी ही जटिल नहीं है। कारखानों के बन्द होने या उनके मज़दूरों की छटनी (रिट्रेंचमेण्ट) के कारण कितने ही साधारण और कुशल श्रमिक बेकार हो गए। किन्तु साधारण परिस्थितियों में यहाँ कुशल श्रमिकों की अधिकता और तज्जन्य बेकारी न होकर 'औद्योगिक श्रम' की कमी का ही अनुभव किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ वृत्तिहीनता आती भी है तो उसका रूप उतना भयंकर नहीं होता जितना की पाश्चात्य देशों में। कारण यह है कि बहुत-से औद्योगिक श्रमिक खेती से भी सम्बद्ध होते हैं। प्रायः कारखानों का काम केवल सहायक स्थान का अधिकारी माना जाता है, जो धनुष की दूसरी प्रत्यंचा की तरह कृषि के बेकार और शिथिल मौसम में काम देता है। अतएव भारत की वृत्तिहीनता पाश्चात्य वृत्तिहीनता से न केवल आकार में भिन्न होती है वरन् सरकार के लिए तज्जन्य समस्याओं का रूप भी भिन्न होता है।

कृषि-महाविद्यालय, अनुसन्धान तथा प्रयोग-केन्द्रों द्वारा सुधार; सरकारी आन्दोलन का पूरा-पूरा उपयोग, बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास और छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन; संक्षेप में, सब पहलुओं में आर्थिक आयोजन।

हर्ष का विषय है कि देश में आर्थिक आयोजन १९५१-५२ से चल रहा है और उसके द्वारा वृत्तिहीनता की समस्या को हल करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। द्वितीय कृषि श्रम जाँच (१९५६-५७) के अनुसार १९५०-५१ में ग्रामीण बेकारों की संख्या २८ लाख थी। योजना आयोग के अनुसार १९५६ में ५३ लाख ग्रामीण बेकार थे। कार्याङ्कन संगठन (प्रोग्राम एवेल्यूएशन आर्गनाइज़ेशन) की आधुनिकतम रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण ३० प्रतिशत मानव-दिन (मैन डे) बेकार रहते हैं। अतएव तृतीय योजना में इस समस्या को हल करने के लिए पाँच प्रकार के कार्यक्रम प्रस्तावित किये गए हैं :

(१) अकुशल तथा अर्धकुशल श्रम की अपेक्षा रखने वाली राज्यीय तथा स्थानीय संस्थाओं की योजनाएँ;

(२) विधान द्वारा निर्धारित ढंग से जाति या समूह द्वारा लिये गए कार्य;

(३) वे विकास-कार्य जिनमें स्थानीय जनता श्रम देती है तथा सरकार कुछ सहायता देती है;

(४) वे योजनाएँ जो गाँवों की प्रतिफलात्मक सम्पत्ति के निर्माण में सहायक हों; तथा

(५) जिन क्षेत्रों में बेकारी अत्यधिक हो वहाँ पूरक योजनाएँ चालू की जाएँ।

इन योजनाओं में से, ऐसा अनुमान है, योजना के प्रथम वर्ष में १ लाख व्यक्तियों को, द्वितीय वर्ष में ४-५ लाख व्यक्तियों को, तृतीय वर्ष में १० लाख व्यक्तियों को तथा अन्तिम वर्ष में २५ लाख व्यक्तियों को रोज़ी मिलेगी। उपर्युक्त आधार पर ग्रामीण जन-शक्ति के उपयोग के लिए ३४ अग्रगामी योजनाएं प्रारम्भ की गई हैं। मार्च १९६२ तक प्रत्येक योजना के लिए २ लाख रु० निर्धारित किया गया है। प्रारम्भ की गई अग्रगामी योजनाओं में सिंचाई, वनरोपण, संचार-सुधार आदि हैं।

मध्यवर्गीय बेरोज़गारी

३. समस्या का विस्तार-क्षेत्र—यद्यपि सभी साधारण तौर से 'शिक्षित' और मध्यवर्गीय शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु शिक्षित और अशिक्षित के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती, न तो मध्यवर्ग के उच्चतर और निम्नतर स्तरों को ही अलग किया जा सकता है। साधारणतया 'शिक्षित मध्यवर्ग' में ऐसे लोग आते हैं जो इतनी अच्छी आर्थिक स्थिति में नहीं हैं कि अपनी आय में अच्छी तरह अपना जीवन बिता सकें, जो कि शारीरिक श्रम नहीं करते तथा जिन्हें किसी-न-किसी रूप में माध्यमिक या उच्चतर शिक्षा मिली होती है। कभी-कभी वर्नाक्युलर और एंग्लो-वर्नाक्युलर कोर्स पूरा करने वाले लोगों को भी इसमें शामिल किया जाता है।

भर चुका है। इसी प्रकार औषधि-पेशे के लोग बाजारों, विशेषकर बड़े शहरों, में तो भरे पड़े हैं, जबकि छोटे-छोटे गाँवों में इनकी संख्या अत्यन्त कम है, क्योंकि यहाँ पर जीवन की सुविधाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लोग औषधियों के लिए नियमित रूप से नकद फीस देने के आदी नहीं हैं। इन्जीनियरों की दशा कुछ ही अच्छी थी। रेलवे में रोज़ी खोजने वाले काफ़ी बड़ी संख्या में थे, लेकिन प्रशिक्षित न होने के कारण नौकरी न पा सके। जहाँ तक बैंकिंग का प्रश्न है, जो लोग इस विषय में शिक्षा प्राप्त कर चुके थे वे बेकार न रहे, लेकिन जिन्हें प्रशिक्षा न प्राप्त थी वे नौकरी न पा सके।

वृत्ति-विनिमयालय के संचालकालय के जन-शक्ति विभाग ने १५ मई १९५७ को स्नातकीय बेकारों के सम्बन्ध में यह पाया कि इस प्रकार की बेकारी अन्य राज्यों की अपेक्षा पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा दिल्ली में अधिक है। स्त्री-स्नातकों में सबसे अधिक बेकारी केरल में थी। काम ढूँढ़ने वाले बेकार स्नातकों में ९३% पुरुष तथा ७% स्त्रियाँ थीं। कला और विज्ञान की तुलना में वाणिज्य के स्नातकों में बेकारी अधिक थी।

६. **वृत्तिहीनता के कारण**[1]—(१) **युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी और छटनी**—अन्य देशों की भाँति भारत में भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का प्रभाव पड़ा। बाबूगीरी और युद्ध के अन्य विभागों में वृत्ति-प्राप्त लोग बड़ी संख्या में बाहर निकाल दिये गए। छटनी की कुल्हाड़ी के प्रहार सब दिशाओं में हुए और पुराने संस्थापन की यथास्थिति न रही। मध्यवर्ग बड़ी ही कठोर अग्निपरीक्षा से होकर निकला।

(२) **शिक्षा-पद्धति के दोष**—वृत्तिहीनता का दूसरा तथाकथित कारण देश की औद्योगिक प्रगति और देश में प्रचलित शिक्षा में सन्तुलन का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल क्लर्की करने योग्य नवयुवक तैयार कर रही है और यह सरकारी नौकरी पाने का केवल एक द्वार-मात्र है। पंजाब समिति के लिए प्रस्तुत की गई अपनी सूची में सर एण्डरसन ने यह स्वीकार किया कि प्रारम्भ से ही (वर्तमान शिक्षा-पद्धति) लड़कों को विदेशी परीक्षाओं के लिए तैयार करने के लिए बनाई गई थी, जिनका पास करना बहुतों के लिए एक प्रकार का भ्रमजाल था। इसका उद्देश्य लड़कों को बाबूगीरी की शिक्षा देना था। अब बाबूगीरी का पेशा जन-संकुल हो उठा है। इसमें अब नौकरी खोजने वालों की भीड़ के लिए बहुत ही कम स्थान रह गया है। उन्होंने मैट्रिकुलेट की परिभाषा, जिसे वह वृत्ति-समस्या का मूल मानते थे, इस प्रकार की—"एक भ्रमणार्थी, जो विश्व में टहलता है, जिसे नौकरी नहीं मिलती, क्योंकि वह नौकरी देने योग्य नहीं है।" भारत का साधारण शिक्षित व्यक्ति सर्वप्रथम जीविका के लिए सरकारी नौकरी की ओर झुकता है। उसके न

---

१. बंगाल समिति ने वृत्तिहीनता का एक प्रकार का वर्गीकरण करने का सुझाव रखा—ऐसे लोग, जो अपने किसी अपराध या दोष के बिना ही नौकरी न पाने वाले हों; ऐसे व्यक्ति जोकि ऐसी रोज़ी चाह रहे हैं जिसके लिए अनुपयुक्त हैं, उसका कारण बहुधा उसके बस के बाहर की बात भले ही हो। देखिए 'बंगाल वृत्तिहीनता समिति की रिपोर्ट', पैरा २।

से ही परिस्थिति पर पूरी तरह से काबू नहीं पाया जा सकता। यह असंदिग्ध है कि इससे देश की औद्योगिक प्रगति तीव्रतर हो जाएगी, लेकिन इससे औद्योगिक प्रगति का जन्म नहीं होगा, जब तक कि शिक्षित और प्रशिक्षित लोगों को खपा लेने वाले उद्योगों का विकास और प्रोत्साहन नहीं किया जाता। जैसा कि बंगाल-समिति का मत है—"एक आदर्श सुसंतुलित विकास में आर्थिक प्रगति और टेकनिकल प्रशिक्षा का साथ-साथ विकास होगा, और एक-दूसरे को प्रोत्साहन देंगी। जब एक पीछे रहेगी तो दूसरी को भी रोकेगी और जब एक बढ़ेगी तो दूसरी को भी बढ़ाएगी।"

७. वृत्तिहीनता को दूर करने के उपचार : वृत्ति-ब्यूरो—वृत्तिहीनता के अनेक कारण हैं इसलिए इसकी कोई एक रामबाण-ओषधि नहीं हो सकती। पहले तो जो उपचार सामने रखे गए हैं उनके ऊपर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। सरकार, यूनिवर्सिटी और वैयक्तिक संस्थाओं द्वारा चलाये गए वृत्ति ब्यूरो का सुझाव सामने रखा गया है। उत्तर प्रदेश और पंजाब में नौकरी चाहने वालों और नौकरी देने वालों को एक-दूसरे के सम्पर्क में लाने के लिए वृत्ति-बोर्ड स्थापित किये गए। इनसे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और लाभदायक काम होगा। यदि कुशलता से इनका प्रबन्ध किया गया तो जनता में एक प्रकार के विश्वास का संचार होगा।

जन-प्रवास (माइग्रेशन) भी वृत्तिहीनता को दूर करने का एक साधन माना गया है, किन्तु मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता एक अखिल भारतीय प्रकार की है। इससे देश के अन्दर स्थानान्तरण सम्भव न होगा; इससे समस्या की सघनता का देश के सब भागों में समान रूप से वितरण हो जाएगा, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। एक देश से दूसरे देश में जाने से भी समस्या का स्थायी निराकरण न हो सकेगा।[1]

८. वृत्ति-विनिमयालय (एम्प्लायमेंट एक्सचेंज)—द्वितीय विश्वयुद्ध में युद्ध की आवश्यकताओं हेतु अधिकारियों की नियुक्ति के लिए राष्ट्र-सेवा श्रमिक न्यायालय (नेशनल सर्विस लेबर ट्रिब्यूनल) स्थापित किये गए। तब से ये संघ संगठन शान्तिकाल में भी कुशल और अर्द्ध-कुशल व्यक्तियों की रजिस्ट्री और स्वेच्छा-स्थानान्तरणकाल के लिए प्रसारित और अनुकूल बनाये गए। १९४५ में युद्ध से निकाले गए श्रमिकों और सिपाहियों तथा विस्थापित और छुड़ाये गए पूर्व-सेवकों (ऐक्स-सर्विसमैन) के पुनर्स्थापन और वृत्ति-दान के लिए वृत्ति-पुनर्स्थापन के सामान्य संचालकालय (डायरेक्ट्रेट जनरल ऑफ़ रिसेटलमेण्ट एण्ड एम्प्लायमेण्ट) की स्थापना की गई। इधर हाल में वृत्ति विनिमयालयों का कार्यक्षेत्र शरणार्थियों और साधारण रूप से औद्योगिक श्रमिकों से सम्बन्धित वृत्ति और पुनर्स्थापन के लिए पर्याप्त विकसित कर दिया गया है। सम्पूर्ण संगठन संचालक (डायरेक्ट्रेट-जनरल) की अधीनता में है, जिसमें तीन संचालनालय (डायरेक्ट्रेट) हैं—(१) वृत्ति-विनिमयालयों का संचालकालय, (२) प्रशिक्षण संचालकालय और (३) प्रसार संचालकालय। देश का विभाजन आठ भागों में किया गया है और जिनमें से प्रत्येक विभाग एक संचालक के अधीन है। देश में ५४ वृत्ति-विनिमयालय

---

१. देखिए, खण्ड १ अध्याय ३, सेक्शन २७ और ३३।

शिक्षा का स्तर भी ऊँचा उठेगा और सेवा के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति मिलेंगे।

१०. सप्रू (वृत्तिहीनता) समिति—यहाँ हम सप्रू-समिति के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझावों की ओर संकेत करना चाहेंगे। यह समिति युक्तप्रान्त की वृत्तिहीनता की जाँच के लिए नियुक्त की गई थी, किन्तु इसके सुझावों को समस्त भारत पर लागू किया जा सकता है। इन्हें हम इस प्रकार विभाजित करते हैं—(क) वे, जो कि शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ाने से सम्बन्ध रखते हैं; (ख) वे, जो पूर्ति की अधिकता को कम करने से सम्बन्ध रखते हैं; (ग) वे, जिनका उद्देश्य वास्तविक माँग और पूर्ति का समुचित सन्तुलन स्थापित करना है।

(१) जिला और नगरपालिकाओं को बाध्य करना चाहिए कि वे सड़कों और इमारतों को अपनी स्थिति में रखने के लिए कुशल और योग्य इंजीनियर तथा निरीक्षकों को नियुक्त करें। यदि सरकार चाहे तो जन-औषधि-सहायता के प्रसार द्वारा सुयोग्य व्यक्तियों को रोजी दे सकती है। जनता के अस्पतालों में अधिक डॉक्टरों की नियुक्ति—देशी दवाओं और जड़ी-बूटियों की प्रभविष्णुता की छानबीन के लिए भी डॉक्टरों की नियुक्ति कर सकती है। नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों को चाहिए कि वे जनता के स्वास्थ्य और स्वच्छता की देख-रेख के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करें। क़ानून के पेशे में होने वाली भीड़ का निराकरण करने के लिए यह आवश्यक होगा कि लोग क़ानून की विशेष शाखाओं में विशिष्टता प्राप्त करें। उदाहरण के लिए, कुछ लोग केवल दस्तावेज की रूपरेखा तैयार करने में विशेष योग्यता प्राप्त करें और कुछ मुकदमों की बहस में, इत्यादि···। ५५ साल पर सेवा से विरत करने के नियम का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए, ताकि नवयुवकों को तुरन्त अवसर प्राप्त हो सके। बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों को साथ-ही-साथ प्रेरणा देनी चाहिए, ताकि वे बड़ी संख्या में नवयुवकों को खपा सकें। अनिवार्य-प्रारम्भिक-शिक्षा प्रचलित करने का ज़ोर-शोर से प्रयास किया जाना चाहिए।

(२) हाई स्कूल-परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण-पत्र प्राप्त होने चाहिएँ। एक तो शिक्षा की समाप्ति का होना चाहिए और उन छात्रों को सहायक सरकारी नौकरियों में स्थान मिलने की योग्यता के प्रमाण-पत्रस्वरूप होना चाहिए, जिससे अवसर पड़ने पर औद्योगिक, कृषि और अन्य व्यावसायिक स्कूलों में भी प्रवेश पा सकें। दूसरा प्रमाण-पत्र कला और विज्ञान के महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए होना चाहिए।

(३) व्यावहारिक शिक्षा के लिए मिलने वाली सुविधाएँ भी बढ़ानी चाहिएँ। समग्र रूप से और विशेष रूप से प्रारम्भिक कक्षाओं में—शिक्षा की प्रवृत्ति व्यावहारिक और ग्रामीण होनी चाहिए। दवा-दारू की शिक्षा प्राप्त करने और डॉक्टरी पेशा अख्तियार करने वालों को चाहिए कि सरकार उन्हें ग्रामीण क्षेत्र में बसने की सुविधा और सहायता दे। इस प्रकार बड़े नगरों से डॉक्टरों की भीड़ भी कम हो जाएगी। फार्मेसी, डेन्टिस्ट्री (दाँत की विद्या), हिसाब-किताब, निर्माण और वास्तुकला, पुस्तकाध्यक्ष की शिक्षा, बीमा-कार्य और अखबारनवीसी-जैसे पेशों का विकास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि डिप्लोमा-प्राप्त व्यक्ति तथा कृषि-स्नातक

श्रम-शक्ति कृषि के बाहर काम पाएगी, यह सम्भव हो सकेगा कि १९७६ तक कृषि पर निर्भर श्रम-शक्ति का अनुपात घटकर ६० प्रतिशत हो जाए।

११. **बेरोजगारी तथा योजनाएं—(क) पहली पंचवर्षीय योजना**—यह योजना ऐसे समय में बनी थी जबकि विभाजन तथा युद्ध के पश्चात् स्थिति के कारण बेरोज़गारी के बारे में ठीक प्रकार से कुछ नहीं कहा जा सकता था। इसलिए पहली योजना में रोजगारी का अध्याय एक प्रकार से व्यर्थ-सा था। यह ठीक है कि बाद में १९५३ के अन्त तक योजना आयोग ने रोज़गारी अवसर की उन्नति के लिए ११ शाखाओं वाला प्रोग्राम बनाया। इसके बाद भी पहली योजना में कुछ अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई और प्रत्यक्ष रोजगारी कुल ४·५ मिलियन तक ही रह गई।

(ख) दूसरी योजना—इस योजना के आरम्भ में अपूर्ण बेरोज़गारी ५·३ मिलियन लोगों में थी और यह आशा प्रकट की गई कि योजना के दौरान में १० मिलियन और लोगों की सामर्थ्य-शक्ति और बढ़ जाएगी। दूसरी योजना में रोजगारी का लक्ष्य १० मिलियन रखा गया और यह सोचा गया कि ५·३ मिलियन लोगों की सामर्थ्य अगली योजनाओं में ठीक की जाएगी। परन्तु दुर्भाग्य से दूसरी योजना में रोजगारी (खेती को छोड़कर) कुल ६·५ मिलियन लोगों में बढ़ी। इस प्रकार बेरोज़गारी की सामर्थ्य तीसरी योजना के आरम्भ होने के समय ९ मिलियन के लगभग थी। इससे यह प्रतीत होता है कि देश में रोज़गार लोगों के बढ़ने के साथ-साथ बेरोज़गार तथा रोजगारी ढूंढने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ती रही है।

(ग) तीसरी योजना—योजना आयोग के हिसाब के अनुसार तीसरी योजना में नये रोजगार ढूंढने वालों की संख्या १७ मिलियन और हो जाएगी और पिछले ९ मिलियन बेरोज़गारों को मिलाकर कुल बेरोज़गारों की संख्या इस प्रकार बढ़कर २६ मिलियन हो जाएगी। परन्तु तीसरी योजना में निवेश तथा इसके स्तर को देखते हुए १४ मिलियन लोगों को नौकरियां मिलने की सम्भावना थी (३·५ मिलियन खेती में, १०·५ मिलियन बाकी क्षेत्रों में)। दुर्भाग्य से तीसरी योजना के मध्य मूल्यांकन अनुसार खेती के बाहर ५ मिलियन ४७ प्रतिशत लोगों को नौकरियाँ मिलीं।

(घ) चौथी योजना—वर्तमान स्थिति को देखते हुए चौथी पंचवर्षीय योजना में नौकरियाँ ढूंढने वालों की संख्या ३५ मिलियन तक बढ़ जाएगी, जिसमें २३ मिलियन नई नौकरियाँ ढूंढने वाले होंगे और १२ मिलियन पुराने ही जो तीसरी योजना में प्राप्त न कर पाए। परन्तु चौथी योजना में २१,५००—२२,५०० करोड़ रुपया खर्च करके अधिक-से-अधिक १५-१६ मिलियन लोगों को और नौकरियाँ (खेती से बाहर) मिल सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अगर चौथी योजना में कम-से-कम २५ मिलियन लोगों को नौकरियाँ न मिलीं तो पाँचवीं तथा अन्य योजनाओं में रोजगारी की स्थिति बहुत खराब हो जाएगी। ऐसे संकटकाल को दूर रखने के लिए सरकार को अपनी रोज़गारी, उत्पादन तथा राजकोषीय नीतियों में परिवर्तन लाने होंगे।

१४,५०० करोड़ से बढ़कर राष्ट्रीय आय १९७५-७६ में ३४,००० करोड़ रुपये हो जाए और प्रति व्यक्ति आय इस समय में ३१ प्रतिशत बढ़कर ३३० रुपये से ५३० रुपये हो जाए। तीसरा, ४.६ करोड़ लोगों के लिए रोज़गार (खेती को छोड़कर) पैदा किये जाएँ, जिससे जनसंख्या का दबाव खेती पर ७० प्रतिशत से घटकर ६० प्रतिशत हो जाए। चौथा, चौदह वर्ष तक के बालकों को विधान के अनुसार व्यापक शिक्षा दी जाए। पाँचवाँ, कुल निवेश दर दूसरी योजना के अन्त तक ११ से १४ प्रतिशत तीसरी में और १८ प्रतिशत चौथी योजना के सम्पूर्ण होते तक। कुल निवेश का बड़ा भाग घरेलू जमा से वित्त का रूप ले और इस प्रकार शुद्ध जमा—आय अनुपात १९६०-६१ में ८.५ प्रतिशत से बढ़कर ११.५ प्रतिशत १९६६ में और १६ प्रतिशत १९७१ के अन्त तक हो जाए। छठा लक्ष्य यह है कि १० वर्षों में हम विदेशी सहायता को काफी हद तक कम कर लें और यह कार्य निर्यात की अच्छी नीतियों द्वारा ही हो सकता है।

३. पहली दो योजनाएँ—पहली योजना (१९५१-५६) ने खेती, सिंचाई, शक्ति और यातायात के साधनों पर ज़ोर देते हुए भविष्य में आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति का आधार बनाने की चेष्टा की और कुछ बुनियादी नीतियों में परिवर्तन किये। दूसरी योजना (१९५६-६१) में इन नीतियों को और अच्छा रूप दिया गया और राष्ट्र को समाजवादी आधार पर रखने की चेष्टा की गई। इस योजना में मौलिक तथा बड़े उद्योगों पर ज़ोर दिया गया और यह आशा की गई कि राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए सरकारी क्षेत्र का बहुत महत्त्व होगा।

पहली दो योजनाओं में कुल निवेश १०,११० करोड़ रुपया—५२१० करोड़ रुपया सरकारी क्षेत्र में और ४९ करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में था। इस प्रकार वार्षिक निवेश दर ५०० करोड़ रुपये १९५१ से बढ़कर १६०० करोड़ रुपये १९६१ तक हो गई। पहली दो योजनाओं में खेती तथा सिंचाई पर ३१ तथा २० प्रतिशत खर्च किया गया। दूसरी योजना में औद्योगिक उन्नति पर ज़ोर देने के कारण उद्योग तथा खनिज पर ४ प्रतिशत प्रथम योजना से बढ़ाकर दूसरी योजना में २० प्रतिशत कर दिया। पहली तथा दूसरी योजना में शक्ति की उन्नति पर १३ तथा १० प्रतिशत दूसरी योजना में खर्चना निर्धारित हुआ। दोनों योजनाओं में ट्रांसपोर्ट और संचार पर एक ही जैसा ज़ोर देते हुए लगभग २८ प्रतिशत धन व्यय हुआ। सेवा समितियों इत्यादि पर पहली पंचवर्षीय योजना में २३ प्रतिशत तथा दूसरी में १८ प्रतिशत धन व्यय हुआ। प्रथम योजना में कुल सरकारी व्यय (Public Sector) का ९० प्रतिशत भाग घरेलू साधनों से प्राप्त हुआ और दूसरी योजना में ४,६०० करोड़ का ७६ प्रतिशत घरेलू साधनों से तथा शेष विदेशों से प्राप्त हुआ। दूसरी पंचवर्षीय योजना में विशेष तौर पर टैक्सों पर ज़ोर दिया गया और कई नये प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर लगाये गए और जो रिक्त साधनों में मिला उसे या तो घाटे के बजट (Deficit Financing) से या विदेशी सहायता से पूर्ण किया गया। दूसरी योजना में घाटे का बजट ९४८ करोड़ रुपये था।

ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक सुलभ है। किन्तु न तो यह सम्भव ही है और न वांछनीय ही, कि भारत अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य सारे देशों से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

३. भारत में संरक्षण के पक्ष में प्रबल भावना—ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई स्वतन्त्र व्यापार की नीति मुख्यतया इस सन्देह के कारण अलोकप्रिय रही कि मुक्त-द्वार की यह नीति भारत की अपेक्षा ब्रिटेन के हितों की अधिक पोषक थी। यूनाइटेड स्टेट्स, जर्मनी और यहाँ तक कि जापान जैसे अन्य देशों की समृद्धि भी संरक्षण के ही बल पर हुई थी। लोगों को इस तर्क पर विश्वास ही नहीं होता था कि उनके विकास के कारण बिलकुल दूसरे ही थे तथा संरक्षण उनके औद्योगिक विकास में सहायक होने के बजाय गतिरोधक सिद्ध हुआ था। यह भी कहा जाता था कि ब्रिटेन ने स्वयं भी संरक्षण की नीति का तभी परित्याग किया, जब उसकी औद्योगिक श्रेष्ठता का सिक्का निश्चित रूप से जम चुका था। यह बात भी सत्य थी कि ब्रिटेन में स्वतन्त्र व्यापार-काल का प्रारम्भ कृषि से संरक्षण हटाकर उद्योगों को संरक्षण देने के ध्येय से हुआ था। अन्त में, १९१५ से स्वयं ही संरक्षण की नीति का अनुसरण करने के कारण ग्रेट ब्रिटेन किस मुँह से भारत को स्वतन्त्र व्यापार की शिक्षा दे सकता था?

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद सार्वजनिक व्यय में हुई अत्यधिक वृद्धि ने सरकार को आयात-कर बढ़ाने के लिए बाध्य कर दिया। यह एक ऐसी पद्धति थी जो बहुत-से उद्योगों के लिए स्वतः संरक्षक सिद्ध हुई। अव्यवस्थित और अनियमित होने के कारण ऐसे संरक्षणों के कुछ परिणामों का अहितकर होना अवश्यम्भावी था। किसी स्थायी नीति के आश्वासन के बिना ही इन्होंने उद्योगों को प्रश्रय दिया, अतएव यह आवश्यक नहीं था कि संरक्षण उन्हीं उद्योगों को मिलेगा जो इस योग्य थे। आय बढ़ाने के उद्देश्य से लगाये गए ऊँचे निराकाम्य कर (कस्टम ड्यूटीज़), जो संयोग से संरक्षणात्मक भी थे, औद्योगिक विकास में सहायक सिद्ध होने के बजाय अधिक बाधक थे।

४. विवेचनात्मक संरक्षण—अर्थ-आयोग द्वारा निर्धारित निम्नलिखित सामान्य नियमों को पथ-प्रदर्शन के लिए अपनाया गया है—(१) उद्योगों को प्राकृतिक सुविधाओं से सम्पन्न होना चाहिए; उदाहरणार्थ कच्चे माल की पूर्ति की अधिकता, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और देश में विस्तृत बाज़ार की उपलब्धि। (२) संरक्षण उन उद्योगों को ही देना चाहिए जो या तो उसके बिना बिलकुल पनप ही न सकते हों या इसके अभाव में जिनका विकास उस गति से न हो सकता हो, जो राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक है। (३) संरक्षण दिया जाने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिए जो आगे चलकर बिना संरक्षण के ही विश्व-प्रतिस्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

अन्य गौण सुझावों के अनुसार वे उद्योग जिनमें वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियम लागू हो तथा वे उद्योग जिनसे निकट भविष्य में ही सारे देश की आवश्यकता-पूर्ति का आश्वासन मिलता हो, संरक्षण-योग्य हैं। ऐसे उद्योगों को संरक्षण कभी नहीं मिलना

मूल्यानुसार लगाये हुए तथा विशिष्ट करों के प्रभावों और प्रशुल्क-करों का मूल्यांकन करना तथा अन्य देशों को प्रशुल्क-कर में दी गई छूट के प्रभावों का अध्ययन करना; मूल्य को ऊँचा उठाने वाली, गिरने से रोकने वाली या प्रभावित करने वाली और इस भाँति व्यापार को रोकने वाली संस्थाओं, एकाधिकार, ट्रस्ट एवं संयोजनों (कम्बिनेशन्स) के विषय में रिपोर्ट देना और उनकी गतिविधि को रोकने के लिए उपायों को सुझाना तथा संरक्षित उद्योगों पर निरन्तर दृष्टि रखना।

अर्थ-आयोग द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली में मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं : (१) आर्थिक पृष्ठभूमि में १९५२ से लेकर अब तक हुए परिवर्तन, (२) विवेचनात्मक संरक्षण की नीति और उसका प्रयोग, (३) गत प्रशुल्क-नीति के प्रभावों की समीक्षा, (४) संशोधित प्रशुल्क-नीति के सिद्धान्त, (५) व्यापार और उद्योग के लिए सम्भव गैर-आर्थिक उपाय, (६) व्यापार और नियोजन पर हवाना चार्टर के अनुसार निर्धारित अर्थ-व्यवस्था, (७) सहायता-प्राप्त और संरक्षित उद्योग के अधिकार और कर्त्तव्य तथा (८) अर्थनीति और अधिमान। इस अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने संरक्षण देने के लिए उद्योगों को तीन भागों में विभाजित किया—(१) सुरक्षा एवं सैनिक महत्त्व के उद्योग, (२) आधारोद्योग, तथा (३) अन्य उद्योग। पहले प्रकार के उद्योगों को संरक्षण अनिवार्य रूप से देने की सिफारिश की गई, भले ही इससे समाज को कितना भी कष्ट क्यों न हो। दूसरे प्रकार के उद्योगों के संरक्षण के रूप और मात्रा का पूर्णतया निश्चय अर्थ-आयोग के ऊपर था। इन उद्योगों को संरक्षण देने के लिए कोई सीमित शर्तें नहीं रखी गईं। तीसरे प्रकार के उद्योगों को संरक्षण देने के लिए दो शर्तें रखी गईं। प्रथम, उचित समय के भीतर ये उद्योग इतने विकसित हो सकें कि संरक्षण या किसी प्रकार की आर्थिक सहायता के बिना पनप सकें और द्वितीय, संरक्षण की सम्भाव्य लागत समाज के लिए अधिक न हो। अर्थ-आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क-आयोग (टैरिफ कमीशन) की नियुक्ति की सिफारिश की। प्रशुल्क-आयोग-अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत २१ जनवरी, १९५२ को सरकार ने प्रशुल्क-आयोग की स्थापना की, जिसके तीन सदस्य होते हैं (इनमें से एक सभापति होता है)। प्रशुल्क-आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गए हैं, परन्तु इधर हाल में सरकार ने प्रशुल्क-आयोग की सिफारिशों में परिवर्तन करके उसके कार्य में हस्तक्षेप भी किया है जो अवांछनीय है। सरकार ने मई १९६६ में डॉ० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई है जो कि प्रशुल्क-आयोग के कार्य की जाँच-पड़ताल करेगी तथा सुझाव देगी।

६. संरक्षण से सम्भावित हानियाँ—जब एक उद्योग को संरक्षण प्राप्त हो जाता है, तो वह स्वभावत: उसका लाभ यथासम्भव समय तक उठाना चाहता है और वह जिन उपायों का बहुधा सहारा लेता है, उनमें से एक उपाय समृद्धि को छिपाना और प्रारम्भिक काल की असमर्थता का प्रदर्शन करना है। दूसरा उपाय आयात-कर कम करने वाली संस्था पर राजनीतिक प्रभाव डालना है। संरक्षण की अवधि को पहले से ही निश्चित कर लेना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बीच में ही परिस्थितियों में

लेने या कम कर देने का सुझाव देना चाहिए।

७. संरक्षण के अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्त्व—संरक्षण के बावजूद भी आधुनिक आर्थिक जीवन के अन्य अनिवार्य अंगों, जैसे एक कुशल बैंकिंग व्यवस्था, आवागमन के समुन्नत साधन, रेलों और जहाजों की दर-सम्बन्धी सहानुभूतिपूर्ण नीति, विक्रय के लिए सुगठित संगठन, औद्योगिक और व्यापारिक सूचनाओं के लिए कुशल व्यवस्था, पूँजी-प्राप्ति के पर्याप्त साधनों आदि के अभाव में देश आर्थिक रूप से सदैव पिछड़ा रह सकता है।

८. शिक्षा—भारतवर्ष में जिस बात की सर्वोपरि आवश्यकता है वह है प्रत्येक वर्ग के लोगों के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन।[1] आत्मविश्वास की कमी और साहस का अभाव, जो आज भारतीय चरित्र के अंग बन चुके हैं, हमारी दोषपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम हैं। नीचे से लेकर ऊपर तक हमारी शिक्षा-पद्धति आवश्यकता से अधिक साहित्यिक और संस्थात्मक (एकेडेमिक) है। इसे और अधिक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है। बुद्धिमानी से आयोजित शिक्षा-पद्धति श्रम की प्रतिष्ठा के सिद्धान्तों पर ज़ोर देने पर विशेष ध्यान देगी। हाथ से होने वाले कार्य अथवा भिन्न-भिन्न भाँति की रचनात्मक मानवीय क्रियाएँ प्रत्येक स्कूल के शिक्षा-क्रम

---

१. अपने एक पुराने शिष्य द्वारा पूछे जाने पर भारत के लिए संरक्षण के प्रश्न पर डॉ० मार्शल ने लिखा—"सिद्धान्ततः भारत के शैशव-कालीन उद्योगों को संरक्षण देने के विषय में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निराक्राम्य कर एक बहुत महँगी विधि है... मेरे विचार से जब तक अन्य उपायों की परीक्षा न कर ली जाए इसको प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। कम-से-कम उस समय तक इसे प्रयोग में नहीं लाना चाहिए जब तक कि वे उद्योग हैं, जिन्हें माल पहुँचाने की लागत के लिए बहुत अधिक संरक्षण मिला है, (कुछ दशाओं में माल पहुँचाने की लागत का दूना संरक्षण मिला है) भारतीय साहस को प्रोत्साहित करने में सफल नहीं हो जाते। इस दृष्टिकोण से प्रमुख उद्योग चमड़ा, कागज़ और तिलहन के उद्योग हैं। यदि भारत के पास श्री टाटा के समान एक या दो कोटी व्यक्ति होते और जापानियों की भांति वास्तविकता से सम्बन्ध रखने वाले, राजनीति और न्यायालयों में भाषण देने से घोर घृणा करने वाले और विचारों से भरे मस्तिष्क के साथ अन्य 'वस्तुओं' का काम करने से घृणा न रखने वाले कुछ व्यक्ति भी होते, तो भारत शीघ्र एक महान् राष्ट्र बन जाता। ऐसा होने पर कोई उसे रोक न सकेगा, न कोई निराक्राम्य कर ही बाधक सिद्ध हो सकेगा तथा अपनी परम्पराओं को वह शीघ्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु जब तक उच्च शिक्षा-प्राप्त भारतीय सुसंस्कृत विलास में अपना समय नष्ट करते रहेंगे या भारतीय न्यायालयों में धनोपार्जन करते रहेंगे—जो दोनों ही समुद्र के किनारे की रेत की भांति ही देश के कल्याण के दृष्टिकोण से अनुपयोगी हैं—भारत के लिए कोई भी वस्तु लाभकर नहीं हो सकती। मैं २० वर्ष से कैम्ब्रिज में भारतीयों को ज़ोर देकर बतला रहा हूँ कि वे दूसरों से पूछें कि इनमें से कितने पश्चिम जाते समय अपने विकास के अतिरिक्त किसी अन्य विषय के बारे में सोचते हैं? क्या जापानी सदैव अपने से नहीं पूछा करते कि वे वापस लौटने पर किस भांति अपने को अपने राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बना सकेंगे? क्या उनको वास्तविक अध्ययन की लालसा नहीं रहती? क्या पश्चिम की शक्ति के मूल पर वे दृष्टिपात नहीं करते? क्या यही जापान के शीघ्र विकास का प्रमुख कारण नहीं है? क्या हम उसका अनुकरण नहीं कर सकते? क्या हमें जापानियों की भांति अपने देश के विषय में पहले और अपने विषय में बाद में सोचने का परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है?"

स्नातकों को प्राप्त नहीं हो सकतीं।

९. **भारत में औद्योगिक शिक्षा की स्थिति**—विक्टोरिया जयन्ती प्राविधिक शिक्षालय (विक्टोरिया जुबिली टैक्निकल इंस्टीट्यूट), जो बम्बई में मुख्यतया व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा १८७७ में प्रारम्भ किया गया था, ही स्थानीय मिल-उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में इस प्रकार की एकमात्र संस्था है। भारतीय शिक्षा-पद्धति के दोषों की जाँच-पड़ताल ने, जो लॉर्ड कर्ज़न ने प्रारम्भ की थी और १९०१ में शिमला में शिक्षा-विशेषज्ञों का एक सम्मेलन बुलाया था, प्राविधिक शिक्षा के प्रश्न को अत्यधिक महत्व प्रदान किया।

औद्योगिक आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं: (१) कारीगर तथा श्रमिक वर्ग के लिए औद्योगिक विधि की समुचित प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था का स्थानीय सरकार एवं अधिकारियों द्वारा प्रबन्ध। उसके अन्तर्गत ऐसे नियोक्ताओं को आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था हो, जो अपने श्रमिकों के लाभ के लिए शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करें। (२) उद्योग-विभाग के नियन्त्रण में कुटीर-उद्योगों के लिए उद्योग और कला के शिक्षालयों की व्यवस्था, और (३) संगठित उद्योगों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था। इनका विभाजन हस्तसाध्य उद्योग जैसे अभियान्त्रिक और अहस्तसाध्य उद्योग जैसे रासायनिक पदार्थों के निर्माण में हुआ। पहले प्रकार के उद्योगों में शिक्षा कारखानों में ही देने और सैद्धान्तिक शिक्षा की कक्षाएँ इनसे संयुक्त कर देने की व्यवस्था बनायी गई। कुछ दशाओं, जैसे वस्त्र-व्यापार के सम्बन्ध में, प्राविधिक स्कूलों के साथ उद्योगशालाएँ खोली गईं। दूसरे प्रकार के उद्योगों के सम्बन्ध में प्राविधिक स्कूल की शिक्षा कारखानों में प्राप्त व्यावहारिक अनुभव से पूर्ण होती थी। वर्तमान प्रान्तीय शिक्षालयों के अतिरिक्त आयोग ने दो राजकीय विद्यालयों (इम्पीरियल कॉलेजों) की स्थापना की सिफारिश की—एक उच्चतम अभियान्त्रिक शिक्षा के लिए और दूसरा धात्विक एवं खनिज-सम्बन्धी प्राविधिक शिक्षा के लिए।[1]

प्राविधिक शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण के प्रसार की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बम्बई सरकार ने फरवरी, १९२१ में औद्योगिक और प्राविधिक शिक्षा के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने दो रिपोर्टें तैयार कीं—एक यूरोपियन बहुमत की थी और दूसरी भारतीय अल्पमत की थी (अध्यक्ष एम० विश्वेश्वराया अल्पमत के समर्थक थे)। दोनों दलों के मतभेद के मुख्य विषय थे संस्थाओं का रूप, प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या एवं लागत का अनुमान और संगठन तथा योजना कार्यान्वित करने के लिए संगठन एवं एजेंसियाँ।

बहुमत वर्ग की सूचनाओं के आधार पर भी रंच-मात्र कार्यवाही नहीं की गई, यद्यपि उद्योग-विभाग द्वारा संचालित बुनाई के शिक्षण-केन्द्र अब भी करघा-उद्योग को मदद दे रहे हैं। इस भाँति सामान्य प्राविधिक एवं वाणिज्यिक शिक्षा की दशाएँ

---

१. भू-गर्भशास्त्रियों और खानों के अभियन्ताओं के लिए १९२६ के अन्त में धनबाद में इण्डियन स्कूल ऑफ माइन्स खोला गया।

प्रशिक्षण-योजना (टेक्निकल ट्रेनिंग स्कीम) चालू की।[1]

गृह-उद्योग और युद्ध की फैक्ट्रियों के लिए औज़ार बनाने वाले तथा यन्त्रों के हिस्से तैयार करने वाले कुशल कारीगरों की प्राप्ति के लिए एक नयी योजना तैयार की गई। इसके अन्तर्गत सावधानी से चुने हुए प्रशिक्षित व्यक्ति और कारीगर गृह-उद्योगों में लगी हुई फर्मों में लगाये गए, ताकि वे उच्चतम प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें और बाद में युद्ध की फैक्ट्रियों या गृह-उद्योगों में लगाये जा सकें।[2]

युद्ध के लिए इंगलैण्ड में प्रशिक्षित श्रमिकों की कमी को दूर करने तथा युद्ध-उद्योगों के लिए आवश्यक मज़दूरों के प्रशिक्षण के लिए आरम्भ की गई राजकीय प्रशिक्षण-योजना (गवर्नमेण्ट ट्रेनिंग स्कीम) से यह योजना सम्बद्ध थी। इस योजना में निहित दूसरा मन्तव्य यह था कि भारतीय मज़दूरों को ब्रिटिश मज़दूरों के निकट सम्पर्क में लाया जाए और इंगलैण्ड की भाँति भारत में भी सुदृढ़ तथा सुसंगठित श्रम-आन्दोलन के विकास में सहायता दी जाए। यह भी आशा की जाती थी कि भारतीय श्रमिक प्रशिक्षण के बाद एक विस्तृत सांस्कृतिक, शैक्षिक तथा समाजिक दृष्टिकोण के साथ वापस आयेगा। इस प्रशिक्षण के लिए सदस्यों का चुनाव कारखानों के मज़दूरों में से हुआ और वे राजकीय व्यय पर प्रशिक्षण के लिए इंगलैण्ड भेजे गये। इंगलैण्ड में तीन महीने राजकीय प्रशिक्षण-केन्द्र में बिताने के बाद उन्हें ब्रिटेन के भिन्न-भिन्न युद्ध-उद्योगों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से और अभियान्त्रिकी की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त कराने के लिए विभिन्न उद्योगों के कारखानों में भेजा गया। उनको ऐसे कारखानों में रखा गया, जो भारत लौटने पर उनके लिए सबसे अधिक लाभप्रद सिद्ध होते। प्रशिक्षण की कुल अवधि आठ महीने थी। भारत लौटने पर सभी प्रशिक्षितों की परीक्षा ली गई। इसके बाद उन्हें यथायोग्य काम दिये गए।

१२. भण्डार क्रय-नीति—लगभग ५० वर्ष पहले सरकार ने राजकीय उपयोग के लिए विदेशों में उत्पन्न या निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा भारत में उत्पन्न या निर्मित भण्डारों को खरीदने की नीति की घोषणा की थी। भण्डार खरीदने के विषय में नियम भी बनाये गए, जिनमें समय-समय पर संशोधन किये जाते थे। इन नियमों के अन्तर्गत कोटि या गुण का ध्यान रखते हुए पूर्ण या आंशिक रूप से भारत में तैयार हुए माल को प्राथमिकता देना निश्चय किया गया। ऐसी दशाओं में जब विदेशी वस्तुओं की तुलना में भारत में बनी वस्तुएँ उतनी ही अच्छी और उस ही मूल्य की हों, तो यह स्पष्ट ही है कि भारतीय वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाएगी।

---

१. १९३७-३८ के बाद बम्बई सरकार ने एक योजना बनायी, जिसके अनुसार प्राविधिक शिक्षा देने के उद्देश्य से विद्यार्थियों को भरती करके सरकार मिलों, कारखानों, प्रेस, रसायन या अन्य उद्योगों में बम्बई या अहमदाबाद भेजती थी। ये नये प्रशिक्षित नवयुवक युद्ध के विभिन्न विभागों में निरीक्षक और उप-निरीक्षक के पद पर रख लिए गए।

२. 'इण्डियन लेबर गज़ट', अगस्त १९४३, पृ० २९।

करता है। कलकत्ता और बम्बई में स्थानीय क्रय-शाखाएँ स्थापित की गई हैं और मद्रास, कानपुर और दिल्ली में निरीक्षण एजेन्सियाँ स्थापित की गई हैं। विदेशी फर्मों से प्रतियोगिता करने वाली भारतीय फर्मों को सुविधा और प्रोत्साहन देने के लिए विभाग ने भारत में दिये जाने वाले टेण्डरों को रुपयों में माँगने की नीति का अधिकाधिक अनुसरण प्रारम्भ किया।

१३. औद्योगिक अनुसन्धान—१९३५ में अलीपुर में औद्योगिक अनुसन्धान कार्यालय (इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो) की स्थापना एक अनुसन्धान-शाखा के साथ हुई। एक संलग्न परामर्श-दात्री संस्था—औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (इण्डस्ट्रियल रिसर्च-कौंसिल) की सहायता से कार्य करने वाला यह कार्यालय भारतीय भण्डार-विभाग से संलग्न है। औद्योगिक सूचनाओं को एकत्र तथा प्रसारित करना, औद्योगिक अनुसन्धान में उद्योगों से सहयोग करना, औद्योगिक प्रमापन के विषय में परामर्श देने वाली उपयुक्त पत्रिकाओं का सम्पादन और औद्योगिक प्रदर्शन के संगठन में सहयोग देना इसके कार्य हैं। ऐसी केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता और औद्योगिक अनुसन्धान के मूल्य के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। हाल ही में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल) नामक एक नवीन संस्था स्थापित की गई है। विभिन्न प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधि इस परिषद् से सम्बद्ध हैं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में तकनीकी तथा अनुसन्धान पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, जिससे प्राविधिक व्यक्तियों की संख्या बढ़े, अनुसन्धान बढ़े तथा छीजन कम हो और औद्योगिक प्रगति हो। तीसरी योजना में शिक्षा के ५६० करोड़ रुपये में से १४२ करोड़ रुपये तकनीकी शिक्षा, इंजीनियरिंग की उन्नति के लिए रखे गए। इस प्रकार इस योजना में २५ प्रतिशत शिक्षा विभाग का खर्चा तकनीकी शिक्षा के लिए निर्धारित हुआ जबकि पहली और द्वितीय योजनाओं में १३ तथा १९ प्रतिशत था। चौथी पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए १४७५ करोड़ रुपया रखा गया है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में इन्जीनियरिंग तथा तकनीकी संस्थाओं में प्रवेश की संख्या १३,८२० और २५,८०० (१९६०-६१) से बढ़कर १९,१३७ तथा ३७,३९१ (१९६५-६६) के अन्त तक हो गई है। यह आशा की जाती है कि १९७०-७१ में ३८,९०० तथा ८८,६०० हो जाएगी।

इस प्रकार वैज्ञानिक अनुसन्धान ने भी स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत उन्नति की है। पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में इन कार्यों पर ८० करोड़ रुपया खर्च हुआ। तीसरी पंचवर्षीय योजना में १३० करोड़ रुपया निर्धारित हुआ तथा ७५ करोड़ रुपया दूसरी पंचवर्षीय योजना के कार्य पर, जो अभी चल रहे थे, खर्चना था। इस प्रकार सरकार के यत्नों के कारण देश में ६२ विश्वविद्यालयों के अनुसन्धानों के अतिरिक्त २८ नेशनल लैबोरेटरीज, ८८ अनुसन्धान विभाग तथा केन्द्र और ५४ एसोसिएशन संस्थाएँ तकनिकी कार्य कर रही हैं। पहली अप्रैल १९५७ से औद्योगिक उन्नति के लिए डैसीमल सिक्कों को चलाया गया और पहली अक्तूबर १९५८ में मीट्रिक नाप-तोल यन्त्र बनाए गये जो १९६६ में सारे राष्ट्र में लागू हो जाएँगे।

उद्योगों को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण देने के लिए २५ लाख की पूँजी तथा अधिक-से-अधिक २० वर्ष के लिए हिस्सों पर ४% करमुक्त लाभांश पर सरकारी गारण्टी सहित 'दि यूनाइटेड प्राविंसेज़ इण्डस्ट्रियल क्रेडिट बैंक लिमिटेड, की स्थापना के लिए सिफारिश की। इस समिति ने 'दि यूनाइटेड प्राविंसेज फ़ाइनेंसिंग एण्ड मार्केटिंग कम्पनी लिमिटेड' नामक एक विपणन (मार्केटिंग) संगठन प्रारम्भ करने की सिफारिश की, जिसकी पूँजी ५ लाख रुपये होती तथा जो सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की भाँति चलाई जाती। समिति के मतानुसार इस पूँजी के हिस्सों के वितरण का उत्तरदायित्व औद्योगिक बैंक के ऊपर होगा।[1] जून, १९३६ में समिति की सिफारिशों के अनुसार निर्मित सरकारी योजना को उत्तर प्रदेश विधानमण्डल ने स्वीकार कर लिया।[2] दिसम्बर, १९३६ में बंगाल विधानमण्डल ने भी एक औद्योगिक साख-निगम संस्था की स्थापना स्वीकार की। इसका उद्देश्य कारागृह से मुक्त बन्दियों द्वारा लघु-प्रमाप उद्योगों की स्थापना के लिए ऋण देना था। बंगाल के किसी ऐसे नागरिक को भी ऋण दिया जा सकता था जो व्यावहारिक प्रस्ताव प्रस्तुत करता।[3]

१५. आयोजन और औद्योगीकरण—१९४४ में आठ प्रमुख भारतीय व्यापारियों ने भारत के औद्योगिक विकास की योजना का निरूपण करते हुए एक संक्षिप्त स्मृति-पत्र का पहला भाग प्रकाशित किया। सामान्यतः यह बम्बई योजना (बॉम्बे प्लान) के नाम के प्रसिद्ध है।[4]

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य पन्द्रह वर्ष की अवधि के भीतर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना कर देना था। जनसंख्या की वृद्धि ५० लाख प्रति वर्ष अनुमान करने पर पन्द्रह वर्ष में प्रति व्यक्ति आय को दूना करने का अर्थ है वर्तमान सम्पूर्ण आय को तिगुना कर देना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह प्रस्तावित किया गया कि कृषि की वास्तविक उत्पत्ति को दुगुने से कुछ अधिक और बड़े तथा छोटे उद्योगों के सम्मिलित उत्पादन को पाँच गुना कर दिया जाए।

उद्योगों को दो प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया—(१) आधारोद्योग; (२) उपभोग-पदार्थों के उद्योग।

महत्त्वपूर्ण आधारोद्योगों में निम्नलिखित को योजना के आरम्भिक वर्षों में प्रधानता दी जाएगी : शक्ति—विद्युत्; खानें और धातुएँ—लोहा और इस्पात, अल्यूमिनियम, मैंगनीज; अभियांत्रिकी—सभी भाँति के यन्त्र, यान्त्रिक औजार;

तथा प्रति व्यक्ति आय में १०·८ प्रतिशत वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति उपभोग में ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। विनियोग का प्रतिशत १९५०-५१ के ५% से बढ़कर ७% हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना १५ मई, १९५६ के पार्लियामेंट के सम्मुख रखी गई। इस योजना के चार प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य भारी तथा आधारोद्योगों के विकास पर ज़ोर देते हुए तीव्र औद्योगीकरण करना था। इस योजना के अन्तर्गत ४,८०० करोड़ रु० का व्यय निश्चित किया गया। बाद में विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के कारण योजना को दो भागों में बाँट दिया गया। योजना के प्रथम भाग—पार्ट ए—के ऊपर ४,५०० करोड़ रुपये का व्यय निर्धारित किया गया। इसके अन्तर्गत कृषि-उत्पादन की वृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित योजनाएँ, ऐसी योजनाएँ जिन पर काफी व्यय हो चुका है तथा आधारभूत योजनाएँ (Core projects) थीं। इन आधारभूत योजनाओं में इस्पात के कारखाने, कोयला और लिगनाइट-सम्बन्धी योजनाएँ, रेलों तथा प्रमुख बन्दरगाहों से सम्बन्धित योजनाएँ, शक्ति-योजनाएँ आदि हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के बारे में विचार-विनिमय प्रारम्भ हो गया है। योजना के प्रारूप में ७,५०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में तथा ४,१०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में व्यय करने की व्यवस्था प्रस्तावित की गई है।

चौथी पंचवर्षीय योजना में कुल २१,५००—२२५०० करोड़ रुपया व्यय करना निश्चित हुआ है, जिसमें से १४,५००—१५,५०० सरकारी क्षेत्र में खर्च होगा और शेष निजी क्षेत्र में होगा।

राष्ट्रीय आय १९५१-६१ में ४४% और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १८.५ प्रतिशत बढ़ी। तीसरी पंचवर्षीय योजना के पहले तीन सालों में ९.५ प्रतिशत तथा २.५ प्रतिशत बढ़ी। १९६३-६४ में ४.५ प्रतिशत, जो कि वार्षिक आय के निर्धारित लक्ष्य ५ प्रतिशत से कम रही।

तृतीय योजना के पुनः निरीक्षण करने पर यह पता चला है कि राष्ट्रीय आय १९६५-६६ में १९,००० करोड़ के स्थान पर १७,४०० करोड़ रुपया (१९६०-६१ के मूल्य अनुसार) रह गई।

चौथी पंचवर्षीय योजना में इसे २५,००० करोड़ तक बढ़ाने की आशा है।

हुई। यह वितरण प्राकृतिक कारणों से हुआ, जैसे कच्चा माल, पर्याप्त श्रम तथा बड़े-बड़े विपणन-केन्द्रों की सन्निकटता। रेलों के विकास के कारण ही यह सम्भव हो सका। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में चीन से सूती व्यापार की कमी ने बम्बई के अद्वितीय महत्त्व को बहुत आघात पहुँचाया। स्वदेशी आन्दोलन ने भी बुनाई-व्यवसाय को बम्बई के बाहर प्रोत्साहन दिया। ब्रिटिश भारत में कारखाना सम्बन्धी कानूनों (फैक्ट्री लेजिस्लेशन) के विकास ने उद्योग के देशी रियासतों में स्थापित होने की प्रवृत्ति को जन्म दिया, क्योंकि वहाँ कारखाना-कानूनों का प्रशासन बहुत ढीला था।

१९१४-१८ के युद्ध-काल में सूती वस्त्र-उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। युद्ध के पूर्वी रंगमंचों में सूती सामान की सैनिक आवश्यकताओं के कारण सरकार द्वारा मिलों को दिया गया प्रोत्साहन, जहाजों की कमी के कारण आयात की कमी तथा आयात किये हुए कपड़े के मूल्यों की बढ़ती से उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई, यद्यपि यन्त्रों के आयात की कठिनाई के कारण विकास उतनी अच्छी तरह नहीं हो सका जितना कि इस कठिनाई के न होने पर होता।

[३. **सन् १९४७ के बाद सूती-मिल उद्योग**—सन् १९४७ में अविभाजित भारत में ४२१ मिलें थीं। विभाजन के बाद भारत में ४०८ मिलें ही रह गईं। १९४९-५० में मिलों की संख्या बढ़कर ४२५ हो गई।

१९५१ और १९५६ के आँकड़े देखने से प्रतीत होता है कि मिल, तकली और करघा सभी की संख्या तथा सूत और कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हुई है। सूती वस्त्र के प्रति व्यक्ति उपभोग के आँकड़े भी यही प्रदर्शित करते हैं। १९५०-५१ में सूती वस्त्र का प्रति व्यक्ति उपभोग ९ गज था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सूती वस्त्र के प्रति व्यक्ति उपभोग का लक्ष्य १५ गज था। यह लक्ष्य १९५४ ही में प्राप्त कर लिया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक उपभोग की मात्रा बढ़कर १८.५ गज प्रति व्यक्ति हो जाएगी, ऐसा लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

नवम्बर १९५२ में कानूनगो समिति (Textile Enquiry Committee) मिलों, शक्तिचालित तथा हस्तचालित करघों के विभिन्न पहलुओं पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की गई। १९५४ में इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघों द्वारा सूती वस्त्रों की माँग की सम्भावित वृद्धि को पूरा करने की सिफारिश की। अतएव समिति ने बुनने वाली मिलों के प्रसार का समर्थन नहीं किया। सादे करघों के स्थान पर स्वचालित करघों की स्थापना का भी सुझाव दिया है ताकि २० वर्ष में सादे करघों के बजाय केवल स्वचालित करघे ही प्रयोग में रहें। १२ लाख हाथ के करघों को शक्तिचालित करघों में बदलने के लिए समिति का सुझाव था कि प्रथम छः वर्ष में ३,००,००० हाथ के करघों को २,१३,००० अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघों में बदल दिया जाए तथा शेष करघों को दो या तीन पंचवर्षीय कालों में बदल दिया जाए। इस प्रकार २० वर्ष की अवधि में हाथ के करघों का सम्पूर्ण उद्योग अच्छे प्रकार के हाथ के करघों तथा शक्ति-चालित करघा-उद्योग में बदल जाएगा। समिति के मतानुसार १९६० तक उत्पादन

में यह कहा था कि १ अक्तूबर १९५८ को भी ४० मिलें बिलकुल बन्द थीं तथा २७ मिलें अंशतः बन्द थीं। मिल-बन्दी तथा पारियों (shift) की संख्या कम होने से हज़ारों मज़दूर बेकार बैठ गए तथा उत्पादन की मात्रा में भी बहुत कमी हो गई।

परिस्थिति के अधिक बिगड़ने के उपरान्त सरकार ने दिसम्बर १९५७ में मध्यम श्रेणी के कपड़ों पर लगे उत्पाद-कर को कम करने की घोषणा की। मार्च और जुलाई १९५८ में सभी प्रकार के कपड़े के सम्बन्ध में दो रियायतें और दी गई। अनुमान है कि इससे उद्योग को प्रतिवर्ष २० करोड़ रुपये की सहायता मिलेगी।

अब हम सूती मिल-उद्योग की कुछ कठिनाइयों पर विचार करेंगे।]

मिलों की ओर से देश के बाज़ारों की उपेक्षा तथा उपभोग-केन्द्रों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की असफलता के अलावा बम्बई की असमर्थता के और भी कई गम्भीर कारण थे; उदाहरणार्थ अपेक्षाकृत श्रम, ईंधन, जल-शक्ति की महँगाई तथा उच्च स्थानीय कर (१९३९ से लगे हुए १० प्रतिशत के सम्पत्ति-कर को मिलाकर जो मद्य-निषेध की लागत को वसूलने के लिए लगाया गया था), मुफसिल बाज़ारों तथा कच्चे पदार्थों के स्रोतों से दूरी आदि। उद्योग के इस संकट ने संरक्षण के प्रश्न को सामने ला दिया।

४. वस्त्र-उद्योग को संरक्षण—यह स्पष्ट हो जाने पर कि उद्योग विशेषकर बम्बई में सन्तोषजनक स्थिति में नहीं था, पहला सर्वेक्षण १९२६ में किया गया। प्रशुल्क-मण्डल ने १९२७ में रिपोर्ट प्रस्तुत की।

संरक्षण के सम्बन्ध में मण्डल की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—आयात-कर ११ प्रतिशत के बजाय १५ प्रतिशत कर दिया जाए, उच्चकोटि (महीन) के सूत की कताई को आर्थिक सहायता दी जाए और वस्त्र-उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रों तथा मिलों के सामान को आयात-कर से मुक्त कर दिया जाए। भारत सरकार ने केवल अन्तिम सिफारिश स्वीकार की। इस निर्णय का मिल-मालिकों ने बहुत विरोध किया और फलस्वरूप कपास के सूत पर मूल्यानुसार ५ प्रतिशत या डेढ़ आना प्रति पौंड (जो भी अधिक हो) के संरक्षणात्मक कर लगा दिये गए। ये कर ३१ मार्च, १९३० तक के लिए भारतीय प्रशुल्क अधिनियम (इण्डियन टेरिफ़ एक्ट, १९२७) के अनुसार लगाये गए। यन्त्रों और मिलों के सामानों पर लगे कर भी हटा दिये गए।

मण्डल की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने एक वाणिज्य शिष्टमण्डल (कर्मशियल मिशन) की भी नियुक्ति की। किन्तु ये सभी उपाय न तो मिल-उद्योग को ही सन्तुष्ट कर सके और न जनमत को ही। उद्योग में अवसाद बना रहा और सामान्य धारणा यह थी कि और अधिक सहायता अपेक्षित थी। अतएव कलकत्ता के कलेक्टर ऑव कस्टम्स, श्री जी० एस० हार्डी को जुलाई १९२९ में बाह्य प्रतिस्पर्धा की उग्रता और विस्तार की जाँच के लिए नियुक्त किया। श्री हार्डी की रिपोर्ट[1] के आधार पर अप्रैल १९३० में सूती-वस्त्र-उद्योग-संरक्षण-अधिनियम पास हुआ और

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑन एक्सटर्नल काम्पटीशन इन पीस गुड्स—जी० एस० हार्डी, पैरा ११।

की अनुमति दी जाएगी। इसी माह में सरकार ने यह घोषणा भी की कि अमेरिका और यूरोप (इंगलिस्तान को छोड़कर) को कपड़ा और सूत का निर्यात करने वाली मिलों को कोलतार, रंजक पदार्थ, रासायनिक पदार्थ और गोंद का आयात करने की अनुमति दी जाएगी। यह आयात उनके निर्यात के (F. O. B.) मूल्य के ५ प्रतिशत के बराबर ही हो सकेगा। यह इंगलिस्तान व अन्य देशों के निर्यात पर केवल ३ प्रतिशत के बराबर ही होगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ७५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष (१०,००० लाख गज़ कपड़ा) के निर्यात का लक्ष्य रखा गया। नवम्बर १९६५ में ही ६८७ लाख रुपये के मूल्य के कपड़े का निर्यात हुआ।

सूती मिल-उद्योग ऐसी स्पर्धा-शक्ति उसी समय प्राप्त कर सकेगा जबकि उद्योग का युक्तिकरण हो। इस उद्योग की यह दूसरी कठिनाई है कि मशीनों तथा अन्य साज-सामान पुराने और घिसे हुए हैं। सन् १९५२ में सूती वस्त्र-उद्योग की वर्किंग पार्टी ने उद्योग की मशीनों का सर्वेक्षण किया। उद्योग के लगभग ५० प्रतिशत करघे १९१० के पहले के थे। २० प्रतिशत 'स्पिनिंग फ्रेम' भी १९१० से पहले के थे।

अनेक विशेषज्ञ निकायों ने, जिनमें टेक्स्टाइल इन्क्वायरी कमेटी १९५८ अद्यतन है, इस मत का समर्थन किया है। सरकार ने इस समिति के विचारों का समर्थन करते हुए यह भी स्वीकार किया है कि 'हमारे निर्यात तेजी से गिरते जाएँगे जब तक कि हम स्वचालित करघों पर कपड़े का निर्यात नहीं करते।'[1] सन् १९५७ में भारत में १४,१२८ स्वचालित करघे थे जबकि इसी वर्ष स्वचालित करघों की संख्या इटली में ७९,५९७, जर्मनी में ५८,१६७, जापान में ६७,५३९, यू० एस० ए० में ३५०,१०९ तथा यू० के० में ४४,८९३ थी। इन आँकड़ों से नवीकरण की समस्या का तुलनात्मक रूप पता चलता है। टेक्स्टाइल इन्क्वायरी कमेटी ने ३००० स्वचालित करघों की स्थापना का सुझाव दिया था जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया है। साथ ही वर्तमान करघों के स्थान पर प्रतिवर्ष २५०० स्वचालित करघों की दर से ७५०० स्वचालित करघों की स्थापना को स्वीकार करके सरकार ने व्यावहारिकता प्रदर्शित की है। नवीकरण के लिए उद्योग को लगभग ४०० करोड़ रुपए की आवश्यकता है। इतनी बड़ी राशि के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम तथा ऐसी अन्य संस्थाओं को उद्योग की पर्याप्त सहायता करनी चाहिए।

कपास इस उद्योग का प्रमुख आधार है। १९४७ में भारत के विभाजन के बाद भारत में कपास के उत्पादन की मात्रा काफी कम हो गई है। भारत में मध्यम और छोटी तूलिपट (staple) की कपास ही अधिकतर उगाई जाती है। अविभाजित भारत में १०९ लाख एकड़ भूमि में सुवरे प्रकार की कपास उगाई जाती थी। इसमें से ४७ प्रतिशत अर्थात् ५१ लाख एकड़ भूमि भारत के हिस्से में आई। इस प्रकार

---

१. The Indian Cotton Mill Industry, p. 30—R.A. Poddar.

सीमित था, के लिए घातक थी।

८. भारत-ब्रिटेन व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत प्रशुल्क-परिवर्तन (१९३९)—ओटावा-समझौते के स्थान पर भारत और ब्रिटेन के बीच एक नये व्यापारिक समझौते के प्रश्न पर लम्बी कार्रवाइयों के दौरान में ब्रिटिश वस्त्रों पर लगाये गए प्रवेश्य करों में संशोधन का प्रश्न पुनः प्रमुख हो उठा।[1] २० मार्च, १९३९ को हस्ताक्षरित इस नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत भारत से ब्रिटेन को कच्ची कपास के निर्यात को ब्रिटिश वस्त्रों के आयात से सम्बद्ध कर दिया गया और इसके फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओं पर आयात-कर में पुनः कमी की गई। तदनुसार अप्रैल, १९३९ में पास हुए भारतीय प्रशुल्क (तृतीय संशोधन) अधिनियम के अनुसार ब्रिटेन के छपे कपड़ों पर मूल्यानुसार संरक्षात्मक आयात-कर १७½% हो गया, भूरे वस्त्रों पर मूल्यानुसार १५% या २ आना ७½ पाई प्रति पौण्ड, जो भी ऊँचा हो, और शेष वस्त्रों पर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत हो गया। ये आधारभूत कर थे। ब्रिटेन को ३,५०० लाख गज के निम्नतम कोटा के आयात की स्वीकृति दी गई और यदि किसी भी वर्ष सूती वस्त्रों का आयात ब्रिटेन से ३,५०० लाख गज से कम हुआ तो आधारभूत करों में २½ प्रतिशत छूट देने की व्यवस्था थी। यदि किसी वर्ष ब्रिटिश आयात भारत में ५,००० लाख गज से अधिक हुआ तो आधारभूत करों में वृद्धि की भी व्यवस्था थी। यदि किसी भी वर्ष इंगलिस्तान का कुल आयात ४,२५० लाख गज न होता तो उस वर्ष के बाद ये बढ़े हुए कर पुनः घटाकर आधारभूत करों के बराबर कर दिए जाते। ब्रिटेन के वस्त्रों पर कर की दर-निर्धारण के समय भारत की कपास के निर्यात पर भी ध्यान देना आवश्यक था।

भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग और विधान सभा ने करों के इस नये प्रबन्ध का बहुत विरोध किया, क्योंकि भारतीय कपास पैदा करने वालों के सापेक्षिक लाभ पर ध्यान न देकर इस अधिनियम में लंकाशायर का अनुचित पक्षपात किया गया था और ऐसे समय में जबकि भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग तनिक भी अच्छी अवस्था में नहीं था, संरक्षण की दरों में कमी करके इस अधिनियम ने उसके हितों की बलि दे दी।

उपरोक्त भारतीय प्रशुल्क (तृतीय संशोधन) अधिनियम (१९३९) ने सूती वस्त्र के लिए निश्चित संरक्षणात्मक करों की अवधि बढ़ाकर ३१ मार्च, १९४२ तक कर दी।[2]

९. १९३९-४५ के युद्ध-काल और बाद में सूती वस्त्र-उद्योग—महायुद्ध के प्रारम्भ के समय सूती वस्त्र-उद्योग एक निष्क्रिय अवस्था में था।

---

१. देखिए, अध्याय १३।

२. ग्रेट ब्रिटेन के साथ हुए व्यापारिक समझौते के अनुसार ब्रिटिश कपड़ों पर आयात-कर में १७ अप्रैल, १९४० से कमी कर दी गई। भारतीय प्रशुल्क (संशोधन) अधिनियम, १९४७ के अनुसार तत्कालीन संरक्षणात्मक करों को आगम करों में परिणत कर दिया गया। १ जनवरी, १९४९ को मूल्यानुसार २५ प्रतिशत महीन वस्त्रों पर और ३ पाई प्रति गज मध्यम और मोटे कपड़ों पर एक उत्पादन-कर लगा दिया गया।

पहुँची। इस सबके बावजूद भी इसने बम्बई के सूती मिल उद्योग की अपेक्षा युद्धोत्तर (१६२६) अवसाद की कठिनाइयों का सामना कहीं अच्छी तरह किया। यह पर्याप्त सुरक्षित कोष तथा समयानुसार कार्यावधि में कमी आदि उपायों का परिणाम था। मार्च, १६३६ मे समाप्त होने वाले दस वर्ष में उत्पत्ति को कम करने की नीति का सदैव पालन किया गया था। जो मिले संस्था की सदस्य थीं वे प्रति सप्ताह ४० घण्टे काम कर रही थी और उनके करघों का एक निश्चित प्रतिशत बन्द रहता था। यह प्रतिशत १६३१ मे १५ और १६३५ में १० था। बन्द करघों की प्रतिशत मे कमी आने के कई कारण थे, यथा सीमीकरण-योजना के बाहर वाली मिलो की प्रतिस्पर्धा, व्यापारिक परिस्थितियों मे सुधार तथा अन्य उत्पादन-केन्द्रों से प्रतिस्पर्धा। संस्था के बाहर की मिलो से समझौता न हो सका, अतः संस्था की सदस्य-मिलों को भी काम के घण्टों या यन्त्रों पर किसी प्रकार की रोक के बिना कार्य करने को स्वतन्त्र कर दिया गया।

सरकारी ऑर्डिनेन्स के स्थायी विधान में परिवर्तित हो जाने के डर से जनवरी, १६३६ में संस्था और बाहरी मिलो मे कम घण्टे काम करने के लिए एक समझौता हो जाने से कानून द्वारा काम करने के घण्टे सीमित करने की आवश्यकता नही रही। जुलाई मे एक पूरक समझौते के द्वारा मिलों ने २० प्रतिशत जूट के कपड़े और ७½ प्रतिशत बोरे बनाने के करघों को बन्द रखकर ४५ घण्टे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया। कच्चे जूट के मूल्य मे कमी और बंगाल के जूट-उत्पादकों पर इसके बुरे प्रभाव के कारण अगस्त, १६३६ में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम मूल्य निश्चित करने के लिए प्रान्तीय सरकार को दो ऑर्डिनेंस जारी करने पड़े।

१२. जूट मिल उद्योग पर द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव—जहाजों द्वारा बाहर भेजी जाने वाली जूट-निर्मित वस्तुओं ने पूरे दशक के लिए एक रिकार्ड स्थापित कर दिया और १२,८०,४०० टन के वार्षिक उत्पादन में से १०,६८,७२५ टन का निर्यात हुआ। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई जो मुख्यतया परिकल्पना का परिणाम थी। काम करने के घण्टों पर लगी रोक हटा ली गई और ६० घण्टे प्रति सप्ताह के अनुसार मिले पूर्ण उत्पादन करने लगीं तथा फैक्टरी-अधिनियम की कुछ धाराओं को भारत सरकार ने एक ऑर्डिनेंस द्वारा स्थगित कर दिया। बंगाल सरकार ने भी जूट के कृषि-क्षेत्र को सीमित करने से सम्बन्धित एक बिल पर विचार करना स्थगित कर दिया।[1]

जूट मिल संस्था ने अगस्त, १६४० मे काम करने के घण्टों को कम करके ४५ घण्टे प्रति सप्ताह और मास में केवल ३ सप्ताह काम करना निश्चित किया। बालू भरने के बोरों के लिए नये आर्डरों के साथ काम करने के प्रति सप्ताह घण्टे

१. बाद में बंगाल विधान सभा ने अगस्त, १६४० में बंगाल जूट रेगुलेशन बिल जूट-उत्पादकों के हित में पास किया जो १६४१ मे उत्पन्न होने वाली फसल पर लागू हुआ। उससे पहले मई, १६४० में सट्टा बाजारों में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम और अधिकतम मूल्य निश्चित करने के लिए बंगाल सरकार ने दो ऑर्डिनेंस जारी किये।

के उत्पादन के हाल के आँकड़े निम्न हैं :

जूट-निर्मित वस्तुओं का उत्पादन[1]

वर्ष	उत्पादन (लाख टन)
१६५५	१०.२७
१६५६	१०·६३
१६५७	१०·३०
१६५८	१०·६२
१६५६	१०·५२
१६६५-६६	१३·००

जूट-निर्मित वस्तुओं की माँग संसार-भर की कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है, क्योंकि आन्तरिक या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों ही में कृषि की उत्पाद्य वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए जूट-निर्मित वस्तुओं की आवश्यकता होती है। भारत में कृषि के अच्छे साल में जूट-निर्मित वस्तुओं के निर्यात में कमी आ जाती है, क्योंकि फसलों की वृहद् राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने के लिए जूट-निर्मित सामानों की आवश्यकता पड़ती है। इसी भाँति बाहरी माँग में कमी भी; उदाहरणार्थ आर्थिक अवसाद के समय की कमी जूट-निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर बुरा प्रभाव डालती है।

१ मार्च १६५६ तक उद्योग के १२½% करघे बन्द थे। तदनन्तर बोरे के टाट का स्टॉक बहुत मात्रा में एकत्रित हो जाने के कारण २ मार्च, १६५६ से २१ मार्च, १६५६ तक १½% करघे और बन्द कर दिये गए। २२ जून के बाद इन १½% करघों को चालू कर दिया गया। बाद में २४ अगस्त तक के लिए २½% करघे चालू कर दिये गए। १६६३-६४ में जूट-उद्योग तथा व्यापार के लक्ष्यों को इस वर्ष में उत्पादन पार कर गया। उत्पादन १३·५४ लाख टन और निर्यात ६.१३ लाख टन हुआ, जिसका मूल्य १५७·४२ करोड़ रुपया था। जूट का निर्यात १६६४-६५में और बढ़कर १७६·१४ करोड़ पहुँच गया। परन्तु जूट की विशेष प्रकार से कच्चे माल की समस्याओं तथा कीमतों इत्यादि का हल ढूँढ़ने के लिए भारत सरकार ने सितम्बर १६६४ में जूट टैक्सटाइल्स परामर्श बोर्ड (Jute Textiles Consultative Board) बनाया है और मई १६६६ में जूट मिलों को उत्पादन से एक सप्ताह से अवकाश दिया गया।

१३. जूट-उद्योग की समस्याएँ—जूट-उद्योग की एक समस्या कच्चे माल की है। यह समस्या भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई है। विभाजन के परिणामस्वरूप जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र अधिकांशतः पाकिस्तान में चले गए।

१. वर्ष का अर्थ जुलाई से लेकर जून तक है। ये आँकड़े इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन की सदस्य-मिलों व एक गैर-सदस्य मिल के हैं।

—इण्डिया १६६०, पृ० ३१२।

पाकिस्तान से जूट का आयात बराबर हो रहा है, क्योंकि उच्चकोटि के उत्पादन में हम अभी आत्मनिर्भर नहीं हो सके हैं।

जूट-उद्योग की दूसरी समस्या निर्यात से सम्बन्धित है। यह उद्योग विदेशी विनिमय अर्जित करने का प्रधान साधन रहा है।

निर्यात की कठिनाइयाँ बढ़ने के अनेक कारण हैं। भारत का एकाधिपत्य समाप्तप्राय है। अब अनेक एशियाई (जापान, थाईलैंड, बर्मा) और यूरोपीय देशों (फ्रांस, हालैंड, बेल्जियम) में जूट-मिलों की स्थापना हो रही है। भारत के पड़ोस में पाकिस्तान ही इस दिशा में आगे बढ़ रहा है। कच्चे जूट की प्रचुरता तथा श्रेष्ठता और नई मशीनों से सुसज्जित मिलों के कारण पाकिस्तान का जूट-उद्योग एक समर्थ प्रतिद्वन्द्वी का रूप धारण करता जा रहा है। विदेशों में जूट के स्थानापन्न ढूँढ़ निकाले गए हैं। मुख्यत: परिवेष्टन के लिए कागज का प्रयोग होने लगा है। इससे जूट की माँग में कमी और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रतिस्पर्धा की वृद्धि हो गई है। इधर वस्तुओं को अलग-अलग परिवेष्टित करने के बजाय सामूहिक परिवेष्टन (bulk handling) का प्रचलन होने के कारण जूट के बोरों की माँग प्रभावित हो रही है। निर्यात की समस्या का सन्तोषप्रद हल तभी हो सकता है जब कि जूट-उद्योग अपनी वस्तुओं को प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर बेचे। इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार कर-भार से उद्योग को मुक्ति प्रदान करे। जूट-जाँच आयोग ने भी ऐसी ही सिफारिश की थी। सरकार ने इस दिशा में कदम अवश्य उठाए हैं, किन्तु देर से उठाने के कारण उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धा-शक्ति की हीनता के रूप में हानि उठानी पड़ी। जनवरी से सितम्बर, १९५९ तक ६,७५,३६६ टन जूट के सामान का निर्यात हुआ जिसे ८४.६७ करोड़ रुपये के मूल्य का विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। इस अवधि में १९५८ में ६,१४,३३७ टन जूट के समान का निर्यात हुआ जिससे ८० करोड़ रु० के बराबर विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। बोरों के निर्यात में बहुत कमी आ गई, क्योंकि पाकिस्तान, बर्मा, थाईलैंड, फिलीपाइन, वियतनाम और मिस्र आदि देशों में जूट-मिलों की स्थापना से प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ गई। हमारा लक्ष्य १९५५-५६ के ६,७५,००० टन के निर्यात को बढ़ाकर १९६०-६१ तक ९,००,००० टन करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमें ठोस कदम उठाने चाहिए। एक ओर हमें उत्पादित वस्तु की श्रेष्ठता पर जोर देना चाहिए (जो अंशत: कच्चे माल की श्रेष्ठता पर निर्भर है) तथा दूसरी ओर हमें उत्पादन में विविधता लानी चाहिए। इसके साथ ही हमें विदेशी बाजारों में बिक्री बढ़ाने के उपाय करने चाहिए तथा मूल्यों के सम्बन्ध में भी एक स्थिर नीति बरतनी चाहिए। भारत सरकार ने भारतीय जूट मिल संघ (इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन) को जूट के सामान का प्रचार और प्रसार करने के लिए १९५९-६० में १·२५ लाख रु० का अनुदान दिया है। इस संस्था ने यू० एस० ए०, कनाडा और यू० के०—इन देशों में एक शिष्टमण्डल भेजा है जो जूट-उद्योग के लिए बाजारों के विकास और नये बाज़ारों की तलाश करेगा।

३१ मार्च, १९५९ तक स्थिति यह थी कि ५५ प्रतिशत मिलों में नये ढंग के

रह गया जिसका मूल्य १०.११ करोड़ रुपये था। इसी काल में टाटा कम्पनी ने अपना उत्पादन बढ़ाया और सरकार की युद्ध-सामग्रियों की पूर्ति की। प्रथम महायुद्ध के बाद आयात बढ़ता गया। यह बढ़ता आयात रेलों, अन्य सार्वजनिक कार्यों तथा निर्माण-व्यापार के वर्द्धमान उपभोग का परिणाम बताया गया। इस बढ़ते आयात ने उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के विषय में एक और तर्क प्रस्तुत किया।

१६. लोहा और इस्पात-उद्योग को संरक्षण प्रदान करना—अर्थ-आयोग के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति पहले-पहल लोहा और इस्पात-उद्योग में कार्यान्वित की गई। प्रशुल्क-मण्डल, जो जुलाई, १६२३ में संस्थापित किया गया था, का निष्कर्ष था कि श्रम को छोड़कर उद्योग अर्थ-आयोग द्वारा दी गई सभी शर्तों की पूर्ति करता है। श्रम के सम्बन्ध में भारत की स्थिति लाभपूर्ण नहीं थी, परन्तु यह किसी भी कृषि-प्रधान देश में, जहाँ औद्योगिक अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त करना शेष हो, अवश्यम्भावी है। इस कारण ही इस समय अमेरिका तथा यूरोप से कुशल निरीक्षकों का आयात आवश्यक है। किन्तु यह एक अस्थायी असुविधा थी जो कालान्तर में दूर हो जाती। मण्डल की सम्मति थी कि संरक्षण दिये बिना आगामी वर्षों में उद्योग के विकास की कोई आशा न थी और यह भय अवश्य था कि कहीं उद्योग ही न ठप हो जाए।

जून, १६२४ में मण्डल की सिफारिशों का समावेश करते हुए इस्पात-संरक्षण बिल (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पास किया गया। इस्पात से तैयार कुछ वस्तुओं पर कर बढ़ा दिया गया। भारत में निर्मित इस्पात की भारी रेलों, फिशप्लेटों और रेल के डिब्बों को सहायता प्रदान की गई। १६२४-२७ तक का पूर्ण योग २४२ लाख रुपये था। अवधि के समाप्त होने पर कर और सहायता दोनों में संशोधन किया जा सकता था।

इस्पात के संरक्षण के इस पहलू के लिए प्रशुल्क-मण्डल ने कुछ सिफारिशें कीं जो सरकार और विधान सभा द्वारा स्वीकार कर ली गई। कुछ अपवाद-सहित आयात किये हुए इस्पात पर उच्चतर कर लगाकर अभियान्त्रिक उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया।

१७. इस्पात उद्योग की परिनियत जांच (१६२६-२७)—३१ मार्च, १६२७ को समाप्त होने वाले १६२४ के इस्पात-संरक्षण अधिनियम के अनुसार १६२६ में प्रशुल्क मण्डल ने उद्योग की दशा की सावधानीपूर्वक जाँच की और कुछ विशिष्ट दिशाओं में संरक्षण की अवधि सात वर्ष के लिए और बढ़ा देने की सिफारिश की। अब संरक्षण उत्पादन की सहायता के लिए न होकर बढ़े हुए आयात-कर के रूप में हो गया। इसका कारण यह था कि सात वर्ष तक सहायता के रूप में संरक्षण देना बहुत महँगा होता तथा इस अवधि के बाद पुनः जाँच करनी पड़ती कि कितना और कैसा संरक्षण अभी और आवश्यक है। तदनुसार १६२७ के दिल्ली-अधिवेशन में एक बिल पेश किया गया जो १ अप्रैल, १६२७ से लागू हुआ। इसके अनुसार लोहे और इस्पात की विभिन्न वस्तुओं पर करों की विभिन्न दरें निर्धारित की गईं, साथ ही ब्रिटिश उत्पादन को

१९३८-३९ में १५,७६,००० टन हो गया, जिसमें से २·५६ लाख रु० के मूल्य का ५,१४,००० टन निर्यात किया गया; जिसका ग्राहक जापान था। जापान के बाद इंगलिस्तान और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भारतीय अशुद्ध लोहे के ग्राहक रहे हैं। भारत में उत्पादित अशुद्ध लोहा सब प्रकार से यूरोपीय अशुद्ध लोहे के समान है। वास्तव में अशुद्ध लोहे का आयात अब लगभग नगण्य है। इस्पात का उत्पादन १९१६-१७ के १,३९,४३३ टन से बढ़कर १९२७-२८ में ५,९९,५६५ टन हो गया और इसी अवधि में तैयार इस्पात का उत्पादन ९८,७२६ टन से बढ़कर ४,२८,६५४ टन हो गया। १९३८-३९ में इस्पात-पिण्डों का उत्पादन ९,७७,००० टन और तैयार इस्पात का उत्पादन ७,२६,००० टन था।

१९. लोहा और इस्पात-उद्योग की वर्तमान स्थिति—सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड़ जाने से भारत के लोहा और इस्पात उद्योग को एक नवीन प्रेरणा मिली। यह १९३९ और १९३८ के उत्पादन की तुलना से स्पष्ट हो जाता है जब दोनों वर्षों में अशुद्ध लोहे का कुल उत्पादन क्रमशः १८,३५,००० टन और १५,७५,००० टन था। इस्पात-पिण्डों और तैयार इस्पात का उत्पादन बढ़कर क्रमशः १०,६७,००० टन और १०,६२,९०० टन हो गया जो कि पिछले वर्ष की तुलना में क्रमशः ९·२ प्रतिशत और १४·१ प्रतिशत अधिक था। १९३९ का उत्पादन १९३२-३३ के उत्पादन का लगभग दूना था।

पहिये, टायर और धुरों इत्यादि के निर्माण के लिए जमशेदपुर में इस्पात उत्पादन करने के नये यन्त्र स्थापित किये गए हैं, जिससे इञ्जनों और डिब्बों के बड़े पैमाने पर बनाने की सम्भावनाएँ हो गई हैं।

२०. मूल्य-नीति—अप्रैल, १९४६ में युद्ध के ठेके-सम्बन्धी मूल्य-नियन्त्रण समाप्त कर दिये गए तथा वाणिज्यिक मूल्य ही निश्चित किये गए। तब से दोहरे मूल्यों की प्रथा चली आ रही है। एक विक्रय-मूल्य निश्चित किया जाता है। इस मूल्य पर स्टील बाज़ार में बेचा जाता है। विक्रय से प्राप्त धनराशि एक कोष (equalisation fund) में जमा कर दी जाती है। इस कोष में से उत्पादकों को एक निश्चित मूल्य के अनुसार (जिसे retertion price कहते हैं) अदायगी की जाती है तथा आयात करने वालों को आयात के भुगतान के लिए धनराशि दी जाती है।

२१. योजना और इस्पात-उद्योग—१९५१-५६ के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में टाटा वर्क्स के आधुनिकीकरण तथा १० लाख टन पिण्ड से उत्पादन १३ लाख टन पिण्ड करने का लक्ष्य रखा गया। इसी प्रकार बर्नपुर के लिए भी उत्पादन-क्षमता की वृद्धि का लक्ष्य ३ लाख टन पिण्ड से बढ़ाकर ५ लाख टन पिण्ड था। योजना-आयोग ने उद्योग की आर्थिक कठिनाइयों को अनुभव करके उद्योग को आर्थिक सहायता दी। टाटा तथा इण्डियन आइरन, प्रत्येक को दस करोड़ रु० का व्याजरहित ऋण-मूल्य समानीकरण कोष (Price Equalisation Fund) में से दिया। इण्डियन आइरन को योजना प्रारम्भ होने से पहले १९५० में प्रारम्भ विस्तार-योजना के लिए ७·९ करोड़ रु० का ऋण मिल चुका था। योजना-आयोग का अनुमान था कि १९५७ तक

विचार है। इसके अतिरिक्त टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी को अपनी उत्पादन-शक्ति को २० लाख टन से ३० लाख टन और १० लाख टन से १३ लाख टन की अनुमति दे दी है।

सितम्बर १९६३ में जापान की ५ विशेष फर्मों की सहायता से दुर्गापुर में ६० हज़ार टन शक्ति के अलाय (Alloy) तथा औज़ार स्टील को पैदा करने वाला कारखाना खोला गया। चौथी पंचवर्षीय योजना में इस कारखाने की उत्पादन-शक्ति तीन गुना बढ़ाई जायेगी। इसी प्रकार भद्रावती के स्टील कारखाने को भी अलाय के रूप में बदला जा रहा है। यूगोस्लाविया सरकार की सहायता से उदयपुर में भट्टी से निकलने वाले लोहे (Pig Iron) का कारखाना खोला गया है। महेन्द्रगढ़ (पंजाब) में भी इस प्रकार का कारखाना खोलने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने दो स्टेनलैस स्टील (Stainless Steel) के कारखाने खोलने का विचार है—एक मद्रास में और दूसरा वतवा (गुजरात) में।

अक्तूबर १९६३ की डॉ० के० एन० राज की रिपोर्ट के अनुसार इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अभाव प्रधानता इस्पात के संभरण पर सरकार का नियंत्रण हटा दिया जाय और प्रधानता इस्पात पर नियन्त्रण रखा जाय। इसका विशेषतया सरकार की मूल्य नीति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और उद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा। फिर भी इन बातों के होते हुए भारत विश्व के अच्छे औद्योगिक देशों से पीछे है। (प्रति व्यक्ति इस्पात का उपभोग भारत में १६ पौंड है जबकि अमरीका में १२३७ पौंड है।)

लोहा और इस्पात उद्योग के युद्धकालीन विकास से अभियान्त्रिकी उद्योग का विकास घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इसके निम्नलिखित अति महत्त्वपूर्ण पहलू हैं—

(१) युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियाँ—रक्षा-विभाग-योजना के अन्तर्गत युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियों का बहुत अधिक विकास और अभिनवीकरण हुआ है। इसकी सिफारिश चैटफ़ील्ड-समिति ने भी की थी। बन्दूकों, गोलों और विस्फोटकों के उत्पादन की वृद्धि के साथ भारत पूर्व और मध्यपूर्व के देशों का आयुधागार बन गया।

१९६२ के चीनी आक्रमण तथा विशेषकर १९६५ के पाकिस्तानी आक्रमण के पश्चात् युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियों को बहुत सहायता दी जा रही है।

(२) अभियान्त्रिक तथा यान्त्रिक औज़ार (मशीन टूल्स)—युद्ध-सामग्री के लिए अपेक्षित विशिष्ट मशीनों से लेकर बरमा (एक प्रकार का औज़ार) और खराद-जैसे साधारण औज़ारों और सभी यान्त्रिक औज़ारों के निर्माण में युद्ध-काल में कुछ-न-कुछ उन्नति हुई; किन्तु मिल, जहाज, मोटरगाड़ियाँ, हवाईजहाज आदि के लिए आवश्यक भारी यन्त्रों के निर्माण में बहुत कम सफलता हुई।

युद्ध से अभियान्त्रिक सामग्रियों और भण्डारों के निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस सामग्री और भण्डार के कुछ उदाहरण निम्न हैं—स्टील पाइपें, छादक (शैड), क्रेन, पेट्रोल और पानी एकत्र करने की टंकियाँ, लारियाँ, हथियारबन्द कारें, रेल के डिब्बे, रेलवे भण्डार, बिजली का भण्डार, इस्पात के तारों के रस्से, अग्नि से

उत्पादकों के लिए पर्याप्त कोकिंग कोयला मिलना कठिन है। टाटा ने कोयले के प्रक्षालन (धुलाई) के लिए दो प्रक्षालनालय स्थापित किये हैं। ईंधन अनुसंधान संस्थान, धनबाद में इस दिशा में खोज-कार्य हो रहा है और आशा है कि समस्या का हल सम्भव हो सकेगा। अन्य देशों में भी इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं कि अभिधमन भट्टी की आवश्यकता ही न रहे और इस प्रकार समस्या का अन्त ही हो जाए।

इस समय सभी इस्पात के कारखानों के लिए चूना-पत्थर एक ही क्षेत्र सुन्दरगढ़ (उड़ीसा) से आता है केवल भिलाई को पास में स्थित नन्दिनी की पत्थर की खान से कोयला मिलता है। दुर्गापुर-स्थित इस्पात के कारख़ाने को बिहार के शाहाबाद ज़िले से चूना-पत्थर मिल सकता है।

भारतीय इस्पात उद्योग अब नई विधियों का प्रयोग भी कर रहा है। रूरकेला में इस्पात बनाने की नई विधि L—D विधि (Process) का प्रयोग कर रहा है। यह विधि आस्ट्रिया में १९४९ में विकसित की गई और पहला वाणिज्यिक कारखाना १९५२ में शुरू हुआ। इस विधि की विशेषता यह है कि पूँजी की लागत और चालू व्यय में बचत होती है।

एक दूसरी नवीनता अभिधमन भट्टी में जाने से पहले खनिज कूटने और उसके संरंजन की है जिसे अंग्रेज़ी में ove-crushing and sintering कहते हैं। इससे अभिधमन भट्टी का काम हलका हो जाता है और उसकी कुशलता बढ़ जाती है। टाटा के यहाँ इसका प्रयोग होता है तथा सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों में भी इस विधि का प्रयोग होगा।

२४. चमड़ा सिझाने और चमड़े का उद्योग[1]—भारत में चमड़ा और खाल बहुतायत से मिलती है। गाय की खाल, जो 'ईस्ट इण्डिया किप्स' के नाम से ज्ञात है, बकरी का चमड़ा, भैंस की खाल और भेड़ का चमड़ा इत्यादि भारत के कृषि-उद्योग के उपोत्पादन माने जा सकते हैं। १९१४-१८ के युद्ध के पूर्व भारत ने कच्ची खाल का निर्यात बहुत मात्रा में, विशेषकर जर्मनी और आस्ट्रेलिया को किया, जिनका मूल्य १९१३ में ७.१७ करोड़ रुपये था। उसी वर्ष ३.४ करोड़ रुपये के मूल्य का कच्चा चर्म विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका को निर्यात किया गया। बाहरी देशों में इसकी बड़ी माँग थी और ऊँचे दाम दिये जा रहे थे।

कानपुर में जब सरकारी साज और ज़ीन का कारखाना (हारनेस एण्ड सैडलरी फैक्ट्री) १८६० में खोला गया तभी से उत्पादन की दिशा में एक नया कदम उठाया गया। कुछ ही दिन बाद श्रीयुत एलन और कूपर ने आर्मी बूट एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री खोली और सरकार से उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली। आदमजी

---

१. खाल उप-कर जाँच समिति के अनुमान से भारत के लिए इस सम्पूर्ण उद्योग का कुल मूल्य ४० या ५० करोड़ रुपये के लगभग है। इससे अनेक व्यक्तियों को रोज़ी मिलती है तथा भारत के दलित वर्गों की आर्थिक उन्नति का वह एक साधन है।—रिपोर्ट ऑव दि हाइड्स सेस इन्क्वायरी कमेटी, १९३०, पैरा १५८।

धात्विक उद्योग और विद्युत्-चालित रासायनिक उद्योग के विकास के लिए सस्ती विद्युत-शक्ति की पूर्ति के विषय में प्रयत्न करना आवश्यक है ।

२७. **रसायन-उद्योग पर युद्ध का प्रभाव**—द्वितीय महायुद्ध ने रसायन-उद्योग को एक नवीन प्रोत्साहन दिया और आयात, जो बहुत कम किये जा चुके हैं, को स्थानापन्न करने के प्रश्न को इसने पुनः प्रमुखता प्रदान की। रासायनिक एवं औषधीय पदार्थों के निर्माता, जो नवम्बर १६३६ में कलकत्ता में हुए एक सम्मेलन में मिल चुके थे, रासायनिक पदार्थों को नई विधियों से उत्पादित करने की सम्भावनाओं का पता लगा रहे हैं। भारत सरकार ने हाल ही में भारी रसायनों के उत्पादन के लिए सरकारी यन्त्र स्थापित करने की स्वीकृति दे दी है। पहले आयात होने वाली बहुत अधिक संख्या में विभिन्न दवाइयाँ अब देश में तैयार हो रही हैं। भारतीय कच्चे (क्रूड) तेलों से उड्डयन स्पिरिट (एविएशन स्पिरिट) का निर्माण हो रहा है, जबकि बाइक्रोमाइट का उत्पादन भी भली-भाँति हो रहा है। गन्धकीय अम्ल और अमोनियम सल्फेट का उत्पादन १५ प्रतिशत बढ़ गया है, जबकि सरकार ने श्वेतन-क्षोद (ब्लीचिंग पाउडर) के निर्माण की दिशा में कदम उठाया है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् वनस्पति एवं संश्लिष्ट (सिंथेटिक) रंजक द्रव्यों के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार कर रही है। अन्य उद्योगों की भाँति इस उद्योग के लिए भी एक विकास-परिषद् संगठित की गई है। यह परिषद् उद्योग के विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगी।

विकास-परिषद् की दूसरी बैठक जुलाई, १६६० में मद्रास में हुई। इस बैठक में परिषद् ने निम्न सिफारिशें कीं—

कच्ची तथा नमक लगी हुई खालों और चमड़े के आयात को मुक्त एवं सामान्य अनुज्ञापद्धति (Open General license) के अन्तर्गत रखा जाए। यू० एस० ए०, जापान और स्वीडन—इन देशों के प्रति निर्यात की वृद्धि के लिए सिझाई हुई भारतीय खालों और चमड़ों पर से आयात-कर हटवाने के लिए भारत सरकार प्रयत्न करे। Wattle Bark and Wattle extract से आयात-कर हटाने के लिए सरकार से पुनः अनुरोध किया जाए।

विकास-परिषद् ने इस सम्बन्ध में भी अपनी सहमति प्रकट की कि प्रमुख केन्द्रों पर कच्चे चमड़े और खालों के संग्रह के लिए (Cold Storage) शीत संग्रहागारों की व्यवस्था की जाए।

तीसरी योजना-सम्बन्धी कार्यक्रम पर अगली बैठक में विचार करने का निर्णय किया गया।

में असफल रहा। भारत सरकार ने १९२३ में कर को ५ प्रतिशत कर दिया और १० प्रतिशत छूट को समाप्त कर दिया। ५ प्रतिशत कर को वित्त-आवश्यकताओं के लिए आवश्यक बतलाकर न्यायोचित ठहराया गया। कर-जाँच समिति (टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी) के बहुमत ने अर्थ-आयोग से सहमत होकर इसकी शीघ्र समाप्ति की राय दी, किन्तु उन चर्मों पर कर के पूर्ववत् रहने का भी मत दिया जिनकी विश्व-बाजार में अच्छी साख थी और जिन पर कर से कोई हानिकारक प्रभाव पड़ने का भय नहीं था।

द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तर्गत बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए उद्योग का और अधिक विस्तार हुआ। युद्ध के आर्डरों की पूर्ति के लिए यन्त्रों और अधिक श्रम का प्रयोग हुआ। जनवरी, १९४२ में सरकार ने संगठित सिझावशालाओं के सारे उत्पादन को ले लिया।

खादी और ग्रामीण उद्योग आयोग के इस उद्योग-सम्बन्धी विकास कार्यक्रम का लक्ष्य मरे हुए जानवरों के उपोत्पाद का पूर्ण उपयोग तथा बड़े पैमाने पर लोगों को काम देना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उद्योग की छोटी-छोटी इकाइयों की प्राविधिक क्षमता के स्तर को ऊपर उठाने का लक्ष्य भी सम्मिलित है। अतएव कार्यक्रम के अन्तर्गत सिझाव-केन्द्र, निर्माण-केन्द्र, प्रशिक्षण-केन्द्र आदि स्थापित करने की व्यवस्था है। आयोग की सहायता करने के लिए इस उद्योग और व्यापार के प्रतिनिधियों से निर्मित एक परामर्श समिति भी है। १९५३-५४ से १९५५-५६ तक विभिन्न विकास-कार्यक्रमों पर ३१'७८ लाख रु० व्यय किया गया। इस अवधि में १५५ चर्मापनयन (चमड़ा उतारना) केन्द्र, ५६ आदर्श सिझावशालाएँ तथा ४० अस्थिचूर्ण (bone-crushing) केन्द्र स्थापित किये गए। १७९ व्यक्तियों को चर्मापनयन की सुधरी विधि का प्रशिक्षण दिया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत विस्तार की अपेक्षा सुधार पर अधिक ज़ोर दिया गया। खादी आयोग ने द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस उद्योग के विकास के लिए जो योजना बनाई है उसमें ३,५०० चर्मापनयन केन्द्र और ३५० सिझाव-केन्द्रों की स्थापना तथा ३५,००० मोचियों (जूता बनाने वालों) को सहकारी समितियों के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था की गई है। योजनावधि उत्पादन-केन्द्रों पर निर्मित विभिन्न सामानों के विक्रय के लिए ५० विपणन-केन्द्र संगठित करने का लक्ष्य भी है।

सन् १९५४ में जब उद्योग की स्थिति का पुनर्वीक्षण किया गया था तो यह पाया गया कि संगठित (बड़े पैमाने) क्षेत्र की सिझावशालाओं की ५० प्रतिशत क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा था। सरकार ने उद्योग की सहायता के लिए उन कच्ची खालों और चमड़ों का निर्यात बन्द कर दिया जिनकी पूर्ति कम थी तथा स्टर्लिंग क्षेत्र से इनका आयात सुलभ कर दिया। चमड़े और चमड़े के सामान के आयात पर सख्त प्रतिबन्ध लगा दिये गए। इस उद्योग की समस्या कच्चे माल के सम्बन्ध में चमड़ा, खाल और wattle bark से सम्बन्धित है। जहाँ तक चमड़े और खाल का सम्बन्ध है, वे पाकिस्तान से मँगाई जाती हैं। wattle bark के लिए मद्रास की सरकार ने

धात्विक उद्योग और विद्युत्-चालित रासायनिक उद्योग के विकास के लिए सस्ती विद्युत-शक्ति की पूर्ति के विषय में प्रयत्न करना आवश्यक है।

२७. रसायन-उद्योग पर युद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध ने रसायन-उद्योग को एक नवीन प्रोत्साहन दिया और आयात, जो बहुत कम किये जा चुके हैं, को स्थानापन्न करने के प्रश्न को इसने पुनः प्रमुखता प्रदान की। रासायनिक एवं औषधीय पदार्थों के निर्माता, जो नवम्बर १९३९ में कलकत्ता में हुए एक सम्मेलन में मिल चुके थे, रासायनिक पदार्थों को नई विधियों से उत्पादित करने की सम्भावनाओं का पता लगा रहे हैं। भारत सरकार ने हाल ही में भारी रसायनों के उत्पादन के लिए सरकारी यन्त्र स्थापित करने की स्वीकृति दे दी है। पहले आयात होने वाली बहुत अधिक संख्या में विभिन्न दवाइयाँ अब देश में तैयार हो रही हैं। भारतीय कच्चे (क्रूड) तेलों से उड्डयन स्पिरिट (एविएशन स्पिरिट) का निर्माण हो रहा है, जबकि बाइक्रोमाइट का उत्पादन भी भली-भाँति हो रहा है। गन्धकीय अम्ल और अमोनियम सल्फेट का उत्पादन १५ प्रतिशत बढ़ गया है, जबकि सरकार ने श्वेतन-क्षोद (ब्लीचिंग पाउडर) के निर्माण की दिशा में कदम उठाया है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् वनस्पति एवं संश्लिष्ट (सिंथेटिक) रंजक द्रव्यों के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार कर रही है। अन्य उद्योगों की भाँति इस उद्योग के लिए भी एक विकास-परिषद् संगठित की गई है। यह परिषद् उद्योग के विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगी।

विकास-परिषद् की दूसरी बैठक जुलाई, १९६० में मद्रास में हुई। इस बैठक में परिषद् ने निम्न सिफारिशें कीं—

कच्ची तथा नमक लगी हुई खालों और चमड़े के आयात को मुक्त एवं सामान्य अनुज्ञापद्धति (Open General license) के अन्तर्गत रखा जाए। यू० एस० ए०, जापान और स्वीडन—इन देशों के प्रति निर्यात की वृद्धि के लिए सिझाई हुई भारतीय खालों और चमड़ों पर से आयात-कर हटवाने के लिए भारत सरकार प्रयत्न करे। Wattle Bark and Wattle extract से आयात-कर हटाने के लिए सरकार से पुनः अनुरोध किया जाए।

विकास-परिषद् ने इस सम्बन्ध में भी अपनी सहमति प्रकट की कि प्रमुख केन्द्रों पर कच्चे चमड़े और खालों के संग्रह के लिए (Cold Storage) शीत संग्रहागारों की व्यवस्था की जाए।

तीसरी योजना-सम्बन्धी कार्यक्रम पर अगली बैठक में विचार करने का निर्णय किया गया।

२८. भारी रसायन-उद्योग तथा दवाइयाँ—भारी रसायन-उद्योग आधारोद्योग है जिसकी सामग्रियाँ लगभग सभी उद्योगों में प्रयुक्त होती हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह अनिवार्य है तथा उद्योग और कृषि-सम्बन्धी रासायनिक अनुसन्धान का आधार है। सात वर्ष की अवधि के संरक्षण के उपरान्त इस्पात-उद्योग की भाँति इस उद्योग की भी पुनः जाँच होने वाली थी। सुपरफासफेट के निर्माण के लिए एक सहायता की स्वीकृति मिलने वाली थी। इसका उपयोग कृत्रिम खाद के रूप में होता है। भारत में वृहद्

स्थान है। वनस्पति तेल और चरबी साबुन और ग्लिसरीन बनाने, भोजन पकाने तथा मशीनों में तेल लगाने (लुब्रीकेटिंग) के लिए आवश्यक हैं। १९१४-१८ के युद्ध के बाद से भारतीय मिल-उद्योग को बड़े पैमाने पर विकसित करने की सम्भावना पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसे नवीन प्रोत्साहन दिया और निर्यात में कमी आ जाने के कारण विकास की आवश्यकता अब और अधिक बढ़ गई है। १९६०-६१ तक औद्योगिक तथा विविध उद्देश्यों के लिए वनस्पति तेलों की कुल माँग २,७८,००० टन होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है।

३०. कागज-निर्माण—१८८५ में दकन पेपर मिल कम्पनी बनाई गई और उसने १८८७ से पूना में काम चालू किया। उत्तरी भागों में वर्तमान काल की सबसे महत्त्व-पूर्ण कागज़ मिल रानीगंज में है। यह १८८९ में बनाई गई तथा बंगाल पेपर मिल कम्पनी द्वारा १८९१ में चालू की गई थी। पंजाब पेपर मिल्स कम्पनी को सहारनपुर के निकट अपनी मिल के लिए भावर घास के सम्बन्ध में बहुत छूट (रिआयत) प्राप्त है। आसाम में एक नई कम्पनी की स्थापना की गई है और चिटगाँव में बाँस से लुगदी बनाने के लिए एक नई फैक्ट्री खोली गई। १९३८-३९ में भारत में कुल ११ कागज की मिलें थीं : बम्बई में चार, बंगाल में चार, उत्तर प्रदेश में एक, मद्रास में एक और त्रावनकोर में एक। कागज के निर्माण के लिए तब से नई-नई कितनी ही संस्थाएँ प्रारम्भ हुईं। इनमें मैसूर पेपर मिल्स, जिसने भद्रावती में १९३९ से कार्य आरम्भ किया तथा निज़ाम के राज्य में सिरपुर पेपर मिल्स (१९४२) विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं। गत युद्ध से कागज-उद्योग को बहुत लाभ हुआ है जैसा कि उसकी उत्पादन की वृद्धि से प्रकट है—१९३८ में कागज़ का उत्पादन ४८,५३१ टन था जबकि १९४४ में बढ़कर १,०३,८८४ टन हो गया।[1] कागज़ के मूल्य में भी ३०० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

अभी हाल के वर्षों तक कागज़ बनाने वालों का मुख्य कच्चा माल सबाई घास थी, जो उत्तर भारत में बहुतायत से उत्पन्न होती है। कागज़ बनाने में भारतीय लकड़ी का उपयोग अभी नहीं हुआ है और लुगदी का आयात यूरोप से होता है। सस्ते कोटि के कागज़ के लिए जूट की रद्दी और रद्दी कागज प्रयोग में आते हैं। बाँस की लुगदी से कागज़ बनाने वाली पहली कम्पनी इण्डियन पेपर पल्प कम्पनी थी। सबाई घास अन्य वनस्पतियों के साथ यत्र-तत्र गुच्छों में उगती है और इस पर प्रतिकूल मौसम का कुप्रभाव भी पड़ता है। बाँस की प्रति-एकड़ उपज घासों से अधिक है और उत्पाद की लागत कम है। वन-अनुसंधान केन्द्र (फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट) द्वारा किये गए अनु-संधानों के फलस्वरूप बाँस के कागज़ की लुगदी के उद्योग से बहुत आशाएँ हो गई हैं। उद्योग अभी तक कुछ असुविधाओं, जैसे रसायनों की ऊँची लागत, कोयला ढोने की ऊँची दर, और स्कैंडिनेविया, जर्मनी, इंगलैंड, आस्ट्रिया, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका से कठोर प्रतिस्पर्धा आदि से ग्रस्त रहा है। १९३९ में युद्ध आरम्भ होने के

---

१. ईस्टर्न इकानामिस्ट, १९ जुलाई, १९४६, पृ० १११।

की मशीनरी के निर्माण की योजना बनाने, (२) प्राविधिक सामग्री और आँकड़ों के एकत्र एवं आदान-प्रदान करने, (३) कागज़ की माँग का अनुमान लगाने तथा (४) देश में कच्चे माल के स्रोतों का अनुमान लगाने के लिए हैं। कच्चे माल की उप-समिति ने देश में बाँस की उपलब्धि का सर्वेक्षण किया है तथा नयी मिलों की स्थापना के उपयुक्त अधिकता वाले क्षेत्रों की ओर संकेत किया है। मशीनरी उप-समिति के कार्यों के परिणामस्वरूप ५-१० टन प्रतिदिन कागज़ मिलों की मशीनरी की तीन योजनाएँ तथा ५०-६० टन प्रतिदिन लुगदी और कागज़ मिल की मशीनरी की दो योजनाएँ स्वीकृत कर ली गई हैं।

१९५८ के २,५३,००० टन की तुलना में १९५९-६० में कागज और पट्ठे का उत्पादन बढ़कर ३,००,००० टन हो जाएगा, ऐसा अनुमान है। यह वृद्धि उद्योग की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि का परिणाम है।

कागज़ बनाने के उद्योग ने १९५० के पश्चात् तेजी से प्रगति की है। कागज़ तथा पट्ठे का उत्पादन १.०९ लाख टन (१९५०) से बढ़कर ४.८० लाख टन (१९६४) हो गया। अब तक देश के उत्पादन की क्षमता ६.८ लाख टन है जबकि तीसरी योजना का लक्ष्य था ७ लाख टन। इस प्रकार अखबारी कागज (न्यूज़प्रिंट) का उत्पादन नीपा (मध्य प्रदेश) के कारखाने में आरम्भ किया गया (जनवरी १९५५)। अब इसकी उत्पादन-शक्ति ३० हजार टन से ७५ हजार टन तक बढ़ाने का सुझाव है। इसके अति-रिक्त दो और निजी क्षेत्र में कारखाने खोले जा रहे हैं। तीसरी योजना में न्यूज़प्रिन्ट का लक्ष्य १.५० लाख टन रखा गया था, जो कि करीब-करीब पूर्ण हुआ। चौथी पंच-वर्षीय योजना में कागज तथा पट्ठे का लक्ष्य १३.५० लाख टन है और न्यूज़प्रिन्ट का १.६५ लाख टन है।

३२. शीशा-निर्माण—प्राचीन उद्योग के कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं और अब निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी में यह एक भलीभाँति स्थापित उद्योग के रूप में विद्यमान था। किन्तु उस समय भी यह उद्योग चूड़ियों तथा कुछ सीमा तक छोटी बोतलों और फ्लास्कों के निर्माण में प्रयुक्त निम्न कोटि की सामग्री के उत्पादन से अधिक विकसित नहीं हो सका था। आज की भाँति उस समय भी देश में चूड़ियों की बड़ी माँग थी। १८९२-९३ से बीच आधुनिक प्रकार की शीशे की पाँच फैक्ट्रियाँ खोली गईं।

ऐसा प्रतीत होता है कि शीशा-उद्योग के प्रति भारतीय विशेष रूप से आकृष्ट हैं, क्योंकि पिछली असफलताओं के बावजूद भी १९०६-१३ के स्वदेशी काल में भार-तीय साहसोद्यमियों द्वारा छोटे पैमाने पर सोलह फैक्ट्रियाँ खोली गईं। किन्तु सन् १९१४ में उनमें से केवल तीन ही चालू थीं और कोई भी व्यापारिक लाभ नहीं उठा रही थी। यद्यपि पूना जिले में पयसा कोष की सहायता से तलगाँव फैक्ट्री विचित्र और अव्यापारिक ढंग से अपना काम चला रही थी।

उद्योग की वर्तमान अवस्था में उसे दो स्पष्ट भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) देशी कुटीर-उद्योग (चूड़ी बनाने का) और (२) आधुनिक फैक्ट्री

इस उद्योग के सम्बन्ध में श्रम-सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत गम्भीर हैं। तेलगाँव में पयसा फण्ड ग्लास वर्क्स ने शीशा धोंकने वालों को प्रशिक्षित करने की दिशा में उपयोगी काम किया है और युद्ध की परिस्थितियों में उद्योग का प्रसार केवल उन व्यक्तियों की उपलब्धि के कारण हो सका जो तेलगाँव के थे, यद्यपि वहाँ के प्रशिक्षण में बहुत-सी वाञ्छनीय बातों का अभाव है। रेल-सम्बन्धी सुविधाएँ भी आवश्यक हैं।

३४. शीशा-उद्योग को संरक्षण—भारत सरकार का निर्णय, जो अत्यधिक विलम्ब से जून, १९३५ में घोषित हुआ, प्रशुल्क-मण्डल की खोज के विरुद्ध था। उन्होंने संरक्षण के तर्क को इस आधार पर अस्वीकार किया कि देश में कच्चे माल (सोडा ऐश) की पूर्ति का अभाव एक ऐसी कठिनाई है जो उद्योग के अन्य लाभों से पूरी नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने अन्तिम निर्णय को उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक कि सोडा ऐश के नवीन साधनों की पूरी खोज न हो जाए। इस बीच उन्होंने तीन वर्ष की अवधि के लिए आयात किये हुए सोडा ऐश पर कर में छूट देकर कुछ सहायता देने का निर्णय किया। भारत सरकार के इस निर्णय ने शीशा उत्पादकों में बहुत निराशा उत्पन्न की और यह निर्णय सामान्य रूप से आलोचना का विषय रहा। प्रशुल्क-मण्डल का मत यह था कि भारत में सोडा ऐश के पर्याप्त साधन न होते हुए भी इस आधार पर शीशा-उद्योग का संरक्षण पाने का अधिकार समाप्त नहीं हो जाता।[१] प्रशुल्क-मण्डल के अनुसार शीशे की चादर के उत्पादन में पर्याप्त सुधार की गुंजाइश है।

सन् १९५० में शीशे की चादर (sheet glass) को संरक्षण प्रदान किया गया जो बाद में दिसम्बर, १९६० के लिए बढ़ा दिया गया। सन् १९५० में संरक्षण-कर मूल्यानुसार ४५ प्रतिशत निश्चित किया गया, किन्तु जनवरी, १९५५ में इसे बढ़ाकर ७० प्रतिशत कर दिया गया। वह दर दिसम्बर, १९६० तक लागू रहेगी।

३५. सीमेण्ट-उद्योग—भारत में १९१४ के पूर्व भी सीमेण्ट की बहुत अधिक खपत थी और प्रतिवर्ष लगभग १,८०,००० टन का आयात होता था। १९१८ के बाद सीमेण्ट की माँग तीव्रता से बढ़ गई और यह माँग प्रतिवर्ष १०,००,००० टन से भी अधिक हो गई। पुलों तथा भारी भवन-निर्माण के सभी भाँति के कार्यों में लौह-कंकड़ी का प्रयोग शीघ्रता से बढ़ रहा है। यह भी कहा जाता है कि अब इस्पात-युग के बजाय सीमेण्ट और लौह-कंकड़ी का जमाना आ रहा है।

उद्योग मुख्यतः सरकार के संरक्षण से ही विकसित हुआ जो १९१४-१८ के युद्ध में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग खरीदती थी। दोनों युद्धों के बीच के अभिवृद्धि-काल में अनेक कम्पनियों का प्रवर्तन हुआ। तीन पुरानी कम्पनियों का उत्पादन दूना हो गया और सात नई कम्पनियाँ खोली गईं, जिनमें से छः कम्पनियों ने १९२३ तक कार्य करना आरम्भ कर दिया। १९३०-३१ में आयात और कम हुआ तथा १,१२,००० टन रह गया, जिसमें से इंगलिस्तान ने ६३,२०० टन की पूर्ति की।

१. प्रशुल्क-मण्डल (शीशा-उद्योग) की रिपोर्ट, पैरा ३९।

आन्तरिक प्रतिस्पर्धा से निश्चित होता था। किन्तु उनका विचार था कि शीघ्र ही स्थिरता आ जाएगी। सीमेण्ट की फैक्ट्रियों के कोयले के क्षेत्रों और बन्दरगाहों से अधिक दूर होने के कारण उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिए मण्डल ने एक विधान बनाने की सिफारिश की, जिससे सरकार बन्दरगाहों के निश्चित अर्द्धव्यास की परिधि के अन्दर भारतीय फैक्ट्रियों द्वारा भेजे जाने वाले सीमेण्ट को सहायता प्रदान कर सके।

डालमिया, भारत और रोहतास के लिए ५४·५० रु० प्रति टन, एस० सी० सी० के लिए ५८·०० प्रति टन तथा यू० पी० की चुर्क सीमेंण्ट फैक्ट्री के लिए ५७·०० रु० प्रति टन तथा इसी प्रकार अन्य फैक्ट्रियों के लिए विभिन्न मूल्य निर्धारित किये। सरकार ने इन सिफारिशों को पहली जुलाई, १९५८ से लागू करने का निश्चय किया क्योंकि ३० जून, १९५८ तक सीमेण्ट कण्ट्रोल आर्डर के अन्तर्गत निश्चित मूल्य लागू थे। यह भी निश्चय किया गया कि ये मूल्य जून, १९६१ तक लागू रहेंगे। यद्यपि प्रत्येक उत्पादक को मिलने वाले मूल्यों में कुछ-न-कुछ वृद्धि हुई है किन्तु उपभोक्ताओं के रेल-केन्द्रों पर सीमेण्ट ११७·५० रु० प्रति टन के भाव से ही मिलता रहेगा। पिछले दो वर्षों से सीमेण्ट के सम्पूर्ण उत्पादन के विक्रय को राज्यीय व्यापार निगम ही सम्हाल रहा है तथा उपभोक्ताओं को उपर्युक्त एक ही मूल्य पर सीमेण्ट देना, निगम द्वारा अपने पारिश्रमिक को ³⁄₄ प्रतिशत से घटाकर ¹⁄₂ प्रतिशत कर देने के कारण ही सम्भव हुआ है।

सीमेण्ट का उत्पादन १९५०-५१ में २७ लाख टन से बढ़कर ९४ लाख टन (१९६३-६४) में हो गया। १९६५-६६ में १ करोड़ १० लाख टन उत्पादन हुआ जबकि तीसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य १.३२ करोड़ टन था। १९७०-७१ तक उत्पादन ३ करोड़ टन तक बढ़ा देने का लक्ष्य है। भारत सरकार ने सीमेण्ट कारपोरेशन ऑफ़ इण्डिया के नाम की एक कम्पनी बनाई है जो सीमेण्ट के अनुसन्धान सर्वेक्षण तथा उत्पादन को बढ़ाने की चेष्टा करेगी।

३६. दियासलाई-उद्योग[1]—१८९५ में स्थापित अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मैच फैक्ट्री को छोड़कर, १९२१ तक दियासलाइयों का निर्माण व्यावसायिक स्तर पर सफलतापूर्वक नहीं होता था। वित्त के उद्देश्य से १९२२ में एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस (ग्रॉस=बारह दर्जन) या मूल्यानुसार, १०० प्रतिशत से भी अधिक आयात-कर लगा देने से गत वर्षों में उद्योग का पर्याप्त विस्तार हुआ है। प्रतिवर्ष सात करोड़ ग्रॉस खपत के होने के कारण उद्योग को एक विशाल घरेलू बाज़ार प्राप्त है। श्रम सस्ता है और सरल यन्त्रों के संचालन में भली भाँति पटु है। आयात-कर लग जाने के कारण स्वीडन के विशाल संयोजन (कम्बाइन) द्वारा, जो संसार की ७० प्रतिशत माँग का नियन्त्रण करता है, भारत में दियासलाई की फैक्ट्रियों की

---

१. कोयला और नमक-उद्योग का विवरण प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय में दिया गया है और चीनी तथा चाय-उद्योग उसी भाग के छठे अध्याय में दिये गए हैं।

दियासलाई-उद्योग आकार और उत्पादन के अनुसार ए०, बी० और सी० वर्गों में विभाजित है। कुटीर-उद्योग के रूप में खादी और ग्राम उद्योग आयोग एक नये वर्ग—'डी' वर्ग की फैक्ट्रियों के विकास की ओर अग्रसर है। इस प्रकार की फैक्ट्रियों के उत्पादन की अधिकतम मात्रा २५ ग्रॉस डिब्बियाँ प्रतिदिन हैं तथा इनमें ४० व्यक्ति काम पर लगाये जा सकते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दियासलाई के कुटीर-उद्योग के विकास के लिए १००० 'डी' वर्ग की फैक्ट्रियाँ स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है। इनकी उत्पादन-क्षमता २९२·५ लाख ग्रास डिब्बियाँ है तथा लागत का अनुमान १.१ करोड़ रु० है।

कुटीर-उद्योग

३७. लघु प्रमाप उत्पादन के बने रहने के कारण—मुख्य आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययताओं के त्याग के बिना ही वाष्प के स्थान पर विद्युत् के बढ़ते हुए प्रयोग ने उत्पादन की इकाइयों को छोटा करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। पुन: प्रत्येक उन्नतिशील समाज में बहुत-सी कलापूर्ण तथा विलास की सामग्रियाँ होती हैं जिनका प्रमाणीकृत उत्पादन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सभ्यता के भौतिक उपस्करों के अनेक सुधार छोटे-छोटे कारखानों को जन्म देते हैं और इस प्रकार लघु प्रमाप उद्योग चलते रहते हैं। अन्तिम नये उद्योग जब तक वे प्रयोग-रूप में होते हैं, पहले छोटे पैमानों पर ही आजमाए जाते हैं और सफल होने पर ही बड़े पैमाने पर संगठित किये जाते हैं।[1] इस भाँति पश्चिम के अत्युन्नत देशों में भी बृहद् प्रमाप उद्योगों के साथ-ही-साथ बहुत-से लघु प्रमाप उद्योग भी फूलते-फलते हैं। जापान की आर्थिक व्यवस्था में लघु-प्रमाप और कुटीर-उद्योगों का महत्त्वपूर्ण योग सर्वविदित है।

३८. भारत में कुटीर-उद्योग और औद्योगीकरण—भारत में विशेषकर वर्तमान परिस्थितियों में, निकट भविष्य के औद्योगिक विस्तार की विशेषता से देश-भर में लघु प्रमाप उद्योगों को वृद्धि होगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत की औद्योगीकरण-सम्बन्धी प्रगति प्राचीन प्रणाली के सभी उद्योगों को यथास्थित रहने देगी और उनकी शक्ति में कमी न आएगी। नवीन उद्योगों के पालनों के पास सदैव ही कुछ प्राचीन प्राणहीन उद्योग पड़े रहेंगे और यह अवश्य होगा कि वेगमान औद्योगीकरण आज भी विद्यमान कुछ दस्तकारियों के लिए हानिकर होगा। आर्थिक संक्रान्ति ने किस भाँति देश के विभिन्न उद्योगों को प्रभावित किया है, इसका संक्षिप्त विवरण पहले ही दिया जा चुका है।[2] भारत की वर्तमान परिस्थितियों में केवल इसी उपाय से अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार और सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण के आदर्श की उपलब्धि हो सकती है। बृहद् प्रमाप उत्पादन के बिना अधिकतम उत्पादन सम्भव

---

१. श्री राधाकमल मुकर्जी, 'दि फाउण्डेशन्स ऑव इंडियन इकनॉमिक्स', पृ० ३६०।

२. खण्ड १, अध्याय ५, पैरा २१, २२, २५ तथा रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑव कॉटेज इण्डस्ट्री, मद्रास प्रेसीडेंसी, १९२९ भी देखिए।

बतलायी गई विधि से अपना पारिश्रमिक प्राप्त करते हुए गाँव के लोगों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति प्राचीन काल की भाँति ही कर रहे हैं।[1] किन्तु गाँव की आत्म-निर्भरता पर अधिकाधिक आक्रमण होता जा रहा है और जब यह लुप्त हो जाएगी तो इन कारीगरों की दशा के प्रतिस्थापन की आवश्यकता होगी।

अब तक इस देश में आधुनिक उद्योग की प्रगति मन्द रही है। लगभग सभी शहरों या गाँवों की जनसंख्या का बड़ा शतांश विभिन्न कुटीर-उद्योगों में लगे मजदूरों का है। उनकी संख्या अब भी संगठित उद्योगों में लगे मज़दूरों से बहुत अधिक है।[2]

३६. सूती (हस्तचालित) करघा-उद्योग—सामान्यतया करघा-उद्योग के महत्त्व और व्यापकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। सूती वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल ने १६५२ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में १६,८४,६५० करघों की संख्या का अनुमान लगाया था, जबकि १६३१ की गणना के अनुसार सूत और रेशम कातने और बुनने के काम में लगे लोगों की संख्या २५,७५,००० थी।[3] यद्यपि पिरार्ड का यह कथन है कि 'उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑव गुड होप) से लेकर चीन तक स्त्री और पुरुष सिर से पाँव तक भारतीय करघों से उत्पन्न वस्त्र पहनते हैं,' अब सत्य नहीं है और उद्योग की वर्तमान दशा सन्तोपजनक होने से अत्यन्त दूर है; परन्तु फिर भी यदि इसको समुचित ढंग से संगठित करने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जाएँ तो इसके सम्मुख अब भी एक महान् भविष्य है। इस समय देश के विभिन्न भागों में २७·५८ लाख हस्तचालित करघे रजिस्टर्ड हैं।

गरीब लोग, विशेषकर ग्रामीण, करघे के कपड़े को इस कारण पसन्द करते हैं कि ये मिल के बने हुए कपड़ों की तुलना में कहीं अधिक मज़बूत और टिकाऊ होते हैं। अनेक विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों का उत्पादन, जिनका उपयोग मन्दगामी भारतीय रिवाजों द्वारा अनुमोदित है, मिलें नहीं कर सकतीं। यद्यपि उनकी कुल माँग बहुत अधिक है, किन्तु प्रत्येक प्रकार के लिए माँग इतनी कम है कि उनका फैक्ट्री में उत्पादन आर्थिक दृष्टिकोण से विचारणीय ही नहीं है। १६१४-१८ के युद्ध-काल में आयात किये गए कपड़े के ह्रास को पूरा करने में भारतीय मिलों की असमर्थता तथा युद्ध-समाप्ति के बाद के मिल के बने कपड़ों के बहुत ऊँचे मूल्य ऐसे कारण थे जिन्होंने बुनकरों को बहुत मदद दी। १६२२ के बाद विदेशी (विशेषकर जापान से) और भारतीय मिलों की बढ़ी हुई प्रतिस्पर्धा से बुनकरों को अधिक हानि हुई, यद्यपि अधिक कुशल और साहसी व्यक्तियों ने रेशम की बुनाई तथा गोटे की कढ़ाई का काम अपना

१. खण्ड १, अध्याय ५, पैरा १४ देखिए।
२. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५ देखिए।
३. विभिन्न राज्यों में सूती करघा उद्योग की तत्कालीन दशा के उत्कृष्ट विवरण के लिए सैंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट का पैरा २६६ देखिए। स्टेट एक्शन इन रिस्पैक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज, १६२८-३५, अध्याय ३ भी देखिए। बम्बई राज्य के हाल के सर्वेक्षण के लिए (१६४०) देखिए, बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा ७०-३।

इस योजना के अन्तर्गत कोलम्बो, अदन, सिंगापुर, क्वालालाम्पुर तथा बैंकाक में इम्पोरियम खोले गए हैं। १९५८-५९ में इस योजना के अन्तर्गत २४.४८ लाख रु० की बिक्री हुई। सूती खादी हाथ करघे को प्रोत्साहन मिला और खादी १९६२-६३ में ६.७ करोड़ रुपया थी। तीसरी योजना के अन्त तक खादी का कुल उत्पादन १०० से ११० मिलियन गज हो गया। चौथी योजना का लक्ष्य ५,००० मिलियन गज सब प्रकार के खादी के कपड़े का लक्ष्य है।

४०. ऊनी उद्योग—किसी-न-किसी रूप में ऊनी वस्तुओं का उत्पादन देश के सब भागों में पाया जाता है, क्योंकि भेड़ हर स्थान पर पाया जाने वाला जानवर है। उनकी किस्म प्रत्येक स्थान पर भिन्न है। मैदानी भेड़ों की तुलना में पहाड़ी भेड़ों का ऊन सामान्यतया अच्छी किस्म का होता है। ऊनी करघा-उद्योग ४०,००० लोगों को आंशिक समय के लिए काम देता है।

मुग़ल काल में ऊनी क़ालीनों का निर्माण उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। क़ालीनों की माँग, विशेषकर शाही दरबारों और अमीरों के यहाँ से होती थी। अतएव उद्योग के स्वाभाविक स्थान राजधानी के प्रमुख नगर थे, यद्यपि मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद यह अन्य केन्द्रों में स्थापित हो गया। साम्राज्य के पतन ने व्यवहारत: कालीनों की स्थानीय माँग को समाप्त कर दिया, किन्तु ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के बाद इसका स्थान बाहरी माँग ने ले लिया। यद्यपि बाहरी माँग ने कारीगरों के आर्थिक विनाश को रोकने में मदद की, परन्तु वस्तुओं की उत्कृष्टता के ह्रास के लिए यही उत्तरदायी थी। इसने बाहर से भेजे गए नमूनों के आधार पर सस्ती वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। वर्तमान काल में भारत में क़ालीन की बुनाई लगभग पूर्णतया विदेशी माँग पर निर्भर है, जिसमें पूर्ण उत्पादन के ९० प्रतिशत भाग की खपत होती है।

ब्रिटिश काल के पूर्व शॉलों के निर्माण में भारत ने, विशेषकर काश्मीर और पंजाब ने, बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और मुग़ल विशेष रूप से इसके विकास में रुचि लेते थे। १८३० के अकाल से उद्योग को ऐसा गम्भीर धक्का पहुँचा जिससे यह पुन: पनप न सका तथा काश्मीर राज्य में लगाये गए अनेक करों से इसकी कठिनाइयाँ और बढ़ गईं। यूरोप से निर्यात-व्यापार का विकास, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में शुरू हुआ, उद्योग के पतन को रोकने में सहायक सिद्ध हुआ और अनुमान किया जाता है कि किसी समय इसमें १५,००० मज़दूर काम करते थे। किन्तु १८७१ के फ्रांस-जर्मन युद्ध के कारण इसकी यूरोपीय माँग एकदम कम हो गई। यह आकस्मिक रोक अस्थायी प्रकृति की भी नहीं थी, क्योंकि यूरोप में शॉल शीघ्र ही फ़ैशन से बाहर हो गए और युद्ध के बाद भी व्यापार में पुनरुत्थान का अनुभव नहीं हुआ। इस परिणाम में योग देने वाला अन्य कारण स्कॉटलैण्ड में पैसले नामक स्थान

इन्क्वायरी कमेटी का रि०

इस योजना के अन्तर्गत कोलम्बो, अदन, सिंगापुर, क्वालालाम्पुर तथा बैंकाक में इम्पोरियम खोले गए हैं। १९५८-५९ में इस योजना के अन्तर्गत २४.४८ लाख रु० की बिक्री हुई। सूती खादी हाथ करघे को प्रोत्साहन मिला और खादी १९६२-६३ में ६·७ करोड़ रुपया थी। तीसरी योजना के अन्त तक खादी का कुल उत्पादन १०० से ११० मिलियन गज़ हो गया। चौथी योजना का लक्ष्य ५००० मिलियन गज़ सब प्रकार के खादी के कपड़े का लक्ष्य है।

४०. ऊनी उद्योग—किसी-न-किसी रूप में ऊनी वस्तुओं का उत्पादन देश के सब भागों में पाया जाता है, क्योंकि भेड़ हर स्थान पर पाया जाने वाला जानवर है। उनकी किस्म प्रत्येक स्थान पर भिन्न है। मैदानी भेड़ों की तुलना में पहाड़ी भेड़ों का ऊन सामान्यतया अच्छी किस्म का होता है। ऊनी करघा-उद्योग ४०,००० लोगों को आंशिक समय के लिए काम देता है।

मुग़ल काल में ऊनी क़ालीनों का निर्माण उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। क़ालीनों की माँग, विशेपकर शाही दरबारों और अमीरों के यहाँ से होती थी। अतएव उद्योग के स्वाभाविक स्थान राजधानी के प्रमुख नगर थे, यद्यपि मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद यह अन्य केन्द्रों में स्थापित हो गया। साम्राज्य के पतन ने व्यवहारतः कालीनों की स्थानीय माँग को समाप्त कर दिया, किन्तु ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के बाद इसका स्थान बाहरी माँग ने ले लिया। यद्यपि बाहरी माँग ने कारीगरों के आर्थिक विनाश को रोकने में मदद की, परन्तु वस्तुओं की उत्कृष्टता के ह्रास के लिए यही उत्तरदायी थी। इसने बाहर से भेजे गए नमूनों के आधार पर सस्ती वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। वर्तमान काल में भारत में क़ालीन की बुनाई लगभग पूर्णतया विदेशी माँग पर निर्भर है, जिसमें पूर्ण उत्पादन के ९० प्रतिशत भाग की खपत होती है।

ब्रिटिश काल के पूर्व शॉलों के निर्माण में भारत ने, विशेपकर काश्मीर और पंजाब ने, बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और मुग़ल विशेप रूप से इसके विकास में रुचि लेते थे। १८३० के अकाल से उद्योग को ऐसा गम्भीर धक्का पहुँचा जिससे यह पुनः पनप न सका तथा काश्मीर राज्य में लगाये गए अनेक करों से इसकी कठिनाइयाँ और बढ़ गईं। यूरोप से निर्यात-व्यापार का विकास, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में शुरू हुआ, उद्योग के पतन को रोकने में सहायक सिद्ध हुआ और अनुमान किया जाता है कि किसी समय इसमें १५,००० मज़दूर काम करते थे। किन्तु १८७१ के फ्रांस-जर्मन युद्ध के कारण इसकी यूरोपीय माँग एकदम कम हो गई। यह आकस्मिक रोक अस्थायी प्रकृति की भी नहीं थी, क्योंकि यूरोप में शॉल शीघ्र ही फ़ैशन से बाहर हो गए और युद्ध के बाद भी व्यापार में पुनरुत्थान का अनुभव नहीं हुआ। इस परिणाम में योग देने वाला अन्य कारण स्कॉटलैण्ड में पैसले नामक स्थान पर शॉलों के निर्माण का आरम्भ था।

१९३९-४५ के युद्धकाल में सेना के लिए कम्बलों की विशाल माँग के कारण ऊनी (हस्तचालित) करघा-उद्योग को बहुत लाभ हुआ, चूँकि इंगलैंड द्वारा दिये गए

मार्च, १६४० तक पाँच वर्ष के लिए १००,००० रुपये की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया। गत वर्षों में कृत्रिम रेशम के सूत का आयात बढ़ता रहा। आयात व्यापार की सभी शाखाओं में जापान का प्रभुत्व था, किन्तु उस देश में कृत्रिम रेशम-उद्योग में अवसाद और चीन-जापान युद्ध के आरम्भ होने के बाद कच्चे माल की प्राप्ति की कठनाइयों के फलस्वरूप इटली ने १६४० में युद्ध में उतरने से पहले ही जापान को प्रथम स्थान से च्युत कर दिया।

१६४८ में केन्द्रीय रेशम परिषद् अधिनियम पास किया गया। इसके अन्तर्गत १६४६ में भारत सरकार ने केन्द्रीय रेशम परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् पर भारत में रेशम-उद्योग को विकसित करने का उत्तरदायित्व है। उद्योग के विकास की सही नींव डालने के लिए परिषद् ने रेशम की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों में अनुसंधान पर ज़ोर दिया। विदेशों से विशेषज्ञ भी बुलाये गए। उदाहरणार्थ, १६५७-५८ में श्री शोहइ कारासवा, जो एशिया की रेशम उत्पादन और रेशम उद्योग समिति के प्रमुख मन्त्री हैं, को आमन्त्रित किया गया। इन्होंने रेशम के कीड़ों को पालने के सम्बन्ध में प्रयोग किये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिषद् के कार्यक्रम का उद्देश्य उद्योग को आत्मनिर्भर बनाने का है। द्वितीय योजना में रेशम-उत्पादन और रेशम-उद्योग के लिए ६.५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई। बाद में राशि घटाकर ४.४८ करोड़ रु० कर दी गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना की १.३ करोड़ रु० की नगण्य राशि की तुलना में द्वितीय योजना के अन्तर्गत उद्योग पर काफी ध्यान दिया गया है। जनवरी से लेकर जून, १६५६ तक कच्चे रेशम का उत्पादन १२,७७,३२१ पौंड था, जबकि इसी अवधि में १६५८ में १२,७१,८७४ पौंड का उत्पादन हुआ था। राज्यीय व्यापार निगम ने अप्रैल से दिसम्बर १६५६ तक ५६,८३,१६१ रु० के मूल्य के ३,३२,८६० पौंड कच्चे रेशम का आयात किया। कते हुए रेशमी सूत का भी आयात किया गया और १.५० लाख रु० की अनुज्ञाएँ (licences) प्रदान की गईं।

अप्रैल, १६४० में रेशम और रेशम से बनी वस्तुओं पर लगाये हुए संरक्षण-करों को दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। भारतीय रेशम-उद्योग के पाँच वर्ष के संरक्षण और आयात-कर में सर्वत्र वृद्धि के लिए १६३८ के प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई सिफारिशों को १६४२ में अपनाया गया और संरक्षण-कर पाँच वर्ष के लिए बढ़ाकर २५ प्रतिशत + १४ आना प्रति पौंड + कुल कर का $\frac{1}{5}$ कर दिये गए।

इधर हाल में रेशम-उत्पादन उद्योग के सम्बन्ध में प्रशुल्क-आयोग ने सरकार को अपनी रिपोर्ट १६५२ में दी। १६५३-५४ में प्रशुल्क-आयोग ने १ जनवरी १६५४ से पाँच वर्ष के लिए संरक्षण बढ़ा देने की सिफारिश की। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया, किन्तु करों की दरों में कोई परिवर्तन नहीं किया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में २३ लाख किलोग्राम मलबरी सिल्क तथा अन-मलबरी सिल्क (Non-Mulberry) सिल्क का लक्ष्य था। सरकार ने मार्च १६६४ में राँची तथा लख्खा (मध्य प्रदेश) में टस्सर सिल्क सर्वेक्षण स्टेशन बनाये हैं।

उद्योग द्वारा औद्योगीकरण की योजना कार्यान्वित की जा सके। उद्योग के प्रकार-आकार, विपणन आदि के सम्बन्ध में सरकार ने डॉ० यूजीन स्टैली को एक परामर्शदाता के रूप में आमन्त्रित किया। विपणन-निगम की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं के लिए न्यूयार्क यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर लिकन क्लार्क को भी आमन्त्रित किया गया था।

११ जून, १९५५ को सरकार ने लघु प्रमाप उद्योगों को 'प्रसार सेवा' प्रदान करने के लिए चार प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। ये संस्थाएँ कलकत्ता, बम्बई, फरीदाबाद और मद्रास में स्थापित की जाएँगी। प्रत्येक संस्था में ३० से अधिक अधिकारी होंगे, जो अधिकतर प्राविधिक विशेषज्ञ होंगे। प्रत्येक संस्था सादी मशीनों और अच्छे औजारों का प्रयोग दिखाने के लिए आदर्श कार्यशालाएँ स्थापित करेगी तथा उनका प्रचार करेगी।

उदाहरणार्थ, केन्द्रीय सरकार यन्त्र-सम्बन्धी व्यय का ७५% तथा भूमि और जमीन-सम्बन्धी व्यय का ५०% अनुदान के रूप में देती है, यदि आदर्श कार्यशालाओं आदि के लिए राज्य सरकार इनकी सिफारिश कर दे।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर-उद्योगों को औद्योगिक सहकारी समितियों के संगठन द्वारा विकसित करने की नीति अपनाई गई है। जैसे कुटीर-उद्योग और बड़े पैमाने के उद्योग में प्रतिस्पर्धा हो, वहाँ एक सामान्य उत्पादन योजना (common production programme) अपनाने की सिफारिश की गई है।

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना में २१८ करोड़ रुपया ग्राम तथा कुटीर-उद्योगों पर व्यय किया गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना में २६४ करोड़ रुपया इसके लिए निर्धारित किया गया। इस प्रकार इन कुटीर-उद्योगों का अंशदान राष्ट्रीय आय में १९५०-५१ में ९१० करोड़ से बढ़कर १९६२-६३ में १२१० करोड़ रुपया हो गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में मूल आधार इन कुटीर-उद्योगों के लिए इस प्रकार है कि प्रत्येक श्रमिक (Artisan) को उत्पादन के बढ़ाने में उसका हाथ हो तथा स्वामित्व में उनका स्थान बढ़े। इस विकेन्द्रीकरण की नीति को बढ़ाने के लिए १० सुझावों की एक आर्थिक नीति बनाई गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र में ४५० करोड़ रुपया तथा ४०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में खर्चा जाएगा।

४४. योजना एवं औद्योगिक उन्नति—पहली दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में, विशेष रूप से दूसरी योजना में उद्योगों की भिन्न-भिन्न शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। तीन बड़े लोहे तथा इस्पात के कारखाने सरकारी क्षेत्र में खोले गए तथा निजी क्षेत्र के

उद्योग अनुसन्धान विद्यालय की स्थापना की सिफारिश की। यह विद्यालय केवल औज़ारों तथा उत्पादन की विद्यमान विधियों में सुधार का ही प्रयत्न नहीं करेगा, वरन् नवीन कुटीरोद्योगों के आरम्भ करने की सम्भावनाओं की भी खोज करेगा।

दस्तकारी में लगे मनुष्यों को आवश्यक पूंजी प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की कि उद्योगों के संचालक द्वारा कुछ दशाओं में छोटे ऋण दिये जाने चाहिएं या यन्त्र और औज़ार 'किराये पर खरीद की पद्धति' पर प्रदान करने चाहिएँ ताकि अन्त में वे कारीगर की सम्पत्ति हो जाएँ। जर्मनी के खिलौने के उद्योग और जापान के कुटीर-उद्योग अपनी सफलता के लिए उन व्यावसायिक संगठनों के अस्तित्व के ऋणी थे जो उनकी उत्पादित वस्तुओं को खरीदकर देश-विदेश में विक्रय करते थे। इस समय भारत में विदेशी बाज़ार तो उपेक्षित हैं ही, परन्तु घरेलू बाजार का भी भलीभाँति विकास नहीं किया जा रहा है। बम्बई के स्वदेशी-भण्डार 'देश में बनी वस्तुओं को देश के भीतर वितरित करने वाली सक्रिय और सफल एजेंसी' के उत्तम तथा अनुकरणीय उदाहरण हैं। बम्बई के उद्योग-विभाग ने कुटीर-उद्योगों के उत्पादनों को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से बम्बई में एक विक्रय-गोदाम (सेल्स डिपो) खोल रखा है। इसी लक्ष्य से बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सामयिक प्रदर्शनियों के प्रबन्ध तथा स्थायी संग्रहालयों के निर्माण की सिफारिश की थी।[1]

१९३४ के छठे औद्योगिक सम्मेलन में करघे से बनायी हुई वस्तुओं के विक्रय के प्रश्न पर विचार किया गया और उसके बाद मद्रास, बम्बई, मध्य प्रान्त और बरार, बिहार और उड़ीसा आदि की प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी प्रयत्नों के आधार पर अनेक आशाप्रद योजनाएँ अपनायीं। बम्बई में मुख्य-मुख्य केन्द्रों पर आठ ज़िला सहकारी संस्थाएं बनायी गई हैं। प्रत्येक संस्था की अपनी दूकान है जो सामान भेजने के लिए कुछ अग्रिम लेती है और करघा-बुनकरों की बनायी हुई वस्तुएँ कमीशन के आधार पर बेचती है। एक विक्रय-अधिकारी और एक वस्त्र-डिज़ाइनर की भी नियुक्ति की गई है।[2] बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी सिफारिश की थी कि प्रत्येक ज़िले में एक स्थानीय परामर्शदात्री समिति की सहायता से ज़िला उद्योग-अधिकारी के आधीन एक ज़िला औद्योगिक संस्था होनी चाहिए।[3]

४४. कुटीर-उद्योगों की राजकीय सहायता के हाल के उपाय—भारत सरकार कुछ वर्षों से कुटीर-उद्योगों, विशेषकर सूती (हस्तचालित) करघा-उद्योग रेशम पैदा करने के उद्योग के उत्पादन में मनोयोग से लगी हुई है। जुलाई, १९३४ में हुए छठे अन्तर्प्रान्तीय उद्योग सम्मेलन ने देश के प्रधान कुटीर-उद्योग—करघा-उद्योग—के

१. रिपोर्ट, पैरा २०८।

२. विभिन्न विक्रय-योजनाओं के सम्बन्ध में अन्य विवरण के लिए देखिए, 'स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इंडस्ट्रीज़' १९२८-३५, पृ० २६-९; और बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा १५६।

३. रिपोर्ट, पैरा २०१ और २१२।

उद्योग द्वारा औद्योगीकरण की योजना कार्यान्वित की जा सके। उद्योग के प्रकार-आकार, विपणन आदि के सम्बन्ध में सरकार ने डॉ० यूजीन स्टेली को एक परामर्श-दाता के रूप में आमन्त्रित किया। विपणन-निगम की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं के लिए न्यूयार्क यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर लिंकन क्लार्क को भी आमन्त्रित किया गया था।

११ जून, १९५५ को सरकार ने लघु प्रमाप उद्योगों को 'प्रसार सेवा' प्रदान करने के लिए चार प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। ये संस्थाएँ कलकत्ता, बम्बई, फरीदाबाद और मदुराई में स्थापित की जाएँगी। प्रत्येक संस्था में ३० से अधिक अधिकारी होंगे, जो अधिकतर प्राविधिक विशेषज्ञ होंगे। प्रत्येक संस्था सादी मशीनों और अच्छे औज़ारों का प्रयोग दिखाने के लिए आदर्श कार्यशाखाएँ स्थापित करेगी तथा उनका प्रचार करेगी।

उदाहरणार्थ, केन्द्रीय सरकार यन्त्र-सम्बन्धी व्यय का ७५% तथा भूमि और जमीन-सम्बन्धी व्यय का ५०% अनुदान के रूप में देती है, यदि आदर्श कार्यशालाओं आदि के लिए राज्य सरकार इनकी सिफारिश कर दे।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर-उद्योगों को औद्योगिक सहकारी समितियों के संगठन द्वारा विकसित करने की नीति अपनायी गई है। जैसे कुटीर-उद्योग और बड़े पैमाने के उद्योग में प्रतिस्पर्धा हो, वहाँ एक सामान्य उत्पादन योजना (common production programme) अपनाने की सिफारिश की गई है।

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना में २१८ करोड़ रुपया ग्राम तथा कुटीर-उद्योगों पर व्यय किया गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना में २६४ करोड़ रुपया इसके लिए निर्धारित किया गया। इस प्रकार इन कुटीर-उद्योगों का अंशदान राष्ट्रीय आय में १९५०-५१ में ९१० करोड़ से बढ़कर १९६२-६३ में १२१० करोड़ रुपया हो गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में मूल आधार इन कुटीर-उद्योगों के लिए इस प्रकार है कि प्रत्येक श्रमिक (Artisan) को उत्पादन के बढ़ाने में उसका हाथ हो तथा स्वामित्व में उनका स्थान बढ़े। इस विकेन्द्रीकरण की नीति को बढ़ाने के लिए १० सुझावों की एक आर्थिक नीति बनाई गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र में ४५० करोड़ रुपया तथा ४०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में खर्चा जाएगा।

४४. योजना एवं औद्योगिक उन्नति—पहली दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में, विशेष रूप से दूसरी योजना में उद्योगों की भिन्न-भिन्न शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। तीन नये लोहे तथा इस्पात के कारखाने सरकारी क्षेत्र में खोले गए तथा निजी क्षेत्र के कारखानों की उत्पत्ति का दुगुना कर दिया गया। इसके अतिरिक्त बिजली, भारी मशीनों, इंजीनियरिंग तथा सीमेण्ट बनाने की मशीनों का राष्ट्र में पहली बार उत्पादन आरम्भ हुआ। रासायनिक तथा उसकी शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। यूरिया, अमोनियम फासफेट, पैन्सलीन का उत्पादन शुरू हुआ। साइकिल, कपड़े सीने की मशीनें तथा टेलीफोन इत्यादि उद्योगों का उत्पादन तेजी से बढ़ा। इन दस वर्षों में

अध्याय १६

औद्योगिक श्रम

१. श्रम-सम्बन्धी बढ़ती हुई समस्याएँ—हमारे औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण यद्यपि यहाँ श्रम-समस्या यूरोपीय देशों के समान कठिन नहीं है, परन्तु उनके जैसी होने में अब देर भी नहीं है। १९१४-१८ के महायुद्ध के साथ आए नव-जागरण ने श्रमिक-वर्ग को उनके महत्त्व तथा अधिकारों के प्रति अधिक सजग बना दिया है। लीग ऑफ़ नेशन्स भी स्वीकार कर चुकी है कि भारतवर्ष संसार के आठ प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों में एक है। अब सरकार और जनता दोनों ही राष्ट्रहित में, कुशल और सन्तुष्ट श्रम के महत्त्व को अनुभव करने लगी हैं। मई, १९२९ में माननीय जे० एच० ह्विटले की अध्यक्षता में 'राजकीय श्रम-आयोग' (रॉयल कमीशन ऑन लेबर) की नियुक्ति इस बात की पुष्टि थी। आयोग की सिफारिशें सरकार की श्रमनीति का आधार मानी जा चुकी हैं और हाल के श्रम-सम्बन्धी कानूनों को उन्होंने काफी प्रभावित किया है।[१] बम्बई सरकार का यह कार्यक्रम अखिल भारतीय श्रमनीति के आधार-रूप में स्वीकृत हो चुका है। काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने श्रम-सम्बन्धी कानूनों के क्षेत्र में बहुत ही क्रियाशीलता दिखाई है। नवम्बर, १९३९ में उनके पद-त्याग के बाद इस दिशा में शिथिलता आना अवश्यम्भावी था। पर इधर द्वितीय महायुद्ध ने श्रम-समस्या को पुनः प्रमुखता प्रदान की, क्योंकि श्रमिक-वर्ग ने इस बार प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप में संगठित होकर मँहगाई तथा अन्य रियायतों की सफल माँग की है।

२. औद्योगिक श्रम की पूर्ति और उसका देशान्तर-गमनीय स्वभाव—कारखानों के क्षेत्र का लालन-पालन पश्चिमी देशों के श्रमिक की श्रेष्ठता के लिए बहुत-कुछ उत्तरदायी है, पर इस देश के कारखानों का श्रमिक तो प्रायः प्रवासी होता है और शायद ही कभी गाँव से सम्बन्ध-विच्छेद करता हो। पर यह भी कहना ठीक नहीं कि भारतीय कारखाने का प्रतिनिधि श्रमिक असल में खेतिहर है जो अस्थायी रूप से कृषि-कार्य छोड़कर अपनी आय बढ़ाने के लिए शहर में आता है। अधिकांश मजदूरों का शीघ्र ही गाँव को लौटना तथा एक कारखाने में अधिक दिन न टिकना अवश्य ही इस बात का द्योतक है कि वे कृषि-कार्य अल्पकाल के लिए ही छोड़ते हैं। खेती से आर्थिक

की आदत रहती है। इसके विपरीत औद्योगिक श्रमिक होने पर अनुशासित जीवन में उसे नियमित रूप से लगातार कई घंटे काम करना पड़ता है, इससे उसके स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। उसके बार-बार गाँव लौटने तथा अन्य कारणों से मालिक और श्रमिक के बीच सम्पर्क की घनिष्ठता नष्ट हो जाती है और उनमें प्रभावपूर्ण संगठन का भी अभाव हो जाता है। श्रमिक जब लम्बी अनुपस्थिति के बाद लौटता है तो यह निश्चित नहीं होता कि उसे काम मिलेगा ही। पुनः काम मिलने की कठिनाइयाँ उसे साहूकार, मजदूरों के ठेकेदार, शराब बेचने वाले आदि की दया पर आश्रित कर देती हैं।[1]

जिस प्रकार गाँवों के आर्थिक भार को नगर-प्रवास हल्का कर देता है, उसी प्रकार गाँव नगरों की वृत्तिहीनता के प्रति एक प्रकार की सुरक्षा (बीमा) प्रदान करते हैं। ग्रामीण और नागरिक जीवन का संयोग दोनों (नगरों और गाँवों) के लिए हितकर होता है। इससे ग्रामीण जीवन में बाहरी दुनिया का थोड़ा-सा ज्ञान आ जाता है तथा पुरानी जर्जर प्रथाओं की शृंखला तोड़ने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार नागरिकों को भारतीय जीवन की वास्तविकताओं का सूक्ष्म ज्ञान होता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर श्रम-आयोग का सुविचारित मत यह था कि इस समय गाँवों से सम्बन्ध की कड़ी को बनाए रखना लाभदायक है और उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाप्त करने के बजाय इसे सुनियमित और प्रोत्साहित किया जाए। (देखिए श्र० आ० प्र० १७-२०)

४. औद्योगिक श्रम का प्रभाव—हम भारतीय औद्योगिक श्रम की कमी और महँगेपन की ओर संकेत कर चुके हैं।[2] इस अभाव के वास्तविक कारण बम्बई-जैसे नगरों में गृह और निवास की भयंकर परिस्थिति, कम मजदूरी और रहन-सहन का ऊँचा व्यय तथा मजदूरों को भरती करने के लिए सुव्यवस्थित संगठन का अभाव है। इन सबके अतिरिक्त समय-समय पर प्लेग और इनफ्लुएंजा तथा अकाल से होने वाली अधिक संख्या में मृत्यु भी श्रम की कमी को और बढ़ा देती है। श्रम का देशान्तर-गमनीय स्वभाव इस कमी का अनुभव और तीव्र कर देता है। कुशल श्रम का एक प्रकार से अभाव ही है। इसका कारण यह है कि यहाँ आधुनिक उद्योगों के लिए श्रमिकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं का अभाव है। प्राविधिक एवं व्यापारिक अनुभव से युक्त मिस्त्री अथवा फोरमैन-वर्ग के अभाव का कारण साधारण शिक्षित-वर्ग की हर प्रकार के हाथ के काम के प्रति अरुचि भी है।

५. भरती करने का ढंग—अब भी अधिकांश मिलों के प्रबन्धक सीधे-सीधे ही आवश्यक श्रम की भरती नहीं करते। कुछ हालतों में ठेकेदारों द्वारा गाँवों में घूम-घूमकर भरती करना आवश्यक हो सकता है। उदाहरणार्थ, आसाम के चाय के बगीचों में ऐसा ही होता है; परन्तु अब साधारणतया ऐसा नहीं होता। लेकिन अब भी सामान्यतः

छुट्टी देने के प्रश्न पर भी विवाद हुआ। सम्मेलन ने इस प्रश्न पर केन्द्रीय अधिनियम का पक्ष लिया।

भरती करने के ढंग को अधिक युक्तियुक्त बनाने की कोशिश की जा रही है। सरकार ने प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों पर रोज़गार-सेवा (Employment Service) की स्थापना द्वारा नियोक्ताओं के लिए अपनी आवश्यकतानुसार श्रमिकों को भरती करने का अवसर दिया है। अनेक राज्यों में Decasualization Schemes चालू हैं। उत्तर प्रदेश में इनके अन्तर्गत १९५८ में ९,८९१ व्यक्ति रोज़गार के लिए रजिस्टर किये गए तथा ८,५९२ को रोज़ी मिली। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की योजनाएँ चालू हैं।

६. पारिश्रमिक देने की अवधि—बम्बई की प्रायः सभी मिलों में वेतन माहवारी दिया जाता है। यह अगले महीने की ८ तारीख को दिया जाता है। इस प्रकार भरती होने के बाद नये मज़दूर को वेतन के लिए छः सप्ताह तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मासिक वेतन देने से काम छोड़ने वाले श्रमिक को यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक महीने पहले सूचना दे। कितने ही श्रमिक इस नियम की अज्ञानता में बिना सूचना दिए ही काम छोड़ देते हैं और इस प्रकार एक महीने के वेतन से हाथ धो बैठते हैं। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रम की अवधि जितनी ही लम्बी होगी, पारिश्रमिक मिलने में उतनी ही देर भी होगी। कलकत्ता की जूट-मिलों में साप्ताहिक पारिश्रमिक मिलता है, अतः केवल एक सप्ताह की ही मजदूरी रुकी रहती है। अहमदाबाद में मजदूरी दो सप्ताह बाद मिलती है अर्थात् १४ या १६ दिन बाद।

१९३६ में पास किये गए पारिश्रमिक देने के अधिनियम के अनुसार (१) मज़दूरी की अवधि एक महीने से अधिक न रखी जाए,[1] (२) सब मज़दूरी सिक्कों या करैंसी नोटों में दी जाए, (३) १००० से अधिक कर्मचारियों के रेलवे या अन्य किसी भी औद्योगिक कारखाने में प्रत्येक व्यक्ति की मज़दूरी ७वें दिन के समाप्त होने के पूर्व मिल जानी चाहिए और अन्य रेलवे तथा औद्योगिक कारखानों में मज़दूरी की अवधि के अन्तिम दिन से दसवें दिन तक अवश्य मिल जानी चाहिए।

पारिश्रमिक भुगतान (संशोधन) अधिनियम १९५७ में पास किया गया और पहली अप्रैल १९५८ से यह अधिनियम लागू किया गया। संशोधित नियम के अन्तर्गत ४०० रु० प्रतिमाह तक पाने वाले व्यक्ति हैं, जबकि १९३६ के अधिनियम के अन्तर्गत २०० प्रतिमाह तक पाने वाले व्यक्ति ही थे।

७. मजदूरी में से कटौती—१९५७ के संशोधित अधिनियम के अनुसार नियोक्ता,

---

१. श्रम सदस्यों द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त अधिनियम का संशोधन, जिसमें १५ दिन से ७ दिन पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था थी, बहुमत न प्राप्त कर सका। इसका प्रधान कारण मासिक वेतन पाने वालों का विरोध था। उनका कहना था कि मकान का किराया और खर्च के बिल महीने पर आएँगे और उन्हें तनख्वाह सप्ताह पर मिलेगी, तब तक वह समाप्त हो जाएगी—'इण्डियन ईअर बुक' १९४४-४५, पृ० ५१५।

जाएगा ।

९. मिलों में काम करने की कठोर परिस्थिति—हवा और प्रकाश का प्रबन्ध कपड़े की मिलों में पर्याप्त कठिनता प्रस्तुत करता है। बम्बई-जैसे शहरों में मिलें कई मंजिलों में होती हैं। अन्तिम मंजिल को छोड़कर शेष मंजिलों में छत से प्रकाश नहीं आ सकता। जितने भी प्रयोग किये गए हैं उनसे मालूम हुआ है कि गरमी में पर्याप्त रूप से हवादान न होने से कुशलता में २० प्रतिशत तक कमी हो जाती है। नमीकरण एक अन्य कठिन समस्या है। भारत की जलवायु स्वत: नम नहीं है। कपड़े की बुनाई के लिए इसी प्रकार की जलवायु आवश्यक है। कपड़े के धागे को टूटने से बचाने के लिए कारखानों में कृत्रिम उपायों से नमी रखना आवश्यक हो जाता है। जब इस प्रकार का नमीकरण अन्दर भाप पहुँचाकर तथा गन्दे पानी के प्रयोग से किया जाता है तो यह काम करने वालों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। भारत सरकार ने इस विषय के एक विशेषज्ञ की नियुक्ति की है जिसका काम नमीकरण की सर्वोत्तम विधि बताना है।

जलपान-गृहों की अत्यन्त आवश्यकता है जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों वर्गों के लोग जा सकें। पीने के लिए शुद्ध जल की पूर्ति, स्नान-सम्बन्धी व्यवस्था—जो कि एक गरम देश में अत्यन्त आवश्यक है—स्वच्छ शौचालय आदि अन्य बातें हैं जिन पर श्रमिक की सुविधा और कुशलता बढ़ाने के दृष्टिकोण से अभी तक नियोक्ताओं ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिकों की सुरक्षा और कल्याण के लिए अधिनियमों द्वारा भी काम करने की परिस्थितियों में सुधार करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए, भारतीय डॉक श्रमिक अधिनियम १९३४ (Indian Dock Labourers Act, 1934), जो १० फरवरी १९४८ से लागू हो सका, के अन्तर्गत कार्य के स्थान पर मेड़बन्दी और उचित प्रकाश, तथा उन स्थानों की पहुँच को सुरक्षित करने की व्यवस्था है। १९५३ में इस अधिनियम में पुन: संशोधन किये गए।

१०. भारतीय कारखानों में अनुपस्थिति—भारतीय श्रमिकों के एक बड़े भाग (प्रतिशत) की अनुपस्थिति कारखानों के काम को अत्यन्त ही कठिन बना देती है। मिल-मालिकों का कथन है कि बोनस तथा मजदूरी बढ़ने या मिलने से अनुपस्थिति बहुत बढ़ जाती है। भारतीय श्रमिक जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन मिल जाने पर सन्तुष्ट हो जाता है। अनुपस्थिति की मात्रा (जो बम्बई में ८ से १२ प्रतिशत तक है) मौसम के अनुसार भी बदलती रहती है। यह मानसून के समय तथा विवाहादि अवसरों पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, अर्थात् मार्च से जून तक बहुत अधिक होती है तथा दिसम्बर और जनवरी में सबसे कम रहती है।

उपस्थिति के लिए भत्ते (अलाउन्स) देकर कुछ सफलता प्राप्त की गई है। टैक्सटाइल टैरिफ बोर्ड (वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल) ने श्रम-संचय के निर्माण पर ज़ोर दिया है। इससे अस्थायी 'बदली वालों' की आवश्यकता न पड़ेगी और छुट्टी देने के काम में भी सरलता होगी (रिपोर्ट, पैरा ६०)।

एक कारखाने से दूसरे कारखाने में श्रम के आने-जाने से भी अनुपस्थिति अधिक

तो यह सर्वमान्य है कि पाश्चात्य श्रमिक की तुलना में भारतीय श्रमिक अकुशल है।[1]

१२. भारतीय श्रम की अकुशलता के कारण—अकुशलता के कुछ स्थायी कारण हैं, परन्तु कुछ अस्थायी और उपचार-योग्य कारण भी हैं। प्रथम प्रकार के कारणों में भारत की जलवायु का नाम लिया जा सकता है जो कि अधिक ऊँची कार्यक्षमता के प्रतिकूल है। उदाहरण के लिए, यदि हम कपास के उद्योग के बारे में सोचें तो भारत की मिलों की अपेक्षा लंकाशायर की ठण्डी और प्राणदायी जलवायु बहुत ही अनुकूल है। इस प्रकार लंकाशायर अधिक लाभप्रद स्थान पर स्थित है। भारत की उष्ण जलवायु को ध्यान में रखते हुएं यह भी कहा जा सकता है कि काम के घण्टे अब भी काफी लम्बे हैं और इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि भारतीय श्रमिक की ढील डालने और विश्राम लेने की आदत स्वास्थ्य-रक्षा का एक उपाय है जिसे वह अचेतन रूप से अधिक कठोर परिश्रम से अपनी शारीरिक रक्षा के लिए अपनाता है। यह निर्विवाद है कि भारतीय श्रमिक की शारीरिक शक्ति एक अंग्रेज़ की अपेक्षा कम है। इसके दो प्रधान कारण हैं—(१) बीमारी के कारण होने वाली हानियाँ, (२) भोजन में कमी। जैसा कि स्पष्ट है भारत के गाँवों में भी मलेरिया, प्लेग, हैज़ा, काला अज़ार, हुक-वर्म जैसी बीमारियाँ होती हैं, परन्तु घनी आबादी वाले औद्योगिक क्षेत्रों में उनका प्रभाव कहीं अधिक है। अंधेरी और घनी बसी कोठरियों (स्लम्स) में बीमारियाँ पलती हैं। इन स्थानों में उनके प्रसार की आदर्श दशाएँ होती हैं।

जहाँ तक भोजन की कमी का सवाल है, वह समस्त भारत से सम्बन्धित है और इसका विस्तृत विवेचन अध्याय ४ में किया जाएगा।

१३. आवास (हाउसिंग) की परिस्थितियाँ—अधिकांश औद्योगिक नगरों में ऐसी घनी आबादी और सफाई की दुर्व्यवस्था है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बहुत अंशों में यह श्रम की अकुशलता के कारण है। उन औद्योगिक क्षेत्रों में, जहाँ कारखाने नगर से कुछ दूर स्थित हैं, मजदूरों की आवास-सम्बन्धी समस्या अपेक्षाकृत सरल है। यही स्थिति कलकत्ता के औद्योगिक क्षेत्रों में भी है। इन स्थानों में बम्बई की अपेक्षा कम दाम पर भूमि मिल जाती है। यहाँ मज़दूरों के घर झोंपड़ियों की कतारें हैं जिन्हें बस्ती कहा जाता है। ये झोंपड़े मिल-मालिकों द्वारा नहीं बनाये गए है और मिलों में काम करने वालों को उचित किराये पर दिये जाते हैं। कुछ स्थानों, जैसे कानपुर, कलकत्ता और अहमदाबाद, में बुद्धिमान् नियोक्ताओं ने स्वयं श्रमिकों के लिए रहने के स्थान बनवाए हैं ताकि वे श्रम-बाज़ार पर प्रभाव स्थापित कर सकें

व्यवस्था के लिए उद्योग आयोग ने कुछ अपवादसहित नई फर्मों की स्थापना के लिए स्वीकृति देना बन्द करने की सिफारिश की ।[1] औद्योगिक विकास के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र चुनने, रेलवे के कारखाने नगर से उचित दूरी पर स्थापित करने, रेलवे, सरकार और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा अपने नौकरों को निवास-स्थान देने, उपनगर-निर्माण के लिए संचार-साधन के आयोजन तथा नगर में स्थित आवासों में रहने की संख्या का निश्चित प्रमाप तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा निर्माण-योजना बनाने और कार्यान्वित करने की सिफारिशें भी कीं । १६१४-१८ के युद्ध के उपरान्त बम्बई सरकार द्वारा इस समस्या को सुलझाने के लिए सुविस्तृत योजना तैयार की गई । इसके लिए ६ करोड़ के विकास-ऋण तथा बम्बई आने वाली सभी कपास पर १ रु० प्रति गाँठ के हिसाब से नगर-कर (टाउन ड्यूटी) लगाकर आवश्यक धन इकट्ठा किया गया। किन्तु इस प्रकार बनी कितनी ही चालें, विशेषकर 'वोरली' की चालें, लगभग दस साल तक खाली पड़ी रहीं । इनमें रहने के लिए मजदूरों के आकर्षित न होने के निम्न कारण थे—वहाँ तक पहुँचने की कठिनाइयाँ, बाजार-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव, उनका सीमेण्ट से बना होना—जिसके कारण वे गरमी में अधिक गरम तथा जाड़े में अत्यन्त ठण्डी रहती हैं—किराये की ऊँची दर तथा प्रकाश-सम्बन्धी व्यवस्था और पुलिस-सुरक्षा का अभाव । इन दोषों को दूर करने के लिए कुछ प्रयास किये गए हैं ।

कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद, मद्रास इत्यादि स्थानों में अधिक सुविधाजनक परिस्थितियाँ हैं । यहाँ पर मिल-मालिकों ने कर्मचारियों के हित पर अधिक ध्यान दिया है । इससे दोनों दलों को लाभ हुआ है । इस सम्बन्ध में एम्प्रेस मिल्स, नागपुर और टाटा के जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानों के प्रबन्धकों द्वारा किये गए आवास-सम्बन्धी स्तुत्य प्रयत्नों की चर्चा करना उचित है । इस समय कर्मचारियों के मकान की समस्या को हल करने में प्रधान कठिनाइयाँ निर्माण के लिए उचित स्थलों का अभाव, श्रम तथा भवन-निर्माण सामग्री की ऊँची कीमतें और अभाव हैं ।

श्रम आयोग ने अनेक प्रकार के सुझाव पेश किये—(१) भूमि प्राप्त करने के अधिनियम को इस प्रकार संशोधित किया जाए ताकि मिल-मालिक कर्मचारियों के हेतु मकान बनवाने के लिए भूमि प्राप्त कर सकें । अतएव १६३३ में स्वयं भारत सरकार ने इस अधिनियम को संशोधित किया । (२) प्रान्तीय सरकारें उद्योग और नगर-क्षेत्रों का सर्वेक्षण कर आवास-सम्बन्धी आवश्यकताओं का पता लगाएँ और सब दलों के सहयोग के लिए व्यावहारिक योजनाओं पर परस्पर-परामर्श का प्रबन्ध करें । (३) सरकार को एक निम्नतम मानदण्ड स्थापित करना चाहिए जिसमें घनफल, स्थान, हवादारी, प्रकाश आदि की उचित व्यवस्था हो । (४) जहाँ आवश्यक हो नगर आयोजन अधिनियम पास किये जाएँ । (५) प्रत्येक इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट पर वैध-रूप से श्रमिक-वर्ग के लिए भवन-निर्माण का उत्तरदायित्व रखा जाए । (६) सरकारी आवास-समितियों को प्रोत्साहन दिया जाए । (७) स्वास्थ्य, सफाई और आवास से सम्बन्धित उपनियमों को संशोधित एवं अद्यतन बनाया जाए और उन्हें कठोरता के

---

१. यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया और बम्बई खास में नई मिलें नहीं बनायी जातीं ।

से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दी गई। अक्तूबर, १९५८ में आवास-मन्त्रियों का तीसरा सम्मेलन दार्जिलिंग में हुआ। इसकी सिफारिशें सरकार के विचाराधीन हैं।

सभी राज्यीय सरकारें औद्योगिक आवास के कार्यक्रम में आगे बढ़ रही हैं। विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में आवश्यक विधान भी पास किये जा चुके हैं; उदाहरणार्थ, बाम्बे हाउसिंग एक्ट, मैसूर लेबर हाउसिंग एक्ट, १९४९, मध्य प्रदेश हाउसिंग बोर्ड एक्ट, १९५० तथा यू० पी० शुगर एण्ड पावर अलकोहल इण्डस्ट्रीज लेबर वेलफेअर एण्ड डेवलपमेण्ट एक्ट, १९५१। इसके लिए आवश्यक धन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अनुदान, नियोक्ताओं के अंशदान तथा काम करने वालों से प्राप्त किराये द्वारा मिलता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के १३ लाख घरों की तुलना में द्वितीय योजना के अन्तर्गत १९ लाख घर बनाने की व्यवस्था है। १९५८ में योजना के प्रारम्भ में प्रस्तावित १२० करोड़ रुपये की राशि घटाकर ८४ करोड़ रुपये कर दी गई। द्वितीय योजना के अन्तर्गत आवास-सम्बन्धी निम्न योजनाएँ चालू हैं :

(क) आर्थिक सहयता प्राप्त औद्योगिक आवास-योजना, (ख) गन्दी बस्तियों (स्लम्स) को हटाने की योजना, (ग) निम्न आय वाले वर्ग की आवास-योजना, (घ) रोपण-उद्योग के श्रमिकों की आवास-योजना, (च) ग्रामीण आवास-योजना तथा (छ) मध्यम आय वाले वर्ग की आवास-योजना। इनमें से, (क), (ख) और (ग) औद्योगिक श्रमिकों से सीधे-साधे सम्बन्धित हैं।

पहली योजना की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। गन्दी बस्तियों को हटाने की योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्यीय सरकारों को सहायता देती है। राज्यीय सरकार म्यूनिसिपल या अन्य स्थानीय निकायों को गन्दी बस्तियों के हटाने तथा उनमें रहने वालों को पुनः बसाने के लिए सहायता देती है।

नवम्बर, १९५८ तक २०.५५ करोड़ रुपये की लागत की १६१ ऐसी योजनाएँ आन्ध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल से प्राप्त हुईं। दिसम्बर, १९५८ तक १०३ योजनाएँ मंजूर हो चुकी थीं, जिनके अन्तर्गत १८,८४८ घर बनाने तथा ९,७४३ खुले हुए प्लाट का विकास सम्मिलित था।

१९. मजदूरी की दर—कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की प्रतिव्यक्ति वार्षिक (औसत) मजदूरी-सम्बन्धी आँकड़े विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों से पारिश्रमिक भुगतान अधिनियम १९३६ के अन्तर्गत एकत्रित किये जाते हैं। इन आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकालते समय सावधानी बरतने की जरूरत है। १९३६ के पारिश्रमिक भुगतान अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरी से अभिप्राय द्रव्य में प्रदर्शित करने योग्य उस सभी राशि से है जो काम के बदले में पूर्व-निर्धारित शर्तों के अनुसार मिले। इस राशि में निम्न सम्मिलित नहीं हैं—(क) मकान, प्रकाश, पानी इत्यादि का मूल्य; (ख) नियोक्ता द्वारा पेन्शन कोष अथवा पूर्वोपाय कोष के लिए दिया गया अंशदान; (ग) सफर का भत्ता या इस हेतु दी गई रियायतें; (घ) विशेष व्यय पूरा करने के लिए दी गई राशि; और (च) निकाले जाने पर प्राप्त राशि (gratuity)।

लकड़ी के टूटे सन्दूक, लोहे की चद्दर के बक्स, बाँस के डंडे, देशी कम्बल और कागज़ों पर बने कुछ पौराणिक चित्र।

भारत सरकार श्रमिक-परिवारों के रहन-सहन-सम्बन्धी सर्वेक्षण ५० प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में कर रही है। सर्वेक्षण-कार्य अगस्त-सितम्बर, १९५८ में प्रारम्भ किया गया। अनेक राज्य भी पारिवारिक बजट-सम्बन्धी जाँच कर रहे हैं।

१९६१ की जनगणना के अनुसार १.९ करोड़ मकान शहरों में हैं और प्रति गृह के हिस्से में १.९३ कमरे आते हैं। प्रति कमरा घर के सदस्य २.९ हैं। खाद्य के उपभोग पर ६१.४ प्रतिशत आय-भाग खर्चा जाता है। कोयले और बिजली पर ६.३ प्रतिशत, कपड़े पर ६.२ प्रतिशत।

१८. शराबखोरी पर व्यय—कारखानों में काम करने वालों में शराबखोरी बड़ी ही तीव्र गति से फैल रही है। लगभग कुल आय का ४ प्रतिशत शराब पर खर्च होता है। यह संख्या परिवार-बजट की साक्षी पर दी जा रही है। भंगी जैसे निम्न श्रेणी के श्रमिकों के मामले में यह संख्या १० प्रतिशत तक पहुँच जाती है। पुरुष श्रमिक (स्त्रियाँ शायद ही कभी पीती हैं) अपने दिन के कठोर श्रम को भूलने के लिए शराब की शरण लेता है। शराब पीने की अभिलाषा और गन्दे निवास-स्थान, काम करने की अस्वास्थ्यकर परिस्थिति, दरिद्रता तथा भोजन की कमी में कुछ अनिवार्य-सा सम्बन्ध है। यदि शराब पर खर्च किया जाने वाला धन अच्छा भोजन खरीदने में व्यय किया जाए तो भोजन की कमी कुछ अंश में घट जाए। श्रमिक न केवल दरिद्र है वरन् वह अपनी आय को अच्छी तरह व्यय करने में भी अयोग्य है। शराबखोरी पर होने वाला व्यय उसकी दरिद्रता को और बढ़ाता है तथा दरिद्रताजन्य परिस्थितियाँ शराबखोरी को और बढ़ाती हैं।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में शराबखोरी को पूर्णतया समाप्त करने के लिए कहा गया है। दिसम्बर, १९५४ में नियुक्त मद्य-निषेध जाँच-समिति की यह महत्त्वपूर्ण सिफारिश कि मद्य-निषेध की योजनाओं को विकास-योजनाओं का अंग बना देना चाहिए, ३१ मार्च १९५६ को संसद का समर्थन प्राप्त कर चुकी है। सभी राज्य इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। बम्बई मद्य-निषेध अधिनियम, १९४९ के १९५९ के संशोधन ने सम्पूर्ण बम्बई राज्य में (चन्दा ज़िले के विशेष रूप से उल्लिखित स्थानों को छोड़कर) मद्य-निषेध की घोषणा कर दी।

१९. ऊँची मजदूरी का पक्ष—नियोक्ताओं का कथन है कि यदि मज़दूरी अधिक दी जाती है तो उसका अधिकांश शराबखोरी में खर्च हो जाता है और श्रमिकों की सुस्ती बढ़ जाती है। श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि नहीं होती और न उनका जीवन-यापन का स्तर ही ऊँचा उठता है। प्रो० पीगू इस आक्षेप का निवारण निम्न शब्दों में करते हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि गरीबों की मनोवृत्ति अपने वातावरण के अनुकूल ढल जाती है, और अचानक आमदनी बढ़ जाने से अवश्य ही अनेक बेवकूफी के खर्च किये जाएँगे, जिनसे स्वभावतः आर्थिक सुख की अधिक वृद्धि या कुछ भी वृद्धि नहीं होती।

कर्मचारियों के लिए वेतन का एक नया ढाँचा स्वीकार करने की सिफारिश की है। इसके प्रस्ताव के अनुसार न्यूनतम वेतन ३० रुपये माहवार से कम न होना चाहिए और अधिकतम वेतन २००० रुपये माहवार से अधिक नहीं होना चाहिए।

१९४८ में न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम पास किया गया। यह अधिनियम केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों से अनुसूचित उद्योगों में नियत अवधि के भीतर कर्मचारियों की न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने की अपेक्षा रखता है। अधिनियम के अन्तर्गत कर्मचारी (employee) से अभिप्राय किसी भी किराये या पुरस्कार के बदले काम पर लगाये कुशल या अकुशल, हाथ के या दफ्तर आदि के काम में लगे व्यक्तियों से है। १००० से कम संख्या में कर्मचारियों को रखने वाले रोज़गारों को न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करना आवश्यक नहीं है। अधिनियम के अन्तर्गत पुरुष, वयस्क, बच्चा और प्रशिक्षार्थी, सभी के लिए विभिन्न पेशों, स्थानों अथवा काम की प्रकृति के अनुसार (क) न्यूनतम समय दर, (ख) न्यूनतम कार्यानुसार दर, (ग) गारण्टी की हुई समय दर तथा (घ) निश्चित समय से अधिक काम की दर अर्थात् अधिसमय दर निर्धारित करने की व्यवस्था है। न्यूनतम मज़दूरी (संशोधन) अधिनियम, १९५७ ने अनुसूचित रोज़गारों में न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने की तिथि बढ़ाकर दिसम्बर १९५९ कर दी। संशोधन अधिनियम ने यह व्यवस्था भी की है कि जिन अनुसूचित उद्योगों में निर्धारण के ५ वर्ष बाद तक मज़दूरी का पुनर्वीक्षण (रिव्यू) नहीं हुआ है, वहाँ मज़दूरी का पुनर्वीक्षण किया जाए।[1] १९६१ में इसमें थोड़ा और परिवर्तन लाया गया।

२१. ऋणिता—भारत के अधिकांश श्रमिक अपने क्रियाशील जीवन में ऋणी रहते हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि कितने ही उद्योग-केन्द्रों में लगभग दो-तिहाई श्रमजीवी ऋणी हैं और उनका ऋण तीन महीने में मिलने वाले पारिश्रमिक के बराबर है। श्रम आयोग ने सुझाव रखा था कि ३०० रु० प्रति मास से कम पाने वाले सब श्रमजीवियों के वेतन को कुर्की से मुक्त कर देना चाहिए और पूर्वोपाय कोष (प्राविडेण्ड फण्ड) के प्रति अंशदान से भी श्रमिकों को मुक्त कर देना चाहिए। भारत सरकार ने इसी आधार पर व्यवहार-विधि-संहिता (सिविल प्रोसीजर कोड) को संशोधित किया, ताकि एक निश्चित सीमा के नीचे के वेतन कुर्की से मुक्त रहें। यह भी सुझाव रखा गया है कि ऋण के सम्बन्ध में औद्योगिक श्रमिकों की गिरफ्तारी और जेल की सज़ा बन्द कर दी जाए। गिरफ्तारी और जेल की सज़ा केवल उन हालतों में दी

---

१. अधिनियम के अन्तर्गत अनुसूचित उद्योग इस प्रकार हैं : ऊनी कालीन, शाल बुनने के कारखाने, चावल, आटा या दाल की चक्कियाँ, तम्बाकू (बीड़ी बनाना सम्मिलित है) बनाने के कारखाने, रोपण, तेल मिल, स्थानीय अधिकारी, सड़क बनाना या निर्माण-कार्य, पत्थर तोड़ना या पीसना, लख-निर्माण, अभ्रक के कारखाने, सरकारी मोटर परिवहन, सिझावशालाएँ और चर्म-निर्माण के कारखाने तथा कृषि। सरकार को यह अधिकार है कि वह अधिनियम को अन्य उद्योगों पर भी लागू कर सकती है। फलतः अनेक राज्यों में यह अधिनियम अन्य उद्योगों पर भी लागू किया गया है।

जिसका दिखावटी उद्देश्य तो भारत के श्रमिकों को लाभ पहुँचाना था, किन्तु अन्तिम उद्देश्य भारत के उद्योगपतियों के मार्ग में बाधाएं खड़ी करना था। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १८७५ में बम्बई सरकार ने कारखाना आयोग की नियुक्ति की। फलस्वरूप १८८१ में प्रथम फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ।

प्रथम कारखाना अधिनियम के पास होते ही उसमें परिवर्तन करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। किन्तु लंकाशायर के हितों के दबाव के कारण राज्य-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट) ने हस्तक्षेप किया और १८९१ में एक और भी कठोर अधिनियम पास किया गया। यह कानून कम-से-कम पचास व्यक्तियों द्वारा शक्ति-परिचालित कारखानों तक लागू होता था। परन्तु स्थानीय सरकारों को इसे बीस व्यक्तियों वाले कारखानों पर भी लागू करने का अधिकार था। बच्चों के लिए निम्न और ऊर्ध्व-आयु की सीमाएँ क्रमश: ९ और १४ हो गईं। उनके काम के घण्टे किसी भी दिन ७ से ज्यादा नहीं हो सकते और वह भी ५ बजे प्रात: से ८ बजे सायंकाल के बीच में ही हो सकते थे। औरतें किसी भी कारखाने में ८ बजे के बाद और ५ बजे से पहले काम नहीं कर सकती थीं।

२५. १९११ का कारखाना अधिनियम (फैक्ट्री एक्ट)—१९११ का फैक्ट्री एक्ट पास हुआ। इसके अन्तर्गत ४ महीने से कम समय तक काम करने वाले मौसमी कारखाने भी आ गए। इसमें आयु प्रमाणपत्र अनिवार्य कर दिया और सूत की मिलों में काम करने वाले बाल-श्रमिकों की कार्यावधि ६ घण्टे कर दी गई। इस अधिनियम द्वारा कपास से बिनौला निकालने और उसे दबाने के काम को छोड़कर औरतों का रात में काम करना बन्द कर दिया गया। प्रथम बार प्रौढ़ पुरुषों के घंटे वैध रूप से नियमित किये गए, जिसके अनुसार कपास की मिलों में १२ घंटे दैनिक काम करने की व्यवस्था की गई। जिन कारखानों में पारी-प्रथा (शिफ्ट सिस्टम) है उन्हें छोड़कर कपास के कारखानों में कोई भी व्यक्ति प्रात: ५ बजे से पहले और रात्रि में ७ बजे के बाद काम पर नहीं लगाया जा सकता—ये सीमाएं विशेष रूप से औरतों और बच्चों के लिए थीं। अन्त में स्वास्थ्य और सुरक्षा की व्यापक व्यवस्थाएँ की गईं तथा फैक्ट्री का निरीक्षण और अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया गया।

२६. १९२२ का कारखाना-अधिनियम—१९१९ में वाशिंगटन में हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन की मान्यताओं को स्वीकार करने के कारण भारत में श्रम-विधान-सम्बन्धी अन्य परिवर्तन आवश्यकीय हुए। १९२२ के कारखाना-अधिनियम (फैक्ट्रीज़ एक्ट) के अनुसार २० से अधिक व्यक्तियों द्वारा शक्ति से परिचालित सभी कारखाने अधिनियम की परिधि में आ गए। स्थानीय सरकारों को स्वतन्त्रता दी गई कि वे इसे दस से अधिक व्यक्तियों वाले कारखानों पर भी लागू कर सकती थीं, चाहे उनमें विद्युत्-शक्ति का उपयोग होता हो या नहीं। काम करने वाले बच्चों की निम्नतम आयु १२ और उच्चतम १५ वर्ष कर दी गई। इनके काम के घंटे छ: तक सीमित कर दिए गए। बच्चे और औरतें सुबह ५½ बजे से पहले और शाम के ७ बजे के बाद काम पर नहीं लगाये जा सकते थे। प्रौढ़ पुरुषों के काम के घंटे ६० घंटे प्रति सप्ताह और ११ घंटे

के निर्माण के ऐसे दोष दूर करने के लिए कहें जिनसे काम करने वालों को खतरा पहुँचता हो।

(९) निर्धारित समय से अधिक समय तक काम करने की सीमाएँ निर्धारित कर दी गई हैं। उसका वेतन भी नियमित है। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत में वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानों में ४८ घण्टे का सप्ताह होता है। प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वे चाहें तो जनता के हित में इस सीमा को बढ़ा सकती हैं।

१९४८ का फैक्ट्रीज़ एक्ट १ अप्रैल, १९४९ में लागू किया गया। इसके अन्तर्गत दस या दस से अधिक व्यक्तियों द्वारा परिचालित शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा बीस या बीस से अधिक व्यक्तियों द्वारा चालित परन्तु शक्ति का प्रयोग न करने वाले सभी कारखाने आ जाते हैं। राज्यों की सरकारें व्यक्तियों की संख्या तथा शक्ति के प्रयोग के प्रति निरपेक्ष होकर इस कानून की धाराओं को जहाँ उचित समझें लागू कर सकती हैं। ये नियम केवल वहीं लागू न होंगे जहाँ एक व्यक्ति बाहरी मज़दूरों को लगाए बिना केवल अपने परिवार की सहायता से काम कर रहा हो। अब मौसमी और वर्ष-भर चलने वाले कारखानों वाला भेद हट गया है।

राज्य की सरकारों को कारखानों की रजिस्ट्री और अनुज्ञा देने के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस नियम के अनुसार कारखाने के मालिक को कारखाना लेते समय कारखानों के प्रधान निरीक्षक के पास उसका पूर्ण विवरण भेजना चाहिए।

२८. बम्बई की दुकानों और वाणिज्यिक संस्थापन-सम्बन्धी अधिनियम (१९३९) (दि बॉम्बे शॉप्स एण्ड कमर्शियल एस्टाब्लिशमेण्ट्स एक्ट)—बम्बई की कांग्रेस सरकार ने एक नया श्रम-विधान प्रारम्भ किया। इस विषय में इसने अन्य प्रान्तों की अगुआई की। वाणिज्य और उपभोक्ताओं की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इसका उद्देश्य दुकानों, रेस्तराँ, थियेटरों और अन्य संस्थानों में काम के घण्टों का नियन्त्रण करना है। इसका उद्देश्य काम के लम्बे घण्टों—११ से १५ घण्टों तक—और छुट्टियों की अपर्याप्त व्यवस्था तथा विश्राम की कमी का निराकरण करना है। जहाँ तक दुकानों का सम्बन्ध है, काम के अधिकतम घण्टे ९½ हैं। ५ घण्टे के काम के बाद ½ घण्टे का विश्राम और सप्ताह में १ दिन की छुट्टी आवश्यक है। बम्बई के कानून में १९४९ में संशोधन किया गया।

१९५८ में विभिन्न राज्यों में निम्न अधिनियम पास किये गए—राजस्थान का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम, मध्य प्रदेश का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम, पंजाब का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम। इनके अलावा केरल और मैसूर में दुकानों और वाणिज्यिक संस्थापनों में कार्य की दशाओं को सुधारने तथा तत्सम्बन्धी विधान को संशोधित करने के लिए बिल प्रकाशित किये गए ताकि जनमत का संग्रह हो सके। उड़ीसा की सरकार ने १९५६ में पास किये गए उड़ीसा के दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम की धारा १२ और १४

१९०१ के अधिनियम (जो कि १९२३ में संशोधित किया गया था) के अनुसार भारत सरकार को जो अधिकार मिले थे उनका उपयोग करते हुए उसने १९२९ में नियम बनाए, जिनका उद्देश्य उसी समय से खान के अन्दर औरतों का काम करना बन्द कर देना था। वे केवल इन अधिनियमों से मुक्त खानों, जैसे बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मध्यप्रान्त की कोयले की खानों और पंजाब की नमक की खानों, में काम कर सकती थीं। उपर्युक्त खानों को भी धीरे-धीरे इन नियमों की मुक्ति से अलग करने की व्यवस्था थी, ताकि १ जुलाई १९३९ तक औरतों का खानों के अन्दर काम करना एकदम बन्द हो जाए। युद्धकालीन उत्पादन की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए खान के अन्दर औरतों के काम करने पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया था वह १९४३ में कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया, परन्तु फरवरी, १९४६ में फिर से लागू कर दिया गया। १९२३ के अधिनियम में काम के दैनिक घण्टों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। १९२८ (मार्च) में एक संशोधन-नियम पास किया गया। इसके अनुसार किसी भी खान के कर्मचारियों के एक ही समूह द्वारा किसी भी खान में १२ घण्टे से अधिक काम नहीं कराया जा सकता था। यह व्यवस्था भी की गई कि मालिक कार्यालयों के सामने काम के घण्टों को निर्धारित करने वाले नोटिस लगाएँ। १९३५ के संशोधन अधिनियम द्वारा निम्न परिवर्तन हुए।

कोई भी व्यक्ति खान में एक हफ्ते में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता। खान के ऊपर काम करने वाला कोई भी व्यक्ति हफ्ते में ५४ घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकता। एक दिन में १० घंटे से अधिक कोई भी व्यक्ति काम नहीं करेगा। कार्य-काल इस प्रकार होगा कि विश्राम-काल को लेकर वह एक दिन में १२ घंटे से अधिक नहीं होगा। उसे ६ घंटे लगातार काम करने के बाद १ घंटे का विश्राम अवश्य मिलेगा। खान के अन्दर काम करने वाले व्यक्ति को एक दिन में ९ घंटे से अधिक काम नहीं करना होगा। खान के अन्दर एक ही प्रकार का काम ९ घंटे से अधिक नहीं किया जाएगा। यदि बारी-बारी से काम करने की पद्धति हो तो उसे अपवाद माना जा सकता है, किन्तु इसमें भी एक बार में ९ घण्टे से अधिक काम नहीं होगा। खान के अन्दर १५ साल से कम उम्र के बच्चों को काम करने की मनाही है।

१९३७ में एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई जिसका काम दुर्घटनाओं के कारणों की जाँच करना था। समिति का कोयलों की खानों का विवरण उद्धृत करने योग्य है—"संक्षेप में एक खेल के रूपक का उपयोग करने पर यह कहा जा सकता है कि कोयले की खान का काम भारतवर्ष में एक दौड़ के समान है, जिसमें लाभ हमेशा प्रथम रहा है। बेचारी सुरक्षा 'द्वितीय', अच्छी पद्धतियाँ 'नाम के लिए दौड़ने वाली' तथा राष्ट्रीय हित एक 'मृत अश्व' के समान रहा है, जिसका नाम तो दर्ज कर लिया गया किन्तु जो दौड़ न सका।"

१९४८ में नये फैक्ट्री कानून पास हो जाने के बाद खानों में काम करने वाले श्रमिकों से सम्बन्धित विधान को संशोधित करना आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य से ८ दिसम्बर, १९४९ को खानों में काम करने वाले श्रमिकों के विधान

१९२३ के अधिनियम का सिद्धान्त यह था कि दुर्घटना से घायल हुए कर्मचारियों को मुआवज़ा दिया जाएगा, यदि दुर्घटना काम करते समय हुई हो। कुछ हालतों में बीमारियों के लिए भी मुआवज़ा (क्षतिपूर्ति) दिया जाता था।

१९३३ के अधिनियम के अन्तर्गत रेलवे, ट्रामवे, कारखाने, खानें, सामुद्रिक व्यक्ति, बन्दरगाह, सड़कों या इमारतों, सुरंगों और पुलों की मरम्मत या निर्माण या उन्हें गिराने के काम में लगे व्यक्ति, सामुद्रिक कार्य, तार, टेलीफोन से सम्बन्धित काम या बिजली के तार उखाड़ना या खोदना, नौ-सेना, प्रकाश-स्तम्भ, चाय, कॉफ़ी, रबर या सिनकोना के बगीचे, विद्युत् या गैस बनाने के स्टेशन, सिनेमा कर्मचारी, वेतन-प्राप्त मोटरों के ड्राइवर तथा ज़मीन के नीचे बहने वाली नालियों की सफ़ाई करने वाले कर्मचारी आदि सभी आते हैं। इन सभी कामों में लगे हुए प्रशासकीय या बाबूगीरी (क्लेरीकल) ढंग के काम करने वाले तथा ३०० रुपये से अधिक वेतन पाने वाले लोग इसमें शामिल नहीं हैं।

वास्तविक आश्रितों को ही मुआवजा मिलेगा, जैसे पत्नी या अवयस्क (नाबालिग़) पुत्र। दूसरे वे लोग, जो इस परिस्थिति में नहीं हैं, जैसे पति या माता-पिता आदि। ऐसी व्यवस्था की गई है कि घातक दुर्घटनाओं से आश्रितों का हित अच्छी तरह सुरक्षित रहे। यह भी प्रबन्ध है कि ये दुर्घटनाएँ आयुक्तों के सामने भी लाई जाएँ, जो प्रान्तीय सरकारों द्वारा कानून के अन्दर नियुक्त किये जाते हैं।

इस अधिनियम का प्रशासन और झगड़ों का निर्णय इन्हीं आयुक्तों को सौंपा गया है जिन्हें बहुत अधिकार दिये गए हैं। क्रिया-पद्धति सीधी है और अपील करने के अवसर सीमित हैं। इस प्रकार के विधान की सफलता के लिए कुशल डॉक्टरों द्वारा चोट की ठीक-ठीक जाँच और रिपोर्ट की आवश्यकता है, साथ ही सरकार द्वारा निष्पक्ष जजों की नियुक्ति भी आवश्यक है ताकि श्रमिक अपना उचित प्राप्य (लाभ) पा सकें। भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति, कानून के अन्दर प्राप्य आर्थिक सहायताओं के विषय में अज्ञान तथा श्रमिकों के पक्ष को मुआवज़े के लिए प्रस्तुत कर सकने वाले व्यक्तियों का अभाव—इन सब कारणों से यह विधान कठिनता से लागू हो पाता है। १९४६ के मुआवज़ा (संशोधन) विधान ने मुआवज़ा पाने वालों की वेतन की सीमा ३०० रु० से बढ़ाकर ४०० रु० कर दी है और इनके बीच की आमदनी के लिए मुआवज़े की दर भी निर्धारित कर दी है।

यह कहा जा सकता है कि नियोक्ताओं के भय के विपरीत इस मुआवज़ा अधिनियम से उत्पादन-लागत में वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु सुरक्षा का स्तर काफी ऊँचा हो गया है। इस अधिनियम में पुनः संशोधन करने के लिए २४ सितम्बर १९५८ को राज्यसभा में एक बिल पेश किया गया। इस बिल में निम्न संशोधनों की व्यवस्था है: (क) क्षतिपूर्ति के लिए वयस्क और अल्पवयस्क का भेद मिटाना, (ख) सात दिन के प्रतीक्षा-काल को घटाकर तीन दिन करना तथा जहाँ कार्य-योग्य न रहने का समय अट्ठाईस या और अधिक दिन हो, अयोग्य होने के दिन से क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था करना तथा (ग) अनुसूची i, ii, iii के क्षेत्र का विस्तार करना।

बम्बई में कपास की मिलों के १,५०,००० श्रमिकों की बड़ी हड़ताल हुई, तब से स्थिति विशेष रूप से संकटापन्न हुई। इन हड़तालों के सहायक कारणों में काम के लम्बे घण्टे, आवास की बुरी परिस्थितियाँ, चोट के खिलाफ मुआवज़े की अव्यवस्था, सरदारों (फोरमैन) द्वारा श्रमिकों के साथ होने वाला दुर्व्यवहार तथा एक वर्ग की हड़ताल की अन्य वर्ग की हड़तालों के साथ सहानुभूति आदि का नाम लिया जा सकता है।

१९१९-२१ में हड़ताल की स्थिति अधिक भयंकर हो गई। परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक केन्द्रों में हड़तालों की एक लहर आ गई। १९२६-२७ अपेक्षाकृत शान्त वर्ष थे। १९२८ में औद्योगिक अशान्ति पुनः उत्पन्न हो गई और कितनी ही बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं। उदाहरण के लिए, बम्बई की कपास की मिलों की बड़ी हड़ताल (अक्तूबर, १९२८) का नाम लिया जा सकता है। १९२९ में पूर्व वर्ष की औद्योगिक हलचल जारी रही तथा साम्यवादी प्रभाव स्पष्टतः लक्षित हुए। बम्बई में फिर एक सम्पूर्ण हड़ताल रही। इन तूफानी वर्षों के बाद कुछ समय तक देश-भर में शान्ति रही। १९२९-३३ के आर्थिक अवसाद में मज़दूरी में कटौती हुई और कुछ हड़तालें भी हुईं। बम्बई की सरकार ने प्रान्त में मज़दूरी में कटौती के प्रश्न पर वैभागिक जाँच प्रारम्भ की। १९३४ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसी समय अर्ध-साधारण हड़ताल, जो बम्बई की मिलों में चालू थी, समाप्त कर दी गई। इस जाँच का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम बम्बई सरकार द्वारा ट्रेड डिसप्यूट्स कंसीलियेशन एक्ट पास किया जाना था। इसकी समीक्षा आगे सेक्शन ३७ में की गई है। इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष बाद तक बम्बई नगर की कपास की मिलों में हलचल न रही। १९३७ में बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर और मद्रास-जैसे औद्योगिक केन्द्रों में फिर श्रम-अशान्ति प्रारम्भ हो गई। इसका कारण औद्योगिक एवं व्यापारिक समुत्थान के आधार पर ऊँचे वेतन की माँग तथा कटौती की पूर्ति और अंशतः साम्यवादियों द्वारा भड़काया जाना था। श्रमिक वर्ग में फैला हुआ भीषण असन्तोष, यद्यपि पहले वर्ष में ही उनकी दशा सुधारने के नियम पास हो चुके थे, १९३७-३८ में हुई बड़ी हड़तालों के रूप में प्रकट हुआ।

३५. १९३९ के पश्चात् औद्योगिक झगड़े—१९३९ में झगड़ों की औसत संख्या ४०६ थी। यह उस समय तक की उच्चतम संख्या थी।[1] बम्बई में झगड़ों की संख्या १९४२ में और भी अधिक अर्थात् ६९४[2] थी। युद्ध के उपरान्त श्रम-अशान्ति का प्रधान कारण मूल्यों तथा जीवन-स्तर में वृद्धि थी जो कि प्रधानतया मुद्रास्फीति के कारण थी। मज़दूरी और कीमतों के बीच होने वाली दौड़ में मज़दूरी सदैव पीछे रह गई। इस स्थिति पर तभी काबू पाया जा सकता है जबकि कीमतें नियन्त्रित और स्थिर

१. बम्बई का श्रम गज़ट, जून १९४०, पृ० ८९६।

२. सन् १९४६ में अगस्त के महीने तक केवल बम्बई नगर में ही ३०० से अधिक हड़तालें हुईं। अन्य श्रम-केन्द्र भी इसी प्रकार प्रभावित थे।

३७. **व्यापार विग्रह विधान (ट्रेड डिसप्यूट्स लेजिस्लेशन)—(१) सन् १९२९ का व्यापार विग्रह अधिनियम**—यह अधिनियम अंग्रेज़ी कानून के अनुसार है। इसमें अनिवार्य मध्यस्थता की व्यवस्था नहीं है। ब्रिटेन की तरह झगड़ों के निर्णय में जनमत को एक निश्चित साधन माना गया है और निहित विचार यह है कि निश्चित प्रश्नों पर विवाद हो और निष्पक्ष (मध्यस्थ) न्यायाधिकरण (ट्रिब्यूनल) द्वारा उन पर मत प्रकट किया जाए; ताकि भली प्रकार सूचित जनमत का निर्माण हो सके। इस विधान में जाँच-न्यायालय (इनक्वायरी कोर्ट्स) और समझौता परिषदों (कंसीलियेशन बोर्डस् के निर्माण की व्यवस्था है।

(क) **जाँच किस प्रकार की होगी**—प्रान्तीय सरकार या गवर्नर-जनरल तथा जहाँ नियोक्ता गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल के अधीन किसी विभाग या रेलवे कम्पनी का अध्यक्ष है, वहाँ गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को झगड़ों को तय करने के लिए एक जाँच-न्यायालय या समझौता बोर्ड (कंसीलियेशन बोर्ड) स्थापित करने का अधिकार है। आवेदन देने वाले व्यक्ति दोनों दलों के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] (ख) **जाँच न्यायालय का निर्माण**—इसमें एक निष्पक्ष सभापति, अन्य ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जिन्हें नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे अथवा एक स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकता है। (ग) **समझौता बोर्ड** का विधान अलग है। इसमें एक सभापति, दो या चार अन्य सदस्य जिन्हें नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे या एक ही स्वतन्त्र व्यक्ति होगा। सभापति एक स्वतन्त्र व्यक्ति होगा तथा अन्य व्यक्ति भी स्वतन्त्र होंगे या बराबर संख्या में नियुक्त ऐसे व्यक्ति होंगे जो दोनों पक्षों की सिफारिशों पर उनका प्रतिनिधित्व करते होंगे। (घ) **क्रियाविधि**—ऐसे बोर्ड का काम झगड़ों के गुण-दोषों का विवेचन तथा वे सब काम करना होता है जिनसे दोनों दलों के झगड़े शान्तिपूर्वक तथा न्यायोचित ढंग से तय हो जाएं और उन्हें (दलों को) इसके लिए पर्याप्त समय मिल जाए। असफल होने पर इसे अपनी कार्यवाही का पूर्ण विवरण नियुक्ति-अधिकारी के पास भेजना पड़ता है जिसमें बोर्ड द्वारा उठाये गए कदम, उसकी जाँच के परिणाम और सिफारिशें भी होती हैं। नियुक्ति-अधिकारी को इसकी मध्यवर्ती (इण्टेरिम) या अन्तिम रिपोर्ट यथाशीघ्र प्रकाशित करनी पड़ती है। (च) **जनोपयोगी सेवाओं में हड़ताल**—जनोपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित अधिनियम का द्वितीय भाग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जनोपयोगी सेवा का अर्थ यह है—(१) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा जनोपयोगी घोषित कोई भी रेलवे सेवा। (२) कोई भी तार, टेलीफोन और डाक की सेवाएँ। (३) कोई भी व्यापार या व्यवसाय जो जनता के लिए प्रकाश और पानी की व्यवस्था करता है। (४) जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता की कोई भी सेवा। इन सेवाओं में मासिक वेतन पर नियुक्त श्रमिक यदि अपने नियोक्ता को हड़ताल करने से पहले एक महीने के अन्दर कम-से-कम १४ दिन की अग्रिम सूचना न दें तो उन्हें विशेष दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार यदि

१. श्रम आयोग ने अधिनियम के अन्तर्गत तदर्थ न्यायालयों के स्थान पर स्थायी न्यायालयों की स्थापना-सम्बन्धी सम्भाव्यता की जाँच करने की सिफारिश की। (श्र० आ० प्र०, पृ० ३४६)

अधिकारी की नियुक्ति हुई। मिल-मालिक संघ ने भी सरकारी श्रमाधिकारी और प्रमुख समझौताकार की कार्यवाहियों में अपनी मिलों का प्रतिनिधित्व करने के लिए श्रमाधिकारियों की नियुक्ति की।[1]

(४) बम्बई औद्योगिक विग्रह अधिनियम (१९३८)—१९३४ के अधिनियम के स्थान पर बने १९३८ के इस नियम का उद्देश्य हड़ताल या मिल-बन्दी से पहले समझौते और मध्यस्थता के सभी अस्त्रों का पूरा उपयोग करना है।

इस अधिनियम में उन संघों की रजिस्ट्री की व्यवस्था है जो नियोक्ताओं द्वारा स्वीकार किये जा चुके हैं या सदस्यता की कुछ शर्तों को पूरा करते हैं। रजिस्ट्री से संघों को मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने के अनेक अधिकार मिल जाते हैं। श्रमाधिकारी और समझौताकार (कंसीलियेटर) प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों या उद्योगों के लिए नियुक्त किये जा सकते हैं। ऐसी व्यवस्था की जाएगी ताकि मज़दूरों की माँगों, शिकायतों या उनकी सेवा की शर्तों में किये गए परिवर्तनों पर पूरा विचार किया जा सके। हड़ताल और मिल-बन्दी उस समय तक अवैध मानी जाएगी जब तक कि वाद-विवाद और विचार-विनिमय के सभी साधनों का प्रयोग न कर लिया जाए। समझौते की कार्रवाई के दो महीने बाद हड़ताल या मिल-बन्दी के अधिकार का उपयोग करना चाहिए।

यदि दोनों पक्ष किसी समझौते पर नहीं पहुँचते तो समझा जाएगा कि व्यापार-विग्रह प्रारम्भ हो गया है और सरकारी समझौताकार झगड़े को शान्त करने का प्रयास करेगा। यदि समझौताकार भी असफल रहता है अथवा सरकार आज्ञा देती है तो समझौता-परिषद् नियुक्त की जाती है।

ऐसे उद्योगों और केन्द्रों में, जहाँ नियोक्ता और श्रम-संघों में झगड़े का फैसला मध्यस्थों को सौंप दिया गया है, सरकारी कार्यवाही प्रारम्भिक दशा में और हो सका तो अन्त तक नहीं की जाएगी। फिर भी सभी समझौतों और परिनिर्णयों (अवार्ड्स) की रजिस्ट्री अवश्य होगी।

अधिनियम के अन्तर्गत एक रजिस्ट्रार की नियुक्ति हुई है जिसका काम संघों की रजिस्ट्री, उनकी ग्राह्यता का निर्णय, समझौतों, परिनिर्णयों, सूचनाओं तथा अन्य रिपोर्टों का लेखा रखना है।

एक महत्त्वपूर्ण विषय में अधिनियम एकदम नवीन है। इसमें हाईकोर्ट के जज या जज होने योग्य वकील की अध्यक्षता में एक औद्योगिक न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था है। यह न्यायालय स्वैच्छिक मध्यस्था में निर्णायक का काम करेगा और इस अधिनियम के अन्तर्गत उठ खड़े होने वाले अन्य झगड़ों के लिए भी न्यायालय का काम करेगा। यह मिल-बन्दी और हड़तालों की अवैधता का निर्णय करेगा तथा समझौतों और परिनिर्णयों की व्यवस्था करेगा। ऐसे न्यायालय की स्थापना हो चुकी है।

सन् १९३८ का बम्बई उद्योग-विग्रह अधिनियम देश में श्रम-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण और सर्वाग्र अधिनियम है। इस विधान की आलोचना में कहा जाता है कि यह

---

१ ऐसे ही श्रमाधिकारी बंगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बिहार में भी नियुक्त हुए हैं।

इन दोनों में जो भी अधिक हो—तक मान्य होगा। समझौते की कार्रवाई के समय हड़ताल या मिल-बन्दी की इजाज़त नहीं है।

सौ या सौ से अधिक व्यक्तियों को काम में लगाने वाले औद्योगिक कारखानों या संस्थापनों (एस्टाब्लिशमेण्ट) में श्रम-समितियों (वर्क्स कमेटी) को स्थापित करने की व्यवस्था है। इनमें नियोक्ताओं और श्रमिकों के प्रतिनिधि होंगे। श्रमिकों के प्रतिनिधियों की संख्या (जोकि रजिस्ट्रीशुदा श्रम-संघों की सलाह से चुने जाएँगे) कम-से-कम नियोक्ताओं की संख्या के बराबर होगी। इन समितियों का काम श्रमिकों और मालिकों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना और उन्हें ऐसे अनौपचारिक ढंग से मिलने-जुलने देना है कि वे एक-दूसरे से मिलकर रोजमर्रा के झगड़े तय कर सकें। अधिनियम में अनिवार्य मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि यह श्रमिकों की सामूहिक सौदा करने की शक्ति को नष्ट करता है और इस प्रकार नियोक्ताओं के विरुद्ध प्रयोग में लाए जाने वाले सबसे शक्तिशाली अस्त्र अर्थात् हड़ताल को छीन लेता है। प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि समस्त राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा अनिवार्य मध्यस्थता लागू करना उचित है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में उसूलन समझौते के प्रयोग और ऐच्छिक मध्यस्थता की भी व्यवस्था है। सरकार के अनिवार्य मध्यस्थता पर हठ करने की नीति से दोनों दल अधिक विवेकपूर्ण ढंग तथा सरलता से समझौता कर सकेंगे।

सन् १९४७ की धाराओं को पूरा करने के लिए दिसम्बर, १९४९ में इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (बैंकिंग एण्ड इन्श्योरेंस कम्पनीज़) एक्ट पास किया गया। सन् १९४७ के केन्द्रीय कानून को कुछ राज्य सरकारों ने भी संशोधित किया है, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश (१९५१), मैसूर (१९५३)। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कानूनों के अन्तर्गत किये गए निर्णयों की अपील की व्यवस्था करने के लिए २० मई, १९५० में इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (एपीलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट पास किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह कानून सारे भारत में लागू है। अपील सुनने के लिए एक न्यायालय (अपील ट्रिब्यूनल) की स्थापना हो चुकी है। इस न्यायालय के तीन स्थान हैं—बम्बई, कलकत्ता और लखनऊ। १९४६ के इण्डस्ट्रियल अधिनियम का १९६१ तथा १९६३ में संशोधन किया गया। चीनी आक्रमण के बाद नवम्बर १९६२ में इण्डस्ट्रियल अस्थायी विराम रेज़ोल्यूशन (Industrial Truce Resolution) द्वारा इन झगड़ों को मिटाने की कोशिश की गई। फिर भी १९६३ में १४७१ औद्योगिक झगड़े हुए जिसमें ३२,६८,५२४ श्रमिक दिनों की हानि हुई।

३८. भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—श्री बी० पी० वाडिया के नेतृत्व में मद्रास में १९१८ में ही श्रम-संघों का संगठन किया गया था। मद्रास से श्रम-संघ आन्दोलन बम्बई पहुँचा। १९१७ में प्रारम्भ होने वाली औद्योगिक अशान्ति के परिणामस्वरूप कितने ही श्रम-संघ स्थापित किये गए। ये सब अस्थायी थे और उद्देश्य पूरा होते ही—चाहे वह मज़दूरी की वृद्धि हो या कुछ और—विनष्ट हो गए। ये हड़ताल-

यही वजह है कि संघों में नाम लिखे गए व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत कम है। साधारण मज़दूर इतना गरीब होता है कि थोड़ा-सा भी चन्दा देना उसे भारी मालूम होता है। चौथे, अधिकांश मजदूर निरक्षर होते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हें अपने वर्ग से नेता नहीं मिल पाते। इसी वजह से भारतीय श्रम-संघ आन्दोलन की यह विशेषता है कि इसके नेता अधिकतर मध्य वर्ग के व्यक्ति रहे हैं, जैसे पेशेवर वकील या अन्य ऐसे व्यक्ति जिन्हें राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में कोई विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई है।[1] इसके अतिरिक्त उनके हित कितने ही संघों में विभक्त होते हैं और उनका कानूनी पेचीदगी-सम्बन्धी ज्ञान भी अत्यन्त सीमित होता है। अन्य बाधा वास्तविक जनतन्त्रीय आदर्श का अभाव है जो कि श्रम संघों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्त में, सफल श्रम-संघ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति पर भी निर्भर करते हैं ताकि श्रमिकों के लिए अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सके।[2] यदि श्रमिक वर्ग के नेता वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को विनष्ट करने पर तुले होंगे तो उनका प्रभाव इस आन्दोलन को कमजोर ही बनाएगा।

४०. १९२६ का श्रम-संघ अधिनियम—१९२० में मद्रास उच्च न्यायालय ने एक निर्णय दिया, जिसमें श्रम-संघ के कर्मचारियों तथा संगठनकर्ताओं को श्रमिकों को नियोक्ताओं के साथ अधिक मज़दूरी के लिए समझौतों को हड़ताल करके तोड़ने के लिए प्रभावित करने से रोका गया। इससे भारतीय श्रम-संघों की रजिस्ट्री और सुरक्षा के लिए विधान की आवश्यकता प्रतीत हुई। रजिस्ट्रीशुदा संघों को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित करना होता है। इन्हें सदस्यों की सूची रखनी पड़ती है और अपने धन कोष की जाँच करानी होती है। यह धन कुछ निश्चित विषयों पर सदस्यों के हित के लिए व्यय किया जाता है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम-संघ के कम-से-कम आधे पदाधिकारी उसी उद्योग के होने चाहिएँ। इन प्रतिबन्धों के साथ ही कानून ने सभी श्रम-संघों के कर्मचारियों को श्रम-संघ के वैधानिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये गए कामों में अपराध की ज़िम्मेदारी से छूट दे दी है। उनके ऊपर षड्यन्त्र का दोष नहीं लगाया जा सकता है। अधिनियम में ऐसी व्यवस्था है कि (१) किसी रजिस्ट्रीशुदा संघ कर्मचारी के खिलाफ व्यापारिक झगड़े को अग्रसर करने के लिए किये गए किसी काम का मुकदमा दीवानी कचहरी में इस आधार पर दायर नहीं किया जा सकता कि वह नौकरी के खिलाफ भड़काता है या व्यापार अथवा व्यवसाय या दूसरे की नौकरी या अपनी सम्पत्ति को प्रयोग करने के अधिकार में हस्तक्षेप करता है। दीवानी

---

१. जैसा कि ब्रिटिश श्रम-संघ आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में हुआ था जबकि श्रम-संघ अपने नेतृत्व के लिए रावर्ट ओवेन, फ्रांसिस प्लेस, किग्सले, लडलो और फ्रेडरिक हेरिसन आदि व्यक्तियों पर निर्भर थे। इसी प्रकार भारतीय आन्दोलन अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रायः सम्पूर्णतया वकीलों के ऊपर ही निर्भर था। इसी वर्ग से अध्यक्ष और सचिव मिलते थे। इस विषय पर रोचक आलोचनाओं के लिए देखिए, अ० आ० प्र०, पृष्ठ ३२४-२५ और ३२८-२९।

२. अहमद मुख्तार, ट्रेड यूनियनिज़्म एण्ड लेबर डिसप्यूट्स इन इण्डिया।

द्वारा भूतकाल में किया गया कल्याण-कार्य सभी को ज्ञात है। नागपुर की इम्प्रेस मिल ने श्रमिकों के हित की देख-भाल का काम वाई० एम० सी० ए० (नवयुवक ईसाई संघ) को सौंप दिया है। जमशेदपुर के टाटा आइरन और स्टील कम्पनी के संचालकों का कहना है कि कम्पनी के प्रारम्भ से ही श्रम के प्रति उनका रुख तथा श्रमिकों के लिए सफाई, सुरक्षा, शिक्षा, जल-वितरण, आवास, जल-निकासी, अस्पताल तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था भारत में बेजोड़ है और भारतीय जनता के सभी मतों के व्यक्तियों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया है। कानपुर में ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन ने कल्याण-कार्य अधीक्षक की व्यवस्था की है जो कि श्रमिकों के रहने के लिए बनाई गई दो बस्तियों की देख-रेख करता है। बम्बई कारपोरेशन, पोर्ट ट्रस्ट-जैसी नगर-पालिकाओं और रेलों-जैसी जनोपयोगी सेवाओं ने भी अपने कर्मचारियों के हित के लिए काम किया है।

प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत कितनी ही सरकारों ने नियोक्ताओं द्वारा किये गए कल्याण और आमोद-प्रमोद की क्रियाओं को पूरा करने के लिए स्वयं कल्याण-योजनाएँ प्रारम्भ की हैं। उदाहरणार्थ, बम्बई की सरकार ने बम्बई के औद्योगिक क्षेत्रों तथा राज्य के अन्य नगरों में कल्याण-केन्द्र खोले हैं।[1]

४३. **कल्याण-कार्य के मद**—(१) **शिक्षा**—औद्योगिक श्रमिकों की शिक्षा से सम्बन्धित दयनीय दशा की चर्चा की जा चुकी है।[2] टाटा-जैसे कुछ उदार नियोक्ताओं ने श्रमिकों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया है। उनके और उनके बच्चों के लिए दिन और रात्रि की पाठशालाएँ खोली गई हैं। बम्बई के समाज सेवा संघ और ईसाई नवयुवक संघ ने भी औद्योगिक श्रमिकों की शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण काम किया है। इन्होंने स्कूल और रात्रि पाठशालाओं के अतिरिक्त पाठ-गृहों और पुस्तकालयों की भी व्यवस्था की है। (२) **औषधि-सहायता**—भारत के बड़े कारखानों में औषधि-सहायता की सुविधाएँ सामान्यतः प्राप्त हैं, किन्तु लेडी डॉक्टरों द्वारा स्त्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत कम पाई जाती है। (३) **प्रसवकालीन लाभ**—स्त्रियों और उनके बच्चों के हित के लिए पाश्चात्य देशों में प्रसवकालीन लाभ और बच्चा होने के कुछ दिन पूर्व और पश्चात् तक काम न करने देने की प्रथा है। चूंकि भारत में स्त्रियाँ गृह-सेवक का भी काम करती हैं, अतः यहाँ भी यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हो जाती है। १६१६ के वाशिंगटन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने औरतों को काम में लगाने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। इसमें प्रसवकालीन लाभ के प्रश्न पर भी विचार किया। यह आशा नहीं की जाती थी कि भारत इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लेगा, फिर भी भारत सरकार को इस प्रश्न की छानबीन करने के लिए आमन्त्रित किया गया ताकि वह दूसरे सम्मेलन को अपनी रिपोर्ट दे सके। प्रस्तुत की गई जाँचों से यह सिद्ध हुआ कि बहुत थोड़े-से ही नियोक्ताओं ने इस प्रकार

---

१. इण्डियन ईअर बुक, १६४०-४१, पृ० ५५६।
२. देखिए, अध्याय १, सेक्शन ६।

वह बिना हिचक के वहाँ बस जाए। बम्बई सरकार के कल्याण-केन्द्र की स्थापना के प्रयत्न भी स्तुत्य हैं। इन क्रियाओं के फलस्वरूप सिनेमा, मेजिक लेण्टर्न की सहायता से भाषण, संगीत-सम्मेलन, नाटक, अखाड़े, दंगल आदि के आयोजन का नाम लिया जा सकता है। (५) आवास—इस समस्या का विवेचन इस अध्याय में पहले ही हो चुका है।[1] (६) **सहकारी समितियाँ**—सहकारी आन्दोलन के विवरण में इसका पूरा वर्णन हो चुका है।[2] (७) **अन्न-वस्त्र की दूकानें**—कुछ मिलों में श्रमिकों को सस्ती दर पर अन्न-वस्त्र बेचने के लिए दूकानें भी खोली गई हैं, जिससे वे धोखेबाज बनियों के चंगुल से बच सकें। इस समस्या का सन्तोषजनक निदान सहकारी स्टोर खोलने से ही हो सकता है। (८) **चाय की दूकानें और केण्टीन**—चाय और स्वास्थ्यजनक खाद्य की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी हमारी मिलों में इनका प्रबन्ध नहीं के बराबर है।

ऊपर बताये गए फैक्ट्री एक्ट के आधुनिकतम संशोधन में कल्याण-कार्य के लिए अनेक धाराएँ हैं, जिनमें विश्राम के लिए सुन्दर विश्राम-गृहों का निर्माण, ५० से अधिक स्त्रियों को नौकर रखने वाली फैक्ट्रियों में उनके बच्चों के लिए कमरों की व्यवस्था तथा प्राथमिक सहायता के उपस्कर की व्यवस्था आदि का नाम गिनाया जा सकता है। श्रमिकों को वृद्धावस्था में काम आने के लिए १९५२ में श्रमिक प्रोवीडेन्ड फन्ड पास हुआ जो जनवरी १९६५ के अन्त तक ९६ इन्डस्ट्रीज़ और अन्य संस्थाओं में लागू हुआ। इसकी सदस्य-संख्या ३६ लाख हो चुकी है और तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक मजदूरों को लाभ पहुँचायेगी। इस योजना के अन्त तक इस संघ के पास ७०० करोड़ रुपये की साख हो जायेगी।

के लिए भी कुछ जोड़ना होगा। इन संशोधनों के बाद राष्ट्रीय आय २० रु० प्रति व्यक्ति से बढ़कर २३ या २४ रु० प्रति व्यक्ति हो जाएगी।[1]

२. राष्ट्रीय आय १८७५ से १९११ तक—दादाभाई नौरोजी के बाद, १८८२ में दूसरी जाँच अर्ल क्रोमर (उस समय, मेजर ईवलिन वेरिंग) तथा सर (उस समय मिस्टर) डेविड बारबर ने की और उनके परिणाम इस प्रकार थे—

कृषि-आय	रु० ३५०,००,००,०००
गैर-कृषि-आय	रु० १७५,००,००,०००
योग	रु० ५२५,००,००,०००

१९४,५३९,००० व्यक्तियों में बाँट देने पर, जो तत्कालीन जनसंख्या थी, प्रति व्यक्ति औसत आय २७ रुपये हुई।

१९०१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या २३,१०,००,००० थी। इस आधार पर एक अच्छे वर्ष में प्रति व्यक्ति आय १८ रु० ८ आना ११ पाई होती। दुर्भिक्ष वर्ष १८९९-१९०० के लिए डिग्बी द्वारा अनुमानित आय १२ रु० ६ आने थी।

दुर्भिक्ष आयोग के लिए आकलित आँकड़ों के आधार पर कृषि-आय को ४५०,००,००,००० रु० मानकर लार्ड कर्ज़न ने उपर्युक्त कथनों के उत्तर में अपना अनुमान प्रस्तुत किया। १८८० की गणना के अनुसार कृषि-आय १८ रु० प्रति व्यक्ति थी। उसी क्षेत्र की अद्यतन जनगणना की संख्याओं को लेकर यह अनुमान लगाया गया कि कृषि-आय १८ रु० से बढ़कर २० रु० हो गई। यह मानने पर कि गैर-कृषि-आय भी उसी अनुपात में बढ़ी होगी, १९०० में भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय १८८० के २७ रु० के बजाय ३० रु० हुई। लार्ड कर्ज़न ने स्वीकार किया कि आँकड़े निर्विवाद नहीं थे। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि १८८० की संख्याएं भी अनुमानित ही थीं और यदि एक तर्क के समर्थन के लिए एक संख्या प्रयुक्त की जा सकती है तो उसी प्रकार दूसरी संख्या का प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि गणना के आधार पर निर्दिष्ट आर्थिक दशा की प्रगति न तो महत्त्वपूर्ण ही थी और न संतोषजनक ही। लेकिन इससे यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि हम आगे बढ़ रहे हैं, पीछे नहीं लौट रहे हैं।

१९०२ में एफ० जे० अटकिसन ने एक लेख 'स्टेटिस्टिकल रिव्यू ऑफ़ दि इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया' लिखा जो लन्दन में रॉयल स्टेटिस्टिकल सोसाइटी के सामने पढ़ा गया। उन्होंने सम्पूर्ण जनसंख्या को तीन वर्गों में विभाजित किया—(१) कृषि जनसंख्या, (२) गैर-कृषीय जनसंख्या (गरीब), (३) गैर-कृषीय जनसंख्या (धनी)। पहले वर्ग की आय क्षेत्रफल, उत्पादन और कीमतों के आँकड़ों पर निर्धारित की गई। दूसरे वर्ग की आय प्रत्येक वर्ग के श्रमिकों की संख्या को

---

१. देखिए, वी० के० आर० वी० राव, 'इण्डियन नेशनल इन्कम', १९२५-२९, पृ० १७-२२।

के लिए १०,००,००० जोड़ दिया गया है।

४. शाह और खंवाटा का अनुमान—के० टी० शाह और के० जे० खम्बाटा के अनुमान का सारांश इस प्रकार है[1]—

मदें	युद्ध-पूर्व काल १९००-१४	युद्ध-युद्धोत्तर काल १९१४-२२	कुल अवधि १९००-२२	वर्ष १९२१-२२
	करोड़ रुपयों में			
कृषि-उत्पादन	१०१४·८	१६८६·५	१२५७·१	२१५५·८
बीजों के लिए घटाया गया	२०	३५	२५	५८
वास्तविक कृषि-उत्पादन	९९४·८	१६५१·५	१२३२·१	२०९७·८
वन-धन···	१०	२०	१४	२८
मछलियाँ	१·२	२.५	१·९	३·२
निर्मित वस्तुएं	८०	१५०	१०६	१८६
खनिज पदार्थ	१०	२१.६	१४	२८·७
मकान इत्यादि	१०	१६.४	१२	२०·३
योग	११०६	१८६२	१३८०	२३६४

इस प्रकार प्रति व्यक्ति कुल आय
- —१९००-१४—३६ रु०
- —१९१४-२२—५८½ रु०
- —१९००-२२—४४½ रु०
- —१९२१-२२—७४ रु०

५. फ़िण्डले शिराज का अनुमान—१९२०-२१ और १९२१-२२ के लिए फ़िण्डले शिराज़ के अनुमान में कृषि-उत्पादन क्रमशः १,७१,४९४ लाख रु० तथा १,९८,३४१ लाख रु० तथा गैर-कृषि-उत्पादन ८८३ करोड़ रु० रखा गया। इस आधार पर १९२१ और १९२२ के लिए प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्रमशः १०७ रु० तथा ११६ रु० हुई। शिराज़ ने बताया कि १८८१ से १९११ तक की अवधि में किये गए सब अनुमानों में यह मान लिया गया था कि कृषीय और गैर-कृषीय आय दोनों वर्गों में उनकी संख्या के अनुपात से विभाजित है। यह गणना तब तक ठीक थी जब तक देश का औद्योगिक विकास अपनी शैशवावस्था में था। लेकिन इधर हाल में कुछ शीघ्रता से परिवर्तन हुए हैं, अतएव कुल गैर-कृषीय उत्पादन पर पहुँचने के लिए कुछ और जोड़ना आवश्यक हो गया है। इसके लिए ७५ करोड़ रु० जोड़ना उपयुक्त होगा और इसे जोड़ने पर कुल ८८३ करोड़ रुपये हुए। शिराज़ के अनुमान के विरुद्ध एक स्पष्ट आलोचना यह है कि कृषि-उत्पादन-गणना में उन्होंने बीज इत्यादि को घटाने की आवश्यकता समझी।

---

१. के० टी० शाह और के० जे० खंबाटा, 'दि वेल्थ एण्ड टैक्सेबल केपेसिटी ऑफ़ इण्डिया', पृ० १९९-२००।

ब्रिटिश भारत की आय (१९३९-४० से १९४७-४८ तक)
(दस लाख रुपयों में)

	१९३९-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६	४६-४७	१९४७-४८
कृषि तथा अन्य सम्बन्धित पेशों से आय	९५२७	१०३९५	११०४८	१७४०२	२१२८१	२२९३८	२२२४५	२५६९२	२१२९३
उद्योगों से आय	३७९०	४०६२	६०२०	९५६०	१२४००	१११२०	१०३३८	९३८२	९८००
अन्य मदों से	६०२६	६१२६	६२९२	६७७२	८६५१	८६५१	९७९९	९७९८	८३२८
कुल आय	१९३४३	२०५८३	२३३६०	३३७३४	४२३३२	४२७०९	४२३८२	४४८७२	३९४२१

जीवन-निर्वाह-व्यय देशनांक की सहायता से व्यवस्थित (द्रव्य आय से भिन्न) वास्तविक आय के परिवर्तन निम्न तालिका में प्रदर्शित किये गए हैं—

वास्तविक आय १९३९-४० में ६७ रु० प्रति व्यक्ति थी, १९४७-४८ में घट-कर ६२ रु० हो गई। इसके अतिरिक्त इस आय का कुछ भाग उपभोग पर नहीं व्यय किया गया, वरन् पौण्ड पावना के निर्माण में खर्च हुआ। वह बात निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाएगी जो कि उपभोग (खाना और कपड़े) की कमी प्रदर्शित करती है।

खाना और कपड़ा प्रति व्यक्ति उपभोग

	१९३९-४०	१९४०-१	१९४१-२	१९४२-३	१९४३-४	१९४४-५	१९४५-६	१९४६-७	१९४७-८
प्रति व्यक्ति भोजन का उपभोग	३८८	३६६	३४८	३७८	३७९	३७०	३४०	३५८	३५७
प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग (गज़ों में)	१६	१६	१४	१०	१४	१४	१२	१२	११

८. व्याख्या तथा तुलना की कठिनाइयाँ—इन परिणामों की तुलना करते समय पाठक को बहुत-सी बातों का ध्यान रखना होगा। पहली बात तो यह है कि वे विभिन्न तिथियों और वर्षों की हैं, अतएव इस बीच हुए मूल्यों के अन्तर का खयाल रखना होगा। मूल्यों में ८०% वृद्धि की मान्यता पर १९१३-१४ का ४५ रु० १९२१-२२ के ८१ रु० के बराबर होगा। दूसरी बात यह है कि गणना में लिया गया क्षेत्र हर गणना में एक ही नहीं है। उदाहरणार्थ शाह और खंबाटा ने केवल ब्रिटिश भारत ही नहीं, अपितु भारतीय रियासतों को भी शामिल कर लिया है। अतएव इस गणना और उस गणना के बीच, जोकि केवल ब्रिटिश-भारत तक सीमित है, तुलना करते

सम्मिलित करने पर अधिक-से-अधिक ५% व्यक्ति देश की एक-तिहाई सम्पत्ति का उपभोग करते हैं और देश की सम्पत्ति के एक-तिहाई से कुछ अधिक लगभग ३५% आय का उपभोग एक-तिहाई जनसंख्या (आश्रितों को मिलाकर) करती है और तत्कालीन ब्रिटिश भारत के शेष लगभग ६०% व्यक्ति देश में उत्पन्न सम्पत्ति के ३०% का उपभोग करते हैं। हमारे पास ये विश्वास करने के आधार हैं कि दूसरे और तीसरे वर्गों से प्राथमिक वर्ग की (कृषि की) ओर प्रवाह हो रहा है, साथ ही श्रमिकों की द्राव्यिक एवं वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है। यह भी सच है कि कुछ उद्योगों में श्रम की उत्पादकता घट जाने से उनकी वास्तविक आय १३% कम हो गई है। उत्पादकता के ह्रास का कारण अंशतः तो मशीनों की दुरवस्था तथा अंशतः काम के घण्टों का घट जाना भी है। १९४३ के बाद से वास्तविक मुनाफा भी घट रहा है।[1]

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भी प्रति व्यक्ति आय में अन्तर पड़ता है।[2] व्यावसायिक फसलें बोने वाले तथा अधिक उद्योगीकृत प्रान्तों में आय अधिक है, जैसे बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, जबकि उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मद्रास अपेक्षाकृत गरीब हैं।

९. अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाएँ—सर जोशिया स्टॉम्प का कथन है कि "जिन देशों की तुलना करनी है उनके निवासियों का निश्चित वस्तु के प्रति एकसा ही दृष्टिकोण होना चाहिए तथा उनके पारस्परिक मूल्यों का मानदण्ड भी समान होना चाहिए। इस बात में जहाँ तक देशों में विभिन्नता होगी, तुलना सारहीन होगी।"[3] भारत और इंगलैण्ड-जैसे देशों की एक ही संख्याओं के मूल्य में बड़ा अन्तर होगा। कारण यह है कि न केवल इन देशों के मूल्य का मानदण्ड विभिन्न है, अपितु भिन्न बाह्य परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को जन्म देती हैं।

१०. गहन परीक्षण—व्यक्तिगत रूप में की गई जाँचों, जैसे बम्बई में डॉ० मैन द्वारा की गई जाँच तथा मद्रास में डॉ० स्टेलर द्वारा की गई जाँचों, के अतिरिक्त ग्रामीण और नागरिक विभाग, पंजाब आर्थिक जाँच परिषद् (पंजाब बोर्ड ऑफ़ इकनामिक इन्क्वायरी) के तत्त्वावधान में कई सर्वेक्षण किये गए। भारयीय केन्द्रीय कपास समिति ने भी कुछ वर्ष हुए, कपास उगाने वालों की आर्थिक और विपणन परिस्थितियों के सम्बन्ध में आठ जाँचें कीं। भारतीय आर्थिक जाँच समिति द्वारा प्रस्तावित नमूने

---

१. ईस्टर्न इकनामिस्ट, वार्षिक अंक १९४८, पृ० ११२३-९।

२. वकील और मुरंजन, पूर्वोद्धृत, ३५६-७।

३. तुलना कीजिए, "दो देशों की आंकिक तुलना बड़ा ही संदिग्ध विषय है। मकान, कपड़े और खान-पान में भी तुलना नहीं की जा सकती, अ-पारिश्रमिक आय का महत्व भी घटता-बढ़ता है। एक देश में कुछ ऐसी चीजें खरीदी जाती हैं जो दूसरे देश में बेकार होंगी या उन्मुक्त रूप से प्रकृति के दान के रूप में मिलती होंगी। हमें औद्योगिक वर्गों की तुलना नहीं करनी चाहिए—जैसे इन्जीनियरिंग, छपाई, मकान-निर्माण इत्यादि में लगे लोगों की; क्योंकि काम के तरीके और परिस्थितियों में बड़ा अन्तर होता है। इन बातों को ध्यान में रखे बिना तुलना अर्थहीन है। —ए० एल० बाउली, 'नेचर एण्ड परपज ऑव दि मेजरमेण्ट ऑव सोशल फेनामेना', इकनामिक इनक्वायरी रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० ११७।

पदार्थ उसका स्थान नहीं ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशों, विशेषकर इंगलैंड, की तुलना में एक क्षण भी खड़ा नहीं हो सकता, जब कि हम वहाँ की दरिद्रता में कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियों में घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनों में वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओं को देखते हैं। पश्चिम में भी धन के वितरण में बड़ी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओं की अधिकता और आमदनी में साधारण रूप से वृद्धि ने सर्वसाधारण की क्रयशक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी हैं जो पहले बहुत थोड़े-से धनी लोगों का एकाधिकार थीं।

१२. अधिक सही आँकड़ों की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओं के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएं आ जाती हैं उनका प्रधान कारण है सही आँकड़ों का अभाव। घोर निर्धनता को छोड़कर और सब विषयों से हम लोग प्रायः अन्धकार में हैं। ठीक आँकड़ों के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओं का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओं के कारणों का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हें सुलझाने में बड़ी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ में हुए साम्राज्य आँकड़ा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेन्स) के सम्बन्ध में 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी में स्टेटिस्टिकल ब्यूरो अविराम गति से उन आँकड़ों का संकलन करने में संलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण में किंचित् भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमें जो राष्ट्र आँकड़ों के द्वारा की गई व्याख्या से सुसज्जित हैं वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभों का पूरा उपयोग कर सकते हैं तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[१] इस समय एकत्रित आँकड़े विशेषज्ञों के निर्देशन से रहित एवं असम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद हैं; उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातों की जानकारी कराना नहीं होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकड़ों के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे, जनता कस्बों और नगरों में केन्द्रित न होकर गाँवों में बिखरी पड़ी है। तीसरे, जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकड़े एकत्र करने के काम में उससे

---

१. आर्थिक जांच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

पदार्थ उसका स्थान नहीं ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशों, विशेषकर इंगलैंड, की तुलना में एक क्षण भी खड़ा नहीं हो सकता, जब कि हम वहाँ की दरिद्रता में कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियों में घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनों में वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओं को देखते हैं। पश्चिम में भी धन के वितरण में बड़ी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओं की अधिकता और आमदनी में साधारण रूप से वृद्धि ने सर्वसाधारण की क्रयशक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी हैं जो पहले बहुत थोड़े-से धनी लोगों का एकाधिकार थीं।

१२. अधिक सही आँकड़ों की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओं के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएँ आ जाती हैं उनका प्रधान कारण है सही आँकड़ों का अभाव। घोर निर्धनता को छोड़-कर और सब विषयों से हम लोग प्रायः अन्धकार में हैं। ठीक आँकड़ों के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओं का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओं के कारणों का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हें सुलझाने में बड़ी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ में हुए साम्राज्य आँकड़ा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेन्स) के सम्बन्ध में 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी में स्टेटिस्टिकल ब्यूरो अविराम गति से उन आँकड़ों का संकलन करने में संलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण में किंचित् भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमें जो राष्ट्र आँकड़ों के द्वारा की गई व्याख्या से सुसज्जित हैं वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभों का पूरा उपयोग कर सकते हैं तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[१] इस समय एकत्रित आँकड़े विशेषज्ञों के निर्देशन से रहित एवं असम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद हैं; उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातों की जानकारी कराना नहीं होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकड़ों के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे, जनता कस्बों और नगरों में केन्द्रित न होकर गाँवों में बिखरी पड़ी है। तीसरे, जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकड़े एकत्र करने के काम में उससे

---

१. आर्थिक जांच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

विभाग को प्राप्य होंगी। वह उन सबके आँकड़ों का पुनर्विलोकन करेगा। वह केन्द्रीय सांख्यिकीय संचालक से हर प्रकार से सहयोग करेगा और उसके निर्देशानुसार जन-गणना कराएगा।

१५. (२) राष्ट्रीय आय की माप—रिपोर्ट के लेखकों के मतानुसार वर्तमान समय में प्राप्य सामग्री भारत की आय और धन की माप करने के लिए अत्यन्त दोषपूर्ण है। अब तक किये गए विभिन्न अनुमान पुराने पड़ गए हैं और समस्या की फिर शुरू से जाँच करनी आवश्यक है।

जैसा कि सभी जानते हैं, गणना की दो विधियाँ हैं—पहली वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यांकन की है और दूसरी व्यक्तिगत आयों के योग की। ये दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की सत्यता सिद्ध करने में हर जगह सहायक नहीं होतीं—उदाहरण के लिए, मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की सेवाएँ उनको मिलने वाले वेतन के बराबर हैं क्योंकि उनको नापने का और कोई तरीका ही नहीं है। भारत के विषय में तो ऐसा असम्भव दीखता है कि पूरे क्षेत्र या केवल उद्योगों के सम्पूर्ण क्षेत्र में भी प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि पूरी तरह से लागू होगी। दोनों विधियों के परिणामों को मिलाने में भी विशेष सावधानी आवश्यक हो सकती है। प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि में निम्न बातें हैं :

(१) खेती, खनिज, उद्योग इत्यादि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के वास्तविक उत्पादन को उत्पादन होते ही आँक लिया जाए ताकि दुबारा गणना करने की गलती से बच जाएँ।

(२) गृह-उत्पादित वस्तुओं एवं आयातों में परिवहन और व्यवसायियों की सेवाओं द्वारा हुई मूल्य-वृद्धि को जोड़ा जाए।

(३) गृह-उत्पादित वस्तुओं पर लगाया जाने वाला उत्पाद-कर जोड़ा जाए।

(४) निर्यात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य घटाया जाए।

(५) आयात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य जोड़ा जाए।

(६) आयात पर लगे आयात-कर (कस्टम्स ड्यूटीज) को जोड़ा जाए।

(७) उन वस्तुओं के मूल्य को—चाहे वे देश में उत्पन्न की जाती हों या विदेश से मँगायी जाती हों, जो स्थिर पूंजी को कायम रखने में प्रयोग में लायी जाती हैं—घटा दिया जाए।

(८) सब प्रकार की वैयक्तिक सेवाओं को जोड़ा जाए।

(९) मकानों का सालाना किराया जोड़ा जाए—चाहे वे किराये पर उठे हों या मालिक-मकान द्वारा उपयोग किए जाते हों।

(१०) धन-राशि में (चाहे सरकारी हो या व्यक्तिगत) विदेशी प्रतिभूतियों द्वारा हुई अभिवृद्धि को जोड़ा जाए, या इस प्रकार की धन-राशि में से देश में विदेशियों की प्रतिभूतियों की वृद्धि को घटाया जाए या इनकी कमी को जोड़ा जाए।

इनमें से कुछ पर टिप्पणी की आवश्यकता है—

(१) कृषि का वह भाग जो उत्पादकों द्वारा उपयुक्त होता है—भारत में यह

विभाग को प्राप्य होंगी। वह उन सबके आँकड़ों का पुनर्विलोकन करेगा। वह केन्द्रीय सांख्यिकीय संचालक से हर प्रकार से सहयोग करेगा और उसके निर्देशानुसार जन-गणना कराएगा।

१५. (२) राष्ट्रीय आय की माप—रिपोर्ट के लेखकों के मतानुसार वर्तमान समय में प्राप्य सामग्री भारत की आय और धन की माप करने के लिए अत्यन्त दोषपूर्ण है। अब तक किये गए विभिन्न अनुमान पुराने पड़ गए हैं और समस्या की फिर शुरू से जाँच करनी आवश्यक है।

जैसा कि सभी जानते हैं, गणना की दो विधियाँ हैं—पहली वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यांकन की है और दूसरी व्यक्तिगत आयों के योग की। ये दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की सत्यता सिद्ध करने में हर जगह सहायक नहीं होतीं—उदाहरण के लिए, मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की सेवाएँ उनको मिलने वाले वेतन के बराबर हैं क्योंकि उनको नापने का और कोई तरीका ही नहीं है। भारत के विषय में तो ऐसा असम्भव दीखता है कि पूरे क्षेत्र या केवल उद्योगों के सम्पूर्ण क्षेत्र में भी प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि पूरी तरह से लागू होगी। दोनों विधियों के परिणामों को मिलाने में भी विशेष सावधानी आवश्यक हो सकती है। प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि में निम्न बातें हैं :

(१) खेती, खनिज, उद्योग इत्यादि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के वास्तविक उत्पादन को उत्पादन होते ही आँक लिया जाए ताकि दुबारा गणना करने की गलती से बच जाएँ।

(२) गृह-उत्पादित वस्तुओं एवं आयातों में परिवहन और व्यवसायियों की सेवाओं द्वारा हुई मूल्य-वृद्धि को जोड़ा जाए।

(३) गृह-उत्पादित वस्तुओं पर लगाया जाने वाला उत्पाद-कर जोड़ा जाए।

(४) निर्यात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य घटाया जाए।

(५) आयात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य जोड़ा जाए।

(६) आयात पर लगे आयात-कर (कस्टम्स ड्यूटीज़) को जोड़ा जाए।

(७) उन वस्तुओं के मूल्य को—चाहे वे देश में उत्पन्न की जाती हों या विदेश से मँगायी जाती हों, जो स्थिर पूँजी को कायम रखने में प्रयोग में लायी जाती है—घटा दिया जाए।

(८) सब प्रकार की वैयक्तिक सेवाओं को जोड़ा जाए।

(९) मकानों का सालाना किराया जोड़ा जाए—चाहे वे किराये पर उठे हों या मालिक-मकान द्वारा उपयोग किए जाते हों।

(१०) धन-राशि में (चाहे सरकारी हो या व्यक्तिगत) विदेशी प्रतिभूतियों द्वारा हुई अभिवृद्धि को जोड़ा जाए, या इस प्रकार की धन-राशि में से देश में विदेशियों की प्रतिभूतियों की वृद्धि को घटाया जाए या इनकी कमी को जोड़ा जाए।

इनमें से कुछ पर टिप्पणी की आवश्यकता है—

(१) कृषि का वह भाग जो उत्पादकों द्वारा उपयुक्त होता है—भारत में यह

नीचे जो सुझाव दिये गए हैं वे राष्ट्रीय आय के बड़े भागों से सम्बद्ध हैं। ऊपर निर्देश की गई विभिन्न व्यवस्थाएँ अन्तिम गणना में अपना स्थान रखेंगी।

यद्यपि ठीक-ठीक राष्ट्रीय धन का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है, फिर भी स्थायी कामों में सरकारी खर्च, नयी पूँजी के विनियोग तथा पूँजी के विनियोग की तरह के व्ययों के अनुमानों से राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों का निर्देश तो किया ही जा सकता है।

राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए प्रस्तावित गवेषणा प्रधानतया उत्पादन के आधार पर है, लेकिन जैसा सभी देशों में होता है कुछ भाग वैयक्तिक आय पर निर्भर रहता है। भारत में इस प्रकार की आय नगरों में ज्यादा है, परन्तु पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है। कुछ तो उत्पादन के स्वभाव और कुछ इसलिए क्योंकि गवेषणा के विभिन्न तरीके आवश्यक हैं, ग्रामीण आय नागरिक आय से भिन्न रखी जानी है।

ग्रामीण आय के लिए उन्होंने सुझाव रखा कि कुछ चुने हुए गाँवों का घना सर्वेक्षण करके भूमि से उत्पादित सब वस्तुओं और गाँवों में की जाने वाली सब सेवाओं का पता लगाया जाए।

नागरिक आय के लिए उन्होंने अन्यत्र सफलतापूर्वक काम में लायी गई विधियों पर बड़े नगरों के सर्वेक्षण की सिफारिश की। यह कुटुम्बों की जीविका की जाँच द्वारा किया जा सकता है, जिसमें नमूने के कुछ कुटुम्ब लेकर कुछ तो उनके स्वयं के विवरणों द्वारा और कुछ प्रचलित वेतन और पारिश्रमिक की दर के अनुसार उनकी आय का पता लगाया जाए। कर-मुक्त आयों से ऊपर की आयों के लिए आय-कर के आँकड़े बड़े ही लाभदायक सिद्ध होंगे।

उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि एक माध्यमिक शहरी गणना कर ली जाए। इन तीनों जाँचों की पूर्ति विद्युत्-शक्ति का उपयोग करने वाली फैक्ट्रियों, खानों तथा अन्य कुछ उद्योगों की उत्पादन-गणना से की जाएगी। यह बहुत अंशों में नागरिक सर्वेक्षण तथा कुछ अंशों में ग्रामीण सर्वेक्षण की पुनरावृत्ति होगी। लेकिन यह स्वतः बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और अन्य सर्वेक्षणों की तुलना में सम्पूर्ण जाँच के कुछ भाग का बहुत सही विवरण प्रस्तुत करेगा। ऐसा विश्वास है कि जब सब प्रकार की सामग्री सामने होगी तो शहरी या ग्रामीण उत्पादन-गणना या अन्य विधियों में सम्मिलित आय का अनुमान लगाकर दोहरी गणना के दोष से बचने के तरीके निकाले जा सकेंगे।

१६. (३) उत्पादन-गणना—इंगलैण्ड की तरह उत्पादन-गणना की व्यवस्था धारा-सभा के अधिनियम द्वारा कर देनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत माँगे गए तथ्यों के सम्बन्ध में सूचना देना अनिवार्य हो। कुछ छोटे कारखाने ऐसे हो सकते हैं जिनमें उत्पादन-गणना सरलता से लागू हो सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे काम जो बड़े पैमाने पर चल रहे हों और जिनमें किसी प्रकार की यान्त्रिक शक्ति का उपयोग न किया जाता हो—उदाहरण के लिए ईंटें बनाना, मकान बनाना और दरी बुनना—उत्पादन-गणना-विधि के अन्तर्गत लाने चाहिएँ। इसी प्रकार 'खान-अधिनियम' के अन्तर्गत

जैसा कि १९४८-४९ के मूल्य पर अनुमानित राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से स्पष्ट है।

यद्यपि राष्ट्रीय आय के अनुमान के सम्बन्ध में समिति ने डॉ० वी० के० आर० वी० राव की तरह ही उत्पादन-गणना तथा आय-गणना के समन्वय से काम किया है किन्तु समिति के अनुमान अधिक सही हैं। इसका कारण सांख्यिकीय सामग्री का अधिक मात्रा में उपलब्ध होना था। इस विधि से राष्ट्रीय आय का अनुमान करने से एक लाभ यह भी है कि विभाजन के फलस्वरूप हुए प्रादेशिक परिवर्तनों तथा मूल्य-परिवर्तनों के लिए संशोधन कर लेने पर इन अनुमानों की तुलना पुराने अनुमानों से की जा सकती है।[1]

१९५१ से भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए नियोजित विकास द्वारा प्रयत्न हो रहे हैं। प्रथम योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय में (चालू मूल्यों पर) १८ प्रतिशत वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के अन्त तक २० प्रतिशत वृद्धि की आशा है। १९५१-६१ के बीच राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अनुमान ४२ प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अनुमान २० प्रतिशत है।[2]

१७. भारतीय दरिद्रता को बढ़ाने वाली उपभोग-सम्बन्धी कुछ भूलें—जो भी बात देश की उत्पादन-शक्ति को घटाने में सहायक होती है उसे अवश्य ही भारतीय दरिद्रता का कारण मानना पड़ेगा। निम्न उत्पादन के अतिरिक्त बुद्धिहीन उपभोग भी आर्थिक विकास के मार्ग में एक भारी रुकावट है। बुद्धिसंगत उपभोग या 'उपयोगिताओं के नाश' के लिए 'विचारशीलता, बुद्धि और कल्पना' की आवश्यकता है।[3] धन का अपव्यय धनवान को तो बरबाद कर ही सकता है, किन्तु साथ ही ऐसी विलासिताओं पर किया गया निरर्थक व्यय, जो जीवन को अधिक समृद्ध और पूर्ण नहीं बनाता, समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो सकता है। कारण यह है कि इससे इतनी पूंजी और श्रम आवश्यकताओं के उत्पादन से हटकर विलासिताओं के उत्पादन में लग जाता है। यह कहना गलत होगा कि केवल धनी लोग ही अपव्यय के दोषी हैं। प्रायः सभी दरिद्र देशों में गरीब अपनी गरीबी के ही कारण अनेक प्रकार की फिजूलखर्चियाँ करते हैं। इसके विपरीत कुछ वर्गों के व्यक्ति, जैसे मध्यवर्गीय लोग और मारवाड़ी, मितव्ययिता के नाम पर इतने कंजूस होते हैं कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न करके कौड़ी-कौड़ी को दाँत से पकड़ते हैं और जहाँ उन्हें स्वच्छन्दता से खर्च करना चाहिए वहाँ भी कंजूसी बरतने से बाज नहीं आते। ऐसा देखा गया है कि पुरानी पद्धति में सन्तानों के लिए धन का एकत्रीकरण किया जाता था ताकि जीवन प्रारम्भ करने में उन्हें अच्छे साधन प्राप्त हों, परन्तु अब इसका स्थान नवीन विचारधारा ले रही है

---

१. देखिए राष्ट्रीय आय समिति (अन्तिम रिपोर्ट) फरवरी १९५४, पृ० ५, पैरा २,४।

२. देखिए तृतीय पंचवर्षीय योजना का प्रारूप (अंग्रेजी), पृ० १७।

३. तुलना कीजिए, "रुपये को अच्छी तरह पैदा करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कठिन काम है। रुपये पैदा करने के तरीके निश्चित हैं, काम निश्चित है, किन्तु खर्च करने के लिए व्ययकर्ता स्वतन्त्र है। अब केवल निष्क्रिय आज्ञाकारिता के स्थान पर सद्‌बुद्धि की आवश्यकता है।"—जे० एस० निकल्सन, 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकनामी', खण्ड ३, पृ० ४३६।

बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनका होना दरिद्रता[1] का परिचायक नहीं है, और न खाद्यान्न की कमी का ही। अपोषक तत्त्वों से युक्त भोजन, ऐसा सम्भव है, स्वास्थ्यवर्द्धक एवं भली प्रकार सन्तुलित भोजन से अधिक व्ययशील भी हो सकता है।

१९१५ में कर्नल मेके द्वारा बंगाल और संयुक्त प्रान्त के जेलों के भोजन के सम्बन्ध में की गई खोजों से पता चला कि भोजन जनता के शारीरिक विकास और साधारण सुख का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। उन्होंने बताया कि बंगाली की शारीरिक अशक्तता के मूल में उसके भोजन में प्रोटीन-जैसे तत्त्वों की कमी है। परिवहन के साधनों में सुधार के साथ एक प्रान्त के खाद्यानों को उन प्रान्तों में, जहाँ उनकी कमी है, पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार असन्तुलित भोजन की समस्या को हल किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि लोग अपने भोजन में परिवर्तन करने के लिए तैयार हों और उस प्रकार के पौष्टिक आहार की माँग करें जिसकी उनके प्रान्त में कमी है। भोजन के विषय में शिक्षा और जानकारी से यह काम सरल हो सकता है। कृषि आयोग ने जनता के स्वास्थ्य में सुधार करने के लिए जो सुझाव रखे उनमें एक यह भी है कि देश के मछली के मत्स्य-साधनों का संरक्षण किया जाए। यह एक ऐसा काम है जिसे सरकार, स्थानीय बोर्ड और साधारण रूप से ग्रामीण समुदाय अपने सक्रिय सहयोग से सफल बना सकते हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि मछली चावल खाने वाले लोगों के लिए अधिक आहार-मूल्य प्रस्तुत करेगी।[2] जनता के एक विशाल भाग में मछली खाने के प्रति किसी प्रकार का धार्मिक विरोध नहीं है और इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

एक ज़माना था जब कि इंगलैण्ड में लेखकों और सुधारकों का यह फैशन था कि वे 'चाय पीने के दुर्गुणों' को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सामने रखते थे,[3] लेकिन इंगलिश श्रमिक इसका प्रयोग करते आ रहे हैं और अब तो इसका उपयोग इतना बढ़ गया है कि यह जीवन की आवश्यकताओं में से एक हो गई है। जनमत भी धीरे-धीरे बदल गया है और चाय पीने को दुर्गुण बताने के बजाय जल-पान में एक प्रकार की

---

१. डॉक्टर स्लेटर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि रहन-सहन के दरजे की वृद्धि से कुछ अर्थ में शारीरिक हानि हुई है। उदाहरण के लिए चावल की मिलों ने स्त्रियों को परिश्रम से तो बचाया किन्तु वह परिश्रम शरीर के लिए लाभदायक था। साथ ही चावल की बहुत-कुछ पौष्टिकता भी नष्ट हो गई। एकदम बाहरी सतह पर जो विटामिन रहता था वह मिलों में नष्ट हो जाता है।—इकनामिक कण्डीशंस इन इण्डिया, पिल्लई की भूमिका से उद्धृत, पृ० १४।

२. वही, पृ० ४११-१७। आयोग ने यह भी सुझाव रखा कि एक सेण्ट्रल इंस्टिट्यूट ऑव ह्यूमन न्यूट्रिशन की स्थापना की जाए तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा संगठित अनुसन्धानों को भी उससे नियोजित कर दिया जाए। उन्होंने यह भी सिफारिश की कि पशु-आहार एवं मानवीय आहार में निकट सहयोग स्थापित किया जाए तथा भारत में की गई इस प्रकार की खोजों को विदेशों में होने वाली ऐसी ही खोजों से संयुक्त किया जाए। समस्याएँ इतनी महान् हैं कि समस्त कर्मचारियों (स्टाफ) और प्राप्य सामग्री को समस्या के समाधान के लिए काम में लगाना होगा।

३. हेलेन बोसांक्वेट, 'दि स्टैण्डर्ड ऑफ़ लाइफ़', पृ० ३०।

हो जाएगी और पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ३३-३४ हजार करोड़ हो जाएगी। परन्तु तीसरी पंचवर्षीय योजना के मध्य मूल्यांकन को देखकर यह लगता है कि राष्ट्रीय आय १९६५-६६ में १७,४०० करोड़ तक रह जाएगी। इस प्रकार १९६५-६६ में कुल निवेश (Net Investment) राष्ट्रीय आय का १९ प्रतिशत और घरेलू बचत राष्ट्रीय आय का १३ प्रतिशत।

चौथी पंचवर्षीय योजना के उत्पादन लक्ष्य इस प्रकार हैं कि उत्पत्ति दर ६.५ प्रतिशत रहे। उदाहरण के रूप में वार्षिक आय खेती-बाड़ी का ५ प्रतिशत, संगठित उद्योग में ११ प्रतिशत से, लघु उद्योग ८ प्रतिशत से, रेलवे, यातायात तथा संचार ८ प्रतिशत से, बैंकों का तथा बीमा ८ प्रतिशत से, वणिज्य (Commerce) तथा नौकरी क्षेत्र में ६.५ प्रतिशत से।

में १० काल-खण्ड स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—(१) १८४४-६६ पुराना गारण्टी सिस्टम, (२) १८६६-७६ सरकारी निर्माण और प्रबन्ध, (३) १८७६-१६०० नई गारण्टी पद्धति. (४) १६००-१४ तीव्र प्रगति और विकास, (५) १६१४-२१, १६१४-१८ की युद्ध-जनित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप रेलवे का विघटन, (६) १६२१-२५ आकवर्थ कमेटी की रिपोर्ट तथा सरकारी प्रबन्ध और नियन्त्रण, (७) १६२४-२५ से १६२६-३० तक सैपरेशन कन्वेंशन और तत्कालीन प्रगति, (८) १६३०-३१ से १६३५-३६ तक अवसाद, १६३६-३६ आंशिक पुनरुत्थान तथा रेलवे जांच और (६) १६३६ से १६४७ तक।

३. पुरानी गारण्टी प्रथा—१८४४ में पहली बार रेलवे बनाने का प्रस्ताव रखा गया, जिसमें इंगलैंड में संस्थापित कम्पनियों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा निश्चित लाभ के आश्वासन पर भारत में रेलें बनाने देने के प्रश्न पर विचार किया गया। कलकत्ता और बम्बई के पास दो छोटी-छोटी रेलवे बनाने के ठेके दिये गए। ये ठेके क्रमशः ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी को दिये गए। १८५३ में लार्ड डलहौज़ी की प्रसिद्ध टिप्पणी ने नीति को निश्चित दिशा प्रदान की। इस टिप्पणी में लार्ड डलहौज़ी ने रेलों का निर्माण ट्रंक सिस्टम पर करने का प्रस्ताव रखा, ताकि प्रेसीडेंसी प्रान्तों में आन्तरिक भाग को उसके प्रधान नगरों एवं बन्दरगाहों से जोड़ दिया जाए तथा एक प्रेसीडेंसी को दूसरी प्रसीडेंसी से जोड़ दिया जाए। उन्होंने रेलों के निर्माण से भारत तथा इंगलैंड को होने वाले सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक लाभों की ओर संकेत किया। रेलों के शीघ्र निर्माण और प्रसार के लाभों में लार्ड डलहौज़ी ने यह भी देखा कि इससे इंगलैंड की पूंजी और साहस का भारतीय वस्तु-निर्माण (मेनूफेक्चर्स) और व्यापार में उपयोग होगा। उन्होंने राज्य के नियन्त्रण और निरीक्षण में कम्पनियों द्वारा रेलों के प्रबन्ध और निर्माण को सरकारी निर्माण से अधिक प्राथमिकता दी, क्योंकि उनके विचार में व्यावसायिक कार्य सरकारी कार्य-क्षेत्र से बाहर थे विशेषकर भारत में, जहां हर बात के लिए जनता की सरकार पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

१८५४-६० के बीच डलहौज़ी की योजना के अनुसार ८ कम्पनियों के साथ भारत के विभिन्न भागों में रेलों के निर्माण और नियन्त्रण का ठेका किया गया।

लेकिन यह पद्धति सरकार के लिए बड़ी व्ययशील और करदाता के लिए बड़ी भारस्वरूप सिद्ध हुई। कम्पनियां अपना व्याज पैदा न कर सकीं और सरकार से व्याज-अदायगी की मांग करने लगीं। १८६६ में रेलवे बजट में १,६६,५०,००० रु० का घाटा हुआ। लार्ड लारेंस, जिन्होंने १८६७ में गारण्टी सिस्टम की बड़ी निन्दा की थी तथा ऐसे अन्य आलोचकों ने इस गारण्टी सिस्टम की भी कड़ी आलोचना की और घाटे को कम्पनियों के अपव्यय का परिणाम बताया जिन्हें निर्माण में धन की मितव्ययता का कोई ध्यान ही न था।[1] ऑकवर्थ रेलवे समिति ने राय दी कि

१. देखिए, आर० सी० दत्त, 'दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज', पृ० ३५५-५६।

५. नया गारण्टी सिस्टम (१८७९-१९००)—इस प्रकार सरकारी प्रबन्ध में रेलों के निर्माण की विचारधारा की शक्ति क्षीण होने लगी और रेलवे के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। पुरानी प्रथा से भिन्न नई प्रथा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) नई कम्पनियों द्वारा बनाई गई लाइनें भारत-सचिव की सम्पत्ति घोषित की गईं। भारत-सचिव को २५ वर्ष के बाद, या हर दस वर्ष के बाद दी गई पूँजी को कम्पनियों द्वारा दे देने के बाद पुनः ठेका निश्चित करने का अधिकार था; (२) कम्पनियों द्वारा एकत्र धन पर गारण्टी की हुई ब्याज-दर पहले की अपेक्षा कम थी। प्रायः यह ३½% थी और (३) सरकार ने लाभ का अधिकांश (३/५) अपने हित के लिए सुरक्षित रखा।

इस प्रकार, नई पद्धति पर निर्मित रेलवे लाइनें प्रारम्भ से ही सरकारी सम्पत्ति थीं, यद्यपि कम्पनियों को ब्याज-दर की गारण्टी दी गई थी और रेलें बन जाने पर प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ में दिया गया था। इसी प्रकार जब कम्पनियों को पुरानी पद्धति पर दिये गए ठेके समाप्त हो गए तो सरकार ने उन्हें खतम करने का तरीका अपनाया, हालाँकि यह तरीका लागू करने में काफी भेद-भाव बरता गया। कई कम्पनियों के ठेके समाप्त होने पर, हालाँकि प्रबन्ध कम्पनियों के हाथ में ही रहने दिया गया, सरकार ने विभिन्न तरीकों से अपने लिए लाभदायक शर्तें तय कीं, जैसे कम्पनी के हिस्से की पूंजी और गारण्टी की हुई ब्याज-दर घटा दी तथा लाभ के बटवारे से सम्बन्धित शर्तों में भी परिवर्तन किया।

इस प्रकार, सरकार प्रायः सभी ट्रंक लाइनों की मालिक हो गई। रेलों की पूंजी भी सरकारी हो गई, चाहे वह प्रारम्भ में लगाई गई सरकारी पूंजी का परिणाम हो या पुराने ठेकों के समाप्त होने पर सरकार द्वारा प्राप्त कर ली गई हो। थोड़े-से अपवादों को छोड़कर प्रबन्ध प्रायः कम्पनियों के हाथ में ही रखा गया, परन्तु सरकार ने निरीक्षण और कम्पनियों की परिषद् में एक संचालक की नियुक्ति का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। १९०५ से इंजन, डिब्बे (रोलिंग स्टॉक), जन-सुरक्षा, रेल-संयोजन, रेल-सेवाएं, किराये की दर इत्यादि विषयों के सम्बन्ध में रेलवे बोर्ड के द्वारा सरकार उपर्युक्त अधिकार का प्रयोग (अर्थात् निरीक्षण) करने लगी। एक कम्पनी को छोड़कर, जिसका ठेका २५ साल के लिए था, शेष कम्पनियों के ठेके भारत-सचिव की इच्छानुसार कम्पनियों को बराबर पूंजी देकर समाप्त किये जा सकते थे। बंगाल, नागपुर का ठेका सन् १९५० में समाप्त हुआ और यह आखिरी था। लेकिन सरकार ने लाइन को १ अक्तूबर, १९४४ से ही ले लिया था।

६. रेलों का शीघ्र विस्तार और लाभ का प्रारम्भ (१९००-१९१४)—इस काल की विशिष्टता थी राष्ट्र-विकास की जोरदार नीति, जिसने सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। १९०८ में जब मैके-समिति ने रेलों के लिए १२,५००,००० पौण्ड वार्षिक पूंजी व्यय करने का सुझाव रखा—यद्यपि यह संचय समय पर संशोधन के अधीन थे—तो एक नवीन प्रेरणा मिली। यद्यपि सरकार मैके-समिति द्वारा रखे गए सुझावों को कार्यान्वित न कर सकी और न उतना धन ही व्यय कर पाई, किन्तु यह

७. रेलों का विघटन (१९१४-२१)—आकवर्थ-समिति ने युद्ध के भार से रेलों के विघटन का चित्र निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है, "बीसियों ऐसे पुल हैं जिन पर से आधुनिक भारी बोझों से लदी गाड़ियाँ नहीं चल सकतीं और कितने मील ऐसी रेलें, सैकड़ों ऐसे इंजन और हजारों ऐसे डिब्बे हैं जिनको बदलने की सही तारीख बहुत दिन पहले बीत चुकी है।" ऐसी स्थिति में यदि जनता तथा व्यापारी वर्ग ने वस्तुओं और मनुष्यों के परिवहन में होने वाली असुविधाओं के विरुद्ध शिकायतें कीं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। विदेशी कम्पनियों द्वारा रेलों के प्रबन्ध के प्रति जनता अधिकाधिक विरोध कर रही थी और चाहती थी कि जहाँ तक सम्भव हो इनका प्रबन्ध सरकार अपने हाथों में ले।

८. आकवर्थ-समिति (१९२१-२५)—यह भी अनुभव किया जाने लगा कि तत्कालीन रेलवे-बोर्ड रेलवे की नीति-निर्धारण में असफल रहा और रेलवे प्रशासन, विशेषकर किराये और दरों के सम्बन्ध में, प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं कर सका। आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध, कामों का निश्चित क्रम, स्थानीय दशाओं की अज्ञानता और प्राविधिक (टेक्निशियन) एवं विशेषज्ञ कर्मचारियों की कमी इसका कारण थी। रेलवे की भावी आर्थिक नीति को नवीन ढंग से संचालित करने की आवश्यकता भी प्रतीत हो रही थी। ये सब प्रश्न नवम्बर, १९२० में नियुक्त एक विशेष समिति को सौंप दिये गए, जिसके सभापति इंगलैण्ड के (भूतपूर्व) सर विलियम आकवर्थ थे। इस समिति की नियुक्ति का तात्कालिक कारण ईस्ट इण्डियन रेलवे के सम्बन्धों में कार्यवाही निर्णय करने का प्रश्न था, जो कम्पनी द्वारा प्रबन्धित सरकार की सम्पत्ति थी और जिसका ठेका दिसम्बर, १९१९ को समाप्त होने वाला था। अस्थायी उपचार के रूप में पुराना ठेका १९२९ तक बढ़ा दिया गया और प्रबन्ध के विकल्पों के गुण-दोषों के परीक्षण का काम आकवर्थ जाँच-समिति को सौंप दिया गया। विस्तृत जाँच के बाद समिति ने १९२१ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर समिति के निष्कर्ष निहित थे। किन्तु इसका सारांश देने के पहले हम सरकारी प्रबन्ध बनाम कम्पनी-प्रबन्ध के विवाद की विवेचना करेंगे।

९. भारत में सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में मत—सैद्धान्तिक स्तर पर राज्य-प्रबन्ध के विरोधी मत काफी शक्तिशाली हैं।[1] लेकिन जब हम किसी खास देश के सम्बन्ध में इसकी विवेचना करते हैं तो सैद्धान्तिक मत अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होता। वस्तुतः किसी भी देश में प्रचलित पद्धति का निर्धारण सैद्धान्तिक कारणों ने नहीं वरन् ऐतिहासिक कारणों ने किया है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देश भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियों का अनुसरण करके फल-फूल रहे हैं। सरकार अनेक कारण-वश रेल-व्यापार अपने हाथ में लेती है, यथा राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत साहस की कमी को पूरा करने के लिए, जनता को अधिक सस्ती दर का लाभ देने के लिए, अच्छी सुविधा प्रदान करने के लिए तथा विभिन्न हितों के प्रति निष्पक्ष व्यवहार करने

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, डब्ल्यू० एम० आकवर्थ, 'स्टेट रेलवे ऑनरशिप'।

राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो रेलवे-निर्माण के लिए जनता धन दे और यह शीघ्रता से तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रवन्ध सरकार के हाथ में हो। फिर भी यदि बाहरी कर्ज लेना ज़रूरी ही हुआ तो ऋण देने वालों की निगाहों में भारत सरकार की प्रतिष्ठा अधिक मूल्यवान वस्तु होगी। सरकारी प्रवन्ध के पक्ष में एक सबसे बड़ा तर्क यह भी था कि विदेशी कम्पनियों ने जान-बूझकर राष्ट्रीय हितों की चिन्ता नहीं की, बल्कि विरोधी बनी रहीं। ये सब बुराइयाँ राष्ट्रीय प्रवन्ध से दूर हो जाएँगी। सरकार द्वारा किये गए प्रवन्ध से प्राप्त अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि सरकारी प्रबन्ध किसी भी अंश में कम्पनियों की तुलना में बुरा नहीं है। इन पूंजीपतियों ने न केवल देश के विभिन्न भागों में सामग्री और मनुष्यों के परिवहन पर ही नियन्त्रण रखा, बलिक प्रधान (ट्रंक) और सहायक नई लाइनों तथा दो या अधिक लाइनों के सम्बन्ध को भी नियन्त्रित किया। प्रभाव-क्षेत्र उत्पन्न हो गए थे, जिनसे रेलवे के उचित प्रसार में बाधा उत्पन्न हो रही थी। सरकारी प्रबन्ध में यह दोष दूर हो जाएगा और लाइनें देश के हितों को ध्यान में रखकर बनाई जाएँगीं। व्यापारियों और यात्रियों की सुविधाओं का भी अधिक अच्छी तरह ध्यान रखा जाएगा।[१]

१९२४-२५ में ईस्ट इण्डिया रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे के ठेके खत्म होने के समय यह विवाद और तीव्र हो गया। फरवरी, १९२३ में विपय धारासभा के सामने रखा गया। गैर-सरकारी भारतीयों का मत निश्चित रूप से सरकारी प्रवन्ध के पक्ष में था। परिणामतः इन दोनों रेलवे को सरकार द्वारा ले लिये जाने का प्रस्ताव पास हो गया। ये दोनों प्रत्यक्ष सरकारी प्रवन्ध के अन्तर्गत आ गईं। (जनवरी, १९२९ में बर्मा रेलवे भी सरकारी प्रबन्ध में आ गई)। १९३० में सरकार ने दक्षिण पंजाब रेलवे खरीद ली। यह सरकार द्वारा अधिकृत और प्रवन्धित पश्चिमोत्तर रेलवे के अन्तर्गत कर दी गई। बी० बी० एण्ड सी० आई० तथा आसाम-बंगाल रेलवे १ जनवरी, १९४२ से सरकार के प्रवन्ध में आ गई।

१०. साधारण वित्त से रेलवे वित्त का पृथक्करण (१९२४-२५ से १९२९-३०)—आकवर्थ-समिति ने अनेक आधारों पर रेलवे वित्त को साधारण वित्त से अलग करने के लिए ज़ोर दिया। प्रथम, वार्षिक आय व्ययक (बजट) से रेलवे के लाभ के कारण होने वाली संदिग्धता दूर हो जाएगी। रेलों का मुनाफा मौसम और व्यापार के साथ बदलता रहता है, फलतः बजट के अनुमान कई करोड़ रुपयों से भी गलत हो सकते हैं। रेलवे के दृष्टिकोण से भी दोनों को अलग करने की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है। केन्द्रीय सरकारी बजट पर निर्भर होने से रेलों को व्यावसायिक रूप से चलाने में बाधा पहुँचती है। ऐसी व्यवस्था, जिसमें यह मान लिया जाता है कि हर

१. जैसा कि श्री एन० बी० मेहता का कहना है अन्तर रेलवे-प्रतिस्पर्धा के अभाव और जागृत जनमत के प्रभाव ने रेलों के सरकारी नियन्त्रण को एक नैतिक आवश्यकता में परिवर्तित कर दिया है। देखिए, 'इण्डियन रेलवेज़ रेट्स रेगूलेशन', पृ० ८१।

जून, १९३७ में प्रकाशित समिति की रिपोर्ट में रेलवे के हर पहलू को स्पर्श करने वाले ऐसे सुझाव हैं जिनसे उसकी कार्यकुशलता और आर्थिक परिस्थिति दोनों ही सुधारी जा सकती हैं। इसने पोप-समिति, जिसने १९३२-३४ में मितव्ययिता और कुशलता बढ़ाने की दृष्टि से रेलवे के हर महत्त्वपूर्ण कार्य का विस्तृत विश्लेषण किया था, के सब सुझावों का समर्थन किया तथा एक पर्याप्त अपकर्ष-कोष (डिप्रेसियेशन फण्ड) की आवश्यकता पर जोर दिया। इसके विचार में ३० करोड़ रुपये की बचत साधारणतः ज्यादा नहीं कही जा सकती। इसने रेलवे के साधारण सुरक्षित कोष के निर्माण की सिफारिश की, इससे ऋण ली हुई पूँजी और व्याज को चुकता किया जा सकेगा।[1]

समिति ने रेलों को अपनी लोकप्रियता बढ़ाने और जनता से अपने सम्बन्ध अच्छे करने के सुझाव रखे। इस काम के लिए समाचारपत्रों से घनिष्ठता बढ़ाने पर जोर दिया। समिति ने अनेक रेलों को एक में मिलाने पर अधिक जोर नहीं दिया, क्योंकि इससे प्रबन्ध और प्रशासन में असुविधा उत्पन्न होती।[2] वेजवुड-समिति की रेल-सड़क संयोजन, तथा किराये की दर में संशोधन की सिफारिशों की चर्चा अन्य भागों में की गई है।

१२. द्वितीय विश्व-युद्ध-काल और उसके बाद (१९३९ से १९४७)—द्वितीय विश्व-युद्ध का एक परिणाम यह हुआ कि यातायात में काफी वृद्धि हो गई। फलतः परिवहन-क्षमता पर असाधारण भार पड़ा। समृद्धि-काल के कारण रेलवे इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोड़ी-बहुत सुसज्जित थी। रेलवे के निर्माण में बड़ा रुपया खर्च किया गया था। कार्य-विधि में सुधार भी किया गया तथा अच्छे शक्तिशाली इंजन भी मँगाये गए थे। १९४१ के अपने बजट भाषण में सर गुथरी रसेल, रेलवे चीफ कमिश्नर ने अनुमान लगाया कि आवश्यकता पड़ने पर अपनी वर्तमान कार्य-क्षमता से रेलवे कोयला को छोड़कर समुद्र-तट के तमाम यातायात को सँभाल सकती है।[3]

१५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्रता-प्राप्ति और विभाजन ने समस्याओं के आकार और रूप को ही बदल दिया। देश के विभाजन के साथ ही रेलवे और तत्सम्बन्धी अन्य सम्पत्ति का भी विभाजन हुआ।

१३. राज्य और रेलवे के बीच सम्बन्धों की विविधता[4]—नियन्त्रण और स्वामित्व की दृष्टि से राज्य और रेलों के बीच विभिन्न सम्बन्ध रहे हैं। मुख्य लाइनों में से चार लाइनें सरकार के स्वामित्व में थीं (नार्थ-वेस्टर्न रेलवे, ईस्टर्न बंगाल रेलवे, ईस्ट इन्डियन रेलवे जिसमें १ जुलाई, १९२९ को अवध और रुहेलखण्ड रेलवे मिला दी गई थीं और चौथी जी० आई० पी० रेलवे)। अन्य पाँच का स्वामित्व तो सरकार के

रेलों को ६ वर्गों में विभाजित करने की योजना थी, किन्तु बाद में दो वर्ग और बनाए गए। इस समय रेलवे आठ वर्गों में विभाजित है। ये वर्ग निम्नलिखित हैं तथा कोष्ठक में इनके संगठन की तिथि और हेडक्वार्टर का नाम दिया हुआ है : (१) दक्षिण-क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५१, मद्रास), (२) मध्य-क्षेत्र (५ नवम्बर, १९५१, बम्बई), (३) पश्चिमी क्षेत्र (५ नवम्बर, १९५१, बम्बई), (४) उत्तरी क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५२, दिल्ली), (५) उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५२, गोरखपुर), (६) उत्तर-पूर्वी सीमा-क्षेत्र (१५ जनवरी, १९५८, पंडु), (७) पूर्वी-क्षेत्र (१ अगस्त, १९५५, कलकत्ता), (८) दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र (१ अगस्त, १९५५, कलकत्ता)। रेलों के इस वर्गीकरण के विरुद्ध मुख्यत: दो आपत्तियाँ की गईं। एक तो यह कि कुछ क्षेत्रों के अन्तर्गत रेल की लम्बाई इतनी अधिक है कि प्रशासकीय कठिनाइयाँ घटने के बजाय बढ़ जाएँगी, ऐसी आशंका थी। दूसरे यह कि रेल-परिचालन में रुकावटें पैदा हो जाएँगी। वर्गीकरण के पश्चात् वेजवाड़ा और मुगलसराय तथा अन्य स्थानों में रुकावटों का अनुभव भी किया गया, किन्तु सरकारी दृष्टिकोण यह रहा कि ऐसी कठिनाइयाँ वर्गीकरण का परिणाम नहीं थीं। इन आपत्तियों के विरुद्ध सरकार ने यही कहा कि वर्गीकरण की योजना से (१) प्रशासन और वित्तीय नियन्त्रण में सुधार, (२) प्रबन्ध में मितव्ययिता और कार्यक्षमता में वृद्धि, तथा (३) परिचालन-व्यवस्थाओं और कर्मशाला (वर्कशाप, का युक्तीकरण होगा। वर्गीकरण विवादास्पद विषय नहीं था। अनेक समितियों ने, यथा एकवर्थ-समिति, वेजवुड-समिति, सभी ने सिफारिश की थी। वर्गीकरण के विरुद्ध केवल यही कहा जा सकता था कि यदि यह योजना कुछ समय बाद लागू की जाती तो अधिक अच्छा होता। कुँजरू-समिति (१९४७-४८)[१] का यही मत था। वर्गीकरण हो जाने के बाद अब यह विवाद का विषय नहीं रहा है।

१९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई। इन योजना में रेलवे के पुन-र्स्थापन और विस्तार के ऊपर ४२३.७३ करोड़ रु० व्यय किये गए। प्रथम योजना का ध्येय मुख्यत: चल स्टाक तथा स्थिर सम्पत्ति का पुनर्स्थापन और नवीकरण, उत्पादन और विकास-सम्बन्धी योजनाओं से उत्पन्न नई आवश्यकताओं की पूर्ति तथा यात्रा करने वाली जनता तथा रेलवे कर्मचारियों को सुविधाएँ प्रदान करना था। योजनावधि में द्वितीय महायुद्ध में उखाड़ी गई लाइनों में से ४३० मील लाइन फिर से बिछा दी गई तथा ३०० मील लम्बी लाइनों का निर्माण हुआ। योजना के प्रारम्भ में भारतीय रेलवे के पास ८,२०९ इंजन, १९,२२५ कोचिंग डिब्बे तथा २२२,४४१ माल के डिब्बे थे। इनमें से २,११२ इंजन, ७,०११ कोचिंग डिब्बे तथा तथा ३९,५८४ मालगाड़ी के डिब्बे अपनी आयु पूरी कर चुके थे और उन्हें बदलना आवश्यक था। प्रथम योजना के अन्त तक प्राप्त इंजन, कोचिंग के डिब्बे तथा माल के डिब्बों की संख्या क्रमश: १,५८९, ४,८३७

१. कुँजरू-समिति का मत था कि रेलवे का पुनर्गठन गतिरोध और अव्यवस्था को जन्म देगा। समिति ने सिफारिश की थी कि पुनर्गठन की योजना कुछ वर्षों के लिए कार्यान्वित न की जाए। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, सरकारी मत इसे मानने को तैयार नहीं था।

करेंगे जो १८४४–१६४७ के काल में विचारणीय थीं।

१६. रेलवे-दर-नीति—एक बड़ी पुरानी शिकायत थी कि रेलवे की दर मूलतः आर्थिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है और यूरोपीय सौदागरों को फायदा तथा भारतीय उद्योग और साहस के विकास को बाधा पहुँचाती है। १६१५ में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला ने धारासभा (इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) में इसका ज़िक्र किया। उद्योग और वित्त-आयोग के सामने भी कितने लोगों ने इस बात की गवाही दी। आकवर्थ-समिति ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। एक खास शिकायत यह थी कि दरें इस प्रकार रखी गई थीं कि वे आन्तरिक यातायात की अपेक्षा अन्दर से बन्दरगाहों तक आने वाले और बन्दरगाहों से अन्दर जाने वाले यातायात को प्रोत्साहन देने वाली थीं। इससे कच्चे माल के निर्यात और विदेशी निर्मित वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलता था।[1] भारतीय व्यापारियों की शिकायत थी कि उन्हें देश के विभिन्न भागों से कच्चा माल मँगाने और विभिन्न बाज़ारों में तैयार माल भेजने में काफी ऊँची दर देनी पड़ती थी। अवरोधक-दर प्रथा (ब्लाक रेट सिस्टम)[2] से भी काफी असन्तोष था क्योंकि इससे यातायात का कृत्रिम विकीरण होता था जिससे उद्योग और व्यापार दोनों को असुविधा होती थी। रेलवे-दर का एक प्रभाव यह भी था कि भूतकाल में प्रायः उद्योग बन्दरगाहों के पास केन्द्रित होने लगे थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें भी कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

जैसा कि अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने स्वीकार किया था, भारतीय उद्योगों के साथ किये गए अनुचित व्यवहार की बात निराधार नहीं थी। व्यवहार में रेलों को अपने ढंग से दर निश्चित करने की स्वतन्त्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता रेलवे बोर्ड द्वारा दी गई स्वीकृतियों के अन्तर्गत ही थी, किन्तु उन्हें विशिष्ट सामग्री विशिष्ट वर्ग में रखने की स्वतन्त्रता थी। प्रश्न का गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त उद्योग-आयोग ने यह सिफारिश की कि एक प्रकार की सामग्री को उतनी ही दूरी पर ले जाने का किराया बराबर होना चाहिए, ताकि कच्चा माल जहाँ तक सम्भव हो सके निर्यात के पूर्व निर्मित सामग्री की दशा में हो जाए। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि एक से अधिक लाइनों पर चलने वाली वस्तु की पूरी दूरी का किराया एक ही दर से एक ही बार ले लिया जाए। अर्थ आयोग ने इन सुझावों को स्वीकार किया और यह भी सुझाव रखा कि नये उद्योगों के लिए कुछ वर्ष तक विशेष रूप से रिआयती दर देनी चाहिए और अन्य उद्योगों को भी विशेष रिआयत दी जाए, यदि वे अपने को इस योग्य सिद्ध कर सकें। कृषि-आयोग, जिसने रेलवे दर से कृषि-विकास पर पड़ने वाले प्रभाव की जाँच की, ने यह सुझाव रखा कि कृषि-विभाग और

१. फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पैरा १२७।

२. 'ब्लाक रेट' का मतलब है कि थोड़ी दूरी के लिए अधिक दर से किराया लेना। यह जंकशन के निकट किसी स्टेशन से उस जंकशन तक और वहाँ से दूसरी रेलवे पर अधिक दूर तक जाने वाले यातायात पर लगाया जाता है। इसका उद्देश्य यातायात को प्रतिद्वन्द्वी लाइनों पर जाने से रोकना तथा एक लाइन तक ही सीमित रखना है।

सिफारिश की। सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली और प्रशिक्षण-सुविधाओं के प्रसार के लिए कदम उठाया। वेजवुड-समिति की रिपोर्ट पर विवाद होते समय भारत सरकार ने रेलवे-सेवाओं के भारतीयकरण की बात को पुनः दुहराया। अब यूरोपीयों को नौकरियाँ मिलना बन्द हो गया है और भारतीयकरण का प्रश्न भी राज-सत्ता भारतीय हाथों में हस्तान्तरित हो जाने से समाप्त हो गया है।

रेलवे की समस्याएँ

२. **स्वतन्त्रता के बाद**—स्वतन्त्रता के बाद रेलवे की समस्याओं का रूप ही बदल गया। कुछ समस्याएँ जैसे, भारतीयकरण की समस्या, अप्रासंगिक हो गई तथा कुछ अन्य समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठीं। इस समय भारतीय रेलवे के समक्ष निम्न मुख्य समस्याएँ हैं :

१. रेल चलाने के लिए शक्ति-उत्पादन के हेतु अधिकांशतः कोयला प्रयुक्त होता है। भारत में अच्छी कोटि के कोयले के कुल निक्षेप सीमित हैं तथा दीर्घकालीन प्रयोग की दृष्टि से वे लोहा और इस्पात जैसे आधारभूत उद्योग के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। इन उद्योगों का भविष्य निम्नकोटि के कोयले के सुधार और तदनन्तर इनके उपयोग पर ही आधारित है। अतएव रेलवे में कोयले का प्रयोग निम्नतम करना आवश्यक है। इस दृष्टि से भारत में बिजली और डीज़ेल से चलने वाली रेलों की व्यवस्था करना आवश्यक है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस दिशा में प्रयत्न किये गए हैं जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं।

२. रेलवे की दुर्घटनाओं से सम्बन्धित दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है। ये दुर्घटनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, यथा टक्कर, पटरी से उतरना, गाड़ी से जानवरों का कटना, सम-पार पर गाड़ी का सड़क यातायात से टकराना, गाड़ी का दूसरी रुकावटों से टकरा जाना आदि। १९५७-५८, १९५८-५९ तथा १९५९-६० में दुर्घटनाओं की संख्या क्रमशः ९,०११, ९,०७१ तथा ८,९१६ थी। १९५९-६० में इस प्रकार कुल दुर्घटनाओं की संख्या में कमी आ गई। किन्तु इस वर्ष रेल-पथ से उतरने और रेल-पथ की खराबी के कारण हुई दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ गई। टक्कर, गाड़ी का पटरी से उतरना, गाड़ी का सम-पार पर सड़क यातायात से टकराना, गाड़ी में आग लगना—इस प्रकार की कुल १,१२४ दुर्घटनाएँ रेलवे कर्मचारियों की असावधानी से हुई जबकि इस प्रकार की दुर्घटनाओं की कुल संख्या (१९५९-६०) में २,११९ थी। अतएव उपर्युक्त प्रकार की लगभग ५०% घटनाओं के लिए रेलवे कर्मचारी ही उत्तरदायी थे। यह कहा जा सकता है कि इन घटनाओं को कम करना तो सरकार के ही हाथ में है। उपाय के रूप में सरकार दुर्घटना की कारण रूपी भूलों के सम्बन्ध में रेलवे कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिए जनरल मैनेजरों तथा परिचालन अधीक्षकों की आवधिक बैठक में बराबर ज़ोर देती रही है। दुर्घटना के सरकारी निरीक्षकों ने १९५९-६० में जिन दुर्घटनाओं की जाँच की, उस तरह की दुर्घटनाओं को रोकने के लिए उन्होंने बहुत-से सुझाव दिये। तदनुसार रेल प्रशासनों को हिदायतें भी दी गईं। दुर्घटनाओं को कम करने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण

तालिका —२

योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति

	पहली योजना (वास्तविक)	द्वितीय योजना (वास्तविक)	तृतीय योजना का लक्ष्य
नई लाइनें खोली गईं (किलोमीटर)	१,०३४	१,३११	२,६४०
दुगनी लाइनें की गईं (किलोमीटर)	३७०	१,५१२	३,८६४
रेलों में बिजली का प्रयोग	—	३६१.५	२,४६८
रेलवे इंजन	१,५८६	२,२१६	२,०७०
रेल के डिब्बे	४,७५८	७,७१८	८,६०१
मालगाडी के डिब्बे	६१,२५४	६७,६५६	१,५७,२२७

पहली पंचवर्षीय योजना में यातायात, जिस पर लड़ाई तथा विभाजन का गहरा असर पड़ा था, को फिर से अच्छी दशा में लाने का कार्य था। उसके साथ-साथ यातायात को औद्योगिक उन्नति के लिए भी आवश्यकताओं को पूर्ण करना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना, जिसमें भारी उद्योग तथा यातायात संचार पर खूब जोर दिया गया था, में रेलवे प्रगति पर अच्छा ध्यान दिया गया। दूसरी योजना में १३४० करोड़ रुपया यातायात पर लगाया गया। तीसरी योजना में इस क्षेत्र में १४८६ करोड़ रुपया रखा गया। इसमें रेलवे पर ८६० करोड़ रुपया था, इसके अतिरिक्त ३५० करोड़ रुपया टूट-फूट के फण्ड (Depreciation) से ३५ करोड़ रुपया स्टोर सस्पेन्स-खाते से (Suspense)।

चौथी पंचवर्षीय योजना में संचार तथा यातायात पर ३,००० करोड़ रुपया सरकारी क्षेत्र में और ६५० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में खर्च होगा, जिसमें से रेलवे पर १,४०० करोड़ रुपया खर्च होगा और ६५० करोड़ रुपया रेलवे टूट-फूट फण्ड में से लगाया जाएगा। इस प्रकार रेलवे में कुल व्यवसाय २२५ मिलियन टन से (१६६५-६६) से बढ़कर (१६७०-७१) में ३५५ मिलियन टन हो जाएगा।

सड़क परिवहन

२०. हाल का सड़क इतिहास—लार्ड डलहौजी के समय में भारत की सड़कों के निर्माण का नया युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेलों के निर्माण के अतिरिक्त सड़कों के निर्माण के लिए भी कुछ शक्तिशाली नीति का अनुसरण किया। इस काम के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक कार्य-विभाग के अतिरिक्त (१८५५ में) प्रत्येक प्रान्त में सैनिक बोर्ड (मिलिटरी बोर्ड) के स्थान पर सार्वजनिक कार्य-विभाग (पी० डब्ल्यू० डी०) की स्थापना की गई (१८५५)। प्रायः ६० वर्षों से रेलों के प्रभाव से भी सड़कों के निर्माण में सहायता मिलती आ रही है। ज्यों-ज्यों रेलों का प्रसार होता गया, रेलों की सामग्री, माल और जनता की माँग पूरी करने के लिए एक सहायक के रूप में (न कि प्रतिद्वन्द्वी के रूप में) सड़कों का निर्माण आवश्यक हो गया। रेलवे ने पक्की सड़कों की—जो कि रेलवे से समकोण पर देश के आन्तरिक भाग से साल-भर सवारी और माल लाने में सहायता पहुँचाएँ—आवश्यकता को और भी तीव्र कर

मोटर परिवहन के लिए पर्याप्त अवसर हैं।

२२. अधिक सड़कों की आवश्यकता—जैसा कि कृषि-आयोग ने कहा है, 'परिवहन विक्रय का आवश्यक अंग है। आधुनिक व्यावसायिक विकास ने अच्छी सड़कों के संचार-महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है।' अच्छी परिवहन-व्यवस्था से कृषि-उत्पादन को निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी और जीवन-निर्वाह कृषि का स्थान व्यवसायिक कृषि ले लेगी जिससे ग्रामीणों का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा। इससे खींचने वाले और भारवाही पशुओं की शक्ति और प्राणवत्ता पर भी कम भार पड़ेगा और उनकी कार्य-क्षमता बढ़ेगी। इससे सवारियों का घिसना भी कम हो जाएगा, समय की भी बचत होगी। निर्यात या आन्तरिक उपभोग वाले कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों को भी कृषि से पर्याप्त सहायता पहुँचेगी। वे (सड़कें) उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में भी सहायक होंगी। इस प्रकार अनुचित स्थानीयकरण से उत्पन्न श्रम और मकानों की जटिल समस्याएँ भी कम होंगी; ग्रामीण वातावरण में उद्यान-फैक्ट्रियों का स्वप्न सत्य होने लगेगा। अन्त में, उपयुक्त सड़क-परिवहन की सहायता से भारत की अपार वन-राशि का भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

२३ सड़क बनाम रेलवे—सड़क-परिवहन रेल-परिवहन से इस अर्थ में अच्छा है कि इसके लिए स्टेशनों, सिगनलों, छादकों आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। न तो इसमें समाप्ति (टरमिनी) पर समय का ही नुकसान होता है, न खाली डिब्बे ही ढोने पड़ते हैं और न रोलिंग स्टॉक ही बेकार रहता है। सड़कों का स्पष्ट सस्तापन इसलिए भी है क्योंकि रेलवे को अपनी लाइनें बनाने और उन्हें सुरक्षित रखने का सब खर्च स्वयं बरदाश्त करना पड़ता है, इसके विपरीत, सड़कों का निर्माण और सुरक्षा साधारण कर देने वालों के धन से होती है। यदि मोटरों को ही सड़कों की सुरक्षा का खर्च भी बरदाश्त करना पड़े तो भी सड़क-परिवहन सस्ता ही पड़ेगा। यह बात थोड़ी दूर की यात्रा और हल्के यातायात के विषय में ही लागू होगी। इसके विपरीत दूर की यात्रा और भारी बोझ ढोने का काम रेलवे द्वारा अधिक सस्ते में होगा, क्योंकि उनके चलाने का खर्च कम पड़ता है। कुछ जगहों पर रेलवे और सड़कों में प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है। कुछ स्थानों पर वे एक-दूसरे को सहायता पहुँचाती और पूरक का काम करती हैं। इसे निम्न शब्दों में भली प्रकार प्रकट किया गया है, "सड़कें किसानों की जोतों को बाज़ारों और पास के स्टेशनों से संयुक्त करती हैं। इसके विपरीत रेलवे उत्पादन-क्षेत्र और दूर के उपभोक्ताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं तथा नगर के उत्पादकों और हल, कृत्रिम खाद और कपड़ा खरीदने वाले किसानों को मिलाती हैं। अच्छी और पर्याप्त सड़कों के बिना कोई भी रेलवे परिवहन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी नहीं कर सकती। इसके विपरीत सबसे अच्छी सड़कें भी फसल का उत्पादन करने वालों को उपभोक्ताओं के सम्पर्क में नहीं ला सकतीं।"[1] इसलिए यह सोचना कि रेलवे में लगी लगभग १२२९ करोड़ रुपये की पूंजी को सड़कों के प्रसार

[1] कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ३१२।

एच० कर्कनेस रेलवे बोर्ड में विशेष अधिकारी थे। इसमें प्रतिद्वन्द्विता को उचित बनाने के लिए मोटर परिवहन पर और अधिक नियन्त्रण करने का सुझाव दिया गया।[1] १९३३ में हुए रेल-सड़क सम्मेलन में विभिन्न प्रकार के परिवहन के संयोजन से सम्बन्धित कई प्रस्ताव पास किये गए ताकि इनकी प्रतिद्वन्द्विता घट जाए। अन्य तरीकों में सम्मेलन ने रेलवे द्वारा चलाई जाने वाली बस-सर्विस पर से कानूनी प्रतिबन्ध हटाने का सुझाव दिया। सड़क परिवहन सेवाओं को, ग्रामीण सेवाओं के विकास को दृष्टि में रखकर, एकाधिकार दे दिया जाए तथा केन्द्र और प्रान्तों में संयोजन का काम सरल करने के लिए संस्थाएँ स्थापित की जाएँ। परिवहन-मंत्री की अध्यक्षता में एक परिवहन परामर्शदात्री समिति की स्थापना हुई (१९३५)। इसका काम रेल, सड़क तथा परिवहन के अन्य माध्यमों को संयोजित कर सड़कों के सम्बन्ध में ऐसी नीति प्रस्तुत करना था जो रेल, सड़क तथा अन्य परिवहन-साधनों के विकास के लिए प्रान्तों द्वारा अपनाई जाए। यह उद्देश्य देश के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।[2] संयोजन नीति का अनुसरण १९३७ में संचार-विभाग की स्थापना द्वारा सरल हो गया। इस नये विभाग ने १९४७ से रेलवे, पोस्टर, तार, वायुयान, सूचना-प्रसार आदि का काम सँभाला।

२६. रेल-सड़क-संयोजन पर वेजवुड-समिति और उसके बाद—वेजवुड-समिति ने बताया कि प्रान्तीय सरकारों का सड़क-परिवहन का नियमन अपर्याप्त और अस्त-व्यस्त था। प्रान्तीय सरकारों द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीति ने एक असंगठित और अकुशल सड़क-परिवहन को जन्म दिया, जिसने रेलवे को कमजोर बनाने में सहायता दी पर स्वयं विश्वसनीय सेवाएँ न दे सका। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारों को सड़कों के निर्माण के लिए दिए गए धन को देने में देर करके ही केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता था जो (सड़क-निर्माण) स्वयं जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं में से है। अतएव इस नीति से भारत में रेलें—अवनत रेलें—और सड़कें अपर्याप्त रहेंगी।[3] प्रभावपूर्ण संयोजन तो रेलवे और सड़क दोनों को जन-सेवाओं के रूप में चलाने पर ही हो सकता है। समिति इससे सहमत नहीं थी कि सड़कों का नियमन केवल रेलवे की सुरक्षा की दृष्टि से ही किया जा रहा था। सड़कों का उचित नियमन केवल सुरक्षा की दृष्टि से ही आवश्यक नहीं था, अपितु वह उन (सड़कों) के विकास को पुष्ट आर्थिक आधारों पर लाने के लिए भी आवश्यक था। रेलवे को एक नये प्रतिद्वन्द्वी की अनुचित और अनार्थिक प्रतिद्वन्द्विता से बचाना भी वाञ्छनीय है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को सड़कों का नियमन करना चाहिए, किन्तु सड़कों के परिवहन पर इस प्रकार के कोई प्रतिबन्ध न लगाने चाहिएँ जिनसे उनके

---

१. देखिए, मिचेल कर्कनेस रिपोर्ट, पृ० २४।

२. संयोजन के विषय पर शिक्षाप्रद विकास के लिए देखिए, एस० के० गुहा, 'प्रोब्लम्स ऑफ ट्रांसपोर्ट को-ऑर्डिनेशन इन इण्डिया'।

३. रिपोर्ट, पैरा १३८।

बाद १६३६ का मोटर विहिकल्स अधिनियम पास हुआ, जिसमें पुराने अधिनियम की त्रुटियों को दूर करने और मोटर-प्रयोग के प्रसार के कारण उत्पन्न नई परिस्थितियों की पूर्ति करने का प्रयास किया गया था।

अधिनियम के दो खास पहलू हैं—(१) नियमन करने वाला, (२) संयोजन करने वाला। इसकी साधारण योजना थी कि किराये पर या किसी भी प्रकार माल और यात्रियों को ढोने वाली सभी सवारियों का नियन्त्रण रीजनल ट्रांसपोर्ट प्राधिकारियों के हाथ में रहेगा, जोकि प्रान्त के निश्चित भागों के लिए नियुक्त किये जाएँगे तथा अपील सुनने और संयोजन के काम के लिए सारे प्रान्त के लिए एक प्रान्तीय परिवहन-प्राधिकारी होगा। कोई भी व्यक्ति, जिसका किसी भी परिवहन-कम्पनी से ज़रा-सा भी आर्थिक सम्बन्ध होगा, प्राधिकारी के रूप में नियुक्त नहीं किया जाएगा और सदस्य की तरह ही रह सकेगा। प्रत्येक गाड़ी के पास परमिट का होना अनिवार्य है जो कि उस क्षेत्र के अधिकारियों द्वारा दिया जाएगा। परमिट पाने वाले को कुछ शर्तें स्वीकार करनी होंगी, जैसे गाड़ी को अच्छी दशा में रखना, गति की सीमा को पार न करना, अधिक भीड़ न करना और ड्राइवरों से बहुत अधिक काम न लेना।[1]

मोटर बसों और टैक्सियों को अनुज्ञा (परमिट) देते समय परिवहन-अधिकारी निम्न बातों का ध्यान रखते हैं—जनता की आवश्यकता और सुविधा, आर्थिक दृष्टि से हानिकारक प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा उन परिवहनों को बरदाश्त करने के लिए सड़कों की उपयुक्तता। जनता के माल के यातायात के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि शीघ्रता से नष्ट होने वाले पदार्थों का थोड़ी दूर तक का यातायात सड़क के वहन के लिए छोड़ दिया जाता है, किन्तु लम्बी दूरी का यातायात प्रधानतया रेलवे के लिए रखा जाता है। सड़क के परिवहन का आवश्यक नियन्त्रण प्रान्तीय सरकारों के हाथ में रहता है। यह व्यवस्था की गई है कि मार्ग-सम्बन्धी अनुज्ञा (रूट परमिट) प्राप्त व्यक्ति अनावश्यक होड़ से सुरक्षा करने के बदले में नियमित सेवाएँ दें अर्थात् अपना उत्तरदायित्व एक जन-सेवा कम्पनी के समान समझें। नियमन-प्राधिकारी को सड़क-यातायात के सम्बन्ध में उच्चतम और निम्नतम दरें निश्चित करने का अधिकार है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि मोटर लाइसेंस समस्त भारत में वैध होगा। प्रत्येक राज्य अपना कर निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र है। नये प्राथियों को लाइसेंस लेते समय कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं।

यद्यपि नवीन अधिनियम की कुछ धाराओं ने विवाद को जन्म दिया है, परन्तु सिद्धान्ततः यह विवादहीन है और इसे 'सड़क संहिता' (हाईवेज़ कोड) का नाम ठीक ही दिया गया है। अराजकता से व्यवस्था की ओर बढ़ने, सुरक्षा की विधियों को अपनाने, जनता की सुविधाओं का ध्यान रखने तथा परिवहन की संयोजित पद्धति को अपनाने की आवश्यकता सबको प्रतीत हो रही है।

मद्रास और केरल राज्य में तीसरे पक्ष के जोखिम की बीमा के सम्बन्ध में

१. ड्राइवरों के काम के ६ घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह हैं तथा ५ घण्टे के काम के बाद आधा घण्टा विश्राम मिलना चाहिए।

बाद १६३६ का मोटर विहिकल्स अधिनियम पास हुआ, जिसमें पुराने अधिनियम की त्रुटियों को दूर करने और मोटर-प्रयोग के प्रसार के कारण उत्पन्न नई परिस्थितियों की पूर्ति करने का प्रयास किया गया था।

अधिनियम के दो खास पहलू हैं—(१) नियमन करने वाला, (२) संयोजन करने वाला। इसकी साधारण योजना थी कि किराये पर या किसी भी प्रकार माल और यात्रियों को ढोने वाली सभी सवारियों का नियन्त्रण रीजनल ट्रांसपोर्ट प्राधिकारियों के हाथ में रहेगा, जोकि प्रान्त के निश्चित भागों के लिए नियुक्त किये जाएँगे तथा अपील सुनने और संयोजन के काम के लिए सारे प्रान्त के लिए एक प्रान्तीय परिवहन-प्राधिकारी होगा। कोई भी व्यक्ति, जिसका किसी भी परिवहन-कम्पनी से ज़रा-सा भी आर्थिक सम्बन्ध होगा, प्राधिकारी के रूप में नियुक्त नहीं किया जाएगा और सदस्य की तरह ही रह सकेगा। प्रत्येक गाड़ी के पास परमिट का होना अनिवार्य है जो कि उस क्षेत्र के अधिकारियों द्वारा दिया जाएगा। परमिट पाने वाले को कुछ शर्तें स्वीकार करनी होंगी, जैसे गाड़ी को अच्छी दशा में रखना, गति की सीमा को पार न करना, अधिक भीड़ न करना और ड्राइवरों से बहुत अधिक काम न लेना।[1]

मोटर बसों और टैक्सियों को अनुज्ञा (परमिट) देते समय परिवहन-अधिकारी निम्न बातों का ध्यान रखते हैं—जनता की आवश्यकता और सुविधा, आर्थिक दृष्टि से हानिकारक प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा उन परिवहनों को बरदाश्त करने के लिए सड़कों की उपयुक्तता। जनता के माल के यातायात के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि शीघ्रता से नष्ट होने वाले पदार्थों का थोड़ी दूर तक का यातायात सड़क के वहन के लिए छोड़ दिया जाता है, किन्तु लम्बी दूरी का यातायात प्रधानतया रेलवे के लिए रखा जाता है। सड़क के परिवहन का आवश्यक नियन्त्रण प्रान्तीय सरकारों के हाथ में रहता है। यह व्यवस्था की गई है कि मार्ग-सम्बन्धी अनुज्ञा (रूट परमिट) प्राप्त व्यक्ति अनावश्यक होड़ से सुरक्षा करने के बदले में नियमित सेवाएँ दें अर्थात् अपना उत्तरदायित्व एक जन-सेवा कम्पनी के समान समझें। नियमन-प्राधिकारी को सड़क-यातायात के सम्बन्ध में उच्चतम और निम्नतम दरें निश्चित करने का अधिकार है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि मोटर लाइसेंस समस्त भारत में वैध होगा। प्रत्येक राज्य अपना कर निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र है। नये प्रार्थियों को लाइसेंस लेते समय कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं।

यद्यपि नवीन अधिनियम की कुछ धाराओं ने विवाद को जन्म दिया है, परन्तु सिद्धान्ततः यह विवादहीन है और इसे 'सड़क संहिता' (हाईवेज़ कोड) का नाम ठीक ही दिया गया है। अराजकता से व्यवस्था की ओर बढ़ने, सुरक्षा की विधियों को अपनाने, जनता की सुविधाओं का ध्यान रखने तथा परिवहन की संयोजित पद्धति को अपनाने की आवश्यकता सबको प्रतीत हो रही है।

मद्रास और केरल राज्य में तीसरे पक्ष के जोखिम की बीमा के सम्बन्ध में

१. ड्राइवरों के काम के ९ घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह हैं तथा ५ घण्टे के काम के बाद आधा घण्टा विश्राम मिलना चाहिए।

गणना सरलता से की जा सकती है तथा पुल की सुरक्षा का व्यय भी अधिक नहीं होता। १६३३ के रेल-सड़क-सम्मेलन में सुरक्षा के साधनों के अन्दर ऋण लिये धन से प्रधान और सहायक सड़कों के विकास की सम्भावनाओं की परीक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाने की सिफारिश की। भारतीय सड़क और परिवहन-विकास-संस्था लि० की बारहवीं बैठक (१६४०) में सड़कों के निर्माण और रक्षा के लिए उचित आर्थिक व्यवस्था से युक्त एक नयी सड़क-नीति का समर्थन किया, जबकि रेलें ऋण लिये गए धन से बनायी गई थीं और सड़कों का निर्माण आगम (रेवेन्यू) से हुआ था, अतएव ऋण लिये हुए धन का प्रयोग किये बिना सड़कों के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था अव्यवहार्य है।

२६. नवीन सड़क-नीति—सड़क-समिति की खास सिफारिशों के आधार पर मार्च, १६२६ में भारतीय वित्त अधिनियम ने मोटर स्पिरिट पर ४ आने के स्थान पर ६ आने प्रति गेलन उत्पादन-कर लगा दिया (इससे १६२६-३० में ६४ लाख रुपये मिले)। सर बी० एन० मिश्रा ने धारासभा में एक प्रस्ताव रखा (११ सितम्बर, १६२६), जिसका आधार सड़क-समिति के पैरा ७०-७६ में की गई सिफारिशों के विवाद थे। इसकी प्रधान बातें ये थीं—(१) सड़क के कार्यक्रम को जारी रखने का प्रयत्न किया जाए। मोटर स्पिरिट पर कम-से-कम पांच वर्ष तक कर होना चाहिए, (२) पांच वर्ष तक इस अधिक कर की आय को सड़कों के विकास पर खर्च किया जाए। एक अलग रोड-विकास-खाता खोल दिया जाए और उसका बाकी रुपया वित्तीय वर्ष के अन्त में कालातीत न माना जाए, (३) वार्षिक अनुदान को इस प्रकार विभाजित किया जाए—(क) भारत सरकार दो वर्ष तक १० प्रतिशत अपने पास सुरक्षित रखती, उसके बाद फिर विचार किया जाता। इस सुरक्षित धन में से आवश्यकता पड़ने पर विशेष अनुदान दिये जाते। ये विशेष अनुदान उन परिस्थितियों में दिये जाते जबकि कोई योजना स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक शक्ति के बाहर होती या दो प्रान्तों की सीमाओं पर पड़ने के कारण किसी विशेष प्रान्त का काम न होती या प्रान्तीय या केन्द्रीय सीमाओं पर पुलों के निर्माण से सम्बन्धित होती। (ख) शेष में से (१) पिछले वर्ष में भारत में उपभोग किये गए कुल पेट्रोल का जितना हिस्सा प्रान्तों में उपयुक्त होता उसी हिसाब से उसे धन दिया जाता, (२) बाकी जो छोटे प्रान्तों, रियासतों या प्रशासनों के उपभोग का प्रतिनिधित्व करता, वह भारत सरकार को दे दिया जाता। (३) सड़कों की स्थायी समिति की सलाह पर गवर्नर जनरल कौंसिल द्वारा स्वीकृत इन योजनाओं पर खर्च करने के लिए प्रान्तों को अनुदान दिया जाता। (४) प्रतिवर्ष सड़कों के लिए एक स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) का निर्माण किया जाए, जिसमें भारतीय विधान-मण्डल के दोनों संसदों के कुछ निर्वाचित और कुछ मनोनीत सदस्य होते। इसका सभापति गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का सड़कों से सम्बन्ध रखने वाला सदस्य होता। इसका काम गवर्नर जनरल को सड़कों से सम्बन्धित हर एक मामले पर परामर्श देना था, जिसमें केन्द्रीय सड़क कोष संचालन और सामयिक सड़क सम्मेलनों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही भी

योजना में नयी सड़कों के कुल व्यय का १० प्रतिशत था।

नागपुर योजना—दिसम्बर, १९४३ में विभिन्न राज्यों के मुख्य अभियन्ताओं (चीफ इंजीनियर) का सम्मेलन नागपुर में हुआ। इस सम्मेलन ने देश की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर एक सड़क-योजना बनाई। इस योजना का लक्ष्य यह था कि सुविकसित कृषि-क्षेत्र का कोई गांव पक्की सड़क से पाँच मील से अधिक दूर न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सड़कों की मील दूरी में ५० प्रतिशत वृद्धि अपेक्षित थी।

नयी सड़क योजना—१९४७ में विभाजन के पश्चात् नागपुर-योजना के लक्ष्यों में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। अब नागपुर-योजना लगभग पूरी हो चुकी है। भारत सरकार के कहने से मुख्य अभियन्ताओं ने २०-वर्षीय नयी योजना बनाई। मोटे तौर पर योजना की रूपरेखा के अनुसार सड़कों की लम्बाई (१९६१ की) ३·७९ लाख मील से बढ़कर १९८१ में ६·५७ लाख मील हो जाएगी। योजना के अनुसार प्रति वर्गमील में ०.५२ मील सड़क हो जाएगी जबकि इस समय प्रति वर्ग मील में ०.२६ मील सड़क है। योजना के पूरे होने पर कृषि-क्षेत्र के किसी गांव की पक्की सड़क से दूरी ५ मील से घटकर ३ मील और कच्ची सड़क से दूरी १½ मील हो जाएगी। अर्ध-विकसित क्षेत्र में यह दूरी पक्की सड़क से ८ मील तथा किसी भी सड़क से ३ मील हो जाएगी। अविकसित और कृषि के अयोग्य क्षेत्र में स्थित किसी भी गांव की दूरी पक्की सड़क से १२ मील तथा किसी भी सड़क से ५ मील होगी। इस योजना की अनुमानित लागत ४७०० करोड़ रु० है तथा इसे चार पंचवर्षीय योजनाओं में बांटा गया है। इन चार योजनाओं के बीच लागत का विवरण इस प्रकार है :

१९६१-६२ से १९६५-६६	४७० करोड़ रु०
१९६६-६७ से १९७०-७१	९४० ,, ,,
१९७१-७२ से १९७५-७६	१,४१० ,, ,,
१९७६-७७ से १९८०-८१	१,८८० ,, ,,

पंचवर्षीय योजनाएँ और सड़क परिवहन—प्रथम पंचवर्षीय योजना में १५६ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। पांच वर्ष की अवधि में कुल ६८,१५९ मील की नयी सड़कें बनाई गईं, जिनमें २४,०७१ मील की पक्की (मेटल्ड) तथा ४४,०८८ मील की कच्ची सड़कें थीं। इसके अतिरिक्त १७,३११ मील की वर्तमान सड़कों में सुधार करके उन्हें अच्छे स्तर की सड़कें बनाया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास के लिए २६९ करोड़ रुपये निर्धारित किये गए। मार्च, १९५९ तक सड़क-विकास की प्रगति आसाम, बम्बई, केरल, उ० प्र० और बंगाल को छोड़कर अन्य स्थानों में धीमी रही है। १९५६-५९ की अवधि में कुल १४० करोड़ रु० व्यय हुआ है। मार्च, १९६१ तक लगभग २५० करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित व्यय भी २५० करोड़ रु० है।[1]

---

१. देखिए, थर्ड फाइव ईअर प्लान, ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २४८।

तूफानी हो जाती हैं और कभी केवल जल की पतली रेखा मात्र रह जाती हैं और इस प्रकार इनमें नावें चलाना प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। नर्मदा और ताप्ती-जैसी कुछ नदियों की पथरीली सतह और तेज़ धार नौगम्यता के लिए जटिल समस्या बन जाती है। महानदी, गोदावरी और कृष्णा अवश्य ऊपर तक नौगम्य हैं, किन्तु उनसे याता-यात कम ही है।

जल-पथ की इन संकुचित सुविधाओं के अतिरिक्त किनारे-किनारे कुछ छोटी-छोटी नदियाँ और खाड़ियाँ हैं, जिनका छोटी-मोटी नावों द्वारा उपयोग किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के क्षेत्र के बाहर नौका-गमन प्रायः डेल्टा और घाटियों तक ही सीमित है।

एक समय नौगम्य नहरों के पक्ष में बड़ा आन्दोलन चला था। भव्य कावेरी और गोदावरी नहरों के निर्माता सर आर्थर कॉटन ने नौगम्य नहरों की एक महत्त्वाकांक्षी योजना प्रस्तुत की, जो १८७२ में संसदीय समिति के समक्ष रखी गई। उनके मतानुसार रेलवे की अपेक्षा जल-परिवहन की सुविधाएँ भारत के लिए अधिक उपयुक्त तथा कम खर्चीली हैं। इसके अतिरिक्त उनसे यह भी लाभ होगा कि इनको सिंचाई के लिए भी प्रयोग में लाया जा सकता है। खर्च की अधिकता (३०० लाख पौण्ड, के कारण योजना को त्याग देना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि अँग्रेज़ अपने देश के अनुभव के आधार पर भारत में नहरों की उपयोगिता भली भाँति नहीं समझ सके, क्योंकि उनके यहाँ रेलवे ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई थीं। रेलवे द्वारा किया गया विरोध भी एक और कारण था।

जब रेलवे से घाटा हो रहा था तो नहरों का निर्माण चाहे सिंचाई के काम के लिए या केवल नौगम्य के लिए ही आकर्षक प्रतीत होता था। औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार को इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए और जो भाग रेल और जल-पथ दोनों ही द्वारा सेवित हों वहाँ इनके प्रशासन समन्वय से काम करें तथा जल-पथ ट्रस्ट के निर्माण के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए। समुचित रीति से विकसित जल-पथों से रेलों की भीड़ कम हो जाएगी और छोटे पैमाने के परिवहन का कार्य भी इनके द्वारा पूरा हो सकेगा। कुछ सिंचाई की नहरों को परिवहन की नहरों में भी परिवर्तित किया जा सकेगा। लेकिन जब हवा का रुख बदला और रेलवे से लाभ होने लगा तो उत्साह कुछ ठंडा पड़ने लगा। इस समय नौगम्य नहरें केवल थोड़ी-सी हैं—उदाहरण के लिए पूर्वी तट के समानान्तर मद्रास की बकिंघम नहर। अनेक सिंचाई की नहरें नौगम्य जल-पथ का काम नहीं दे सकतीं। दोनों प्रकार की नहरें सरलता से एक में संयुक्त भी नहीं की जा सकतीं।

अन्तर्राज्यीय तथा राष्ट्रीय जल-पथों के गमन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है तथा केन्द्रीय जल और शक्ति-आयोग जल-साधनों के बहु-उद्देश्यीय विकास में सहायता करता है। श्री वी० के० गोखले की अध्यक्षता में नियुक्त अन्तर्देशीय जल-परिवहन-समिति ने अन्य बातों के अतिरिक्त ये सिफारिशें की हैं कि केन्द्रीय प्राविधिक संगठन तथा एक प्रशिक्षण-संस्था की स्थापना की जाए तथा देशी नाव वालों की सहकारी

शीशम की लकड़ी के जहाज़ से कहीं अच्छे थे।"[1]

अकबर की मृत्यु के समय की दशा का वर्णन करते हुए मोरलैण्ड का कहना है कि भारतीय समुद्र का अधिकांश वाणिज्य भारत में बने जहाज़ों द्वारा होता था। भारत के यात्री-जहाज पुर्तगालियों द्वारा बनाये गए जहाजों को छोड़कर तत्कालीन सभी यूरोपीय देशों से बड़े थे।[2]

३४. जलयान के सम्बन्ध में भारतीय साहस की बाधाएँ—ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने, जो कि एक ब्रिटिश कम्पनी है, प्रायः १०० वर्ष से अधिक से देश का तटीय एवं समुद्र-पार व्यापार अपने कब्जे में कर रखा है। भारतीय और अंग्रेजी कम्पनियों ने दर-युद्ध (रेट वार) से बचने के लिए और व्यापार को अपने बीच बाँट रखने की दृष्टि से अपने को एक सम्मेलन में संगठित कर लिया है। चूँकि यह सम्मेलन विदेशी हितों से अनुशासित है, इसका उद्देश्य देशी जलयानों को दबाने का ही रहता है। जहाज़ों के भारतीय मालिकों की दो शिकायतें थीं—(१) विलम्बित छूट-प्रथा (डेफर्ड रिबेट सिस्टम),[3] (२) दर-युद्ध (रेट वार)।[4]

३५. विलम्बित छूट-व्यवस्था, दर-युद्ध इत्यादि—इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, "परिवहन कम्पनियाँ जहाज़ से माल भेजने वालों के लिए एक परिपत्र जारी करती हैं कि यदि उन्होंने एक निश्चित समय के अन्त तक (प्रायः ४ या ६ महीने तक) कम्पनी के अतिरिक्त किसी अन्य जहाज़ से सामान नहीं भेजा है तो कम्पनी उन्हें इसके बदले में उनके इस अवधि के कुल भाड़े में कुल का कुछ हिस्सा (प्रायः १०%) रियायत के तौर पर उनके नाम लिख देगी और यदि इसके बाद कुछ और समय तक (प्रायः ४ या ६ महीने तक) वे सम्मेलन (कान्फ्रेन्स) के जहाज़ों से ही सामान भेजते रहें, तो छूट की यह रक़म उन्हें दे दी जाएगी। इस प्रकार दी गई धन-राशि को विलम्बित छूट कहते हैं।[5]

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि विगत ४० वर्षों से भारतीयों द्वारा इस उद्योग में प्रवेश पाने के प्रायः सभी प्रयत्न विफल रहे। जितनी भी कम्पनियाँ बनीं प्रायः सब विलीन हो गईं। इसके मार्ग में दूसरी बाधा यह थी कि यूरोपीय बीमा-कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियों के साथ भेदपूर्ण व्यवहार किया और जो जहाज लन्दन में भी प्रथम श्रेणी के समझे जाते थे उनको भी वे द्वितीय श्रेणी में इसलिए रख देते थे क्योंकि

---

१. डब्ल्यू० डिगबी, प्रास्पेरस ब्रिटिश इण्डिया, पृ० ८५-६।

२. जे० ई० केरटेलीनो का लेख, प्लानिंग इन ट्रांसपोर्ट, ईस्टर्न इकनामिस्ट, "भारतवासियों ने नये समुद्रों का अन्वेषण चाहे भले ही न किया हो किन्तु उनका सामुद्रिक ज्ञान, दिशा-निर्देशक यन्त्रों की सूक्ष्मता एवं जलयान-दक्षता वास्कोडिगामा को चकित करने वाली थी।"

३. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए, एस० एन० हाजी, 'इकनामिक्स ऑफ शिपिंग', अध्याय ५।

४. १९३८-३९ में बम्बई स्टीम नेविगेशन कम्पनी और भारतीय कम्पनियों (जो कि सिन्धिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी द्वारा नियन्त्रित थीं) के बीच दर-युद्ध चला था।

५. हाजी, पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

४१. भारतीय जलयान-निर्माण-उद्योग की स्थिति—भारतीय जहाज़ बनाने का उद्योग भारतीय जहाज़रानी से कोई खास अच्छी परिस्थिति में नहीं है। गैर-भारतीय जहाज़-निर्माताओं से केवल छोटे जहाज़ों के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा की जा सकती है क्योंकि उन्हें यहाँ लाने की लागत उनके मूल्य के अनुपात से अधिक है, अन्यथा विदेशी जहाज बनाने वाले कारखानों का स्वच्छन्द एकाधिपत्य है। अभी हाल तक भारत में बड़े जहाज़ बनाने के लिए उपयुक्त इस्पात कारखाने नहीं थे। थोड़े-से मरम्मत करने वाले कारखाने थे परन्तु वे भी गैर-भारतीयों के हाथ में थे।

४२. विजगापट्टम (अब विशाखापटनम) का जलयान-निर्माण-प्रांगण—कम्पनी द्वारा बना पहला जहाज़ एस० एस० जलउषा जनवरी, १९४८ में पानी में उतारा गया। कुल मिलाकर (जिसमें जलपंखी दिसम्बर, १९४९, जलपद्मा सितम्बर, १९५० भी शामिल हैं) ८००० टन वाले ५ जहाज़ (विज़गापट्टम में) तीन वर्ष में बनाये गए। जलयान-प्रांगण को बन्द होने से बचाने के लिए भारत सरकार ने जलपद्मा को खरीद लिया। १९४९ में सिन्धिया कम्पनी ने भारत सरकार से प्रांगण अपने हाथ में ले लेने की प्रार्थना की।

मार्च, १९५२ में सरकार ने सिन्धिया से विशाखापटनम-जलयान-निर्माण-प्रांगण खरीद लिया और उसका प्रबन्ध हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० को सौंप दिया। इसमें दो-तिहाई पूँजी सरकार की है। अब तक जलयान-प्रांगण ने समुद्र में जाने योग्य २३ जहाज़ तथा दो छोटे जहाज़ बनाये।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत इंगलिस्तान की सरकार ने एक प्राविधिक शिष्ट-मण्डल इस उद्देश्य से भेजा था कि वह दूसरे जलयान-प्रांगण की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान का सर्वेक्षण और आवश्यक जानकारी एकत्रित करे। शिष्ट-मण्डल ने अप्रैल, १९५८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसके अनुसार किसी भी स्थान को आदर्श स्थान नहीं कहा जा सकता, किन्तु उपयुक्तता की दृष्टि से उन्होंने कोचीन (इर्नाकुलम), मज़गाँव डॉक, काँडला, ट्राम्बे तथा ज्योंखली का नाम गिनाया। भारत सरकार ने एक अन्तर्विभागीय समिति की नियुक्ति की जिसने दूसरे जलयान-प्रांगण की स्थापना के लिए कोचीन को चुनने की सिफारिश की। तीसरी पंचवर्षीय योजना में नये जहाज़ों की जलपंखी के लिए ५५ करोड़ रुपये रखे गए और इस प्रकार योजना के पहले दो सालों में जलपंखी ८,५७,००० GRT अप्रैल १९६१ से बढ़कर १०,५७,००० GRT (अप्रैल १९६३) और यह आशा की जाती है कि १९६५-६६ के अन्त तक इसकी संख्या १५ लाख GRT तक पहुँच जाएगी। १९६३ में जल परिषद् बनाई गई जो सरकार को शिपिंग की नीति के बारे में समय-समय पर सुझाव देती है। इस प्रकार योजनाओं में पोतालय तथा बन्दरगाहों को नवीन तथा उन्नत बनाने के लिए बड़ा ज़ोर दिया गया है। पहली दो योजनाओं में ५८ करोड़ रुपया निर्धारित हुआ। १९६५ के अन्त तक बड़ी बन्दरगाहों पर माल तथा और वस्तुओं के स्वीकार करने की शक्ति को ६२,००,००० तक

प्राप्त किये कोई भी वायु-सेवाएँ प्रारम्भ नहीं की जा सकेंगी। इस समय भारतीय वायु-परिवहन कम्पनियों द्वारा ६ वायु-सेवाएँ संचालित हो रही हैं। १६४७ के अन्त में एअर इण्डिया इण्टरनेशनल की स्थापना हुई, जिसमें भारत सरकार का हिस्सा ४६ प्रतिशत था जिसे वह किसी भी समय ५१ प्रतिशत कर सकती थी। ५ वर्ष में होने वाली सब हानि को सरकार पूरा करेगी, किन्तु बाद के लाभ से उसके द्वारा दिया गया धन चुकाना पड़ेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में वायु परिवहन उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने के लिए ६·५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई। १६५३ में वायु निगम अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत पहली अगस्त, १६५३ को एक राजकीय निगम के रूप में इण्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन की स्थापना की गई। यह निगम अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन संस्था की सदस्य है। अप्रैल, १६५८ में प्रत्येक निगम के लिए एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की गई। इन दो निगमों के अतिरिक्त १४ उड्डयन-क्लब तथा ६ परिवहन कम्पनियाँ भी हैं, (३१ दिसम्बर, १६५८ तक)। नागरिक उड्डयन में बराबर प्रगति हुई है। १६४७ में अनुसूचित सेवाओं (शेड्यूल्ड सर्विसेज़) की उड़ान की दूरी ६३,६२,००० मील तथा यात्रियों की संख्या २५५ हज़ार थी। १६५६ में ये संख्याएँ क्रमशः २,४६,१३,००० मील तथा ७,२२,००० थीं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में नागरिक उड्डयन के ऊपर ५५ करोड़ रुपये व्यय करने का प्रस्ताव है। इसमें से २२-२५ करोड़ रु० हवाई अड्डों तथा ३०-३३ करोड़ रु० दोनों निगमों पर व्यय होगा।[1]

वर्तमान समय में भारत-उड्डयन-उद्योग उड़ने वाले जहाज़ों की संख्या की अधिकता का शिकार हो रहा है। कमज़ोर आर्थिक स्थिति का भी यही एक कारण है। सबसे आधारभूत कठिनाई जनता की दरिद्रता है, जिसके कारण यात्रियों का यातायात बहुत कम होता है। उद्योग का विकास सीमित होने से भाड़े की आय भी बहुत कम होती है। भारत में उड्डयन की प्रगति सरकारी सहायता और नियन्त्रण पर निर्भर है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में एयर इंडिया कारपोरेशन तथा इंडियन एलाइन्स कारपोरेशन पर १४.५ करोड़ तथा १५ करोड़ रुपया व्यय किया गया। एअर इंडिया ने १६६५-६६ में ३२ लाख रुपये का लाभ दिखाया और इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन ने १.४३ करोड़ रुपया लाभ दिखाया। तीसरी योजना में एयर इंडिया की माल तथा व्यवसाय की शक्ति ६१ प्रतिशत तथा आई-ए-सी २० प्रतिशत से बढ़ गई है। चौथी योजना में १६७०-७१ के अन्त तक एयर इंडिया की ४२ और इण्डियन एयरलाइन्स की ४६ प्रतिशत और शक्ति बढ़ जाएगी।

४४. **बेंगलौर की वायुयान-फैक्ट्री**—द्वितीय युद्ध ने भारत में वायुयान-निर्माण के

---

१. देखिए, थर्ड फाइव ईअर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २५२।

अध्याय १९

भारत का व्यापार

इस अध्याय का विषय भारत का व्यापार है जिसे अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न प्रधान शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है—(१) बाह्य व्यापार, जिसमें (क) समुद्र-वाहित व्यापार, (ख) मध्यागार (एण्ट्रीपॉट) व्यापार, तथा (ग) सीमा-पार व्यापार सम्मिलित हैं। (२) आन्तरिक व्यापार, जिसमें देश के अन्दर का तथा तटीय व्यापार शामिल है।

बाह्य व्यापार

१. ऐतिहासिक सिंहावलोकन—भारत के प्राचीन व्यापार का वर्णन बहुत संक्षेप में किया जाएगा, क्योंकि हमारा प्रधान लक्ष्य उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से होने वाले विकासों से है। उन अन्य देशों में, जिनके साथ भारत का व्यापार-सम्बन्ध था, चीन, अरब और फारस का नाम लिया जा सकता है। भारत या समस्त विश्व का पुराने ज़माने का व्यापार दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार था, जबकि इसके विपरीत आज का व्यापार जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली सस्ती और भारी वस्तुओं का व्यापार है, जो वस्तुएँ दूर-दूर देशों में भेजी जाती हैं। पुराने ज़माने के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कपड़े, धातु के बर्तन, हाथीदाँत, इत्र, रंग और मसाले इत्यादि थीं। आयात में खनिज-पदार्थों की प्रमुखता थी जिनकी भारत में कमी थी, जैसे पीतल, टिन, राँगा आदि। इनके अलावा शराब और घोड़े आदि अन्य वस्तुओं का भी आयात होता था। चूँकि उस ज़माने में विदेशों से सोना अधिक मात्रा में भारत आ रहा था, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आयात की तुलना में निर्यात अधिक था। निर्यात की अधिकता भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता थी। थोड़ा-सा मध्यागार व्यापार भी होता था। इसमें प्रधानतया चीन से चीनी मिट्टी के बर्तन और रेशम, सीलोन से मोती तथा भारतीय द्वीप-समूहों से कीमती पत्थर, बहुमूल्य हीरे इत्यादि का व्यापार सम्मिलित था। यह इस बात का द्योतक है कि भारत के पास व्यापारिक जहाजी बेड़े अवश्य थे।

मुगल दरबार के संरक्षण ने कितने ही भारतीय उद्योगों को प्रेरणा दी। इनमें विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन प्रधान था। सामुद्रिक व्यापार—विशेषकर मालाबार तट का, कुछ अंशों में केम्बे की खाड़ी और कारोमण्डल तट का—मुसलमानों के हाथ में था, जो कि बाद में बनियों और चेटियारों के हाथ में आ गया। भारतीय समुद्र से होने वाले सुदूरपूर्व और लालसागर तक के सब व्यापार का प्रधान मध्यागार मालाबार और बन्दरगाह कालीकट था। मुस्लिम-काल में व्यापार प्रायः

२. १८६४-६५ से भारत का व्यापार—१८६९ में जब स्वेज़ नहर साधारण नौगमन के लिए खोल दी गई तब से भारत के व्यापारिक इतिहास का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है । इस काल की विशेषता है आयात-निर्यात की मात्रा में हुई वृद्धि ।

अब हम इस वृद्धि के प्रधान कारणों का संक्षिप्त विवरण दे सकते हैं । १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की अंग्रेज़ी विजय पूरी होने के साथ देश में शान्ति-व्यवस्था स्थापित हो गई । परिणामत: वाणिज्य के विकास के लिए अत्यावश्यक जीवन और धन की सुरक्षा प्राप्त हुई । यातायात के नवीन साधनों से देश का कोना-कोना व्यापार के लिए खुल गया । इनमें सबसे प्रधान कारण था स्वेज़ नहर का खुलना, जिससे इंगलैंड और भारत के बीच की दूरी तीन हज़ार मील से कम हो गई । नहर ने पुराना भूमध्य सागरीय रास्ता फिर से खोला और भूमध्य सागर वाले फ्रान्स, इटली और आस्ट्रिया-जैसे देशों को नवीन अवसर दिया । बम्बई और स्वेज़ के बीच अन्तर्सामुद्रिक तारों के बिछ जाने से इस मार्ग की उपयोगिता में वृद्धि हो गई । इसके साथ ही विभिन्न देशों द्वारा जलयान-निर्माण में सुधार तथा व्यापारिक जहाज़रानी के विकास ने भी सुदूर देशों के साथ होने वाले भारतीय व्यापार को नवीन प्रेरणा दी । अब भारतीय निर्यात की वस्तुओं का आकार अधिक और मूल्य कम होने लगा, क्योंकि अब अधिक मात्रा और कम मूल्य वाली वस्तुओं की माँग की वृद्धि के साथ-ही-साथ वे सस्ते किराये पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती थीं । गेहूँ, चावल, चाय-जैसी खाद्य-सामग्री तथा कपास, जूट, तिलहन और चमड़े-जैसे कच्चे माल बाहर भेजे जाने लगे[1] और उनके बदले में कपड़े, मशीनें, रेलवे और शीशे के सामान पहले तो इंगलैण्ड से, उसके बाद जर्मनी, संयुक्तराज्य अमरीका और जापान से मँगाए जाने लगे, जहाँ पर निर्मायिक उद्योगों का शीघ्रता से विकास हो रहा था । १८५३ से व्यापार में रुकावट डालने वाले कितने ही आयात-निर्यात-कर समाप्त कर दिये गए । स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त, जिससे इंगलैंड को अन्तिम शताब्दी के मध्य में अत्यन्त लाभ हुआ था, भारत में भी बिना किसी हिचक के लागू किया गया । १८७४ तक प्राय: सभी निर्यात कर उन्मूलित कर दिये गए और ब्रिटिश तथा विदेशों के बीच किया जाने वाला भेद-भाव हटा दिया गया । स्वतन्त्र व्यापार की सबसे बड़ी विजय उस समय हुई जब कि लंकाशायर के हितों के दबाव से १८८२ में थोड़े-से तुच्छ अपवादों के अतिरिक्त सभी आयात-कर हटा दिये गए ।[2]

३. भारतीय बाज़ार के लिए संघर्ष—१९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में अँग्रेज़ी आधिपत्य क्रमश: खोखला होने लगा । सबसे पहले जर्मनी तथा उसके बाद जापान

---

१. भारत सरकार की कृषि-नीति भारतीय कृषि-उत्पादकों के निर्यात को प्रेरणा देने वाली थी । पंजाब, यू० पी० और सिन्ध में आरम्भ की गई सिंचाई की योजनाएँ इसी नीति को आगे बढ़ाने की दृष्टि से हाथ में ली गईं ।

२. यह सच है कि वित्तीय उद्देश्य से १८९४ में आयात-कर फिर से लगाने पड़े, लेकिन उनकी दर बहुत नीची थी—मूल्य पर ५ प्रतिशत ।

गए ताकि इन देशों द्वारा युद्ध-सामग्री जर्मनी न पहुँचने पाए और भारत की सामग्री केवल मित्र-राष्ट्रों को ही उपलब्ध हो। समुद्र से शत्रु के जहाजों के हट जाने तथा अवशिष्ट जलयानों पर युद्ध के बोझ के परिणामस्वरूप किराये में काफी वृद्धि हो गई। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में भारतीय वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग से भारत पूरी तरह लाभ नहीं उठा पाया। व्यापार की स्थिति को बिगाड़ने वाले कारणों में सामुद्रिक सुरक्षा के अभाव तथा विदेशी विनिमयों के विस्थापन (डिसलोकेशन) का नाम लिया जा सकता है।

१९१४-१८ के युद्ध-काल की विशेष बात निर्मित वस्तुओं के निर्यात में हुई वृद्धि है, कुल व्यापार से जिनका प्रतिशत १९१३-१४ में २२.४ से बढ़कर १९१८-१९ में ३६.६ प्रतिशत हो गया। युद्ध द्वारा दी गई कृत्रिम प्रेरणा का उल्लेख हम कपास, जूट, चमड़ा, लोहा इत्यादि के सम्बन्ध में कर आए हैं। इसी कारण निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ा।

६. दोनों युद्धों के बीच के समय में व्यापार (१९१९-२० से १९३९-४०)—इस काल के प्रारम्भिक वर्षों में निर्यात पर लगाये गए युद्धकालीन प्रतिबन्धों के हट जाने, शत्रु देशों से पूर्ववत् व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने तथा किराये की स्थिति में सुधार होने के परिणामस्वरूप व्यापार में समृद्धि मालूम होने लगी। इसके चिह्न १९२०-२१ के अन्त में स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे थे। सबसे पहले निर्यात-व्यापार पर प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा जापान के बाज़ार भारतीय उत्पादनों से भर गए और उनकी ओर से माँग काफी कम हो गई। यह ठीक है कि मध्य यूरोप के देशों में भारतीय वस्तुओं की माँग बहुत अधिक थी, लेकिन वे युद्ध से विच्छिन्न हुए साधनों तथा घटी हुई क्रय-शक्ति के कारण इन्हें खरीदने में असमर्थ थे। १९२० की असन्तोषजनक वर्षा तथा खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों के कारण यह आवश्यक हो गया कि खाद्यान्नों के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्ध जारी रखे जाएँ। जापान में भी भीषण संकट-स्थिति उत्पन्न हो जाने से उस देश को निर्यात की जाने वाली कपास में रुकावट पड़ गई। सरकार द्वारा दो शिलिंग पर रुपये के विनिमय-मूल्य को स्थिर करने के प्रयत्न ने भी पहले ही से कमज़ोर निर्यात-व्यापार को और भी दुर्बल बना दिया। इसके विपरीत आयात-व्यापार शीघ्रता से बढ़ता गया। युद्ध-काल में भारत की आयात-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकीं। मशीन तथा अन्य निर्मित वस्तुओं के लिए दिये गए ऑर्डर अब तक वैसे ही पड़े थे। अब ये सामान देश में आने लगे। उच्च विनिमय ने भी आयात-व्यापार को पर्याप्त प्रेरणा दी और बहुत बड़ी मात्रा में विदेश-निर्मित वस्तुओं के लिए ऑर्डर दिये गए। इसलिए हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि भारत का व्यापारिक सन्तुलन १९२०-२१ में ७९.८० करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। यह सन्तुलन दूसरे वर्ष भी ३३.९४ करोड़ रुपये से प्रतिकूल रहा।

७. विश्व के आर्थिक अवसाद-काल में भारत का व्यापार—वाल स्ट्रीट के आर्थिक विघटन के उपरान्त अक्तूबर, १९२९ में एक अधोमुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई और बाद

में स्वर्ण मुद्राओं का अवमूल्यन—इन सबके प्रभाव से कितनी ही वस्तुओं के मूल्य चढ़ने लगे। १९३७ के पूर्वार्द्ध में मूल्यों की वृद्धि पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। इसका एक कारण और भी था—सरकारों द्वारा कितने ही देशों में शस्त्रीकरण पर काफी धन खर्च किया जा रहा था। इससे भारी उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला और साधारण आर्थिक स्थिति पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा।

भारत ने भी विश्व की समुत्थान-प्रवृत्ति का अनुगमन किया, हालांकि अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण उसका मार्ग अन्य देशों से कुछ भिन्न था। १९३९ में प्रारम्भ हुई मन्दी ने भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश को विशेष रूप से हानि पहुँचाई। इसका कारण प्राथमिक उत्पत्ति (कृषि-उत्पत्ति) के मूल्यों में हुई अभूतपूर्व कमी थी। कृषि-उत्पादन की कीमतों में सुधार भी कुछ पहले ही होने लगा। लेकिन जहां तक भारत के कृषि-उत्पादनों का सम्बन्ध है इनकी कीमतों में पर्याप्त वृद्धि १९३६-३७ के बीच ही दिखाई पड़ी (देखिए, अध्याय ११)। यह सुधार विशेष रूप से प्रारम्भिक वस्तुओं एवं कच्चे माल की बढ़ती मांग का परिणाम था।

९. गिरावट (रिसेशन) के समय में भारत का व्यापार (१९३७-३८ से १९३८-३९ तक)—अप्रैल, १९३७ के लगभग संयुक्त राज्य में व्यापार में गिरावट प्रारम्भ हुई। ज्यों-ज्यों वर्ष बीतता गया यह ज़ोर पकड़ती गई। इससे विश्व के आर्थिक समुत्थान को एक आकस्मिक धक्का लगा। आर्थिक दशाओं की ऊर्ध्वगामी दिशा एकाएक विपरीत हो गई। वह परिकल्पना (सट्टेबाज़ी) का अनिवार्य परिणाम था। अंशतः भविष्य में कच्चे माल की सम्भावित कमी से उत्पन्न घबराहट भी इसके लिए उत्तरदायी थी। इनके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य में अकारण स्वर्ण-भय उत्पन्न हो गया। बैंकों ने साख-सुविधाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए और नियन्त्रित उत्पादन की योजनाओं में ढील दे दी गई। फलतः विश्व में प्राथमिक वस्तुओं का मूल्य तेज़ी से घट गया और जून, १९३८ तक कम बना रहा।

फिर भी १९३९ के प्रारम्भ में व्यापारिक क्रियाशीलता धीरे-धीरे बढ़ने लगी। इसका कारण अंशतः द्राव्यिक प्रसार की नीति और सारे संसार में विशेषतया संयुक्त राज्य में बढ़ता हुआ सार्वजनिक व्यय तथा अंशतः शस्त्रास्त्रों पर अधिकाधिक व्यय है।

विगत वर्ष की तुलना में १९३७-३८ में भारत के समुद्र-पार व्यापार के आयात में थोड़ी वृद्धि और निर्यात में थोड़ी कमी हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत से व्यक्तिगत सौदों का निर्यात ५१ करोड़ रुपये (१९३६-३७) से घटकर १७.५६ करोड़ रुपये हो गया। भारतीय विदेशी व्यापार के व्यक्तिगत सौदों का कुल मूल्य (१९३६-३७ में) ३६३ करोड़ रु० था, जोकि १९३८-३९ में घटकर ३२२ करोड़ रु० हो गया। निर्यात में ४१ करोड़ रु० के मूल्य की कमी कुछ अंशों में विश्व के बाजारों में प्रारम्भिक वस्तुओं की मन्दी का परिणाम थी और इसका कारण अंशतः भारतीय कपास के लिए जापान की क्रय-शक्ति का घट जाना भी है। आयात की कमी का कारण कृषकों की क्रय-शक्ति का ह्रास था। विगत वर्ष की अपेक्षा १९३८-

ने निर्यात-व्यापार की अनेक सामग्रियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शत्रु-देशों के साथ व्यापार करना बिलकुल बन्द कर दिया गया। यह भी दृष्टि में रखा जाता था कि किसी प्रकार परोक्ष रास्तों से भी सामान शत्रुओं तक न पहुँचे और प्रत्येक प्रकार की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति को मित्र-राष्ट्रों तथा भारत की आवश्यकताओं के लिए ही सुरक्षित रखा जाए। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर निर्यात-प्रतिबन्धों और अनुज्ञाओं (लाइसेंसों) का एक विस्तृत जाल खड़ा कर दिया गया।[1] कुछ वस्तुओं के लिए निर्यात-अनुज्ञा (लाइसेंस) पूर्ति-विभाग द्वारा तथा कुछ वस्तुओं के लिए निर्यात-व्यापार-नियन्त्रक (एक्सपोर्ट ट्रेड कन्ट्रोलर) द्वारा दी जाती थी। मई, १९४० में आयात की ६८ मदों पर भी प्रतिबन्ध लगाये गए। इनका उद्देश्य विदेशी विनिमय को सुरक्षित करना एवं सीमित जहाजों के बोझ को कम करना था। इनमें से अधिक वस्तुएँ विलासिता की थीं, जिनमें प्रतिदिन के प्रयोग की वस्तुएँ भी शामिल थीं। इन लगाये गए प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप उन वस्तुओं की पूर्ति या वैकल्पिक पूर्ति के लिए कितने ही छोटे-बड़े उद्योग खड़े हो गए। इस सबका नतीजा यह हुआ कि व्यापार अपने साधारण मार्ग से बहुत-कुछ हट गया।[2]

युद्ध-दशाओं के अलावा इधर हाल के कुछ वर्षों में व्यापारिक गति आवश्यक कच्चे माल, मशीन और उपभोक्ता-वस्तुओं[3] की पूर्ति को प्रोत्साहन देने वाली सरकारी नीति द्वारा अनुशासित होती रही है। सरकार की नीति राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए अनावश्यक सामग्री के आयात को कम करने तथा आन्तरिक प्रयोग एवं हितों के लिए अनिवार्य वस्तुओं के निर्यात को पूर्णतया बन्द करने की थी।

११. ग्रेगरी-मीक मिशन[4]—भारत सरकार ने जुलाई, १९४० में भारतीय निर्यात-व्यापार को पुनर्जीवित करने के विचार से एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल संयुक्त राज्य अमरीका को भेजा। इस व्यापारिक मण्डल के सदस्य डॉक्टर टी० ई० ग्रेगरी और सर डेविड मीक थे। जनवरी, १९४१ में प्रकाशित हुई अपनी रिपोर्ट में इन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारत को अपने खोए हुए बाजारों का स्थानापन्न अमरीकी बाजारों में नहीं मिल सकता।[5] कारण यह था कि भारत द्वारा यूरोप को भेजी जाने वाली सामग्री अधिकतर जूट, मूँगफली, कपास, खली, गेहूँ, कच्चा चमड़ा इत्यादि थीं। ये सब चीजें बड़ी मात्रा में संयुक्त राज्य को नहीं भेजी जा सकती थीं। अमरीका के पास स्वयं उसकी कपास ही आवश्यकता से अधिक थी। यही बात गेहूँ और मूँग-

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'रिव्यू ऑफ़ दि ट्रेड ऑफ़ इण्डिया' (१९३९-४०) अनुसूची।

२. युद्ध-काल के नियन्त्रणों के यन्त्र और स्वभाव से सम्बन्धित विशेष विवरण के लिए देखिए, श्री एल० सी० जैन की 'इण्डियन इकनामी ड्यूरिंग दि वार', पृ० ६२-६७।

३. मार्च, १९४५ में कितने ही प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं एवं आवश्यक कच्चे माल के आयात के लिए ओपन जनरल लाइसेंस-प्रथा प्रारम्भ की गई।

४. देखिए, सेक्शन ११-१२ और ३६-३७।

५. रिपोर्ट, पेराग्राफ ६७।

ने संक्षेप में इसके कार्यक्षेत्र को इस प्रकार व्यक्त किया :

(१) भारत के विदेशी व्यापार—मुख्यतः साम्यवादी देशों से—में विविधता और विस्तार लाने की कठिनाइयाँ दूर करना ;

(२) स्थिर मूल्य-स्तर बनाए रखने तथा माँग और पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना ;

(३) आवश्यक वस्तुओं की माँग और पूर्ति के अन्तर को पूरा करने के लिए बड़े परिमाण में आयात का प्रबन्ध करना । तथा ;

(४) निजी व्यापार के पूरक के रूप में काम करना ।

इन आधारों पर राजकीय व्यापार-निगम ने कार्य प्रारम्भ किया । जुलाई, १९५६ में कच्चे लोहे और मैंगनीज़ के निर्यात के लिए कुल कोटे का एक-तिहाई निगम को दिया गया । १९५७ में लोहे का सम्पूर्ण कोटा तथा मैंगनीज़ का आधा कोटा निगम को सौंप दिया गया । इनके इलावा नमक, कच्चे जूट का निर्यात भी इसे सौंप दिया गया और अब वह अनेक वस्तुओं के निर्यात में संलग्न है जिनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है । साम्यवादी देशों से व्यापार करने के कारण निगम के व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई, किन्तु भारत के कुल निर्यात में १९५६-५७ में निगम का भाग १ प्रतिशत तथा १९५७-५८, १९५८-५९ में ३-४ प्रतिशत था । सरकार ने १९५६ में ही निगम को सीमेन्ट का आयात तथा भारत के रेल-केन्द्रों पर सामान मूल्य पर इसके वितरण का कार्य भी सौंपा था ।

१४. निर्यात-प्रोत्साहन—अगस्त १९५९ में निर्यात-प्रोत्साहन परामर्श-समिति (एक्सपोर्ट प्रोमोशन एडवाइज़री काउन्सिल) की अवधि समाप्त होने पर इसे पुनः संगठित किया गया तथा इसकी सदस्य-संख्या बढ़ा दी गई । २६ अगस्त, १९५९ को इसकी स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) बनायी गई जो निर्यात को प्रभावित करने वाली दिन-प्रतिदिन की समस्याओं के बारे में सरकार को सलाह देती है । इस समय विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धित ग्यारह निर्यात-प्रोत्साहन-समिति (एक्सपोर्ट प्रोमोशन काउन्सिल) काम कर रही हैं, यथा सूती और रेशमी वस्त्र उद्योग, लाख, चमड़ा, अभ्रक आदि में ।

नुमाइश, व्यापारिक शिष्टमण्डलों द्वारा भी निर्यात-प्रोत्साहन की दिशा में काम हो रहा है। इटली, जापान, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की नुमाइशों में भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन आयोजित किया जा चुका है । विभिन्न उद्योगों की निर्यात-प्रोत्साहन-समितियों ने व्यापारिक शिष्टमण्डल भी बाहर भेजे हैं ।

उपर्युक्त उपायों का फल तो समय बीतने पर ही मिलेगा, किन्तु कुछ लाभ अब भी दिखाई पड़ रहा है । द्वितीय योजना के पहले चार वर्षों में वार्षिक निर्यात का औसत मूल्य ६१० करोड़ रु० था जबकि योजना का अनुमान ५८८ करोड़ रु० ही था ।

तृतीय योजना में विदेशी व्यापार की नीति यही रहेगी—आयात की किफ़ायत तथा निर्यात को उच्चतम स्तर तक पहुँचाना । तृतीय योजना में यह अनुमान

कारण अनिवार्य रूप से हमारे महत्त्वपूर्ण विदेशी बाजारों का बन्द हो जाना था। इसके परिणामस्वरूप किसानों को कठिनाई उठानी पड़ी। कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई। कच्चे माल का आयात २१·७ प्रतिशत (१९३८-३९) से बढ़कर १९४५-४६ में ४८.५% हो गया। यह आयात देश की बढ़ती हुई औद्योगिक क्रियाशीलता के लिए किया गया।

इस प्रकार युद्धोत्तर-काल (१९४५-४६) तक व्यापारिक विकास की जो तस्वीर हमारे सामने आती है उससे बहुत प्रसन्न नहीं हुआ जा सकता। मशीनें, लोहा और इस्पात, अन्न, तेल, रसायन, कच्ची कपास और धातुएँ तो आयात में प्रधान हो उठीं और चाय, जूट का सूत, कपास, चमड़ा और खालें, खनिज तेल निर्यात में महत्त्वपूर्ण हो गए।

कुल विदेशी व्यापार १९६३-६४ में सामान तथा बहुमूल्य धन संचय (आयात, निर्यात तथा दुबारा निर्यात) का मूल्य १९५९.७५ करोड़ रुपये था, जिसमें से ८३५ करोड़ रुपये का निर्यात था जो पिछले वर्ष के अन्तर में बढ़ा हुआ था, क्योंकि चीजों का निर्यात बढ़ा। जूट, मैंगनीज, कॉफ़ी, काजू, सूती कपड़ा, खनिज पदार्थ बढ़े, परन्तु चाय, चीनी इत्यादि चीज़ों में कुछ कमी हुई।

१९६४ में आयात १२५० करोड़ रुपये का था जो पिछले वर्ष के अन्तर में ७२ करोड़ से ज्यादा था। इसका कारण खाद्य पदार्थों तथा कच्ची कपास और इस्पात तथा लोहे, मशीनों, रासायनिक खाद्य का आयात था। आयात की वस्तुओं में कुछ कमी हुई, विशेषकर खनिज पदार्थों, कोयला, यातायात सामग्री तथा धातु-उत्पादन की चीज़ों में। १९६४-६५ के बाद खाद्य पदार्थों का आयात बढ़ता ही चला गया है, क्योंकि देश में पिछले दो वर्षों में मौसम के ठीक न होने के कारण सूखा पड़ा और फसलों को भारी नुकसान पहुँचा। १९६६-६७ में १.२० करोड़ टन खाद्य का आयात होगा।

कारण अनिवार्य रूप से हमारे महत्त्वपूर्ण विदेशी बाज़ारों का बन्द हो जाना था। इसके परिणामस्वरूप किसानों को कठिनाई उठानी पड़ी। कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई। कच्चे माल का आयात २१·७ प्रतिशत (१६३८-३६) से बढ़कर १६४५-४६ में ४८.५% हो गया। यह आयात देश की बढ़ती हुई औद्योगिक क्रियाशीलता के लिए किया गया।

इस प्रकार युद्धोत्तर-काल (१६४५-४६) तक व्यापारिक विकास की जो तस्वीर हमारे सामने आती है उससे बहुत प्रसन्न नहीं हुआ जा सकता। मशीनें, लोहा और इस्पात, अन्न, तेल, रसायन, कच्ची कपास और धातुएँ तो आयात में प्रधान हो उठीं और चाय, जूट का सूत, कपास, चमड़ा और खालें, खनिज तेल निर्यात में महत्त्वपूर्ण हो गए।

कुल विदेशी व्यापार १६६३-६४ में सामान तथा बहुमूल्य धन संचय (आयात, निर्यात तथा दुबारा निर्यात) का मूल्य १६५६.७५ करोड़ रुपये था, जिसमें से ८३५ करोड़ रुपये का निर्यात था जो पिछले वर्ष के अन्तर में बढ़ा हुआ था, क्योंकि चीजों का निर्यात बढ़ा। जूट, मैंगनीज, कॉफ़ी, काजू, सूती कपड़ा, खनिज पदार्थ बढ़े, परन्तु चाय, चीनी इत्यादि चीज़ों में कुछ कमी हुई।

१६६४ में आयात १२५० करोड़ रुपये का था जो पिछले वर्ष के अन्तर में ७२ करोड़ से ज्यादा था। इसका कारण खाद्य पदार्थों तथा कच्ची कपास और इस्पात तथा लोहे, मशीनों, रासायनिक खाद्य का आयात था। आयात की वस्तुओं में कुछ कमी हुई, विशेषकर खनिज पदार्थों, कोयला, यातायात सामग्री तथा धातु-उत्पादन की चीजों में। १६६४-६५ के बाद खाद्य पदार्थों का आयात बढ़ता ही चला गया है, क्योंकि देश में पिछले दो वर्षों में मौसम के ठीक न होने के कारण सूखा पड़ा और फसलों को भारी नुकसान पहुँचा। १६६६-६७ में १.२० करोड़ टन खाद्य का आयात होगा।

१७. भारत के व्यापार की दिशा—प्रथम युद्ध के पूर्व आयात-व्यापार का अधिकांश यूरोप और इंगलिस्तान के हाथ में था, लेकिन निर्यात में अनेक देशों को भाग मिलता रहा, हालाँकि यहाँ भी इंगलिस्तान प्रधान ग्राहक है। ब्रिटेन की इस प्रमुखता के कारणों का उल्लेख हो चुका है। जर्मनी और संयुक्त राज्य द्वारा किये गए प्रयत्नों का भी निर्देश हो चुका है। अब हम युद्ध-पूर्व, युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन भारतीय व्यापार की दिशा को निर्धारित करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

१८. १६१४ के पहले भारत के व्यापार का वितरण—१६१४ के पूर्व ही आयात-निर्यात व्यापार ग्रेट ब्रिटेन से अन्य देशों की ओर उन्मुख हो रहा था। अन्तिम शताब्दी के अन्त में कुल भारतीय आयात का ६६% इंगलैण्ड से आता था। जर्मनी केवल २·४%, संयुक्त राज्य १·७% तथा जापान केवल ०·६% माल भेजते थे। १६१३-१४ तक बड़ा परिवर्तन हो गया। जर्मनी का हिस्सा बढ़कर ६·६%, जापान और संयुक्त राज्य में से प्रत्येक का हिस्सा २·६% तथा इंगलैण्ड का हिस्सा घटकर ६४.१% हो गया। बेलजियम का हिस्सा ३·६% (१६०३-४) से घटकर २·३% रह गया, जबकि भारत से चीनी के निर्यात के कारण जापान का आयात बढ़कर १६१३-१४

द्वन्द्वियों का आगमन और पुरानी होड़ का प्रारम्भ था। जापान ने १९३६-३७ तक जो हिस्सा बढ़ाया था वह १९३७-३८ में घटने लगा। इसका प्रधान कारण चीन-जापान का युद्ध था। युद्धोत्तर-काल में, विशेष रूप से १९२२-२३ में, जर्मनी आश्चर्य-जनक शीघ्रता से अपनी पूर्वस्थिति स्थापित करने लगा।

निर्यात-पक्ष में इंगलिस्तान से दूर हटने की प्रवृत्ति और भी निश्चित रूप से काम कर रही थी। यह उसके युद्धोत्तर औसत में स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, जो कि घटकर २४·२% हो गया जबकि युद्ध-काल का औसत ३१·१% था। धीरे-धीरे फिर वृद्धि होने लगी, जो १९२८ में पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी और १९२८-२९ में २१·४% से बढ़कर १९३६-३७ में ३४·३% हो गई। वस्तुतः इंगलिस्तान का निर्यात आयात से बढ़ गया और अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १८ करोड़ रुपये हो गया। निर्यात-व्यापार में जापान की दशा में भी अपेक्षाकृत सुधार हुआ। उसका हिस्सा ७·२% से बढ़कर १५·७% हो गया (१९३४-३५)। उस देश को कच्ची कपास, धातुएँ, बोरे तथा लाख-जैसी वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में भेजी गईं। बाद में भारत जापान को कम माल भेजने लगा तथा जापान का व्यापार भी विनिमय-नियंत्रण द्वारा नियमित किया जाने लगा। इस प्रकार १९३९-४० में जापान का हिस्सा केवल ६.९ प्रतिशत रह गया।

२१. द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके उपरान्त व्यापार की दिशा में परिवर्तन—स्पष्ट कारणों से युद्धकाल में यूरोपीय देशों से व्यापार प्रायः बन्द हो गया। निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ा और कच्चे माल का निर्यात घट गया। पहले से ब्रिटेन की कमज़ोर होती हुई स्थिति इस युद्ध में और भी बिगड़ गई। ब्रिटेन से किये गए आयात का मूल्य १९३८-३९ के ४६.५ करोड़ रु० से घटकर १९४२-४३ में २९.५३ करोड़ रु० हो गया।

१९४५-४६ में हमारा निर्यात २४०,३९ करोड़ रु० का था जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा ५५.५% था। इंगलिस्तान का हिस्सा १९३८-३९ में ३४.१% था जो कि १९४५-४६ में घटकर २८.२% रह गया, परन्तु मूल्य ५५,५१ लाख रुपये से बढ़कर ६७,६१ लाख रु० हो गया। अन्य विदेशों में संयुक्त राज्य ने हमारे निर्यात की सबसे अधिक मूल्य की सामग्री खरीदी, जिसका मूल्य ६१,६२ लाख रु० था। इसका लगभग आधा मूल्य काजू के कारण था।

२२. भारत का मध्यागार (पुर्नानिर्यात) व्यापार—मध्यागार व्यापार देश में आयात की गई सामग्री के पुर्नानिर्यात को कहते हैं। जिस देश से पुर्नानिर्यात किया जाता है वह केवल वितरण के केन्द्र का काम करता है। अति प्राचीन काल से भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण थोड़ा-बहुत पुर्नानिर्यात करता रहा है। सुदूर-पूर्व और पश्चिम के बीच विश्राम-स्थल की स्थिति में होने के कारण यह पूर्वी और पश्चिमी गोलार्धों के केन्द्र का काम करता रहा। प्राचीन समय में इस प्रकार के व्यापार की मुख्य सामग्री के रूप में चीन से रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन, लंका से मोती, पूर्वी द्वीप-समूहों से मसाले और कीमती पत्थर मँगाए जाते थे, जो पश्चिमी देशों को भेजे (पुनर्निर्यात किये) जाते थे तथा वेनिस के शीशे तथा अन्य इसी प्रकार की सामग्रियाँ पश्चिम

वर्ष फिर ४१ करोड़ रु० से अनुकूल हो गया। मार्च, १९४९ में समाप्त होने वाले वर्ष में आयात-मूल्य ५१८ करोड़ रु० और निर्यात-मूल्य ४२३ करोड़ रु० था। इस ९५ करोड़ रु० के अन्तर में पाकिस्तान का प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन शामिल नहीं है। आयात-संख्याएँ भी निम्नानुमान ही हैं, क्योंकि उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। सितम्बर, १९४९ में रुपये के अवमूल्यन के कारण निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया तथा आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लग गए हैं। इससे व्यापारिक घाटे की समस्या नियन्त्रण में आ गई है। भारत सरकार की बाद की नीति प्रधानतया लेन-देन की बाकी (बैलेन्स ऑफ़ पेमैन्ट) की प्रवृत्ति से अनुशासित हुई है। पहले तो समस्या यह थी कि आयात को इस प्रकार नियंत्रित किया जाए कि लेन-देन की बाकी की कमी को समझौते द्वारा एक वर्ष में दिये जाने वाले पौंड-पावने से अधिक होने से रोका जाए। इस दृष्टि से आयात को एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था। किन्तु मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को कम करने के लिए आयातों के साथ उदार नीति बरतने की भी आवश्यकता थी, अतएव १९४८ के उत्तरार्द्ध में आयात-नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इसका दूसरा उद्देश्य औद्योगिक तथा उपभोक्ताओं की अत्यावश्यक सामग्री की कमी की पूर्ति करना भी था। परिणामत: आयात में पर्याप्त वृद्धि हुई। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओं की अमरीकी माँग घट जाने के कारण निर्यात में काफी कमी हो गई। इससे जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक व्यापारिक सन्तुलन अत्यन्त प्रतिकूल हो उठा और पौण्ड-पावने से लगभग ८१० लाख पौण्ड वापस किये गए। अतएव मई, १९४९ में उदार आयात नीति को बदलने के उपाय काम में लाए जाने लगे। ओपन जनरल लाइसेंस ११ नरम मुद्रा क्षेत्र (साफ्ट करेन्सी एरिया) के लिए रद्द कर दिया गया। बिना लाइसेंस के नरम मुद्रा क्षेत्र से आयात की जा सकने वाली वस्तुओं की एक संशोधित सूची प्रकाशित की गई (ओपन जनरल लाइसेंस १५)।[1]

पिछले दस वर्षों (१९५०-५१) से हमारा व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल है।[2] द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भी व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल रहा है, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रतीत होता है:

द्वितीय योजनाकाल में व्यापारिक सन्तुलन

(करोड़ रु० में) (ट्रेड बैलेन्स)

	१९५६-५७	५७-५८	५८-५९	५९-६० प्रथम अर्द्ध वर्ष	६४-६५
आयात	१०९९.५	१२०४.२	१०४६.२	४७३.१	१२७०.३९
निर्यात	६३५.२	५९४.७	५७६.१	२७२.६	८१३.२६
व्यापारिक संतुलन	४६४.३	६०९.५	४७०.४	२००.५	४८७.२८

१. देखिये, इण्डियन ईयर बुक, १९४९, पृ० ३३१-३२।
२. देखिये, 'इण्डियाज़ फारेन ट्रेड इन द कन्टेक्स्ट ऑफ़ इकनामिक डेवलपमेण्ट'—जी० एस० गुलाबाणी, इण्डियन जनरल ऑफ़ इकनामिक्स, जुलाई' ५९।

वर्ष फिर ४१ करोड़ रु० से अनुकूल हो गया। मार्च, १६४६ में समाप्त होने वाले वर्ष में आयात-मूल्य ५१८ करोड़ रु० और निर्यात-मूल्य ४२३ करोड़ रु० था। इस ६५ करोड़ रु० के अन्तर में पाकिस्तान का प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन शामिल नहीं है। आयात-संख्याएँ भी निम्नानुमान ही हैं, क्योंकि उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। सितम्बर, १६४६ में रुपये के अवमूल्यन के कारण निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया तथा आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लग गए हैं। इससे व्यापारिक घाटे की समस्या नियन्त्रण में आ गई है। भारत सरकार की बाद की नीति प्रधानतया लेन-देन की बाकी (बैलैन्स ऑफ़ पेमैन्ट) की प्रवृत्ति से अनुशासित हुई है। पहले तो समस्या यह थी कि आयात को इस प्रकार नियंत्रित किया जाए कि लेन-देन की बाकी की कमी को समझौते द्वारा एक वर्ष में दिये जाने वाले पौंड-पावने से अधिक होने से रोका जाए। इस दृष्टि से आयात को एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था। किन्तु मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को कम करने के लिए आयातों के साथ उदार नीति बरतने की भी आवश्यकता थी, अतएव १६४८ के उत्तरार्द्ध में आयात-नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इसका दूसरा उद्देश्य औद्योगिक तथा उपभोक्ताओं की अत्यावश्यक सामग्री की कमी की पूर्ति करना भी था। परिणामत: आयात में पर्याप्त वृद्धि हुई। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओं की अमरीकी माँग घट जाने के कारण निर्यात में काफी कमी हो गई। इससे जुलाई, १६४८ से जून, १६४६ तक व्यापारिक सन्तुलन अत्यन्त प्रतिकूल हो उठा और पौण्ड-पावने से लगभग ८१० लाख पौण्ड वापस किये गए। अतएव मई, १६४६ में उदार आयात नीति को बदलने के उपाय काम में लाए जाने लगे। ओपन जनरल लाइसेंस ११ नरम मुद्रा क्षेत्र (साफ्ट करेन्सी एरिया) के लिए रद्द कर दिया गया। बिना लाइसेंस के नरम मुद्रा क्षेत्र से आयात की जा सकने वाली वस्तुओं की एक संशोधित सूची प्रकाशित की गई (ओपन जनरल लाइसेंस १५)।[1]

पिछले दस वर्षों (१६५०-५१) से हमारा व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल है।[2] द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भी व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल रहा है, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रतीत होता है :

द्वितीय योजनाकाल में व्यापारिक सन्तुलन

(करोड़ रु० में) (ट्रेड बैलेन्स)

	१६५६-५७	५७-५८	५८-५६	५६-६० प्रथम अर्द्ध वर्ष	६४-६५
आयात	१०६६.५	१२०४.२	१०४६.२	४७३.१	१२७०.३६
निर्यात	६३५.२	५६४.७	५७६.१	२७२.६	८१३.२६
व्यापारिक संतुलन	४६४.३	६०६.५	४७०.४	२००.५	४८७.२८

१. देखिये, इण्डियन ईअर बुक, १६४६, पृ० ३३१-३२।

२. देखिये, 'इण्डियाज फ़ारेन ट्रेड इन द कन्टेक्स्ट ऑफ़ इकनामिक डेवलपमेण्ट'—जी० एस० गुरावाडा, इण्डियन जनरल ऑफ़ इकनामिक्स, जुलाई' ५६।

की व्यापारिक वृद्धि को, जो रेलवे-प्रसार तथा सामुद्रिक सुविधाओं का परिणाम है, देश की औद्योगिक प्रमुखता का चिह्न न मानना चाहिए वरन् उसका प्रथम आवश्यक चरण मानना चाहिए।[१]

अदायगी शेष तथा निर्यात उन्नति के साधन—विदेशी सहायता के बहुत अधिक हो जाने पर भी अदायगी शेष खराब होती गई। रिज़र्व बैंक के पास विदेशी मुद्रा का भण्डार ७८५ करोड़ रुपये तक रह गया और दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह गिरकर १८६ करोड़ रुपये रह गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों में अदायगी शेष की स्थिति और भी खराब रही यद्यपि हमने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से १३१ करोड़ रुपया लिया। १९६३-६४ में कुछ हालत सुधरी, क्योंकि निर्यात १२० करोड़ रुपया बढ़ा और आयात १२९ करोड़ रुपया। विदेशी सहायता २२०० करोड़ रुपये के लगभग ली गई। इसके लेने के बाद भी १९६५-६६ में अदायगी शेष की हालत खराब रही। ऐसी स्थिति खाली अन्न तथा अन्य वस्तुओं के आयात होने के कारण हुई।

तीसरी योजना में व्यापारिक नीति का सबसे बड़ा लक्ष्य योजना को सफल बनाना था। इसके लिए निर्यात को बढ़ाना, जिससे विदेशी पूंजी कमाई जा सके, तथा निर्यात वस्तुओं के बनाने वाली फर्मों को सुविधाएँ देना था। आयात वस्तुओं और कच्चे माल की जगह स्वदेशी वस्तुओं का उत्पादन करना, जिससे आयात की मात्रा कम हो सके। जहाँ तक हो सके कम आवश्यकता वाली वस्तुओं का आयात बन्द किया जाए और दुर्लभ वस्तुओं का वितरण बराबर मात्रा में हो।

तीसरी योजना में निर्यात का लक्ष्य ७४० से ७६० वार्षिक रखा गया और इसकी पूर्ति के लिए उत्पादन को प्रोत्साहन देना, यातायात के अच्छे साधन और वस्तुओं को अच्छी कोटि का बनाना था। मई १९६२ में बोर्ड ऑफ़ ट्रेड (Board of Trade) की स्थापना हुई। इस बोर्ड ने अनेक समितियाँ तथा स्वदेशी वस्तुओं को सर्वप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। अब तक १८ के लगभग समितियाँ बना दी गई हैं जिससे वस्तुओं का निर्यात बढ़ सके। इन वस्तुओं को सर्वप्रिय बनाने के लिए बोर्ड बनाये गए हैं। इस प्रकार हैंडीक्राफ्ट तथा हाथकरघा निर्यात कारपोरेशन (Handicrafts and Handloom Export Corporation) और इंडियन चलचित्र कारपोरेशन (Indian Motion Pictures Export Corporation) देश के निर्यात को उत्साह देने में लगी हैं। एक निर्यात निरीक्षण सलाहकार कौंसिल (Export Inspection Advisory Council) अगस्त १९६४ में सूती कपड़े के निर्यात को बढ़ाने के लिए सूती कपड़ा उद्योग की कमेटी बनाई गई। निर्यात के लिए साख की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए रिज़र्व बैंक

में प्रति व्यक्ति व्यापारिक वृद्धि में दृश्यमान परिवर्तन होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका व्यापार बहुत अधिक मात्रा में बढ़े। यह देखा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय बड़े देशों की अपेक्षा छोटे देश के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

२. देखिए, खण्ड १, अध्याय ५, इकनामिक ट्रांजीशन इन इंडिया।

यह सच है कि निर्यात के बाद जो बच जाता है वह सब विक्रय के लिए नहीं होता, क्योंकि उत्पादन का एक हिस्सा स्वयं उत्पादकों द्वारा उपयुक्त होता है। उदाहरणार्थ, किसान अपने द्वारा उत्पन्न खाद्य-सामग्री के एक बड़े भाग का स्वयं उपभोग करते हैं। भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्वांकन इस बात से ही सकता है, "प्रत्येक १ एकड़ ज़मीन—जिससे उत्पन्न अन्न, तिलहन, कपास और चाय का निर्यात होता है—की तुलना में ११ एकड़ ज़मीन से उत्पादित सामग्री स्थानीय उत्पादकों द्वारा उपभुक्त होती है।"[1] उत्पादकों द्वारा उपभुक्त इस कृषि-उत्पादन के साथ ही खनिज पदार्थों-जैसी सामग्रियों को, जिनका अल्पांश ही बाहर भेजा जाता है, ध्यान में रखना होगा।

विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में भारत के आन्तरिक व्यापार के आकार की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती और न विदेशी व्यापार से तुलना ही की जा सकती है। १९२०-२१ के 'इनलैंड ट्रेड ऑफ़ इण्डिया' के आधार पर इसका मूल्य लगभग १५०० करोड़ रु० आँका गया। इस प्रकार बाह्य[2] और आन्तरिक व्यापार में १ : २½ का अनुपात स्थापित किया जा सका।

राष्ट्रीय नियोजन समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) की व्यापार-सम्बन्धी उप-समिति के अनुमान के अनुसार १९४० में देश के आन्तरिक व्यापार का मूल्य ७००० करोड़ रु० के लगभग था, जबकि बाह्य व्यापार ५०० करोड़ रु० के बराबर था। आन्तरिक व्यापार-सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करने की दृष्टि से भारत को ३६ व्यापारिक क्षेत्रों में बाँटा गया है, जो मोटे तौर पर भारत-संघ के पहले के राज्य तथा बम्बई, कलकत्ता, कोचीन और मद्रास के बन्दरगाहों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

जो संख्याएँ प्राप्य हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश के आकार और जनसंख्या को देखते हुए आन्तरिक व्यापार की मात्रा कम है।

२६. भारत के प्रधान व्यापारिक केन्द्र[3]—इस सम्बन्ध में पहले तीन प्रमुख बन्दरगाह कलकत्ता, बम्बई और मद्रास का नाम लिया जा सकता है। कलकत्ता और बम्बई केवल प्रधान बन्दरगाह ही नहीं हैं बल्कि व्यवसाय के भी प्रधान केन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई पाश्चात्य देशों की वस्तुओं का इस देश में प्रधान वितरक भी है। बम्बई का व्यापार प्रधानतया भारतीय हाथों में है, जबकि कलकत्ता का व्यापार अधिकतर पाश्चात्यों (यूरोपीयों) द्वारा नियन्त्रित है। मद्रास भी एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र है, किन्तु इसकी तुलना बम्बई और कलकत्ता से नहीं की जा सकती। इन प्रधान[4]

---

१. देखिए 'दि इकनामिक रिसोर्सेज ऑफ़ दि ब्रिटिश अम्पायर', सं० वार्सविक, पृ० १४५।

२. के० टी० शाह के मत में यह एक निम्नानुमान है और वह भारत के आन्तरिक व्यापार का मूल्य २५०० करोड़ रु० आँकते हैं। 'ट्रेड, टेरिफ्स एण्ड ट्रांसपोर्ट', पृ० १२२।

३. देखिये, सी० डब्ल्यू० ई० कॉटन, 'हैण्डबुक ऑफ़ कमर्शियल इनफारमेशन फॉर इण्डिया', तृतीय संस्करण, पृ० ६२-११३ तथा खण्ड १, अध्याय २।

४. इन प्रमुख बन्दरगाहों के अतिरिक्त निम्न बन्दरगाह भी महत्वपूर्ण हैं—कोचीन, गोवा, चिटगाँव और विजगापटम तथा काठियावाड़ में वेदी, ओखा, पोरबन्दर और भावनगर।

है। अतः वह बाहरी देशों में भारत के वाणिज्य हितों को अधिक प्रोत्साहन देने में असमर्थ है।

ऊपर वर्णन किये गए संगठन का प्रधान काम बाह्य देशों में विदेशी वस्तुओं के लिए भारतीय बाज़ारों में सम्भावनाओं की सूचना का प्रसार करना है। इस प्रचार को अन्य संगठनों से, जो विदेशी बाज़ारों में भारतीय वस्तुओं की सम्भावनाओं और माँगों की सूचना दें, पूरा करने की भी आवश्यकता है। भारत सरकार ने टैक्सटाइल टेरिफ बोर्ड (१९२६) के सुझाव पर विदेशी बाज़ारों में भारतीय सूती वस्त्रों की माँग का पता लगाने के लिए १९२८ में एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल (ट्रेड मिशन) नियुक्त किया है। इस दिशा में यह पहला कदम था।[1] मिशन की रिपोर्ट में मोम्बासा, अलक्ज़ेण्ड्रिया तथा डरबन में तीन व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। तब से भारतीय व्यापारिक एजेंसी और दूत सेवाओं की स्थापना हो चुकी है। अफ़गानिस्तान, इंगलिस्तान (यू० के०), आयरलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, ब्राज़ील, पाकिस्तान, ईरान, जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेण्ड कनाडा, न्यूफ़ाउण्डलैण्ड, बर्मा, मिस्र और लंका में व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये जा चुके हैं। अन्य देशों में शीघ्र ही व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति की सम्भावना है।

३१. भारत के वाणिज्यिक संगठन—सबसे अच्छे और सुसंगठित गैर-सरकारी व्यावसायिक संगठन यूरोपीय सौदागरों द्वारा बनाये गए। असोशियेटेड चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऑफ़ इण्डिया तथा कलकत्ता (१८३४), बम्बई (१८३६), मद्रास (१८३६) और कानपुर तथा अन्य केन्द्रों के वाणिज्य-मण्डल इसके उदाहरण हैं। उनकी सदस्यता अभी हाल तक प्रधानतया यूरोपीयों की थी, यद्यपि यह भारतीयों के लिए भी खुली थी। यह पाश्चात्य व्यापारियों का भारत और पश्चिम के बीच व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। इस समय कितने ही विशुद्ध भारतीय संगठन हैं, जैसे बंगाल राष्ट्रीय वाणिज्य मण्डल (बंगाल नेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) (१८८७) जो कि भारतीय व्यावसायिक समुदाय का सबसे पुराना संगठन है, भारतीय व्यापार-मण्डल और कार्यालय (इण्डियन मर्चेन्ट्स चेम्बर एण्ड ब्यूरो) बम्बई (१९०७), दक्षिण भारत वाणिज्य-मण्डल (सदर्न इण्डिया चेम्बर ऑफ़ कामर्स) मद्रास (१९०९), भारतीय वाणिज्य-मण्डल (इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) लाहौर (१९१२), भारतीय वाणिज्य-मण्डल (इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स) कलकत्ता (१९२५), महाराष्ट्र वाणिज्य-मण्डल बम्बई (१९२७) तथा यू० पी० व्यापार-मण्डल (१९३२)। एक अखिल भारतीय वाणिज्य और उद्योग मण्डल संघ भी है।[2]

इन सबसे भारतीय व्यावसायिक मत को प्रकट करने में बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं पर

---

१. देखिये, पीछे पृ० ७७, और इण्डिया इन १९२८-२९, पृ० १९८।
२. विस्तृत वितरण के लिए देखिये, कॉटन, पूर्वोद्धृत, भाग ४।

अध्याय २०

व्यापारिक समझौते

१. साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) आन्दोलन का इतिहास—१९०२ में हुए औपनिवेशिक सम्मेलन ने साम्राज्य अधिमान की ऐसी रूपरेखा तैयार की, जो साधारणतया साम्राज्य के हर भाग में लागू होती थी। अतः अधिमान-कर (ग्रेटब्रिटेन के पक्ष में) न्यूज़ीलैण्ड, साउथ अफ्रीका (१९०३) और बाद में आस्ट्रेलिया द्वारा लगाये गए। आशा की जाती थी कि ग्रेट ब्रिटेन भी इसका प्रतिदान करेगा और उन देशों को अधिमान देगा, लेकिन उस समय इंगलैण्ड अपनी स्वतन्त्र व्यापार-नीति को छोड़ने के लिए तैयार न था। वह मुख्यतया खाद्यान्न और कच्चे माल का आयात करता था और उसका दृष्टिकोण यह था कि निर्मित वस्तुओं के निर्यात को कायम रखने के लिए आवश्यक है कि वह सबसे सस्ते बाज़ारों में खाद्यान्न और कच्चा माल खरीदे—विशेष रूप से खाद्यान्न के प्रश्न में वह अपने 'सब अंडे साम्राज्य रूपी एक टोकरी में रखने के लिए' किसी भी कीमत पर तैयार न था। इस प्रकार उनके आयात-निर्यात-कर में (१) आगम (रेवेन्यू) कर, (२) संरक्षण-कर और (३) इंगलिस्तान के प्रति एवं उसके पक्ष में तथा कभी-कभी भारत तथा साम्राज्य के अन्य देशों के पक्ष में भी करों में दी गई छूट सम्मिलित थी। वस्तुओं की एक ऐसी सूची भी थी जिसमें उन वस्तुओं का नाम था, जिन पर साम्राज्य के बाहर से आने पर ही कर लगता था। साधारणतः अधिमान का उद्देश्य ब्रिटेन को लाभान्वित करने का रहा है और साम्राज्य के अन्य देशों से इस विषय पर अलग समझौते करने होते थे। १९१५ से इंगलैण्ड ने संरक्षण की ओर कदम उठाए तथा साम्राज्य-उत्पादित कुछ वस्तुओं को अधिमान देने लगा। किन्तु कर-सम्बन्धी यह अधिमान कुछ वस्तुओं तक ही सीमित था। १९३२ (मार्च) में आयात-कर अधिनियम (इम्पोर्ट ड्यूटीज़ एक्ट) पास होने पर ब्रिटेन ने स्वतन्त्र व्यापार-नीति को औपचारिक रूप से त्याग दिया। साम्राज्य अधिमान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी।

२. साम्राज्य अधिमान के प्रति भारत का रुख—साम्राज्य अधिमान को अपनाने में भारत की अनिच्छा अंशतः राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप थी।

निम्न कारणों से साम्राज्य अधिमान से भारत को कोई आर्थिक लाभ भी नहीं था—

(१) भारत का निर्यात प्रधानतया खाद्यान्न और कच्चे माल तथा आयात निर्मित वस्तुओं का था। (२) १९१४ के युद्ध के पूर्व उसके सम्पूर्ण आयात का दो-तिहाई ब्रिटिश साम्राज्य से आता था, जिसमें सबसे बड़ा भाग इंगलिस्तान का था।

इसी बीच (सितम्बर, १९३१) ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। इससे भारत तथा साम्राज्य के प्रायः सभी देश पौण्ड से सम्बद्ध हो गए। ऊपर बताये गए आयात कर अधिनियम (१९३२) के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में कितनी ही वस्तुओं—कुल आयात का लगभग ३⁄४ भाग —पर कर लगा दिया गया, यद्यपि साम्राज्य की वस्तुओं को इस कर से मुक्ति देने की व्यवस्था की गई थी। शर्त यह थी कि वे देश (डोमिनियम और भारत) ब्रिटेन से समझौता कर लें। इन सबका अन्त ओटावा समझौता के रूप में हुआ। फ्रांस और जर्मनी जैसे अन्य देश मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयों से ग्रस्त थे। स्टर्लिंग समूह के देश अपेक्षाकृत इन कठिनाइयों से मुक्त थे। अतः इनसे व्यापार के सुव्यवस्थित और अबाध गति से चलते रहने की सम्भावना थी।

१९३१ से १९३४ के बीच अधिमान-सूची की कुल वस्तुओं का आयात इंगलिस्तान में २२ प्रतिशत घट गया। इस संकुचित होने वाले बाजार में भारत के आयात में वृद्धि हुई। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही था कि इसमें साम्राज्य अधिमान का हाथ अवश्य रहा होगा। गैर-अविनियम वाली वस्तुओं के निर्यात में प्रसार होना अधिक आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि इन वस्तुओं को कोई कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता था। यही कारण था कि इन्हें अधिमान-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था। गैर-अविनियम समूह की वस्तुओं में कुछ और भी अनुकूल प्रभाव क्रियाशील थे, जिनसे इनकी माँग बढ़ गई। उदाहरणार्थ, कपास की माँग की वृद्धि अधिकांशतः लंकाशायर की भारतीय कपास समिति के प्रचार के कारण थी। रबर में होने वाली वृद्धि का कारण प्रतिबन्ध योजना थी। धातुओं की माँग की वृद्धि भारी उद्योगों की बढ़ती हुई क्रियाशीलता के कारण थी। लाख की माँग की वृद्धि के कारण लंदन गुट (रिंग) के परिकल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) क्रय थे।

समझौते के आलोचकों का यह तर्क, कि इंगलिस्तान से हमारे निर्यात-व्यापार की वृद्धि व्यापार के प्रवाह-परिवर्तन के कारण थी, इस विपक्षी तर्क से कट जाता है कि इंगलिस्तान को किये जाने वाले निर्यात की वृद्धि ओटावा समझौते के कारण मानी जा सकती है। परन्तु अन्य देशों को होने वाले निर्यात की कमी का तो ओटावा समझौते से कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि इसका कारण तो उन देशों द्वारा अपनाई गई आत्म-निर्भरता की नीति थी। वास्तव में इस प्रतिबन्धात्मक नीति के फलस्वरूप हुई व्यापार की हानि, जिसे भारत और इंगलैंड दोनों ही ने उठाया, ओटावा समझौते के समर्थन का प्रमुख आधार है। इसमें सन्देह नहीं कि तब तक भारत अपने दो-तिहाई निर्यात ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर ही बेचता था, परन्तु विदेशी बाजारों पर अधिकार बनाए रखना उसके लिए कठिन होता जा रहा था। अतएव अधिमान-पद्धति आत्मरक्षा के रूप में भारत द्वारा अपनाई गई। ओटावा समझौता के विरुद्ध एक यह भी तर्क दिया जाता था कि इससे भारत के विदेशी ग्राहक उससे बदला लेना शुरू कर देंगे। परन्तु विदेशों द्वारा लगाये गए व्यापारिक प्रतिबन्ध केवल भारत के लिए ही नहीं वरन् सभी देशों के लिए थे। व्यापार की ये नवीन नीतियाँ नये उद्देश्यों से प्रेरित थीं और इन्हें किसी भी हालत में ओटावा समझौते की विरोधी प्रतिक्रिया नहीं कहा

रखने का दृढ़ और व्यवस्थित प्रयत्न करे, जहाँ उसके अधिकांश निर्यात की खपत होती है। इस उद्देश्य तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग यह था कि वह अन्य देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता (बिलेटरल एग्रीमेण्ट) करे।[1] जब तक इंगलैण्ड हमारा प्रधान साहूकार था और आयात से निर्यात की अधिकता द्वारा ही भुगतान किया जा सकता था, तब तक कोई खास बात नहीं थी। इंगलैण्ड को या तो भारत के विदेशी बाज़ारों को स्थिर रखने के लिए उपाय करने होंगे या भारत के विदेशी बाज़ारों की पूर्ति के लिए अपने बाज़ार उन्मुक्त करने होंगे, क्योंकि इसके बिना भारत इंगलैण्ड के प्रति अपनी देनदारियों का भुगतान नहीं कर सकेगा। तर्क का सार यह था कि यदि भारत ने ओटावा समझौते के अनुरूप अन्तर्साम्राज्यीय प्रबन्धों में भाग लेने से इन्कार कर दिया होता तो इंगलैण्ड की ओर से प्रतिक्रियात्मक साधनों के उपयोग का कोई भय नहीं था। भारत से इसका बदला लेने पर इंगलैण्ड का युद्ध-पूर्व (१९३९ से पहले) का ५० करोड़ रु० का वार्षिक निर्यात व्यापार भी खतरे में पड़ जाता।

इधर हाल में भारत और इंगलिस्तान के बीच व्यापारिक संतुलन के पलट जाने पर ओटावा समझौते के समर्थकों ने इससे खूब लाभ उठाया। १९३५-३६ तक इंगलिस्तान के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन ऋणात्मक था। यद्यपि भारत 'अदृश्य आयात', जैसे गृह-व्यय, जहाज़ों का भाड़ा और भारत में विनियोजित विदेशी पूँजी से होने वाले लाभ, के रूप में इंगलैण्ड को बहुत-कुछ रुपया देता था, फिर भी १९३५-३६ तक इंगलिस्तान के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन ऋणात्मक था। १९३६-३७ से भारत के पक्ष में पर्याप्त निर्यात की बचत हुई है। अतः यह कहा जाने लगा कि भविष्य में होने वाले व्यापारिक समझौते में भारत को इंगलैण्ड के साथ उदारता का वर्ताव करना चाहिए। व्यापार-सन्तुलन को द्विपक्षवाद के संकीर्ण आधार पर समझने से यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इंगलिस्तान से सौदों के आयात में अदृश्य आयातों को भी जोड़ दिया जाए। यह इसलिए और भी आवश्यक हो गया, क्योंकि यूरोपीय देशों के साथ त्रिपक्षी और बहुपक्षी व्यापार में कमी आ गई थी।

ओटावा समझौते के प्रति असन्तोष का एक प्रधान कारण यह भी था कि भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल (जिसमें भारतीय वाणिज्य, उद्योग और कृषि के उत्तरदायी प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं थे) अपने सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग करने में असमर्थ रहा। उसने दिया अधिक और बदले में उसे मिला बहुत कम। समझौता बड़ी शीघ्रता से हुआ और जल्दी ही कार्यान्वित किया गया। इसमें जाँच करने वाली किसी योग्य समिति, जैसे प्रशुल्क-मण्डल (टेरिफ बोर्ड) इत्यादि, की सहायता नहीं ली गई, जो साम्राज्य के किसी उद्योग के प्रति अधिमानपूर्ण व्यवहार की सिफारिश करने से पहले उन्हें उसी प्रकार कसौटी पर कसती जिस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण प्रदान करते समय उद्योगों की जाँच की जाती है।

६. **बम्बई-लंकाशायर टेक्स्टाइल समझौता (मोदी लीज पेक्ट)**—यह समझौता बम्बई

---

१. देखिये, सेक्शन २६ आगे।

के निर्माण में प्रयुक्त होता हो जिस पर भारत में भेदात्मक आयात-कर लगे हों। उन्होंने (ओटावा समझौते के ८वें अनुच्छेद और मोदी लीज़ पेक्ट के अनुसार) भारतीय कपास की खपत को अनुसन्धान, व्यापारिक जाँच-पड़ताल, बाज़ार-सम्बन्ध तथा प्रचार आदि हर उपाय से बढ़ाने का वचन दिया। उन्होंने भारत के खान से निकले लोहे (पिग आइरन) को बिना कर के ब्रिटेन में प्रवेश करने का वचन दिया। शर्त यह थी कि इंगलिस्तान से आयात की जाने वाली लोहे और इस्पात की वस्तुओं के लिए लगाया गया कर १९३४ के लोहा और इस्पात अधिनियम (आइरन एण्ड स्टील एक्ट) में प्रस्तावित करों से कम अनुकूल न हो।

समझौते के समर्थकों का मत था कि इसके द्वारा ओटावा समझौते में निहित प्रतिज्ञाओं तथा मोदी लीज़ पेक्ट की निश्चित प्रतिज्ञाओं को कार्यान्वित किया गया। समझौते से भारत का कपास तथा कच्चे और आधे तैयार माल का उपभोग बढ़ गया और भारत का खान से निकला लोहा (पिग आइरन) इंगलैण्ड में बिना कर के प्रवेश पाने लगा। उपनिवेशों और संरक्षित देशों (प्रोटेक्टरेट) से इंगलिस्तान को मिलने वाली सुविधाओं में भारत को भी हिस्सा देने का वायदा किया गया था।

इसके विपरीत, ग़ैर-सरकारी व्यापारिक मत इसके विरुद्ध था, क्योंकि इससे १९२३ में स्थापित विवेचनात्मक संरक्षण और अर्थ-स्वतन्त्रता-समझौते (फिस्कल आटोनोमी कन्वेंशन) का प्रभाव नष्ट हो गया। समझौते में पारस्परिक समता का भी अभाव था। इसमें भारतीय हितों की अपेक्षा ब्रिटिश हितों का अधिक ध्यान रखा गया था जब कि भारत ने निश्चित प्रतिज्ञाएँ कीं। ब्रिटेन ने भारतीय कपास के उपभोग के विकास-विषयक विभिन्न उपचारों पर विचार करना-भर प्रस्तावित किया और ऐसे वायदे किये जिनका निकट भविष्य में कोई वास्तविक मूल्य और उपयोग न था।

यह भी कहा गया कि इस समझौते में कोटा या कर के प्रतिशत में कमी से कहीं भयंकर सिद्धान्तों की व्याख्या की गई। जब संरक्षण एक निश्चित समय के लिए स्वीकार कर लिया गया था, फिर उस प्रश्न को इंगलिस्तान के कहने से पुनः उठाना वाञ्छनीय नहीं था। इस प्रकार की नीति भारत के औद्योगिक विकास के लिए बाधक सिद्ध होने के अतिरिक्त नये उद्योगों के प्रारम्भ के लिए घातक सिद्ध होगी।

यह पूरक-व्यापारिक समझौता ओटावा-समझौते के साथ ही समाप्त हो गया और इसे फिर से नया करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

८. ओटावा-समझौते पर धारासभा का विरोधी निर्णय—३० मार्च, १९३६ में भारतीय धारासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा ओटावा-समझौते तथा इसके पूरक ब्रिटिश व्यापारिक समझौते को अस्वीकृत कर दिया और इनके लागू रहने के विरुद्ध मत प्रकट किया।

२० अक्तूबर, १९३६ को वाणिज्य विभाग द्वारा प्रकाशित एक विज्ञप्ति में बताया गया कि दोनों सरकारों ने यह स्वीकार किया है कि एक नया समझौता होने तक १९३२ का समझौता लागू रहेगा, जिसे (किसी भी ओर से) तीन महीने का

गया (जैसे साखू (टीक) की लकड़ी, मोम, चावल और तम्बाकू)।

हम इस बात की पहले ही पूरी व्याख्या कर चुके हैं कि किस प्रकार नये समझौते में कपास की वस्तुओं पर (घटते-बढ़ते क्रम से) विष्टय अनुमाप से कर लगाये गए और कैसे उसे एक ओर तो भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली कपास और दूसरी ओर ब्रिटेन से भारत आने वाले सूती कपड़ों से सम्बद्ध कर दिया गया। सच तो यह है कि यही समझौते का आधार-भाग था।

जहाँ तक उपनिवेशों का सम्बन्ध है नया समझौता ओटावा समझौते से इस अंश में भिन्न था कि इसमें सीलोन के साथ एक अलग व्यापार-सन्धि की व्यवस्था थी। सीलोन को ओटावा के अधिमान प्रमापों का समझौते के छः महीने बाद तक उपयोग करने का अवसर दिया गया।[१] एक या दो अपवादों को छोड़कर भारत और उपनिवेशों के बीच पारस्परिक अधिमान ज्यों-के-त्यों बने रहे।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि समझौते को न तो भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का और न व्यावसायिक संगठनों का ही समर्थन प्राप्त हो सका।

दूसरे समझौते में उस समय की भारत की स्थिति को ध्यान में नहीं रखा गया। तत्कालीन भारत एक ऋणी देश था, जिसे 'अदृश्य आयात' के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को बहुत अधिक देना था। अतएव उसे व्यापारिक सन्तुलन के लेखों में निर्यात की अधिकता बनाए रखना आवश्यक था। सरकार ने गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की भी उपेक्षा की, जिसमें उन्होंने भारतीय बीमा कम्पनियों, बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियों के पक्ष में भेदात्मक नीति के विरुद्ध और समान अवसरों की प्राप्ति के लिए सुझाव रखा था। नवीन व्यापारिक समझौतों का मूल्यांकन करते समय यह आवश्यक था कि भारतीय इस्पात संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत इंगलिस्तान को दिये गए अधिमानों को भी ध्यान में रखा जाए।[२]

भारत में अंग्रेजों को प्राप्त अधिमान गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के सुझावों से कहीं अधिक थे तथा भारत को अन्य महाद्वीपीय देशों के साथ समझौता करने से वंचित होना पड़ा, क्योंकि उन्हें बदले में देने के लिए भारत के पास बहुत कम या कुछ भी न था।

यद्यपि भारत द्वारा इंगलैंड को दिये गए अधिमान ब्रिटेन के लिए निश्चित ही लाभदायक थे, जबकि ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए आश्वासन केवल आश्वासन अथवा नकारात्मक सुरक्षा के अलावा कुछ नहीं थे। कारण यह था कि इंगलिस्तान को दिये गए अधिमान उन वस्तुओं से सम्बन्धित थे जिनमें इंगलिस्तान के निर्यातकों

गया (जैसे साखू (टीक) की लकड़ी, मोम, चावल और तम्बाकू)।

हम इस बात की पहले ही पूरी व्याख्या कर चुके हैं कि किस प्रकार नये समझौते में कपास की वस्तुओं पर (घटते-बढ़ते क्रम से) विष्टय अनुमाप से कर लगाये गए और कैसे उसे एक ओर तो भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली कपास और दूसरी ओर ब्रिटेन से भारत आने वाले सूती कपड़ों से सम्बद्ध कर दिया गया। सच तो यह है कि यही समझौते का आधार-भाग था।

जहाँ तक उपनिवेशों का सम्बन्ध है नया समझौता ओटावा समझौते से इस अंश में भिन्न था कि इसमें सीलोन के साथ एक अलग व्यापार-सन्धि की व्यवस्था थी। सीलोन को ओटावा के अधिमान प्रमापों का समझौते के छः महीने बाद तक उपयोग करने का अवसर दिया गया।[1] एक या दो अपवादों को छोड़कर भारत और उपनिवेशों के बीच पारस्परिक अधिमान ज्यों-के-त्यों बने रहे।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि समझौते को न तो भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का और न व्यावसायिक संगठनों का ही समर्थन प्राप्त हो सका।

दूसरे समझौते में उस समय की भारत की स्थिति को ध्यान में नहीं रखा गया। तत्कालीन भारत एक ऋणी देश था, जिसे 'अदृश्य आयात' के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को बहुत अधिक देना था। अतएव उसे व्यापारिक सन्तुलन के लेखों में निर्यात की अधिकता बनाए रखना आवश्यक था। सरकार ने गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की भी उपेक्षा की, जिसमें उन्होंने भारतीय बीमा कम्पनियों, बैंकिंग तथा जहाज़ी कम्पनियों के पक्ष में भेदात्मक नीति के विरुद्ध और समान अवसरों की प्राप्ति के लिए सुझाव रखा था। नवीन व्यापारिक समझौतों का मूल्यांकन करते समय यह आवश्यक था कि भारतीय इस्पात संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत इंगलिस्तान को दिये गए अधिमानों को भी ध्यान में रखा जाए।[2]

भारत में अंग्रेज़ों को प्राप्त अधिमान गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के सुझावों से कहीं अधिक थे तथा भारत को अन्य महाद्वीपीय देशों के साथ समझौता करने से वंचित होना पड़ा, क्योंकि उन्हें बदले में देने के लिए भारत के पास बहुत कम या कुछ भी न था।

यद्यपि भारत द्वारा इंगलैंड को दिये गए अधिमान ब्रिटेन के लिए निश्चित ही लाभदायक थे, जबकि ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए आश्वासन केवल आश्वासन अथवा नकारात्मक सुरक्षा के अलावा कुछ नहीं थे। कारण यह था कि इंगलिस्तान को दिये गए अधिमान उन वस्तुओं से सम्बन्धित थे जिनमें इंगलिस्तान के निर्यातकों

---

१. यह अवधि १५ फरवरी, १९४० को समाप्त हो गई, लेकिन भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में सीलोन और भारत सरकार से समझौता होने की कठिनाइयों के कारण व्यापारिक सन्धि की बात सफल न हो सकी।

२. देखिए, इण्डियन टेक्सटाइल जनरल (अप्रैल १९३७), इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड पैक्ट, डॉ० वी० के० आर० वी० राव।

१०. भारत-जापानी समझौते की उत्पत्ति (१९३४)—१९०४ के पुराने भारत-जापानी व्यापारिक सम्मेलन का अप्रैल, १९३३ में भारत सरकार द्वारा विरोध किया गया था। इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।[1] १९३२ के आरम्भ से येन के मूल्य में हुए क्रमिक ह्रास से १९३२-३३ में भारत के लिए जापान के निर्यात अत्यधिक अनुकूल हो गए। भारतीय मिलों को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा और भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। अगस्त, १९३२ में गैर-ब्रिटिश भूरे कपड़े पर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत आयात-कर की वृद्धि और ५$\frac{1}{4}$ आने प्रति पौण्ड का विशिष्ट कर भी जापानी प्रतिस्पर्धा कम करने में असमर्थ रहा। अतएव भारत की कपड़े की मिलें और अधिक संरक्षण के लिए आवाज उठाती रहीं। भारत सरकार की ओर से ब्रिटेन की सरकार ने जापान की सरकार को छः महीने के अन्दर पुराने (१९०४) समझौते को रद्द करने की सूचना दी। उस समझौते में जापान के साथ बड़ा ही अनुकूल व्यवहार किया जाता था। जब तक १९०४ का व्यापारिक समझौता प्रभावपूर्ण था तब तक भारत सरकार अकेले जापान के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने में असमर्थ थी, १९३३ (अप्रैल) में पास किये गए उद्योग सुरक्षा अधिनियम (सेफगार्डिंग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ एक्ट), जिसके अनुसार भारत सरकार विदेशी सस्ते माल के आयात से देश के उद्योगों को खतरा होने पर कर लगा सकती थी, से भी कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता था। भारत सरकार के इस निर्णय से जापान में भारतीय कपास के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया, लेकिन जापान के कातने वालों और कपास के व्यापारियों के बीच भारतीय कपास स्वीकार न करने के लिए जून, १९३३ के प्रशुल्क सम्बन्धी परिवर्तन जारी किए जाने के पूर्व कोई समझौता नहीं हुआ था। इन प्रशुल्क-परिवर्तनों में यह घोषणा की गई कि विदेशों से आने वाले कपड़ों पर (जिनमें जापानी कपड़े भी शामिल हैं) मूल्यानुसार ७५% (मूल्य पर) कर लगाया जाएगा और सादे भूरे कपड़ों पर कम-से-कम ६$\frac{3}{4}$ पेंस प्रति पौंड कर लगाया जाएगा। १९३३ में एक जापानी प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया। तीन महीने की बातचीत के उपरान्त एक समझौता हुआ। १९३४ में जापानियों ने बहिष्कार समाप्त कर दिया और भारत सरकार ने मूल्यानुसार लगाया गया कर ७५% से घटाकर ५०% कर दिया।

११. १९३४ के समझौते की धाराएँ—जापान के साथ होने वाले समझौते के दो भाग थे—(१) संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन), (२) मसविदा या मूल (प्रोटोकल लेख)। (१) इसमें दोनों देशों के भावी व्यापार-सम्बन्धों की रूपरेखा निर्धारित की गई थी। (२) इसमें जापान से आने वाले कपड़े और भारत से भेजी जाने वाली कपास के सम्बन्ध में हुए समझौते की विवेचना की गई थी। संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) के बिना मसविदा (प्रोटोकल) स्वतः ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने को था। यदि दोनों में से किसी भी पक्ष द्वारा छः महीने का नोटिस दे दिया जाता तो संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) भी इसी समय समाप्त होती।

संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) की प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—(१) दोनों

१. देखिए, पृ० २८।

लगीं। जापानी निर्यातकों द्वारा कोटा सिस्टम से बचने की एक और भी कुशल विधि आविष्कृत की गई—यह थी कपड़े की बनी हुई वस्तुएँ, जैसे कमीजें, पोशाकें इत्यादि, जिनकी भारतीय बाज़ारों में भरमार हो गई। यह भी कहा गया कि कितना ही जापानी कपड़ा अफगानिस्तान और नेपाल से होकर भारत आता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि मसविदा (प्रोटोकल) के बावजूद भी इस प्रकार निर्यात बढ़ गया और उसका (मसविदा का) जापानी वस्तुओं का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। गज़ लम्बाई के आधार का दुरुपयोग किया गया और अधिक बड़े अर्ज़ के कपड़े का निर्यात किया गया।

जहाँ तक जापान द्वारा भारतीय कपास को बड़ी मात्रा में खरीदने का प्रश्न है, यह कहा गया कि जापान इसे इसलिए खरीदता था क्योंकि उसे सस्ते माल की आवश्यकता थी। १९३४-३५ में, अर्थात् समझौते के बाद पूरे एक वर्ष में, जापान ने भारतीय कपास की २०,१०,६०० गाँठें खरीदीं जबकि पिछले दस वर्ष से वह प्रति वर्ष कपास की १५ लाख गाँठें खरीदता था। इसलिए भारत में गैर-सरकारी व्यापारिक मत यह था कि जापान की कपास-सम्बन्धी न्यूनतम क्रय-मात्रा १० लाख से १५ लाख गाँठ प्रतिवर्ष कर दी जाए। यह भी कहा गया कि कुछ आगामी वर्षों में जापान में भारत की कपास की माँग कम न होगी, जब तक कि जापान कपास के स्थान पर (स्टेपल फायबर) मुख्य (बड़े) रेशे का उपयोग नहीं करता।

१३. नवीन जापान-भारत व्यापारिक समझौता (१९३७)—१९३४ के समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध में १९३६ से चलने वाली बातों में आलोचना के इन सब आधारों पर ध्यान दिया गया। पुराना समझौता ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने वाला था। इस बार सरकार के वाणिज्य विभाग के गैर-सरकारी परामर्शदाता अपनी माँगों में एकमत थे। प्रथम यह कहा गया कि जापान द्वारा भारत की कपास के क्रय के सम्बन्ध में समझौता वैसा ही बना रहे, लेकिन भारत में आने वाले जापानी कपड़े की मात्रा में काफ़ी कमी की जाए (उदाहरणार्थ ५०० लाख गज़ की कमी की जाए)। फेण्ट्स (परित्यक्त कपड़ों) के लिए भी कोटा की व्यवस्था अपनाने की माँग की गई, जो साधारण कपड़े की मात्रा के २½% से अधिक न हो। जापान से कृत्रिम रेशम के बढ़ते हुए आयात को रोकने के लिए रेशम को भी साधारण कपड़ों के कोटा में शामिल करने का सुझाव रखा गया। ऐसी ही व्यवस्था सिले हुए कपड़ों के बारे में भी लागू करने का सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि कोटा गज़ लम्बाई के सिद्धान्त पर न लगाकर वर्गगज़ के हिसाब से लगाया जाए और नीचे दरजे का जापानी सूत भी (५० से नीचे का) कोटे के अन्दर आना चाहिए। विविध वस्तुओं के लिए या तो कोटा अपनाया जाए या ऐसा विशिष्ट आयात-कर लगाया जाए ताकि गृह-उद्योगों की सुरक्षा हो सके।

यह संशोधित समझौता १९३७ (अप्रैल) में ३१ मार्च, १९४० तक के लिए लागू किया गया।

जहाँ तक व्यापारिक संप्रतिज्ञा (ट्रेड कन्वेंशन) का सवाल है, पुरानी स्थिति

भारत के तटीय जहाजी व्यापार में जापान के घुस पड़ने के सम्बन्ध में कोई रोक-टोक नहीं की गई और जापान तथा भारत के बीच होने वाले व्यापार में भारतीय जहाज़ों को उचित भाग देने के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं किया जा सका। इन दोनों कारणों से भी असन्तोष प्रकट किया गया।

सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि १९३७ के समझौते से भारत की स्थिति पहले से दृढ़तर हो गई। यह बात अवश्य थी कि भारत ने अपनी सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग नहीं किया। यह अच्छा हुआ होता कि कपास और कपड़े की अदला-बदली के स्थान पर एक विस्तृत और व्यवस्थित व्यापारिक समझौता किया गया होता, जिसमें देश के नवजात उद्योगों, जैसे शीशा, साबुन, रसायन आदि, की सुरक्षा की व्यवस्था होती।

१४. १९४० का अस्थायी समझौता—जापान सरकार से यह आश्वासन पाने पर कि उनका विचार मसविदा (प्रोटोकल) और संप्रतिज्ञा (कन्वेन्शन) की समाप्ति के अन्तर से लाभ उठाने का नहीं है, दिसम्बर १९३९ में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौते की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस देना आवश्यक नहीं समझा।

३१ मार्च १९४० को मसविदा (प्रोटोकल) की अवधि समाप्त होने पर दोनों सरकारों ने निश्चय किया कि पुराने समझौते की समाप्ति और नये के निर्माण के बीच वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे एक-दूसरे के हित को हानि पहुँचे।

१९४१ में ब्रिटिश सरकार द्वारा जापान के साथ हुई व्यापरिक सन्धियों को त्यागने के कारण जापान के साथ जल्दी समझौता होने की आशा न रही। अतएव पुरानी जापान-भारत व्यापारिक संप्रतिज्ञा (१९३४) की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस दिया गया।

१५. १९४१ का नया बर्मा-भारत व्यापारिक समझौता—१९३७ (अप्रैल) में भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर नये समझौते के होने तक बर्मा के साथ सम्बन्ध भारत-बर्मा नियम सभादेश (इण्डो-बर्मा रेगूलेशन ऑर्डर इन काउन्सिल) द्वारा निर्धारित होते रहे। इसमें दोनों देशों के व्यापारिक तथा प्रशुल्क-सम्बन्धी मामलों को यथावत् रखा गया। बर्मा सरकार को अपनी बजट-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण इस प्रकार की स्वतन्त्र व्यापारिक नीति ठीक नहीं जँची और १ अप्रैल १९४० को १ अप्रैल १९४१ से सभादेश को समाप्त करने का नोटिस दिया। इसी बीच नवीन समझौते का प्रयत्न किया गया और वह हो भी गया।

इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दोनों ने एक-दूसरे से परम अनुग्रहीत राष्ट्र का-सा व्यवहार करने का निश्चय किया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) बर्मा द्वारा भारत को दी गई रियायतें—(क) बर्मा ने भारत की ७७ वस्तुओं, जैसे मछली, कोयला, कपास, उत्खनित लोहा (पिग आयरन) आदि, के स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार दिया। (ख) कुछ वस्तुओं पर ५% से अधिक कर न लगाने का वचन दिया (जैसे आलू, नारियल, रसायन, मादक वस्तुएँ, औषधियाँ, रंग, ऊनी कम्बल आदि)। (ग) कुछ वस्तुओं पर १०% से अधिक कर न लगाने की रियायत

विदेशी विनिमय के नियमन के लिए व्यापार को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि आयात और निर्यात के बीच सम्यक् सन्तुलन स्थापित हो जाए।[1] यद्यपि अब भी परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की धारा को द्विपक्षीय समझौते में जोड़ दिया जाता है लेकिन वित्तीय और कोटा-व्यवस्था-सम्बन्धी धाराओं को सम्मिलित करने और औद्योगिक प्रतिज्ञाओं तथा प्रादेशिक अधिमानों के कारण इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं रह जाता।

सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड़ने से पूर्व भारत सरकार ने उन सब प्रमुख देशों के साथ व्यापारिक समझौता करने का निश्चय किया जिनके साथ भारत का वाणिज्य-सम्बन्ध था। इनमें जर्मनी, इटली, ईरान, तुर्की इत्यादि प्रमुख थे, जिनकी नियमित विनिमय-नीति से भारत के निर्यात में बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं। देश के सामने प्रश्न था—क्या भारत को द्विपक्षी समझौते के पक्ष में परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की पुरानी नीति को त्याग देना चाहिए? (मार्च, १९३६) धारासभा द्वारा ओटावा समझौते का अन्त करने के पक्ष में दिये गए मत से यह विवाद और भी तीव्र हो गया।

यद्यपि भारत सरकार इस प्रकार द्विपक्षी सन्धियाँ करने के लिए कटिबद्ध हो चुकी थी, फिर भी उन्हें इस नीति की वाञ्छनीयता पर बहुत अधिक विश्वास नहीं था। उनके विचार में पिछले कुछ वर्षों में विश्व की आर्थिक स्थिति के अध्ययन और भारत की वर्तमान परिस्थितियों के अवलोकन से ऐसा कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता जिससे किसी नीति-परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती हो।[2] कहा गया कि भारत के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कच्चे पदार्थ हैं जो विश्व के बाज़ारों में भेजे जाते हैं। अतएव उसकी समृद्धि के लिए आवश्यक था कि उसका व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में हो। इसलिए उसे इन बाज़ारों में मुक्त प्रवेश प्राप्त होना चाहिए और भारत परम अनुग्रहीत राष्ट्र के आधार पर अपने लिए खुले दरवाजों को बन्द करवाने के लिए सहज ही तैयार नहीं हो सकता। द्विपक्षी समझौतों से न केवल समझौता करने वाले देशों का कुल व्यापार घट जाएगा, बल्कि व्यापार के अपने स्वाभाविक मार्गों से मुड़कर अन्य दिशाओं में जाने से अन्य देश भी हानि उठा सकते हैं। कुल व्यापार की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन को पसन्द करने की नीति से सभी व्यापारिक सन्तुलन नष्ट हो जाएँगे और इस प्रकार विश्व-व्यापार में स्थायी संकुचन आ जाएगा। इस नीति के अनुसरण से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही

---

१. देखिए, भारत सरकार के सूचना-संचालक द्वारा प्रकाशित तीसरा नोट 'ऑन इण्डियाज़ फॉरेन ट्रेड पॉलिसी' (१९३६) और पाल एन्ज़िग एक्सचेन्ज कण्ट्रोल, पृ० १५१-२।

२. जिन आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला गया था वे भारत सरकार के सूचना-संचालक द्वारा प्रकाशित १९३६ के प्रेस नोटों में दिये गए हैं। और भी देखिए, बी० के० मदन का लेख 'बिलेटरलिज़्म एण्ड इंडियन ट्रेड', 'इंडियन जरनल ऑफ़ इकनामिक्स' (जुलाई १९३६) और 'इंडिया एण्ड इम्पीरियल प्रिफरेन्स', पृ० १९९-२००।

की स्थापना का विचार छोड़ दिया गया है ।

जी० ए० टी० टी०—१९४७ में जिस समय जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का चार्टर तैयार किया जा रहा था, उसी समय चार्टर बनाने वाली समिति के सदस्यों ने आपस में निराक्राम्य (टेरिफ) कर-सम्बन्धी बातों पर आगे बढ़ने का निर्णय किया और जी० ए० टी० टी० की रूपरेखा तैयार की ।

यह समझौता १ जनवरी, १९४८ से लागू हुआ और इसमें २३ देश सम्मिलित हुए । जी० ए० टी० टी० के तत्त्वावधान में जेनेवा में हुआ निराक्राम्य सम्मेलन प्रथम था । इसके अतिरिक्त तीन सम्मेलन और हुए—फ्रांस (१९४९), इंगलैण्ड (१९५०-५१) और जेनेवा (१९५६) । इन सम्मेलनों का परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होने वाली ६०,००० मदों की निराक्राम्य दर (कस्टम ड्यूटी) घटा दी गई या स्थिर कर दी गई । इस समझौते को मानने वाले सभी देशों ने इसमें भाग लिया । वस्तुतः जी० ए० टी० टी० में शामिल होने की इच्छा रखने वाले देश को समझौते में शामिल होने से पहले अपनी निराक्राम्य दर को घटाने के लिए तैयार होना पड़ता है ।

१ जनवरी १९५९ को इस समझौते में सम्मिलित सदस्यों की संख्या ३७ थी। विश्व के सम्पूर्ण व्यापार का ८० प्रतिशत विदेशी व्यापार इन्हीं देशों द्वारा होता है।

१९५८ तक तेरह सत्र (सेशन) हो चुके थे । प्रत्येक वर्ष एक सत्र, जिसकी अवधि लगभग ६ सप्ताह की होती है, होता था ।

१९५९ से कम अवधि के दो सत्र करने का निश्चय किया गया । इन सत्रों में अन्य बातों के अलावा विभिन्न देशों द्वारा प्रस्तुत शिकायतों पर भी विचार होता है ।

१९५२ में भारत ने पाकिस्तान द्वारा जूट के निर्यात पर लगाए भेदात्मक करों के विरुद्ध शिकायत की । दोनों देशों की सरकारें आमन्त्रित की गईं और पाकिस्तान द्वारा भारत को जूट तथा भारत द्वारा पाकिस्तान को कोयला देने की शर्तों पर विचार करके एक दीर्घकालीन व्यापारिक समझौता किया गया तथा दोनों देश भेदात्मक करों को समाप्त करने के लिए राजी हो गए ।

आधुनिक व्यापारिक समझौते—१९४८-४९ में भारत ने दस देशों के साथ व्यापारिक समझौता किया । यह व्यापारिक देशों से स्वयं—न कि इंगलिस्तान द्वारा—सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का फल था । दूसरा उद्देश्य सुलभ मुद्रा (साफ्ट करेन्सी) के व्यय तथा दुर्लभ मुद्रा (हार्ड करेन्सी) के संचय का भी था। सन् १९५३ के मुख्य समझौतों में रूस, मिस्र और सीलोन के साथ किये गए समझौते मुख्य हैं । रूस और भारत समझौते में व्यापार के रुपयों में अर्थ-प्रबन्धन करने की व्यवस्था की गई है ।

चीन के साथ एक समझौता २९ अप्रैल, १९५४ को किया गया, जिसमें भारत और तिब्बत के चीनी प्रदेश के बीच सामान्य व्यापार की व्यवस्था की गई । १४ अक्तूबर, १९५४ को एक दूसरा समझौता हुआ, जिसमें दोनों देशों के आयात और

देशों के बीच व्यापार को शत-प्रतिशत बढ़ाने की चेष्टा की गई। १९६४-६५ में देश से बहुत-से व्यापारिक प्रतिनिधि विदेशों में भेजे गए। इस प्रकार आर्थिक उन्नति के कार्य में लगे हुए राष्ट्रों के साथ सहकारिता की नींव डाली गई; विशेषतया लंका, नेपाल, सूडान तथा युगांडा। अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के साथ मिलकर औद्योगिक उन्नति की चेष्टा की गई। ६ प्रोजेक्ट एशिया के देशों के साथ और १० अफ्रीकी देशों के साथ सूती, ऊनी कपड़े, जूट, चीनी तथा हल्के तकनीकी यन्त्रों के बनाने में सहकारिता की।

देश के व्यापार को बढ़ाने के लिए १९३४ के शुल्क दर कानून (Indian Tariff Act) को १९६३ में संशोधित किया गया। १९६४ में आयात में कुछ कटौती के लिए संशोधन किया गया। शुल्क-दर कमीशन की सिफारिशों पर कुछ वस्तुओं पर संरक्षण को हटाया गया, परन्तु रंग के उद्योगों पर १९६७ तथा अल्यूमिनियम पर १९६८ तक संरक्षण की अवधि बढ़ा दी गई। मई १९६६ में शुल्क दर के प्रश्न के सोच-विचार के लिए एक कमेटी डा० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता में बनाई गई।

चौथी पंचवर्षीय योजना में व्यापार को बढ़ाने के लिए बहुत प्रयत्न किया जाएगा, जिससे विदेशी मुद्रा का हल शीघ्रातिशीघ्र मिल सके।

हुई, जिसमें इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि केवल एक ही धातु का प्रमाप और असीमित वैधानिक सिक्का होना चाहिए, यद्यपि अन्य धातुओं का भी टंकन किया जा सकता है और बाज़ार मूल्य पर प्रचलन हो सकता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने लार्ड लिवरपूल के सिद्धान्त से प्रभावित होकर भारत की चलार्थ (करेन्सी) सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर करने के लिए चाँदी को एकमात्र प्रमाप के रूप में चुना। १८०६ में बंगाल और मद्रास सरकार के भेजे हुए एक पत्र में उन्होंने इस बात की चर्चा की कि उनका उद्देश्य सोने को उन स्थानों से, जहाँ वह अर्थ का सामान्य प्रमाप हो, बहिष्कार करना नहीं था। कम्पनी ने चाँदी के रुपये और सोने की मुहर के अनुपात को स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु अधोमूल्यन के कारण सोने की मुहर प्रचलन से लुप्त हो गई। १८०६ में संचालकों ने सिफारिशें कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में भारतीय अधिकारियों को स्वेच्छा प्रदान की, परन्तु इन सिफारिशों को तुरन्त ही लागू नहीं किया गया। १८१८ में १८० ग्रेन चाँदी के रुपये ने, जिसका ११/१२ भाग परिष्कृत चाँदी होती थी; मद्रास प्रेसीडेन्सी के स्वर्ण पगोडा का स्थान ले लिया।

इसी बीच १८२३ में बम्बई का रुपया भी मद्रास के रुपये के अनुरूप बना दिया गया। १८३५ में अन्तिम कदम उठाया गया जबकि १८१८ के मद्रासी रुपये के बराबर वजन और परिष्कार के रुपये को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सारे राज्य में लेन-देन का एकमात्र वैधानिक सिक्का बना दिया गया।

३. द्वितीय काल (१८३५-७४)—१८३५ के कानून ने सोने की मुहरों तथा जनता द्वारा अपेक्षित होने पर बाज़ार मूल्य पर ५, १० और ३० रुपये के टुकड़ों के टंकन का अधिकार दिया। सन् १८४१ के घोषणापत्र ने खजानों को यह अधिकार दिया कि वे जनता की देनदारी का भुगतान करने के लिए मुहरों को अंकित मूल्य पर निःसंकोच स्वीकार करें। १८४८-४९ में आस्ट्रेलिया और कैलिफ़ोर्निया की सोने की खानों का पता लग जाने पर सोने का मूल्य चाँदी के दामों में गिर गया। १५ : १ के सरकारी अनुपात पर सोने का मूल्य अधिक हो गया। अतएव उन लोगों ने, जिनके पास सोने के सिक्के थे, इस परिस्थिति का लाभ उठाया तथा बाजार की तुलना में चाँदी का अधिक मूल्य प्राप्त करने की कोशिश की। जनता ने स्वर्ण सिक्कों में, जिनका अधोमूल्यन हो चुका था, भुगतान करना आरम्भ कर दिया। सरकार के लिए यह एक कठिनाई थी, अतएव लार्ड डलहौज़ी की सरकार ने १८४१ के घोषणापत्र को वापस ले लिया और सोने का पूर्णतया विमुद्रीकरण हो गया। इससे द्रव्य-बाज़ार में बड़ी तंगी आ गई, जो व्यापार के विस्तार के कारण और भी अधिक अनुभव की जाने लगी। १८५० में माँग की तुलना में चाँदी की उत्पत्ति अधिक हो गई। चाँदी के रुपये का बहुत बड़ा भाग प्रचलन से निकालकर अन्य अद्रव्यात्मक कार्यों में लगाया गया। टकसाल और द्रावणी (स्मेल्टिंग पाट) एक-दूसरे के विरोधी हो गए। एक द्वारा इतने धैर्य-कौशल से बनाया हुआ सिक्का दूसरा बड़ी शीघ्रता से कड़ों (चूड़ियों) में बदल देता था।[1] द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए वहाँ साख का कोई माध्यम

[1] अंबेदकर द्वारा पूर्वोद्धृत कैसल्स, पृ० ३४।

के साथ सावरेन में रुपये का विनिमय-मूल्य अर्थात् स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और सन् १८७१ के २ शिलिंग से घटकर १८९२ में १ शिलिंग २ पैंस के लगभग हो गया।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से १८७४ से १८९८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज़ उठाई गई। १८७६ में बंगाल का व्यापार-मंडल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल को भारतीय टकसालों द्वारा चांदी की अनिवार्य टंकन-क्रिया के अस्थायी अवरोध के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। सरकार ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। उनका विचार था कि सोने को प्रमाप रूप में अपनाए बिना कोई कदम उठाना सम्भव नहीं था तथा तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में वे स्वर्ण-प्रमाप अपनाने में असमर्थ थे। इस अनिश्चितता का प्रधान कारण चांदी का अधोमूल्यन और सोने का अधिमूल्यन था। १८७८ में भारत सरकार ने भारत-सचिव के समक्ष प्रस्ताव किया कि स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के साथ स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के लिए निश्चित कदम उठाये जाएँ और इस बीच सोने के सिक्के और रुपये के बीच में निश्चित सम्बन्ध, जिसे आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर परिवर्तित भी किया जा सके, स्थापित करने के लिए टकसाली लाभ वसूल कर रुपये की कीमत बढ़ाई जाए। राज्य-सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति को सौंप दिया, जिसने विभिन्न आधारों पर इस प्रस्ताव का विरोध किया और सलाह दी कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक श्रेयस्कर है। इन विधानों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और न उनके प्रभाव ही मापे जा सकते हैं। स्वर्ण-प्रमाप के विकल्प के रूप में भारत सरकार बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाए रही, जबकि सारी दुनिया इसका परित्याग करती जा रही थी। १८६९ और १८९६ के बीच उत्तरी अमरीका और विभिन्न यूरोपीय देशों में मुद्रा-प्रचलन की कठिनाइयों के निवारणार्थ कम-से-कम चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए।

के साथ सावरेन में रुपये का विनिमय-मूल्य अर्थात् स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और सन् १८७१ के २ शिलिंग से घटकर १८६२ में १ शिलिंग २ पैंस के लगभग हो गया।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से १८७४ से १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। १८७६ में बंगाल का व्यापार-मंडल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल को भारतीय टकसालों द्वारा चाँदी की अनिवार्य टंकन-क्रिया के अस्थायी अवरोध के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। सरकार ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। उनका विचार था कि सोने को प्रमाप रूप में अपनाए बिना कोई कदम उठाना सम्भव नहीं था तथा तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में वे स्वर्ण-प्रमाप अपनाने में असमर्थ थे। इस अनिश्चितता का प्रधान कारण चाँदी का अधोमूल्यन और सोने का अधिमूल्यन था। १८७८ में भारत सरकार ने भारत-सचिव के समक्ष प्रस्ताव किया कि स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के साथ स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के लिए निश्चित कदम उठाये जाएँ और इस बीच सोने के सिक्के और रुपये के बीच में निश्चित सम्बन्ध, जिसे आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर परिवर्तित भी किया जा सके, स्थापित करने के लिए टकसाली लाभ वसूल कर रुपये की कीमत बढ़ाई जाए। राज्य-सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति को सौंप दिया, जिसने विभिन्न आधारों पर इस प्रस्ताव का विरोध किया और सलाह दी कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक श्रेयस्कर है। इन विधानों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और न उनके प्रभाव ही मापे जा सकते हैं। स्वर्ण-प्रमाप के विकल्प के रूप में भारत सरकार बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाए रही, जबकि सारी दुनिया इसका परित्याग करती जा रही थी। १८६० और १८६६ के बीच उत्तरी अमरीका और विभिन्न यूरोपीय देशों में मुद्रा-प्रचलन की कठिनाइयों के निवारणार्थ कम-से-कम चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए।

५. चतुर्थ काल (१८६३-१६००)—इस बीच चाँदी के मूल्य में लगातार कमी होने तथा संयुक्त राज्य द्वारा शर्मन कानून हटा देने से प्रतिवर्ष टंकन के लिए सरकार को ५४० लाख औंस चाँदी खरीदनी पड़ती थी। इसके कारण चाँदी तथा फलस्वरूप भारतीय रुपये की स्थिति पहले से भी अधिक संदिग्ध हो गई। १८६२ में इन परिस्थितियों में भारत सरकार ने फिर राज्य-सचिव तक पहुँच की और अन्ततः स्वर्ण प्रमाप अपनाने के उद्देश्य से चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द करने का प्रस्ताव उस दशा के लिए रखा जबकि ब्रुसेल्स में हो रहा द्रव्य-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किसी निर्णय पर न पहुँच सके। फलतः १८६२ में भारत सरकार के उपर्युक्त प्रस्ताव के साथ चलार्थ और विनिमय की अवस्था पर विचार करने के लिए हर्शल समिति की नियुक्ति हुई। जब हर्शल समिति बैठी हुई थी उसी समय ब्रुसेल्स सम्मेलन छिन्न-भिन्न हो गया। उस समय भारतीय चलार्थ व्यवस्था की प्रधान कठिनाइयों के लिए हर्शल समिति को निम्न उपाय प्रस्तुत करने पड़े—(१) रजत की एकधात्त्वीय प्रथा और स्वर्ण-प्रमाप की देशों में गिरती हुई विनिमय-दर के कारण भारत सरकार की

स्थापित हो चुके थे और रुपये के मूल्य में लगातार कमी होने से भारत के विदेशी व्यापार की कठिनाइयों की वृद्धि तथा परिकल्पना का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त रुपये के मूल्य की कमी से नियोक्ताओं को स्थायी लाभ मिला, परन्तु यह कारण मज़दूरों के मत्थे जाता था क्योंकि मूल्यों की तुलना में मज़दूरी की वृद्धि शिथिलतर होती है। भारत के हित को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि विनिमय का अनवरत गिराव लाभप्रद था।

८. **विनिमय और विदेशी पूँजी में गिराव**—विनिमय का गम्भीर गिराव भारत में विदेशी पूंजी के विनियोग तथा अधिकांशतः उस पर निर्भर देश के विकास को रोकने लगा, क्योंकि उधार देने वाला बाज़ार लन्दन था और वह स्वर्ण में ही सोचता था। विनियोग पर ब्याज-सम्बन्धी अनिश्चितता तथा विनियोजित पूँजी को पुनः इंगलैण्ड स्थानान्तरित करने में उसके मूल्य में कमी की सम्भावना ने भारत में ब्रिटिश पूँजी के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। विनिमय के गिराव के कारण यूरोप-निवासियों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए विदेशी फर्मों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। देश में विदेशी पूँजी आकर्षित करने की कठिनाइयों का प्रतिकूल प्रभाव भारत की स्थानीय संस्थाओं के वित्त पर भी पड़ा।

९. **यूरोपीय अधिकारियों की दशा**—भारत सरकार को अपने अधिकारियों के सम्बन्ध में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विनिमय में गिराव के कारण अधिकारी-वर्ग क्षतिपूर्ति माँगने लगा। उन्हें वेतन रुपये में मिलता था तथा इंगलैण्ड में अपने परिवार की सहायता और बच्चों की शिक्षा के लिए उन्हें अपनी आय का पहले से अधिक भाग स्टर्लिंग के रूप में भेजना पड़ता था। इससे अधिकारियों में गहरा असन्तोष फैल गया।

१०. **हर्शेल समिति की सिफारिशें**—तत्कालीन द्रव्य-व्यवस्था के शीघ्र सुधार के सम्बन्ध में दृढ़मत हो जाने पर हर्शेल समिति ने अपने सुझाव दिये। द्विधातु प्रणाली का अब कोई प्रश्न ही नहीं था। चाँदी के विमुद्रीकरण और स्वर्ण-प्रमाप करेन्सी के स्थान पर एक प्रकार की पंगु प्रमाप की सिफारिश की गई, जिसके अन्तर्गत सोने या चाँदी के स्वतन्त्र टंकन की मनाही कर दी गई।

भारत सरकार ने इसका अनुमोदन किया और १८७० के कानून और भारतीय कागज़ी चलार्थ अधिनियम (इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट) १८८२ के सुधार के लिए १८९३ में एक कानून पास किया गया। चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई के लिए टकसालों को तुरन्त बन्द कर देने की व्यवस्था थी, यद्यपि भारत सरकार को अपने-आप (अपने लिए) मुद्रा बनाने की इजाज़त थी। उसी समय शासन-सम्बन्धी तीन अधिसूचनाएँ जारी की गईं। पहली अधिसूचना ने १६ पैंस=१ रु० की दर से स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले रुपया देने की व्यवस्था की। दूसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर सार्वजनिक देन-दारी के लिए सावरेन और अर्द्ध-सावरेन को स्वीकार करने को विहित ठहराया। तीसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले कागज़ी चलार्थ कार्यालय (पेपर करेन्सी ऑफ़िस) से कागज़ के नोट जारी करने की व्यवस्था की।

के सोने पर आधारित कर देगी। साथ ही अनिश्चित सीमा तक प्राप्त रुपयों के बदले लन्दन में सोने में अदा करने की देनदारी भी भारत की होगी।

फाउलर समिति के अनुसार सोने के स्वतन्त्र आवाह-प्रवाह पर आधारित स्वर्ण-प्रमाप और चलार्थ (करेन्सी) की स्थापना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से उन्होंने अधोलिखित प्रस्ताव रखा—(१) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन के टंकन के लिए भारत में टकसालें खोल दी जाएँ। १८९३ के निर्णय के अनुसार चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालें उस समय तक के लिए बन्द कर दी जाएँ जब तक चलार्थ में सोने का अनुपात जनता की आवश्यकता से अधिक न हो जाए। (२) अन्ततोगत्वा विनिमय-दर १ शि० ४ पैं० प्रति रुपया स्थिर कर दी जाए, क्योंकि यह पहले भी निश्चित की जा चुकी थी और इस दर से मूल्यों का सामञ्जस्य हो जाने के कारण किसी अन्य अनुपात की तुलना में इसका निर्वाह सरल था। (३) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य बना रहे। (४) सरकार सोने के बदले में रुपया देना जारी रखे और अपने-आपको रुपये के बदले में सोना देने को बाध्य न करे, क्योंकि सोना देने के लिए बाध्य होना असुविधाजनक होगा तथा सरकार से सोने की आकस्मिक माँग भी की जा सकेगी, जिसकी पूर्ति के लिए भारी लागत पर स्टर्लिंग ऋण लेना आवश्यक हो जाएगा। (५) रुपये को सावरेन में बदलने के लिए भविष्य में चाँदी के टंकन का लाभ विशेष सुरक्षित कोष के रूप में एक स्वर्ण-कोष में जमा करना चाहिए जो पत्र-मुद्रा सुरक्षित-कोष तथा सरकारी कोष से अलग हो। यद्यपि सरकार कानूनी तौर पर रुपये को सोने में बदलने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी लोगों के इच्छुक होने तथा कोष से अदायगी सम्भव होने पर सोना देना लाभप्रद होगा। (६) जिस समय व्यापारिक संतुलन विपरीत हो, उस समय सरकार को सोना सुलभ करने के लिए तैयार रहना चाहिए। समिति ने आशा की कि सोना सामान्यतः स्वर्ण सुरक्षित-कोष और विशेषतया उनके द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण-कोष से मिलेगा, यद्यपि अन्ततोगत्वा स्वर्ण-प्रमाप और स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के पूर्णतया प्रारम्भ हो जाने के फलस्वरूप प्रचलन से भी सोना प्राप्त हो सकेगा।

संक्षेप में, फाउलर समिति का मत था कि निश्चित विनिमय-दर प्रभावपूर्ण स्वर्ण प्रमाप से ही प्राप्त की जा सकती है। समिति ने लैटिन यूनियन और संयुक्त-राज्य द्वारा अपनाये गए पंगु प्रमाप को नमूने के तौर पर स्वीकार किया। इस प्रमाप में सोना और चाँदी एक निश्चित वैधानिक अनुपात के साथ असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा माने गए, परन्तु टकसालों को केवल सोने की स्वतन्त्र टंकन करने की आज्ञा दी गई।

१२. द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपनाये गए उपाय—(१) स्वर्ण का प्रचलन—फाउलर समिति की सिफारिशों को पूरा करने के लिए उपर्युक्त कदम उठाये जाने के बाद सरकारी नीति अपने ध्येय से विचलित होकर निरुद्देश्य इधर-उधर झुकने लगी और अन्ततोगत्वा कठिनाइयों को दूर करते-करते स्वर्ण विनिमय प्रमाप पर आ गई। टकसालों के बन्द करने से बड़ी तंगी आ गई जो व्यापार के

१६०२ में ये सारे नियम स्थायी बना दिये गए। १६०५ में भारत के सुरक्षित कोष में ५० लाख पौण्ड जमा हो गया और यह रकम लन्दन-स्थित इंगलैण्ड बैंक को पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखने के लिए भेज दी गई। यह साधारण कार्यों के लिए नहीं खर्च किया जाता था। इसका एक भाग इंगलैण्ड की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में जमा किया जाता था। १६०६ के बाद पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाने लगा।

१३. स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष—१६०० में भारत सरकार ने एक सुरक्षित स्वर्णकोष को भारत में रखना प्रस्तावित किया, जिसे फाउलर समिति भी चाहती थी। उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष धीरे-धीरे अपनी पूर्व स्थिति पर पहुँच जाए और इसका प्रयोग केवल करेन्सी नोटों के भुगतान के लिए ही किया जाए। इसका निर्माण मुख्यत: रुपयों और प्रतिभूतियों से ही हो। इसके विपरीत सुरक्षित स्वर्ण-कोष में प्रधानत: सोना ही रखा जाए।

भारत-सचिव की योजना के अनुसार रुपयों के टंकन का लाभ लंदन भेज दिया जाता था और होता यह था कि भारत में टंकित रुपयों के बदले लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में से सोना ले लिया जाता था। १६०६ में रुपयों की माँग की कठिनाई दूर करने के लिए पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से अलग एक विशेष रुपया सुरक्षित कोष बनाया गया, जिसे स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का नाम दिया गया।[1] रुपया सुरक्षित कोष का उद्देश्य रुपये की विनिमय-दर को १ शि० ४ पैं० से आगे न बढ़ने देना था। अतएव इसी दर पर सावरेन के बदले में रुपयों की दर निश्चित हो गई। १८६३ की अधिसूचना, जिसने ब्रिटिश स्वर्ण-मुद्रा से भिन्न स्वर्ण के बदले रुपयों और नोटों के प्रचलन का अधिकार दिया था, वापस ले ली गई। इसी बीच, विभिन्न कोषों में एकत्रित सोने को लन्दन भेजने का कार्य आवश्यक रूप से व्ययशील माना गया। इसलिए १६०४ में कौंसिल ड्राफ्ट बेचने की प्रथा अपने प्रारम्भिक उद्देश्य से आगे बढ़ गई। भारत-सचिव ने १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० की दर पर असीमित मात्रा में कौंसिल बिल बेचने की इच्छा घोषित की। यदि इसके लिए भारत के नकद कोष अपर्याप्त हों, तो इसकी पूर्ति भारत के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से रुपया निकालकर की जा सकती थी और इसके बराबर सोना लंदन में पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता था। भारत सरकार के पास सावरेन एकत्रित हो जाने तथा उन्हें १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० पर भारत में निर्यात करना सदैव मँहगा न होने के कारण मिस्र और आस्ट्रेलिया से भारत भेजे जाने वाले सावरेन के आधार पर तार द्वारा स्थानान्तरण (टेलिग्राफिक ट्रांसफर) करना निश्चित किया गया। स्थानान्तरण की दर १ शि० ४ पैं० और १ शि० ४$\frac{1}{32}$ पैं० के बीच थी (जो कौंसिल बिल की दर से भी कम थी)[2] ताकि ऐसे सावरेन के स्वामियों को उन्हें भारत से लन्दन भेजना लाभप्रद हो सके।

---

१. इस तिथि से स्वर्ण सुरक्षित कोष का नाम स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष हो गया।

२. इस प्रथा की कार्य-विधि के वर्णन के लिए देखिए, जे० एम० केन्स की पुस्तक 'इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स', पृ० ११४-१८।

रुपया और नोटों से भुगतान करने की क्रिया पहले से ही प्रचलित थी और १९०४ में भारत-सचिव ने निश्चित दर पर असीमित राशि के लिए अनिश्चित काल के लिए कौंसिल बिलों के बेचने की इच्छा प्रकट की। १९०७-८ में अन्तर्राष्ट्रीय कार्यो के लिए रुपयों को स्टर्लिंग में बदलने की क्रिया अर्थात् रिजर्व कौंसिल की बिक्री ने स्वर्ण विनिमय प्रमाप की नींव डाली।

संकट का सामना करने हेतु उठाये गए कदमों के परिणामस्वरूप सरकार के सोने के साधन खाली हो गए। लन्दन में करेन्सी कोष में सावरेन ७० लाख पौण्ड से घटकर १५ लाख पौण्ड रह गई, जबकि भारत में सोने का सम्पूर्ण भण्डार समाप्त हो गया था।[1] इस प्रकार सरकार सुरक्षित स्वर्ण कोष को बढ़ाने की आवश्यकता से प्रभावित हुई ताकि भविष्य में ऐसे संकटों का स्थिर चित्त होकर सामना किया जा सके। १९०९ में उन्होंने भारत-सचिव के सामने प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि २५० लाख पौण्ड होनी चाहिए और जब तक इतनी रकम पूरी न हो जाए तब तक उसका कोई भाग रेलों पर खर्च न किया जाए। उन्होंने स्वर्ण प्रमाप सुरक्षा कोष को तरल रूप में रखने की भी सिफारिश की।

भारत-सचिव ने उत्तर दिया कि उनके अनुसार स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष दोनों को मिलाकर २५० लाख पौण्ड उचित राशि होगी और जब तक दोनों की संयुक्त राशि इतनी नहीं हो जाती, तब तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष से कोई भी रकम नहीं ली जाएगी। संयुक्त राशि के २५० लाख पौण्ड हो जाने पर इस पर विचार किया जा सकता है।

१९१२ में भारत सरकार की इच्छा के प्रति आदर-भावना तथा सार्वजनिक आलोचना के कारण भारत-सचिव ने यह निर्णय किया कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का प्रमाप २५० लाख पौण्ड हो और ५० लाख पौण्ड का सोना बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में प्रक्षेप के रूप में रखा जाए।[2]

उपर्युक्त कदम उठाने में सरकार अनजाने में फाउलर समिति द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण प्रमाप के सीधे और संकुचित मार्ग से अलग हो गई और अनेक अवसरवादी उपायों के क्रम के फलस्वरूप लिण्डसे द्वारा प्रस्तावित योजना पर पहुँच गई। इस पद्धति के बारे में १८९३ में सोचा भी नहीं गया था और १८९८ में फाउलर समिति और सरकार दोनों ने ही इसका विरोध किया था। कोई ऐसी निश्चित तिथि बताना भी सम्भव नहीं है जिस दिन से यह विचारपूर्वक अपनाई गई हो।

स्वर्गीय सर विट्ठलदास थेकरसे की प्रेरणा से सोने की टकसाल और टंकन के प्रस्ताव पुनः रखे गए। इन्होंने १९१२ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध में एक वर्ष तक बातचीत चलती रही। उस समय यह निश्चित हुआ कि यह प्रश्न अन्य प्रश्नों के साथ करेन्सी आयोग के समक्ष

---

१. देखिए, एच० एफ० हॉवर्ड, 'इण्डिया एण्ड द गोल्ड स्टेण्डर्ड', पृ० ३५।

२. देखिए. शिराज, पूर्व उद्धृत, पृ० २१५।

ड्राफ्ट की बिक्री गृह-व्यय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत-सचिव द्वारा ही की जाती थी। यह प्रथा भारत-सचिव को अनुकूलतम दरों पर अधिक धन प्राप्त करने में सहायक होती थी। व्यापार के लिए भी यह सुविधाजनक थी, क्योंकि भारत के आयात से निर्यात की अधिकता होने के कारण भारत के प्रति अन्य देशों की देनदारी तय करने का यह सरल साधन था। सच तो यह है कि सामान्य परिस्थितियों में निर्यात की अधिकता से हुई बचत के कारण ही कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा सम्भव और लाभप्रद हो सकी।

१८९३ के बाद कुछ वर्षों तक इस प्रथा का नकारात्मक प्रयोग किया गया, अर्थात् कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री बन्द करके रुपये के विनिमय मूल्य को बढ़ाने की चेष्टा की गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि रुपया स्वतन्त्रता से मिलना बन्द हो गया और स्टर्लिंग में उसका मूल्य बढ़ने लगा।

यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १८९८ में जब रुपया १ शि० ४ पैं० के बराबर हो गया था, १८९८ के एक्ट ने भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में जमा सोने के आधार पर कौंसिल ड्राफ्ट बेचने का अधिकार दिया तथा किस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट के लिए समान मूल्य के नोट और रुपये भारत में जारी किये जाते थे। इसका उद्देश्य केवल गृह-व्यय को पूरा करने के लिए धन एकत्रित करना नहीं था, बल्कि द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाइयाँ होने पर जब भारत सरकार के पास कौंसिल ड्राफ्ट के लिए सरकारी खजानों में अतिरिक्त धन नहीं होता, तो व्यक्तिगत रूप से भारत को सावरेन भेजने के विकल्प के रूप में करेन्सी का विस्तार करना भी इसका उद्देश्य था।

१९०९-१० में लन्दन में सोना प्राप्त करने के लिए कौंसिल ड्राफ्टों का विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया। इसका विक्रय रुपयों की उस बड़ी मात्रा के स्थान पर किया गया था जो संकट-काल में लन्दन में रिवर्स-कौंसिल की बिक्री से भारत के स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में जमा हो गई थी। इसका फल यह हुआ कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष पुनः लन्दन चला गया।

रुपयों के टंकन का लाभ, जो स्पष्टतः रुपये के रूप में होता था, लन्दन में स्टर्लिंग में परिवर्तित कर दिया गया। लाभ प्रदर्शित करने वाले रुपये लन्दन में बेचे गए कौंसिल ड्राफ्टों के बदले भारत में जारी कर दिए जाते थे। इस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट की प्रथा भारत-सचिव को धन एकत्रित करने का साधन प्रदान करने के अतिरिक्त कहीं अधिक विस्तृत थी। उसका उद्देश्य व्यापार में सुविधा प्रदान करना तथा सरकारी साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित करना था, ताकि करेन्सी, विनिमय और वित्तीय मामलों में सरकारी नीति पूर्णतया प्रभावशाली रहे।

१८. चेम्बरलेन आयोग—स्वर्गीय सर आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता में अप्रैल, १९१३ में सरकार के मुद्रा चलन और विनिमय नीति की आग्रहपूर्ण और गहरी आलोचना के कारण एक आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने फरवरी १९१४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसके निष्कर्ष और सिफारिशें नीचे दी जा रही हैं—

चाहिए। (१३) सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में होना चाहिए। इस सुरक्षित कोष और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के बीच सम्पत्ति के विनिमय से १०० लाख पौण्ड का सोना तुरन्त मिल सकता था। अवसर आने पर यह १५० लाख पौण्ड तक बढ़ाया जा सकता था। इसके बाद अधिकारियों को कुल सुरक्षित कोष के आधे भाग को सोने में रखना चाहिए। सुरक्षित कोष को सोने के रूप में रखना अनावश्यक और फिजूल है। संकट-काल में प्रतिभूतियों के वसूल करने से हुई हानि की रक्षा पर्याप्त राशि को सरल रूप में रखने से होती है। (१४) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा समाप्त कर देनी चाहिए, क्योंकि इसके कारण बहुत आलोचना हुई है और सुरक्षित कोष की उपादेयता के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न करने के लिए भी यह उत्तरदायी थी। (१५) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को रखने का उचित स्थान लन्दन ही था। (१६) आवश्यकता होने पर १ शि० ३$\frac{३}{३२}$ पैं० प्रति रुपये की दर से लन्दन की हुण्डियाँ सरकार को भारत में बेचना चाहिए।[१]

देश में, बम्बई में स्वर्ण टकसाल की स्थापना के लिए किये गए प्रदर्शन, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, सर विट्ठलदास के प्रस्ताव के रूप में चरम सीमा को पहुँच गए। इस प्रदर्शन के प्रति सहानुभूति रखते हुए भारत सरकार ने १९१२ में इस विषय पर भारत-सचिव को लिखा और जोर देकर कहा कि जनता की स्वर्ण-टंकन की माँग को वे अनसुनी कर दें। चेम्बरलेन आयोग ने सरकार के विचारों को एकदम नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया। आयोग के अनुसार सरकार ने अनजाने में ही स्वर्ण विनिमय प्रमाप अपनाकर भारत को अन्य देशों के साथ प्रथम पंक्ति में ला दिया।

सिफारिशों पर विचार करने और उन्हें लागू करने के लिए पर्याप्त समय मिलने से पहले ही १९१४-१८ के विश्वयुद्ध ने एकदम नई प्रकार की परिस्थितियाँ और समस्याएँ उत्पन्न कर दीं, जिन पर हम अब विचार करेंगे।

१९१४-१८ के युद्ध का भारतीय करेन्सी पर प्रभाव[२]

१९. **प्रथम युग (अगस्त १९१४ से फरवरी, १९१५ तक)**—विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवेचन दो प्रधान कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) पहले काल की अवधि अगस्त १९१४ से फरवरी, १९१५ तक है। यह अव्यवस्था का काल था, जिसमें करेन्सी और विनिमय की स्थिति बहुत दुर्बल हो गई।

(२) द्वितीय काल की अवधि फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक है। यह समुत्थान-काल था। इसकी विशेषता उत्पादन-सम्बन्धी अदम्य उत्साह था। इस काल में विनिमय और चाँदी के स्वर्ण-मूल्य में अपूर्व वृद्धि हुई।

युद्ध छिड़ जाने से जनता के विश्वास को बहुत बुरा धक्का लगा, जिससे

---

१. चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट, पैरा २२३।

२. यह विवरण अधिकांशतः बैबिंग्टन स्मिथ समिति की रिपोर्ट पर आधारित है। दूसरे अध्याय में भारतीय करेन्सी पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवरण दिया गया है।

के निस्तारण के लिए युद्ध से पूर्व प्रयुक्त विधियों के उपलब्ध न होने के कारण युद्ध सफलतापूर्वक चलाने के लिए अति आवश्यक निर्यात व्यापार की रक्षा के लिए सरकार को एक प्रकार का स्थानापन्न प्रस्तुत करना पड़ा। अतएव उन्हें भारतीय निर्यात की अदायगी के लिए साधन प्रस्तुत करने हेतु लन्दन में बहुत बड़ी मात्रा में कौंसिल बिलों को बेचना पड़ा। इन कौंसिल बिलों की बिक्री के कारण भारत में रुपये का अत्यधिक टंकन आवश्यक हो गया। इस काम में बड़ी कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि अनेक परिस्थितियों के कारण चाँदी का मूल्य बहुत बढ़ गया था।

२१. चाँदी के मूल्य में वृद्धि—करेन्सी-स्थिति पर चाँदी के मूल्य की असाधारण वृद्धि का प्रमुख प्रभाव था। युद्ध से पूर्व उत्पादन की तुलना में चाँदी की पूर्ति में अत्यधिक कमी आ गई थी, जिसका कारण मैक्सिको की आन्तरिक कलह और लागत में वृद्धि थी। इसके विपरीत सम्पूर्ण विश्व में करेन्सी के लिए इस धातु की माँग असाधारण रूप से बढ़ गई। चाँदी की माँग में वृद्धि होने का प्रमुख कारण सोने की कमी तथा युद्ध में लगी और तटस्थ सरकारों की सोने की पूर्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता थी। सबसे अधिक माँग भारत और चीन की थी। हम लोग भलीभाँति देख चुके हैं कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन के निस्तारण और ब्रिटिश युद्ध-कार्यालयों (ब्रिटिश वार ऑफ़िस) की ओर से व्यय करने के लिए क्रय-शक्ति ढूँढ़ने का भार मुख्यतः भारत सरकार पर डाल दिया गया था। इसने स्थानीय करेन्सी, विशेषकर रुपयों की अत्यधिक माँग, का रूप धारण कर लिया। विधानतः मनाही होते हुए भी रुपया पिघलाने के कारण माँगें ये और बढ़ गईं, क्योंकि चाँदी के मूल्य में वृद्धि होने के कारण रुपये का वास्तविक मूल्य इसके अंकित मूल्य से बढ़ गया था। इसी दशा में प्रभावित करने वाला दूसरा कदम डालर-स्टर्लिंग अथवा न्यूयार्क-लन्दन विनिमय का प्रभाव था। जिस समय मार्च, १९१९ में डालर-स्टर्लिंग विनिमय से नियन्त्रण हटा लिया गया, तो इसका प्रभाव इंगलैण्ड के प्रतिकूल ही हुआ और अन्त में विनिमय-दर ३·४० डालर=१ पौण्ड की निम्न सीमा पर पहुँच गई।

चाँदी की वृद्धि के कारणों को समझने के बाद अब इसकी वृद्धि का क्रम देखना चाहिए। १९१५ में चाँदी का न्यूनतम मूल्य २७ पैंस प्रति औंस था। १९१६ में यह ३७ पैंस प्रति औंस तथा १९१७ में ४३ पैंस प्रति औंस हो गया। (जो रुपये के १ शि० ४ पैं० की विनिमय-दर पर उसके वास्तविक मूल्य के बराबर था।) सितम्बर, १९१७ में यह ५५ पैंस प्रति औंस हो गया। संयुक्तराज्य, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा आदि देशों ने चाँदी के व्यापार को नियन्त्रित किया और अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात को छोड़ शेष निर्यात बन्द कर दिए। बाद में चाँदी का अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात भी निर्दिष्ट मूल्य पर होने लगा। इन उपायों के फलस्वरूप चाँदी का मूल्य ४१ और ४९ पैंस प्रति औंस की सीमाओं के अन्दर आ गया। परन्तु मई, १९१८ में संयुक्तराज्य और ग्रेट ब्रिटेन ने इस नियन्त्रण को हटा दिया, जिससे चाँदी का मूल्य फिर बढ़ गया। उसी महीने में चाँदी का मूल्य ५८ पैंस प्रति औंस हो गया। उसके बाद साल-भर यह बढ़ता ही गया और दिसम्बर में ७८ पैंस प्रति औंस हो गया। फरवरी, १९२० में मूल्य उच्च-

बाज़ार-दर तथा फरवरी, १९२० के बाद रिवर्स कौन्सिल बिलों की विक्रय-दर जनवरी से मार्च, १९२० तक २ शि० ६ पैंस, २ शि० ८ पैंस, २ शि० १० पैंस और २ शि० ११ पैंस थी। सबसे ऊँची दर १९२० के प्रारम्भिक महीनों में थी।

(३) रजत-क्रय—करेन्सी की पूर्ति के लिए विशेष उपाय अपनाने पड़े। फरवरी, १९१६ से इस काम के लिए चाँदी खरीदी जाने लगी। व्यक्तिगत खरीदारों की ओर से प्रतिस्पर्धा दूर करने के लिए सरकार ने सितम्बर, १९१७ से निजी तौर पर चाँदी के आयात को बन्द कर दिया। संयुक्तराज्य और भारत सरकार के बीच हुए पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप संयुक्तराज्य ने पिटमेन कानून पास किया, जिसने सुरक्षित कोष को चाँदी बेचने का अधिकार दिया। १०१$\frac{3}{8}$ सेण्ट प्रति शुद्ध औंस के भाव से भारत सरकार ने २००० लाख औंस शुद्ध चाँदी खरीदी।

(४) चाँदी की सुरक्षा और उसकी मितव्ययता—चाँदी की सुरक्षा और मितव्ययता के लिए और उपाय भी अपनाये गए। सोने और चाँदी के सिक्कों को पिघलाने और उसके निर्यात को रोकने के लिए सरकार ने जून, १९१७ में करेन्सी विधान पास किया। दिसम्बर, १९१७ में २$\frac{1}{2}$ और १ रु० के नोट जारी किये गए। सबसे पहले जनवरी, १९१८ में २, ४ और ८ आने के गिलट (निकल) के सिक्के बनाये गए, जिन्हें १ रुपये तक कानूनी मुद्रा माना गया। जून, १९१७ से रुपये के स्टर्लिंग विनिमय मूल्य के आधार पर सरकार ने निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त किया। इस प्रकार प्राप्त सोने के बल पर नोट जारी किये गए और चाँदी की करेन्सी तथा सोने की मुहर के पूरक के रूप में सोने की मुहर और सावरेन बनाई तथा जारी की गई। जून, १९१९ में उत्तरी अमेरिका से स्वर्ण-निर्यात पर लगे प्रतिबन्ध हटा लेने तथा आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के स्वर्ण बाजार स्वतन्त्र कर देने से देश में अधिक सोने का आयात होने लगा और सरकार ने भी अधिक सोना प्राप्त किया।

(५) पत्रमुद्रा-प्रसार—धातु रखे बिना जारी किये गए नोटों की वृद्धि करके भी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसकी परिवर्तनीयता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए, उदाहरणार्थ परिवर्तन के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं को रोक दिया गया। नोट वालों के लिए प्रतिदिन जारी किये गए रुपयों को सीमित करके भी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

(६) आर्थिक उपाय—साधारण और पूँजी-व्यय न्यूनतम रखे गए तथा सरकार की क्रय-शक्ति बढ़ाने के लिए और अधिक कर लगाये गए। इसके अतिरिक्त भारत में ऋण लिये गए, जिससे १९१७-१८ और १९१९ में १३० करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। अक्तूबर, १९१७ से १२ महीने की अवधि के अल्पकालीन ट्रेज़री बिल भी जारी किये गए। करेन्सी की प्रत्यक्ष माँग और भारत में भेजने की भारी माँगों को पूरा करने में इन उपायों ने बड़ी सहायता की।

२३. बैबिंगटन समिति—जिस समय चेम्बरलेन समिति की सिफ़ारिशें विचाराधीन थीं, उसी समय युद्ध प्रारम्भ हो गया। हम अभी देख चुके हैं कि युद्ध ने किस प्रकार अनेक समस्याओं को जन्म दिया। अतः सर हेनरी बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में

(२) सावरेन के कानूनी मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन—सावरेन और रुपये का १ : १० का आन्तरिक अनुपात उस समय तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता जब तक समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात की तुलना में स्वर्ण-पिण्ड अधिक पसन्द किया जाएगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १९१७ से ही सरकार ने स्वर्ण-पिण्ड की पसन्दगी समाप्त करने के लिए निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त करना तथा सितम्बर, १९१९ से हर पन्द्रहवें दिन उसे वेचना प्रारम्भ किया था। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्य के ऊपर भी सोने की पसन्दगी बहुत अधिक बनी रही। फरवरी, १९२० में सरकार ने घोषणा की कि प्रथम छः महीने में १५० लाख तोला शुद्ध सोना वेचा जाएगा, परन्तु यह प्रोग्राम अगस्त और सितम्बर तक बढ़ा दिया गया।

२१ जून, १९२० के आर्डिनेन्स ३ से सावरेन और अर्ध-सावरेन की वैधानिक ग्राह्यता बन्द हो गई। परन्तु २१ दिन तक १५ रुपये की दर से उन्हें स्वीकार करने की व्यवस्था की गई। इस अवधि के समाप्त होने के बाद ब्रिटिश स्वर्ण-मुद्राओं के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गए। २१ दिन की अवधि में ही २५ लाख पौण्ड के सावरेन और अर्ध-सावरेन करेन्सी कार्यालयों और खजानों में पेश किये गए।

१५ रुपये के स्थान पर १० रुपये की दर से सावरेन को कानूनी मुद्रा बनाने के सम्बन्ध में करेन्सी समिति की सिफारिश को जून, १९२० के इण्डियन क्वायनेज (अमेंडमेण्ट) एक्ट ३६ द्वारा कार्यान्वित किया गया। इस कानून द्वारा सावरेन और अर्ध-सावरेन को कानूनी मुद्रा का रूप पुनः दे दिया गया, जिसे २१ जून, १९२० के आर्डिनेन्स ३ ने बन्द कर दिया था। नये कानून के अनुसार नई दर १० रु० प्रति सावरेन निश्चित की गई तथा खजानों और करेन्सी कार्यालयों को निर्देश दिया गया कि वे सावरेन और अर्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये की दर पर स्वीकार करें, परन्तु इस दर पर सावरेन या अर्ध-सावरेन जनता को न दें। सावरेन का बाजारू मूल्य सदैव १० रुपये से अधिक रहने के कारण वह इस नई दर पर करेन्सी के रूप में नहीं चल सकी। अतएव बम्बई में एक स्वर्ण टकसाल खोलना आवश्यक समझा गया।

(३) युद्धकालीन प्रतिबन्धों की समाप्ति—फरवरी, १९२० में चाँदी के आयात पर लगा हुआ प्रतिबन्ध (निर्यात का नहीं) हटा लिया गया और ४ आने प्रति औंस का आयात-कर भी समाप्त कर दिया गया। करेन्सी के अलावा अन्य कार्यों के लिए सोने और चाँदी को बन्द करने वाली युद्धकालीन अधिसूचनाएँ रद्द कर दी गईं। चाँदी के मूल्य में गिरावट तथा चाँदी के सिक्कों के प्रचलन में कमी हो जाने से बहुमूल्य धातुओं पर लगे शेष प्रतिबन्ध को समाप्त करना भी सम्भव हो गया। २१ जून को स्वर्ण-पिण्ड और विदेशी सिक्के के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया। कुछ दिनों के बाद सरकार की ओर से भुगतान करने के लिए चाँदी के प्रयोग पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिया गया। खजानों को आदेश दिया गया कि प्राप्तकर्ता द्वारा इच्छित करेन्सी में भुगतान किया जाए। अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं को पुनर्जीवित करने के लिए (अर्थात् नोटों को रुपयों में बदलने के लिए) भी कदम उठाये गए। ये सुविधाएँ पहले अस्थायी रूप से समाप्त कर दी गई थीं। उदाहरणतः खजानों के

लागू करने की आशा छोड़ दी थी। यह दर छः महीने के अन्दर ही स्थापित की गई और गिर गई। बाजार-दर नीचे गिरती गई और सरकार उसके गिराव को नहीं रोक सकी। बाजार-दर के अनुसरण में सरकार को अपनी दर भी कम करनी पड़ी और उसे बाजार-दर से कुछ ऊँचा रखने के नियम का ही पालन किया जा सका। परन्तु यह दर अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती थी, अतएव सरकार ने विनिमय के नियमन के प्रयास छोड़ दिए। १९२० के प्रारम्भ से सितम्बर, १९२० तक रिवर्स कौंसिल की बिक्री ५५,३८२,००० पौण्ड तक हो गई। लन्दन में रिवर्स कौंसिल की अदायगी पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से सम्बधित स्टर्लिंग प्रतिभूतियों और ट्रेजरी बिल की बिक्री से प्राप्त राशि द्वारा होती थी। ये प्रतिभूतियाँ और बिल १५ रुपये प्रति पौण्ड की दर पर खरीदे गए थे और ७ से १० रुपये प्रति पौण्ड की दर पर बेचे गए। क्रय और विक्रय मूल्य के इस अन्तर के फलस्वरूप भारतीय खजानों को ३५ करोड़ रुपये की हानि हुई।

अधिकतम हानि का कारण व्यापारियों का सरकार द्वारा निर्धारित ऊंची दर पर विश्वास करना था। माल का ऑर्डर इस आशा और विश्वास से किया गया था कि विनिमय-दर ऊँची रहेगी, परन्तु माल आने तक विनिमय-दर बहुत गिर गई। इस कारण अनेक आयातकर्ताओं का दिवाला पिट गया, क्योंकि सरकार द्वारा ऊंची विनिमय-दर बनाए रखने के सम्बन्ध में इन्हें इतना विश्वास था कि इन्होंने कोई सावधानी ही न बरती।

२६. सरकारी नीति की परीक्षा—इन बातों से यह सिद्ध होता है कि अनेक व्यापारी ऐसी ऊँची दर को बनाए रखना असम्भव नहीं समझते थे, चाहे वे उसकी उपादेयता के बारे में भले ही सन्देह करते हों।

सरकार स्वयं २ शि० स्वर्ण दर की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह नहीं करती थी, क्योंकि इस विषय पर उसे स्मिथ समिति के बहुमत का समर्थन भी प्राप्त था। यह सत्य है कि सर ददीबा दलाल ने अपना भिन्न मत प्रकट करते हुए इस उच्च दर से सम्भावित दोषों की योग्यतापूर्ण विस्तृत विवेचना की थी, परन्तु उन्होंने भी इस दर को बनाए रखने की असम्भाव्यता पर विशेष बल नहीं दिया।

इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब सरकार बैबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने चली, उस समय अनेक ऐसी बातें थीं जो करेन्सी प्रमाप में ऐसे परिवर्तन करने से पहले सरकार को रुकने और सोचने के लिए बाध्य कर रही थीं। उदाहरण के लिए, अगस्त १९२० में, जिस समय परिवर्तित अनुपात लागू होने वाला था, उस समय सोना २३¾ रुपये प्रति तोला बिक रहा था, परन्तु नये अनुपात के अनुसार उसे १५ रुपये १४ आने के भाव से बिकना चाहिए था। इस अन्तर को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि २ शि० स्वर्ण दर को बनाए रखना यदि असम्भव नहीं तो असाधारण रूप से कठिन अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त पुनः चाँदी का मूल्य गिरकर ४४ पैंस प्रति औंस हो चुका था और रुपया पिघलाने का भय लगभग समाप्त हो चुका था। यदि कहीं थोड़ा-बहुत

लागू करने की आशा छोड़ दी थी। यह दर छः महीने के अन्दर ही स्थापित की गई और गिर गई। बाज़ार-दर नीचे गिरती गई और सरकार उसके गिराव को नहीं रोक सकी। बाजार-दर के अनुसरण में सरकार को अपनी दर भी कम करनी पड़ी और उसे बाजार-दर से कुछ ऊँचा रखने के नियम का ही पालन किया जा सका। परन्तु यह दर अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती थी, अतएव सरकार ने विनिमय के नियमन के प्रयास छोड़ दिए। १९२० के प्रारम्भ से सितम्बर, १९२० तक रिवर्स कौंसिल की बिक्री ५५,३८२,००० पौण्ड तक हो गई। लन्दन में रिवर्स कौंसिल की अदायगी पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से सम्बधित स्टर्लिंग प्रतिभूतियों और ट्रेज़री बिल की बिक्री से प्राप्त राशि द्वारा होती थी। ये प्रतिभूतियाँ और बिल १५ रुपये प्रति पौण्ड की दर पर खरीदे गए थे और ७ से १० रुपये प्रति पौण्ड की दर पर बेचे गए। क्रय और विक्रय मूल्य के इस अन्तर के फलस्वरूप भारतीय खज़ानों को ३५ करोड़ रुपये की हानि हुई।

अधिकतम हानि का कारण व्यापारियों का सरकार द्वारा निर्धारित ऊँची दर पर विश्वास करना था। माल का ऑर्डर इस आशा और विश्वास से किया गया था कि विनिमय-दर ऊँची रहेगी, परन्तु माल आने तक विनिमय-दर बहुत गिर गई। इस कारण अनेक आयातकर्ताओं का दिवाला पिट गया, क्योंकि सरकार द्वारा ऊँची विनिमय-दर बनाए रखने के सम्बन्ध में इन्हें इतना विश्वास था कि इन्होंने कोई सावधानी ही न बरती।

२६. **सरकारी नीति की परीक्षा**—इन बातों से यह सिद्ध होता है कि अनेक व्यापारी ऐसी ऊँची दर को बनाए रखना असम्भव नहीं समझते थे, चाहे वे उसकी उपादेयता के बारे में भले ही सन्देह करते हों।

सरकार स्वयं २ शि० स्वर्ण दर की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह नहीं करती थी, क्योंकि इस विषय पर उसे स्मिथ समिति के बहुमत का समर्थन भी प्राप्त था। यह सत्य है कि सर ददीबा दलाल ने अपना भिन्न मत प्रकट करते हुए इस उच्च दर से सम्भावित दोषों की योग्यतापूर्ण विस्तृत विवेचना की थी, परन्तु उन्होंने भी इस दर को बनाए रखने की असम्भाव्यता पर विशेष बल नहीं दिया।

इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब सरकार बैबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने चली, उस समय अनेक ऐसी बातें थीं जो करेन्सी प्रमाप में ऐसे परिवर्तन करने से पहले सरकार को रुकने और सोचने के लिए बाध्य कर रही थीं। उदाहरण के लिए, अगस्त १९२० में, जिस समय परिवर्तित अनुपात लागू होने वाला था, उस समय सोना २३$\frac{1}{4}$ रुपये प्रति तोला बिक रहा था, परन्तु नये अनुपात के अनुसार उसे १५ रुपये १४ आने के भाव से बिकना चाहिए था। इस अन्तर को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि २ शि० स्वर्ण दर को बनाए रखना यदि असम्भव नहीं तो असाधारण रूप से कठिन अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त पुनः चाँदी का मूल्य गिरकर ४४ पैंस प्रति औंस हो चुका था और रुपया पिघलाने का भय लगभग समाप्त हो चुका था। यदि कहीं थोड़ा-बहुत

स्टर्लिंग मूल्यों में तेज़ी से हुई कमी थी जो इंगलैण्ड द्वारा स्टर्लिंग को स्वर्ण समता पर लाने के लिए उठाये गए कदमों के फलस्वरूप हुई थी। इन परिस्थितियों में, जैसा कि होना चाहिए था, रुपये का स्टर्लिंग मूल्य गिरता गया। १९२१ में ३१,५८,००० रुपये की करेन्सी का संकुचन किया गया। यह विनिमय की निम्नगामी गति को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं थी, जो १ शि० ३ पैंस के निम्न स्तर तक पहुँच गई थी।

१९२२-२३ में यूरोपीय देशों में क्रय-शक्ति में सुधार होने और भारत में अच्छी फसल होने के कारण भारत के निर्यात का पुनरुत्थान हुआ। मुद्रा के संकुचन और निर्यात के पुनरुत्थान का सम्मिलित प्रयास रुपये के विनिमय-मूल्य को धीरे-धीरे बढ़ाना था। सितम्बर, १९२३ में रुपया १ शि० ३$\frac{१}{८}$ पैंस सोने के बराबर था और १ शि० ४ पैंस का युद्ध के पूर्व का अनुपात किसी के हित को हानि पहुँचाए बिना ही पुनः स्थापित किया जा सकता था। इसके लिए भारतीय व्यापार-मण्डल ने प्रार्थना भी की थी, जो असफल रही। सरकार १ शि० ६ पैंस के अनुपात को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रही थी। वास्तव में रुपया १ शि० ६ पैंस स्टर्लिंग के स्तर पर अक्तूबर, १९२४ में पहुँच गया। इसके बाद सरकारी कार्य रुपये के मूल्य को इस स्तर से अधिक न बढ़ने की ओर प्रेरित हुआ। इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए, सरकारी विप्रेषण के लिए आवश्यक, स्टर्लिंग खरीदने की विधि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया गया और इस खरीद के बल पर नई करेन्सी चालू की गई, जिससे द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाई भी कम हुई। अप्रैल, १९२५ में रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ६ पैंस स्वर्ण हो गया और २१ सितम्बर, १९३१ तक इसी प्रकार बना रहा। जैसा कि आलोचकों का कथन है, उसे इतना ही रखा गया।[१]

अब निष्क्रियता-नीति का अन्त दृष्टिगोचर होने लगा। अनेक ओर से की गई प्रार्थनाओं के उत्तर में सरकार ने १९२५ के आरम्भ में करेन्सी-स्थिति की जाँच करने के लिए एक अधिकृत समिति की स्थापना का वादा किया। सरकार को यह आशा थी कि तब तक विश्व की परिस्थितियों में स्थिरता आ जाएगी। लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर हिल्टन-यंग की अध्यक्षता में भारतीय करेन्सी और विनिमय के राजकीय आयोग की नियुक्ति हुई।

आयोग के मत और निर्णय पर विचार करने से पहले, हम भारतीय पत्र-मुद्रा पद्धति का विवरण देंगे।

भारतीय पत्र-मुद्रा

२८. प्रारम्भिक इतिहास—१८०९, १८४० और १८४३ के कानूनों के अन्तर्गत बंगाल, बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंकों को यह अधिकार दिया गया कि वे नोट जारी करें, जिनका वाहकों द्वारा माँगे जाने पर भुगतान कर दिया जाए। इन नोटों के जारी करने के सम्बन्ध में अधिकतम सीमा और सुरक्षित-कोष-सम्बन्धी नियमों का पालन

१. देखिए अध्याय १।

समाप्त करने तथा नोटों को अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु उनके भुगतान के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं के विस्तार की सिफारिश की। १९३१-३२ में ५०० और १००० रुपये के नोट भी सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिये गए।[१]

३०. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष—१८६१ के कानून के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में ४ करोड़ रुपये तक स्थायी विश्वासाश्रित निर्गम (फिक्सड फिडूशरी इश्यू) करने की व्यवस्था है। यह सीमा समय-समय पर विशेष कानूनों द्वारा बदल दी गई। यह १८७१ में ६ करोड़, १८९० में ८ करोड़, १८९७ में १० करोड़ तथा १९०५ में १२ करोड़ रुपये कर दी गई। अब तक ये प्रतिभूतियाँ भारत में रखी हुई भारत सरकार की रुपये वाली प्रतिभूतियाँ थीं, परन्तु १९०५ के कानून ने २ करोड़ तक की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को इंगलैण्ड में रखने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार सुरक्षित कोष में विनियोजित भाग का कुछ अंश स्टर्लिंग प्रतिभूति के रूप में रखा जाने लगा।[२] १९११ में प्रतिभूतियों की अधिकतम सीमा १४ करोड़ निश्चित की गई, जिसमें से ४ करोड़ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखने की व्यवस्था थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १८९८ तक स्थायी विश्वासाश्रित भाग को छोड़कर अतिरिक्त सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष चाँदी के रूप में था। १८९८ में गोल्ड नोट एक्ट ने सरकार को सुरक्षित कोष के धातु वाले भाग के अंश को स्वर्ण-मुद्रा में रखने का अधिकार दिया। १९०० के कानून ने इन स्वर्ण मुद्राओं को लन्दन में रखने का भी अधिकार दिया। १९०५ के कानून ने सुरक्षित कोष के धात्वीय भाग को अथवा उसके किसी अंश को, लन्दन अथवा भारत में, स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण-पिण्ड या रजत-पिण्ड में रखने का अधिकार दिया; परन्तु सभी टंकित रुपयों को भारत में ही रखने की व्यवस्था थी।

इसके फलस्वरूप नोटों की परिवर्तनीयता निश्चित करने के लिए अत्यधिक सुरक्षित कोष रखा गया। कुल जारी किये गए नोटों के कुछ प्रतिशत या अनुपात को तरल रूप में रख और विनियोजित भाग को बढ़ाकर इससे बचा जा सकता था। इस प्रकार भी विश्वासाश्रित सीमा बढ़ाने के लिए वैधानिक आश्रय की आवश्यकता न पड़ती।

३१. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की आलोचना—१९१४ से पहले पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विरुद्ध प्रमुख आलोचना इन आधारों पर थी—(१) धात्वीय कोष का अनावश्यक रूप से अधिक होना, (२) विशेष कानून के बिना स्थायी विश्वासाश्रित कोष को बढ़ाने की असम्भावना और (३) पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग का इंगलैण्ड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में विनियोजित होना।

(१) और (२) के कारण व्यवस्था लोचहीन हो गई। जहाँ तक (३) का सम्बन्ध है इस प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया गया कि स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ

१. रिपोर्ट ऑफ़ दि कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी (१९३१-३२), पैरा ६०। १०० रुपये से अधिक के नोट का १९४७ से सरकारी आर्डिनेन्स द्वारा विमुद्रीकरण कर दिया गया।
२. पीछे सेक्शन १२, अन्तिम पैरा।

मुद्रा पाने की कठिनाई के कारण सुरक्षित कोष का अपूर्व विस्तार आवश्यक हो गया। इंगलैंड की ओर से भारत में किये गए युद्ध के व्यय भारत सचिव द्वारा लन्दन में ले लिये गए। इसे लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में सोने के रूप में रखना राजकीय हित के विरुद्ध समझा गया। अतएव उसे ब्रिटिश ट्रेज़री बिल्स अथवा अल्पकालीन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखने के विकल्प को अपनाया गया।[1] यद्यपि कुछ भाग का विनियोग भारतीय ट्रेज़री बिल में भी किया गया। (३) धात्वीय सुरक्षित कोष १९१४ में ७८.९% था। १९१९ में यह ३५.८% रह गया। (४) चाँदी की मित-व्ययता के उपाय के रूप में १९१७ और १९१८ में क्रमशः १ और २½ रुपये के नोट जारी किये गए जो स्पष्टतः इंगलैण्ड में जारी किये गए १ पौण्ड और १० शि० के नोट के अनुकरण-मात्र थे। जनता ने प्रारम्भ में इनके प्रति उदारता नहीं दिखाई। १ रुपये का नोट खूब चलने लगा। ३१ मार्च, १९१९ को १०५० लाख रुपये के एक रुपये वाले नोट चल रहे थे जबकि २½ रुपये के नोट का प्रचलन केवल १८४ लाख रुपया था।[2] (५) रुपये की कमी के कारण नकदी भुगतान के लिए, अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं[3] को समाप्त कर दिया गया। (६) १९१८ के पत्र-मुद्रा एक्ट का सामना करने के लिए पिटमैन कानून के अन्तर्गत २००० लाख औंस अमरीकी चाँदी का आयात हुआ।

३३. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का पुनर्निर्माण—सितम्बर, १९१९ में पत्र-मुद्रा कानून के अस्थायी सुधार से पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विनियोग की अधिक सीमा १२० करोड़ रुपये कर दी गई, जिसमें १०० करोड़ रुपया ब्रिटिश ट्रेज़री बिलों में लगाना आवश्यक था।

मार्च, १९२० में छः महीने के लिए एक अस्थायी कानून बनाया गया जिसने सुरक्षित कोष के विनियोजित भाग को १२० करोड़ रुपया रखने की आज्ञा दी, परन्तु इसने विनियोग के स्थान और उसके स्टर्लिंग अथवा रुपये के प्रकार-सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिए। इंगलैण्ड को सोना भेजने की तत्कालीन माँग और राजसचिव के नकद कोष से इसे पूरा करने की असम्भावना ने इसे अनिवार्य कर दिया। लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विक्रय से माँग पूरी की गई। वर्तमान कानून के अनुसार रुपये के मूल्य में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बराबर १५ रु०=१ पौं० की दर से नोटों की वापसी और रद्दगी आवश्यक हो गई।

व्यवस्था की गई।[1] दूसरी कठिनाई सोना और प्रतिभूतियों को पहली दर की $\frac{2}{3}$ पर पुन:मूल्यन करने से उत्पन्न अन्तर को पूरा करने के सम्बन्ध में थी। इस कठिनाई को हल करने के लिए सरकार को अधिकार दिया गया कि वह रुपये वाली प्रतिभूतियाँ (जिन्हें तदर्थ प्रतिभूतियाँ कहा जाता था) उत्पन्न करे और उन्हें पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को निर्गमित करे। चूँकि ये प्रतिभूतियाँ रुपये वाली प्रतिभूतियों की कानूनी सीमा पार कर जाएँगी, इसलिए यह प्रस्तावित किया गया कि इस सीमा से आगे बढ़ी हुई प्रतिभूतियाँ धीरे-धीरे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में परिवर्तित कर दी जाएँ। चूँकि यथेष्ट स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए कोष नहीं था, अतएव १२ करोड़ रु० की अनुज्ञेय सीमा से अधिक उत्पन्न की गई रुपये वाली प्रतिभूतियों को कम करने के लिए यह व्यवस्था की गई कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का व्याज, नये रुपयों के टंकन का लाभ तथा ४०० लाख पौण्ड से अधिक होने पर (३० सितम्बर १९२१ को यह अधिक हो गया था) अस्थायी निर्गम की सुरक्षा के लिए कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी के पास जमा व्यापारिक हुण्डियों के व्याज का लाभ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाए।

१९२७ के इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट के अनुसार १ अप्रैल, १९२७ से पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की प्रतिभूतियाँ, जिनका मूल्यन १९२० में १० रुपये प्रति सावरेन की दर पर हुआ था, अब इनका मूल्यन १३ रु० १ आ० ३ पा० की दर से किया गया। इसके परिणामस्वरूप सोना और स्टर्लिंग में ३० लाख रु० की वृद्धि हो गई, जिसे इतनी ही मात्रा के भारतीय ट्रेज़री बिल रद्द करके बराबर कर दिया गया। इसके फलस्वरूप ट्रेज़री बिल ४९७७ लाख रुपये से घटकर ४०४७ लाख रुपये रह गए।[2]

३४. ३१ मार्च १९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति[3]—१९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में परिवर्तन किये गए। १९२९-३० और १९३०-३१ के वर्षों में नोटों के प्रचलन में बहुत कमी आ गई, जिसका कारण वस्तुओं के गिरते हुए मूल्य के साथ मुद्रा-संकुचन का होना था। मूल्यों में सामान्य कमी १९२९-३० के अन्तिम भाग से प्रारम्भ हुई। दूसरा कारण निर्यात व्यापार में मूल्यों के गिर जाने के कारण विनिमय में कमज़ोरी आने की प्रवृत्ति थी, जिसके लिए अंशत: भारत की अनिश्चित राज-

---

१. द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाई दूर करने के लिए फरवरी, १९२५ के संशोधन कानून द्वारा यह सीमा १०० करोड़ कर दी गई। इस कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की हुई प्रतिभूतियों की मात्रा ५० करोड़ रु० से अधिक नहीं होनी चाहिए।

२. १९३१-३२ के लिए केन्द्रीय बजट और अध्याय ९ का सेक्शन १७ भी देखिए।

१९२४-२५ से १९३४-३५ तक करेन्सी कण्ट्रोलर की रिपोर्ट देखिए। १९३५ के पत्र-मुद्रा चलन सुरक्षा कोष की बनावट और स्थिति का अंक ११वें अध्याय में दिया गया है।

३. पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों और द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों के लिए अगला अध्याय देखिए। निर्गम कार्य रिजर्व बैंक को सुपुर्द करने तथा नोटों के लिए सुरक्षित कोष रखने के लिए नये प्रबन्ध रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट (१९३४) के अन्तर्गत अध्याय ११ में दिये गए हैं।

मुद्रा कोप की यह स्थिति स्वागत योग्य थी।[1]

२० सितम्बर, १९३१ को इंगलैण्ड के स्वर्ण प्रमाप त्यागने तथा रुपये का मूल्य १ शि० ६ पैं० निश्चित करने के फलस्वरूप रुपयों में सोने का मूल्य बढ़ जाने से ३१ दिसम्बर १९३७ तक ३०८ करोड़ रुपया बाहर भेजा गया।[2]

३५. नोट प्रचलन और करेन्सी की खपत—इस भाग में २ मुख्य प्रश्नों का विवेचन प्रस्तावित है—

(१) **कुल और सक्रिय नोट प्रचलन**—जब हम पत्र-मुद्रा के प्रचलन की बात करते हैं तो हमें जानना चाहिए कि हम कुल प्रचलन की बात कर रहे हैं अथवा सक्रिय प्रचलन की।

(क) कुल प्रचलन का अर्थ जारी किये गए नोटों के कुल मूल्य से है जिनका भुगतान नहीं हुआ है। (ख) १ अप्रैल, १९३५ से जब नोट चलाने का कार्य रिज़र्व बैंक ने ले लिया, सक्रिय प्रचलन का अर्थ बैंकिंग विभाग में रखे हुए नोटों को छोड़कर जारी किये गए शेष नोटों की संख्या से है।

हाल के वर्षों में सक्रिय नोट प्रचलन की वृद्धि से देश में नोटों का अधिक प्रयोग और पुनरुत्थान प्रकट होता है। युद्धजनित दशाओं के परिणामस्वरूप १९३९-४० में हुई वृद्धि को दूसरे अध्याय में समझाया गया है।

(२) **करेन्सी के विभिन्न रूपों की खपत**—१९१४-१८ के युद्ध के पूर्व, मध्य और बाद में मुद्रा चलन के शोषण और नोट तथा रुपये की अपेक्षाकृत लोकप्रियता में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। नोट और रुपये के रूप में बड़े पैमाने पर युद्धकालीन मुद्रा चलन का प्रसार भली प्रकार जाँचे गए साधनों के कारण चित्रों द्वारा स्पष्ट हो रहा है। १९२०-२१ में मुद्रा चलन का विस्तृत संकुचन प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन और हुण्डियों के विक्रय के प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है। १९१४-१८ के बाद के २० वर्षों में बिना अपवाद के एक ओर खजानों से चाँदी के रुपये के लाभ का काल था और दूसरी ओर नोटों द्वारा रुपयों का पक्षपातपूर्ण स्थान-परिवर्तन था। यह तालिका युद्ध-पूर्व, युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में सिक्कों और पत्र-मुद्रा की सापेक्षिक खपत और लोकप्रियता के विशेष परिवर्तन को स्पष्ट करती है। इन आँकड़ों से रुपये और नोटों का युद्धकालीन विस्तार भली भाँति प्रकट हो जाता है। १९२०-२१ में मुद्रा का संकुचन प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन और रिवर्स कौंसिल की बिक्री प्रदर्शित करता है। १९१४-१८ के बाद २० वर्ष तक का समय चाँदी के रुपयों की वापसी तथा अंशतः सिक्कों का नोट से प्रतिस्थापन का युग था, यद्यपि कुछ थोड़े-बहुत अपवाद भी थे। रुपयों की वापसी का एक कारण यह था कि लोग धन जोड़ने के लिए उसके स्थान पर सोने का प्रयोग करने लगे, क्योंकि २१ सितम्बर, १९३१

---

१. देखिए अध्याय ११, करेन्सी कंट्रोलर की रिपोर्ट (१९३३-३४), पैरा ३९ और (१९३४-३५) पैरा ३१।

२. अधिक स्पष्टीकरण के लिए अगला अध्याय देखिए और नोट प्रचलन के आँकड़ों के लिए ११वां अध्याय देखिए।

अध्याय २२

चलार्थ और विनिमय (भाग २)

कार्यरत हिल्टन यंग कमीशन

१. स्वर्ण विनिमय प्रमाप के दोष—४ जुलाई, १६२६ को हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत के लिए द्रव्य प्रमाप-सम्बन्धी अपनी योजना के प्रतिपादन के पूर्व ही आयोग ने पद्धति की निम्नलिखित विद्यमान बुराइयों की ओर संकेत किया।[1]

(१) यह पद्धति सरल और ग्राह्य नहीं थी। करेन्सी में दो संकेत मुद्राएँ—रुपया और नोट—तथा पूर्ण मूल्य की सावरेन नामक एक तीसरी मुद्रा थी, जिसका लेश-मात्र प्रचलन नहीं था। संकेत मुद्रा का एक रूप, अर्थात् रुपया, जिसमें दूसरी संकेत मुद्रा अर्थात् नोटों को परिवर्तित करने का असीमित दायित्व था, बहुत ही व्ययशील था और चाँदी का मूल्य एक निश्चित स्तर से ऊपर हो जाने पर जब यह संकेत मुद्रा नहीं रह जाता, तो इसके गुप्त होने की सम्भावना थी।

(२) सुरक्षा स्वर्ण प्रमाप तथा पत्र-मुद्रा और बैंकिंग सुरक्षित कोष के रूप में दोहरे सुरक्षित कोष थे। करेन्सी और साख नीति के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायित्व का पुराना और भयानक विभाजन था। जबकि अन्य देशों में यह दायित्व किसी एक केन्द्रीय बैंक पर होता है, भारत में करेन्सी का नियन्त्रण सरकार के हाथ में था और साख का नियन्त्रण केवल इम्पीरियल बैंक द्वारा किया जाता था।

(३) इस पद्धति में करेन्सी का स्वाभाविक प्रसार और संकुचन सम्भव नहीं था। इस प्रकार का प्रसार या संकुचन पूर्ण रूप से करेन्सी-अधिकारी अर्थात् सरकार की इच्छा पर निर्भर था। सुरक्षित कोष के रिक्त होने के साथ-साथ इस पद्धति में स्वभावतः आन्तरिक करेन्सी का संकुचन नहीं होता था।

इस प्रकार करेन्सी प्रसार के सम्बन्ध में अनेक अवसरों पर सरकार ने मुद्रा-प्रसार के बिना ही स्टर्लिंग खरीदने के दायित्व को पूरा किया—पहले-पहल सरकारी कोष से क्रय किया गया और मुद्रा प्रसार सरकार के विवेक पर छोड़ दिया गया।

(४) अन्ततः इस पद्धति में लचक नहीं थी। स्मिथ समिति की सिफारिश पर की गई लचक की व्यवस्था को भारतीय व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन के विभिन्न ढंगों द्वारा कार्यान्वित किया गया। ये ढंग नकद साख अथवा अभियाचन प्रतिज्ञा अर्थपत्र

---

१. देखिए हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट, पैरा २१।

जहाँ भारत की ओर से राज-सचिव के व्यय और इंगलैण्ड तथा विश्व के प्रति भारत की व्यापारिक देनदारियाँ चुकाने के लिए रुपये की आवश्यकता होती थी। यदि सुरक्षित कोष भारत में रखा जाता तो इसे लन्दन भेजना पड़ता जिससे अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता। भारत में कोई अल्पकालीन साख बाजार नहीं था और सुरक्षित कोष का यहाँ रखना बेकार ही था, क्योंकि उस पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं मिल सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ यूरोपीय देशों की केन्द्रीय बैंकों द्वारा हुण्डियाँ रखने की प्रथा ने लन्दन में सुरक्षित कोष रखने की भारतीय प्रथा के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया।

सुरक्षित कोष की स्थिति-सम्बन्धी यह पेचीदा व्यवस्था सम्भवतः व्यापार के प्रतिकूल सन्तुलन द्वारा उत्पन्न विनिमय की कठिनाइयों को ठीक रखने के लिए की गई थी। इस तथ्य को दृष्टि में रखने पर कि भारत के लिए प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन एक असाधारण बात थी (जो हर दस वर्ष में होती थी) यह प्रतीत होगा कि कभी होनेवाली इस घटना के लिए ऐसे विस्तृत और स्थायी प्रबन्ध आवश्यक न थे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने पर अन्य देश विदेशी केन्द्रों में सुरक्षित कोष नहीं रखते हैं। उदाहरण के लिए, प्रतिवर्ष व्यापारिक देनदारियों के भुगतान के लिए अन्य देशों द्वारा भारत में कोई सुरक्षित कोप नहीं रखा जाता था।

इन दिशाओं में कोई प्रयास करने के बजाय, सरकार ने चाँदी के आयात पर कर लगाकर ऐसे बाज़ार के विकास को रोक दिया। अगर क्रय लन्दन में ही किये जाते थे, तो कोष वहाँ रखने के बजाय आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरित करने में ही कौनसी विशेष हानि थी? प्रचलित सन्देह और असन्तोष को कम करने के लिए आवश्यक धन इंगलैण्ड भेजने की असुविधा और अतिरिक्त व्यय उचित ही थे। यह भी प्रकट ही है कि आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरण न होने पर इंगलैण्ड में आवश्यक धन एकत्र करने का प्रबन्ध, उदाहरणार्थ बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड की सहायता से, किया जा सकता था। अन्ततः चाँदी की खरीद के सम्बन्ध में बरती जाने वाली गोपनीयता ने स्वभावतः ही अनेक विरोधी आलोचनाओं को जन्म दिया।

३. विप्रेषित धनराशियों (रेमिटेन्सेज़) का प्रबन्ध—जैसा कि हम कह चुके हैं, राज-सचिव द्वारा कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री भारत से लन्दन में कोष जमा करने का एक यन्त्रमात्र थी। इस सम्बन्ध में यह शिकायत थी कि अत्यधिक धनराशि, विशेपकर १९०४ के बाद से, इस प्रकार अनावश्यक रूप से लन्दन भेजी गई। इसका समर्थन इस आधार पर किया गया कि इससे राज-सचिव की आर्थिक स्थिति दृढ़ हो गई, परन्तु इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं किया गया कि इस प्रकार की दृढ़ता की क्यों आवश्यकता थी। इसी प्रकार यह भी कहा गया कि राज-सचिव के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह कौंसिल बिलों की अत्यन्त लाभपूर्ण दरों का, जब कभी वे प्राप्त हों, लाभ उठाए। यहाँ पुनः यह अनुमान निहित है कि धन की अपेक्षा का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। प्रायः इस बात का भी दावा किया गया कि अपने व्यय

थी—क्योंकि सभ्य देशों में किसी-न-किसी रूप में प्रबन्ध तो आवश्यक ही होता है—वरन् उसके कुप्रबन्ध के सम्बन्ध में थी। प्रोफेसर निकल्सन के शब्दों में, "किसी देश की अधिकांश जनता का यह सोचना कि करेन्सी में कुछ दोष है, उस देश के लिए बुरा है। स्वर्ण विनिमय प्रमाप की निहित विशेषताएँ चाहे कुछ भी हों, परन्तु उसके कारण निश्चय ही भारतीय यह सोचने लगे थे कि देश की करेन्सी प्रथा बड़ी गड़बड़ है।"

४. मुद्रास्फीति और मूल्यों की वृद्धि—जैसा हम देख चुके हैं कि हिल्टन यंग आयोग ने कहा था कि भारतीय पद्धति स्वतःचालित नहीं थी और अतिरिक्त करेन्सी को संकुचित करने की दृष्टि से विशेष रूप से दोषपूर्ण थी। इसका स्वाभाविक परिणाम मुद्रा-स्फीति और मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि हुई।[1] जैसा कि चेम्बरलेन आयोग की रिपोर्ट की आलोचना में प्रोफ़ेसर निकल्सन ने कहा था, रुपये की परिवर्तनीयता आंशिक होने और कभी-कभी बन्द कर देने तथा और अधिक रुपया जारी करने के सम्मिलित प्रभाव से मूल्य-वृद्धि अवश्यम्भावी थी।

अत्यधिक शुभचिन्तना के बावजूद भी देश की करेन्सी-सम्बन्धी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सरकार के अनुमान गलत होने की सम्भावना तो थी ही। रुपयों की माँग वास्तविक और आवश्यक होने पर भी बहुधा ऐसी ही प्रतीत होती थी, अतएव गलत निर्णय बहुत सरल थे, क्योंकि जनता को एक बार जारी किया गया रुपया पूरे देश में फैलकर शीघ्रता से वापस नहीं आता था।

५. अविचारित एवं व्ययशील पद्धति—किसी विचारपूर्वक अपनाये गए उद्देश्य के प्रतिकूल शासन-सम्बन्धी अधिसूचनाओं ने भारत में स्वर्ण विनिमय प्रमाप को जन्म दिया। बहुत-सी प्रथाएँ, जो इस पद्धति के मुख्य भाग के रूप में प्रचलित हो गई थीं, वैध नहीं थीं। जैसा कि अपना मतभेद प्रकट करते हुए (मिनट ऑफ़ डिसेण्ट, पैरा ५९-६०) स्वर्गीय सर ददीवा दलाल ने कहा था, इस पद्धति की स्पष्ट व्याख्या कभी नहीं की गई और सामान्यतः इसका प्रभाव स्थायित्व के प्रतिकूल ही पड़ा।

स्वर्ण प्रमाप की तुलना में स्वर्ण विनिमय प्रमाप का सस्तापन ही प्रधानतः इसकी प्रशंसा का कारण था। यदि हम ऊपर स्पष्ट की गई सारी हानियों का उचित मूल्य आँकें तो हमारा यह निष्कर्ष क्षम्य होगा कि यह सस्ती पद्धति सचमुच बहुत मँहगी पड़ी।

यह पद्धति जनता की आसंचयन प्रवृत्ति को नष्ट करने और करेन्सी के मितव्ययी रूपों के प्रयोग के लाभ सिखाने में असफल रही।

६. आन्तरिक बनाम वाह्य स्थिरता—स्वर्ण विनिमय प्रमाप के प्रति न्याय करने के लिए हमें इसकी सफलता और असफलता दोनों पर ही ध्यान देना चाहिए। इसे श्रेय देने वाली एक सफलता यह है कि इसने देश को विनिमय स्थायित्व का दीर्घ काल प्रदान किया। सचमुच १९१४-१८ के युद्ध में यह बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया, परन्तु उस समय विश्व में लगभग प्रत्येक देश की करेन्सी भी ऐसी ही हो गई

१. देखिए अध्याय १०।

और निर्दिष्ट समता के स्वर्ण-विन्दुओं के बीच (विदेशी) विनिमय की स्थिरता वनी रहे। स्वर्ण प्राप्त करने के उद्देश्य पर कोई प्रतिवन्ध नहीं लगाया गया।

८. स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें—आयात लागत अथवा स्वर्ण समता की दृष्टि से करेन्सी के मूल्य के परिवर्तन पर ध्यान दिये विना रुपये के सम-मूल्य के आधार पर निश्चित स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें करेन्सी अधिकारियों को सोने के लिए सवसे सस्ता वाजार वना देंगी। ये केवल भारत में स्वर्ण-पिण्ड वाजार को ही नहीं नष्ट करेंगी वरन् करेन्सी अधिकारियों को अद्रव्यात्मक कार्यों के लिए सोना वेचने का कार्य भी सौंप देंगी, जो वास्तव में इनका कार्य नहीं है। इस वन्धन से स्वतन्त्र करने के लिए आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण का विक्रय-मूल्य ऐसी दरों पर निश्चित किया जाए ताकि सोने के भण्डार की पुनः पूर्ति किसी हानि के विना ही इंगलैण्ड से आयात करके सम्भव हो सके।[1]

आयोग ने सावरेन के कानूनी मुद्रा होने के गुण को तव तक के लिए हटाने का प्रस्ताव किया, जब तक कि सुरक्षित कोष में स्वर्ण करेन्सी को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त सोना न हो जाए तथा स्वर्ण करेन्सी प्रारम्भ करने के पक्ष में निश्चित निर्णय न हो जाए, अन्यथा करेन्सी के संकुचन को रोकते और विनिमय के क्षतिपूरक प्रभावों का प्रतिरोध करते हुए सोना सुरक्षित कोष से प्रचलन में चला जाएगा।

९. नोटों की परिवर्तनीयता—आयोग ने भारतीय करेन्सी पद्धति में एक प्रकार के नोट को अर्थात् कागज़ी नोट को दूसरे प्रकार के नोट अर्थात् रुपया, जो केवल चाँदी पर अंकित नोट है, में वदलने के दायित्व से उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने की सिफारिश की ताकि पद्धति चाँदी के मूल्य की वृद्धि से उत्पन्न भय से मुक्ति पा सके। निस्सन्देह वर्तमान नोटों को रुपये में वदलने की प्रतिज्ञा तो पूरी करनी ही चाहिए, परन्तु नये नोटों को चाँदी के रुपयों में वदलने का कोई दायित्व नहीं होना चाहिए। फिर भी यह वाञ्छनीय था कि जनता का विश्वास और नोटों की लोकप्रियता वढ़ाने के लिए धातु के रुपये और नोटों के स्वतन्त्र विनिमय की सुविधाएँ दी जाएँ।

नोटों की रुपयों में परिवर्तनीयता के कानूनी अधिकार को वापस लेने के कारण यह आवश्यक हो गया कि एक रुपये के नोट को छोड़कर समस्त कानूनी द्रव्य के छोटे नोटों और चाँदी के रुपयों में वदलने का परिनियत दायित्व करेन्सी अधिकारियों पर रखा जाए। नोटों के वदले चाँदी के रुपये देना करेन्सी अधिकारियों की इच्छा पर था, यद्यपि धात्विक करेन्सी के लिए जनता की समस्त उचित माँगों को व्यवहार में पूरा करना चाहिए।

१०. सुरक्षित कोष का एकीकरण और वनावट—आयोग ने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा और स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को मिलाकर एक सुरक्षित कोष कर देना चाहिए ताकि इसकी कार्य-क्षमता का आश्वासन हो सके तथा यह और अधिक सरल होकर जनता की समझ में आ सके।

---

१. आयोग द्वारा प्रस्तावित रुपये का सम-मूल्य १ शि० ६ पैंस था (८.४७ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण)।

स्वर्ण-पिण्ड बनाम स्वर्ण करेन्सी प्रमाप

११. स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप की आलोचना—आयोग ने स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप का समर्थन किया और इसके पक्ष में कहा कि इससे स्वर्ण ही एकमात्र अर्थ का प्रमाप हो जाएगा और हर काम के लिए आन्तरिक करेन्सी की स्वर्ण में परिवर्तनीयता का आश्वासन रहेगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई कि देश में करेन्सी के बदले स्वर्ण सदैव उपलब्ध रहेगा तथा करेन्सी के विनिमय-मूल्य की सहायता के लिए केन्द्रीय सुरक्षित कोष में भी रहेगा परन्तु वह प्रचलन में नहीं आएगा।[1] अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति सावरेन के विमुद्रीकरण और दण्ड (बार) के रूप में करेन्सी अधिकारियों द्वारा सोने के विक्रय से की गई। गैर-मुद्राचलन उद्देश्यों के लिए अधिकारियों द्वारा जनता से स्वर्ण-क्रय के प्रति इस प्रकार सावधानी बरती गई कि कम-से-कम ४०० औंस (१०६५ तोला) की मात्रा में प्रस्तुत किये जाने पर ही सरकार खरीद करे तथा खरीद की दर में लन्दन से बम्बई तक सोना भेजने की लागत भी शामिल हो।

१९१४-१८ के युद्ध के पहले स्वर्ण विनिमय प्रमाप के अन्तर्गत अनुमानतः ६,०००,००० पौण्ड की सावरेन जनता के हाथ में थी। इंगलैण्ड में भी १९२५ के करेन्सी-सम्बन्धी नये प्रबन्धों के अन्तर्गत सावरेन का विमुद्रीकरण नहीं किया गया।

१२. भारत में स्वर्ण करेन्सी प्रमाप का पक्ष—आयोग की स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप वाली योजना स्पष्टतः अंग्रेजी पद्धति से प्रभावित थी। यह कहा गया कि १९२५ में इंगलैण्ड में पिण्ड प्रमाप के रूप में स्वर्ण प्रमाप की पुनर्स्थापना १९२२ में जेनेवा सम्मेलन की सिफारिशों के अनुसार विश्व करेन्सी की आदर्श पद्धति—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय प्रमाप—के विकास की ओर कड़ा कदम था। इस पद्धति के अन्तर्गत आन्तरिक करेन्सी अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की होगी और स्वर्ण केवल विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए उपलब्ध होगा। १९२६ में भारतीय परिस्थितियाँ स्वर्ण प्रमाप एवं स्वर्ण मुद्रा चलन का निर्देश कर रही थीं। इन परिस्थितियों में स्वर्ण मुद्रा अनावश्यक विलासिता अथवा स्वर्ण प्रमाप से सम्बद्ध परम्परागत शिष्यता नहीं समझी जा सकती थी। इसीलिए लगभग असन्दिग्ध सभी भारतीय साक्षी और कुछ यूरोपीय साक्षी, जैसे डॉ० कैनन और डॉ० ग्रेगरी[2], ने हिल्टन यंग आयोग से स्वर्ण करेन्सी प्रमाप अपनाने के लिए आग्रह किया।

१३. आयोग के प्रस्तावों के विरुद्ध अन्य आपत्तियाँ—आयोग द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें भी प्रतिकूल आलोचना का विषय थीं। दरों के ऐसे व्यवस्थापन से, कि करेन्सी अधिकारी सबसे सस्ता होने पर सोना खरीदें और सबसे मँहगा होने पर बेचें, भारत में स्वर्ण का क्रय-विक्रय लगभग नहीं के बराबर हो जाएगा। यह बात करेन्सी अधिकारियों द्वारा स्वर्ण-विक्रय पर विशेष रूप से लागू होगी। जनता तो निर्यात कार्य के लिए आवश्यक होने पर ही खरीद करेगी। इसके अतिरिक्त विनिमय-

---

१. २३ नवम्बर, १९२६ को दिल्ली में सर बेसिल ब्लैकेट का भाषण देखिए।

२. देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, परिशिष्ट ८० और ८१।

साधारणतया उपभोक्ताओं और विशेष रूप से कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाएंगी। इससे श्रमिकों की वास्तविक मज़दूरी में भी कमी होगी, जिसके औचित्य अथवा आवश्यकता का किसी भी आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकेगा। १ शि० ४ पैंस की दर से केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों सरकारों की वित्त-व्यवस्थाएँ बुरी तरह से अव्यवस्थित हो जाएँगी जिससे प्रान्तीय अनुदानों की समाप्ति अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जाएगी।

१५. विमति टिप्पणी (मिनट ऑफ़ डिसेण्ट)—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी विमति टिप्पणी में बताया कि किस प्रकार सरकार ने विनिमय दर बढ़ाकर १ शि० ६ पैंस कर देने का विचार किया और इस निश्चय से आयोग की जाँच और निष्कर्ष दोनों को प्रभावित किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि किस प्रकार सितम्बर और अक्तूबर, १९२४ में युद्ध के पहले की १ शि० ४ पैंस की दर पर रुपये को स्थिर करने के अवसर को सरकार ने त्याग दिया और विनिमय दर बढ़ाने के लिए २ शि० स्वर्ण की झूठी दर का प्रयोग किया, जिससे करेन्सी में भयावह रूप से संकुचन हुआ।

उनके प्रधान निर्णय इस प्रकार थे—

(१) मज़दूरी में कोई भी सामंजस्य नहीं हुआ था। बिना झगड़े के कोई सामंजस्य सम्भव भी नहीं था। (२) पूर्ण सामंजस्य होने तक १ शि० ६ पैंस की दर ने अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी निर्माताओं को १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की आर्थिक सहायता दी, जिससे भारतीय उद्योग पर अधिक भार पड़ा। (३) अनुपात में परिवर्तन का अर्थ ऋणकर्ताओं पर, जो कृषक हैं, १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत का अतिरिक्त भार बढ़ाना था। ऋण पुराने होने के कारण यह अनुमान करना स्वाभाविक था कि अधिकांश ऋण १ शि० ४ पैंस के आधार पर ही लिये गए होंगे। (४) अतः १ शि० ४ पैंस की दर स्थापित करने से राजस्व पर पड़ने वाले प्रभावों को बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया था। (५) १ शि० ४ पस का बुरा प्रभाव जनता के छोटे भाग (लगभग २१ प्रतिशत) तक ही सीमित था जिसमें कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग के लोग थे। इसकी तुलना में ऊँची दर से ७९ प्रतिशत व्यक्तियों को कष्ट होगा। जहाँ तक श्रम का सम्बन्ध है, १ शि० ४ पैंस की दर अपनाने से मूल्य में सम्भावित वृद्धि से पारिश्रमिक की वर्तमान दरें, जो काफ़ी ऊँची थीं, व्यवस्थित हो जाएँगी। प्रत्येक दशा में निम्न दर से उद्योग और कृषि अधिक समृद्ध होते और इससे रोजगार बराबर मिलता रहता, जबकि उच्च अनुपात से इन दोनों को हानि पहुँचती। (६) १९१४-१८ के पूर्व-प्रचलित १ शि० ४ पैंस का अनुपात विश्व के अन्य देशों के अनुपात की तरह ही अव्यवस्थित हो गया, परन्तु अन्य देशों ने स्थायी रूप से युद्ध के पहले के अनुपात को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि दोनों दशाओं में उत्पन्न गड़बड़ी समान थी, तो निर्णय १ शि० ४ पैंस के ही पक्ष में होगा।

१६. विनिमय दर के विवाद का परीक्षण—बहुमत की रिपोर्ट और विमति टिप्पणियों ने एक ऐसा शस्त्रागार प्रस्तुत किया जिससे दोनों ओर के प्रतिद्वन्द्वियों ने भयानक विवाद में अपने-अपने हथियार खींच लिए। देखने में तर्क कितने ही युक्तिसंगत क्यों

इसका कुछ भाग अल्पकालीन होता है।[1]

भविष्य के आर्थिक इतिहासवेत्ता नये अनुपात के बाद के समय को वैभवशाली समय के रूप में अंकित नहीं करेंगे तथा नये अनुपात के बाद देश के कठिन समय और १९२९-३३ के आर्थिक अवसाद ने सरकारी विनिमय पर किये जाने वाले आक्रमणों को और उग्र बना दिया था। तर्क के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि देश पुराने अनुपात को रखता तो उद्योग और वाणिज्य की और भी बुरी दशा हो गई होती। परन्तु इस तर्क में तो यह मान लिया गया है कि १ शि० ६ पैंस की दर पर आधे से अधिक संक्रमण पूरा हो चुका था, जबकि यही सिद्ध करना है। हम लोग ऊपर कह चुके हैं कि सामंजस्य-सम्बन्धी आयोग के विचार के पक्ष में दी गई साक्षियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। हम तो यहाँ तक कह चुके हैं कि यदि १ शि० ४ पैंस० की दर से अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक अव्यवस्था की सम्भावना को मान भी लिया जाए—समस्त साक्षी पर निष्पक्ष रूप से विचार करने वाला व्यक्ति भी इससे अधिक नहीं मान सकता—तो भी पुराने अनुपात के लिए इस अवस्था की जोखिम उठाना श्रेयस्कर था। यह नितान्त स्पष्ट होना चाहिए कि जितने अधिक समय तक नई दर[2] बनी रहेगी, उतनी ही उसके संदर्भ में परिस्थितियों के व्यवस्थित होने की भावना दृढ़ होती जाएगी और पुराने अनुपात को पुनः स्थापित करने का पक्ष निर्बल होता जाएगा।[3]

१७. अनुपात (विनिमय दर) के विवाद का तदनन्तर विकास (अप्रैल १९२० से सितम्बर १९३१ तक)—शरद १९२९ में अमेरिका से प्रारम्भ होने वाली आर्थिक संकट की हवा धीरे-धीरे विश्व-भर में फैल गई और सम्पूर्ण विश्व में वस्तुओं और प्रतिभूतिओं के मूल्य एकदम गिर गए। भारतीय प्रतिभूतियों का भी यही हाल हुआ। इन परिस्थितियों में विनियोक्ताओं की दुर्बलता विनियोग-सम्बन्धी हिचक के रूप में प्रकट हुई। इस प्रवृत्ति को कठिन राजनीतिक विरोध से और भी बल मिला। विश्व आर्थिक अवसाद की प्रमुख विशेषता मूल्यों, विशेषकर कृषि-मूल्यों, का तीव्र गिराव था, जिससे भारत के कच्चे माल के निर्यात को बहुत हानि पहुँची।

इन परिस्थितियों में सरकार १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर बनाये रखने और विशेष आर्थिक उपायों को अपनाने के लिए विवश हो गई। विनिमय की दृढ़ता के लिए साख नियन्त्रण हेतु अपनाये गए इन उपायों में विनिमय बैंकों तथा अन्य क्रेताओं को ट्रेजरी बिलों के निर्गम तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया की बैंक दर की वृद्धि को गिनाया जा सकता है।

विश्व आर्थिक अवसाद के बीच मन्दी की व्याख्या के लिए एकमात्र नये अनुपात

---

१. देखिए, सर जे० सी० कोयाजी, इण्डियाज़ करेंसी, ऐक्सचेंज एण्ड बैंकिंग प्राब्लेम्स, पृष्ठ १०।

२. देखिए, नीचे सेक्शन १६, मार्च, १९२७ के इण्डियन करेन्सी ऐक्ट द्वारा १ शि० ६ पैं० की नई दर वैध घोषित की गई।

३. देखिए, सेक्शन २०, २३ और २५।

उपनियन्त्रक (डिप्टी करेन्सी कण्ट्रोलर) को प्रार्थना-पत्र देकर वम्वई की टकसाल से सोना अथवा सरकार की इच्छानुसार लन्दन में तुरन्त अर्पित करने के लिए स्टर्लिंग प्राप्त कर सकते थे, परन्तु शर्त यह थी कि २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर पर कम-से-कम १०६५ तोला (४०० औंस) शुद्ध सोना अथवा स्टर्लिंग की माँग करें और उसका दाम चुकाएं।[1] वम्वई से लन्दन तक के यातायात व्यय की छूट देकर स्टर्लिंग का विक्रय भी उसी कीमत पर होता था। इन दायित्वों को पूरा करने के लिए स्टर्लिंग की सरकारी विक्रय दर १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पैं० नियत की गई।[2] १ अप्रैल, १९२७ को, जब इण्डियन करेन्सी एक्ट लागू किया गया, वम्वई टकसाल में स्वर्ण स्वीकार करने की शर्तें प्रकाशित की गईं।

इस कानून के अनुसार सावरेन और अर्ध-सावरेन भारत में कानूनी मुद्रा न रहीं[3], परन्तु सरकार पर यह दायित्व रखा गया कि वह इन सिक्कों को सभी करेन्सी कार्यालयों और खजानों में २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण के मूल्य पर अर्थात् १३ रुपया ५ आना ४ पाई प्रति सावरेन की दर पर स्वीकार करे। इन सिक्कों के कानूनी मुद्रा न रहने पर भी भारत में सावरेन का प्रशंसनीय आयात हुआ। १९२७ के करेन्सी एक्ट ने देश में स्वर्ण-पिण्ड एवं स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप की स्थापना की। स्टर्लिंग देना सरकार की इच्छा पर निर्भर होने के कारण संकुचित अर्थ में इस प्रकार स्थापित प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप था, यद्यपि व्यवहार में २० सितम्बर, १९३१ तक इसने स्वर्ण विनिमय प्रमाप के रूप में काम किया, क्योंकि तब तक स्टर्लिंग और सोने का मूल्य समान था। यदि सरकार रुपयों के बदले में स्वर्ण देने के विकल्प का प्रयोग करती तो व्यवहारतः भारत में स्वर्ण प्रमाप ही होता। १९२७ के स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप में स्वर्ण प्रमाप बनने की क्षमता थी। इससे यह प्रकट होता था कि स्वर्ण प्रमाप निश्चय ही सरकार का उद्देश्य था।[4]

२०. स्टर्लिंग और स्वर्ण का सम्बन्ध तथा भारत में इसकी प्रतिक्रियाएँ—ग्रेटब्रिटेन तथा अन्य कई देशों में स्वर्ण प्रमाप की समाप्ति के फलस्वरूप विश्व-करेन्सी तथा विनिमय स्थिति में हुए नाटकीय परिवर्तनों के कारण १९२७ के कानून द्वारा स्थापित द्राव्यिक प्रमाप को मौलिक स्वर्ण (पिण्ड) प्रमाप में परिवर्तित होने का उचित अवसर नहीं मिला। २१ सितम्बर, १९३१ से ग्रेटब्रिटेन ने स्वर्ण प्रमाप को त्याग दिया। उसी तिथि को सोना अथवा स्टर्लिंग वेचने के दायित्व को स्थगित करते हुए गवर्नर जनरल ने एक आर्डिनेन्स जारी किया और राज-सचिव ने १ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग की दर पर रुपये को बनाये रखने के निर्णय की घोषणा की। २४ सितम्बर को गवर्नर जनरल

---

१. देखिये एल० सी० जैन, मॉनिटरी प्रावलेम ऑफ़ इण्डिया, पृष्ठ ३४।

२. रिपोर्ट ऑफ़ दि कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी (१९२६-२७), पृष्ठ ३।

३. यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ब्रिटिश गोल्ड स्टैंडर्ड एक्ट १९२५ द्वारा स्वर्ण मुद्रा का विमुद्रीकरण नहीं किया गया, हालाँकि स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया गया।

४. जैन, पूर्वोधृत, पृ० ३५।

योग्य था। (२) यद्यपि हिल्टन यंग आयोग का मत रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने के विपरीत था, परन्तु इस विचार का, जो साधारण समय में बहुत ठीक था, कठिन परिस्थितियों में अनुसरण नहीं किया जा सकता था। भारत का वार्षिक दायित्व ३२० लाख पौण्ड स्टर्लिंग का था और १५० लाख पौण्ड का स्टर्लिंग ऋण १६३२ के प्रारम्भ में परिपक्व होने वाला था। रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किये बिना इन उद्देश्यों के लिए आवश्यक कोष एकत्र करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। स्टर्लिंग रुपये की स्थिरता के अभाव में भारतीय आय-व्ययक (बजट) विनिमय की द्यूत क्रीड़ा (जुआ) हो जाएगा। (३) जब तक भारत ऋणी देश था, तब तक रुपये को अकेला छोड़कर एक अज्ञात दिशा में अचानक कूद पड़ने का जोखिम इंगलैण्ड-जैसे साहूकार देशों की तुलना में बहुत अधिक था। (४) स्टर्लिंग पर आधारित देश तथा लन्दन से होने वाला भारत का व्यापार उसके कुल विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा भाग था, अतएव इस व्यापार के लिए स्थायी आधार प्राप्त करना उचित ही था। (५) सोने में रुपये के अवमूल्यन के कारण स्वर्ण प्रमाप वाले देशों के साथ भारत के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन—चाहे वह अल्पकालीन क्यों न हो—मिलेगा। (६) सरकार के जो आलोचक रुपये को १ शि० ६ पैं० से कम पर स्थिर करना चाहते थे, उनसे तब यह शिकायत करते नहीं बनी जब प्रचलित क्रास रेट पर रुपये का मूल्य १ शि० ४ पैंस से कहीं कम था।

दूसरे पक्ष के प्रधान तर्क इस प्रकार थे—(१) रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने से भारत स्टर्लिंग के उतार-चढ़ाव का भागी हो गया, जिससे भारत की ही नहीं वरन् इंगलैंड की आर्थिक दशा प्रदर्शित होती थी। इसके विपरीत रुपये को अकेला छोड़ देने से निस्सन्देह अस्थायित्व पैदा हो जाता, परन्तु वह स्वयं भारत की दशाओं को प्रदर्शित करता। इस प्रकार विदेशी व्यापार और आन्तरिक मूल्य-स्तर के सम्बन्ध में अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल विनिमय-दर अपनाने की स्वतन्त्रता भारत से छीन ली गई। (२) उत्तरी अमरीका-जैसे स्वर्ण प्रमाप वाले देशों को निर्यात के लाभ के विपरीत इन देशों से आयात की हानियों को भी ध्यान में रखना चाहिये। साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करना इंगलैण्ड को दिये गए साम्राज्य अधिमान का एक रूप ही था। (३) यह भय भी था कि १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपया स्थिर करने के प्रयास से देश के शेष सुरक्षित स्वर्ण-कोष समाप्त हो जाते। उसे सुरक्षित रखने के लिए सरकार द्वारा किये गए प्रबन्धों, यथा जनता को स्टर्लिंग बेचने के प्रतिबन्ध, के कारण यह भय अधिक गम्भीर नहीं था। (४) अन्त में यह तर्क भी उपस्थित किया गया कि यद्यपि सोने में रुपये का अवमूल्यन हो गया था, फिर भी १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपया अधिमूल्यित था, जबकि येन और अन्य करेन्सियों का स्टर्लिंग में अवमूल्यन हो चुका था। इस प्रकार भारत को काफ़ी हानि उठानी पड़ी।[1]

---

१. भारत में स्वर्ण-निर्यात-विवाद के दोनों पक्षों की विवेचना के लिए, बी० आर० शिनाय और बी०

२३. अनुपात का प्रश्न और रिजर्व बैंक बिल—हम देख चुके हैं कि किस प्रकार सितम्बर, १९३१ में रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किया गया और मार्च, १९२७ के करेन्सी एक्ट लागू रहने पर भी किस प्रकार भारतीय द्रव्य प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप के रूप में काम करने लगा। प्रस्तावित रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया पर लगाए जाने वाले विनिमय-सम्बन्धी दायित्वों और बन्धनों की प्रकृति के सम्बन्ध में उचित द्रव्यात्मक प्रमाप और अनुपात का सम्पूर्ण प्रश्न पुनः विवाद का विषय बन गया। रिज़र्व बैंक विधान को लन्दन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (अगस्त, १९३३) में कहा कि बैंक पर लगाए जाने वाले विनिमय-दायित्व के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्न वर्तमान परिस्थितियों में कठिनाई उपस्थित करते हैं। विश्व की वर्तमान द्रव्यात्मक अस्तव्यस्तता के समय में (रिज़र्व बैंक) बिल में उन प्रस्तावों को रखना असम्भव है जो द्रव्यात्मक पद्धति के पुनः स्थिर होने पर उचित होंगे। इन परिस्थितियों में भारत के लिए सबसे सुन्दर मार्ग स्टर्लिंग प्रमाप पर रहना ही है। इस आधार पर बिल में निहित विनिमय-दायित्व बिल पेश करते समय विद्यमान रुपया और स्टर्लिंग के अनुपात के अनुसार होना चाहिए। यह कथन वर्तमान अनुपात के गुण और अवगुण पर कमेटी का कोई मत प्रकट नहीं करता है। बिल में अनुपात-सम्बन्धी प्रस्तावों से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक एक्ट के कार्यान्वित होने से ही वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। हम सब लोग इससे सहमत हैं कि किसी भी दशा में इसको प्रस्तावना में स्पष्ट कर देना चाहिए कि भारत के लिए उचित द्रव्यात्मक प्रमाप पर उस समय पुनः विचार किया जाए जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्पष्ट रूप से समक्ष आ जाए और स्थायी विधान के लिए पर्याप्त रूप से स्थिर हो जाए। (पैरा १९) जैसा कि कमेटी ने स्वयं स्वीकार किया है, भारतीय प्रतिनिधियों के बहुमत ने अपने इस विचार को अंकित करना अपना कर्तव्य समझा कि रिज़र्व बैंक के कार्यों की सफलता के लिए उचित विनिमय-अनुपात का होना आवश्यक था। पिछले कुछ वर्षों में विश्व के लगभग सारे देशों में करेन्सी के आधारों और करेन्सी नीति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। उनके अनुसार भारत को करेन्सी पद्धति पर निम्नतम भार रखने के विचार से भारत सरकार और विधानमण्डल को इन बातों की परीक्षा करनी चाहिए। एक पृथक् नोट में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के उद्घाटन से पूर्व अनुपात के पुनर्विलोकन का जोरदार समर्थन किया और आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्तराज्य के उदाहरण प्रस्तुत किये, जिन्होंने व्यापारिक सन्तुलन के सुधार और मूल्य-वृद्धि के लिए अपनी करेन्सियों का अवमूल्यन किया था। उन्होंने भारत के इस दृढ़मत को उद्धृत किया कि १ शि० ६ पैं० के वर्तमान अनुपात की कमी से किसानों को बहुत सहायता मिलेगी। रिजर्व बैंक बिल सितम्बर, १९३३ में संयुक्त प्रवर समिति (ज्वायण्ट सलेक्ट कमेटी) को सौंपा गया।

२४. नये करेन्सी अधिकारी के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का विनिमय-दायित्व—१९३४ के कानून में निहित अनुपात-सम्बन्धी धाराओं (४० और ४१) ने रिज़र्व बैंक विधान के लिए नियुक्त लन्दन समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित

निश्चित किया जबकि पहले यह मूल्य रु० २१·२४ प्रति तोला था।

यह परिवर्तन नितान्त अनौपचारिक था और इसका अभिप्राय बैंक के स्वर्ण कोष के अर्थ को नये मूल्य के अनुसार प्रदर्शित करना था। इसके परिणामस्वरूप ही सुरक्षित स्वर्ण-कोष की मात्रा ११५ करोड़ रु० निश्चित की गई थी जबकि पहले (अर्थात् जब सोने का मूल्य रु० २१.२४ प्रति तोला था) यह ४० करोड़ रु० था। १९५७ में अधिनियम में पुनः परिवर्तन किया गया। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम १९५७ ने यह निर्धारित किया कि सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियों का कुल मूल्य किसी भी समय २०० करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिए। पहले की तरह इसमें से ११५ करोड़ रु० के मूल्य का सोना अथवा सोने का सिक्का होना चाहिए। इस अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बंक को यह अधिकार भी दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति के बाद वह विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में कुछ भी न रखे, किन्तु ११५ करोड़ रु० के मूल्य का सोना उसे सदैव रखना चाहिए।

२५. अवमूल्यन का पक्ष और विपक्ष[1]—उपर्युक्त प्रबन्ध सरकार की करेन्सी नीति के आलोचकों और भारतीय व्यापारिक समाज में अवमूल्यन के समर्थकों को सन्तुष्ट न कर सका (सेक्शन २३ भी देखिए)। इसके अतिरिक्त वित्त-सदस्य के विचार में अनुपात कम करने से भारत की आय-व्ययक-सम्बन्धी समस्याएँ, जो अभी बहुत कठिन हैं, हल न हो सकेंगी। (१९३९-४५ के युद्ध के कुछ पूर्व के आय-व्ययक की बचत इस तर्क के विरुद्ध थी।) सस्ते द्रव्य की विद्यमान प्रचुरता ने, जो मूल्य-वृद्धि का मान्यता-प्राप्त सामान्य साधन है, भारत में अस्वास्थ्यकर परिकल्पना की परिस्थितियों को जन्म दिया, जिससे प्रतीत होता था कि कृषि-प्रधान देश में मूल्य की वृद्धि के लिए सस्ता द्रव्य-मात्र ही पर्याप्त नहीं है। वित्तमन्त्री के विचार में सस्ते द्रव्य के अतिरिक्त यह भी आवश्यक था कि विश्व के देशों में अपनी-अपनी करेन्सियों को स्थिर करने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रतिबन्ध कम करने की सहमति हो अक्तूबर, १९३६ में रुपये के अवमूल्यन के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ, जो सितम्बर में फ्रांक तथा स्वर्ण-समूह देशों की करेन्सियों के अवमूल्यन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में उत्पन्न हुआ था। अवमूल्यन के समर्थकों ने विधानसभा में काम स्थगित करने का प्रस्ताव पेश किया जो केवल सभापति के वोट से ही हराया गया।

इसके विपरीत अवमूल्यन के विरोधियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि उस समय भारत द्वारा करेन्सी का अवमूल्यन (१९३६) इंगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम), संयुक्तराज्य और फ्रांस द्वारा किये गए त्रिपक्षी द्राव्यिक समझौते को भंग कर देगा और इससे विश्व की करेन्सियों के स्थिरीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन अन्यत्र प्रतिकारों को उत्तेजित करेगा और करेन्सी-युद्ध को

---

१. अवमूल्यन-सम्बन्धी विवाद के विस्तृत आलोचनात्मक विवरण के लिए देखिए, बी० एन० अदारकर 'डिवेल्युएशन ऑफ़ दी रुपी' (१९३७)।

किया।[1]

देश के जानकार लोग केवल भौतिक लाभ के लिए ही नहीं वरन् देश के अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता और प्रतिष्ठा के कारण भी इन महत्त्वपूर्ण संगठनों में भारत के भाग लेने के पक्ष में थे। इसलिए सरकार ने विधानसभा की स्वीकृति से पहले ही कदम उठाना उचित समझा, ताकि प्रारम्भिक सदस्यता का लाभ समाप्त न हो जाए। बाद में विधानसभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। प्रारम्भिक सदस्यता के निम्नलिखित लाभ थे—(१) भारत को सदस्यता की शर्तें और अपना कोटा ज्ञात था, जबकि ३१ दिसम्बर, १९४५ के बाद सदस्यता की शर्तें कोष और बैंक द्वारा निश्चित की जातीं। (२) प्रारम्भिक सदस्य की हैसियत से भारत प्रारम्भ से ही प्रशासन संचालकों में स्थान ग्रहण करने का अधिकारी होता, जबकि बाद में इस अधिकार के लिए भारत को कम-से-कम दो वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष के समझौते की धाराओं में धारा २० सेक्शन ४ (क) के अन्तर्गत १२ सितम्बर, १९४६ को भारत सरकार से निवेदन किया गया कि वह २८ अक्तूबर, १९४५ अर्थात् समझौते प्रारम्भ होने से साठ दिन पूर्व प्रचलित दरों के अनुसार रुपये का सम-मूल्य अमरीकी डालर अथवा सोने के रूप में स्पष्ट कर १२ अक्तूबर, १९४६ तक कोष को सूचित कर दे। उस दिन प्रचलित विनिमय दरों, जैसे १ रु०=१ शि० ६ पैं, १ पौण्ड=४.०३ डालर और १ औंस शुद्ध सोना=३५ डालर, के आधार पर सोने के रूप में रुपये का सम-मूल्य ०.००८६३५७ औंस शुद्ध सोना हुआ और यही कोष को सूचित कर दिया गया।...

सोने को भाजक संख्या के रूप में प्रयोग करते हुए सिद्धान्ततः एक रुपये में ४.१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोने के तत्त्व समझे जाने चाहिए। सोने के इस वजन से रुपये और डालर की दर ३.३०८५११९४ रुपया (अमरीकी) हुई और स्वर्ण का सम-मूल्य २११५ रु० १२—९.२५०५६ प्रति औंस शुद्ध सोना हुआ।[2]

सम-मूल्य को परिवर्तित न करने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(१) प्रचलित आर्थिक दशाओं की अनिश्चितता और संक्रमणकालीन रूप को देखते हुए विश्वास के साथ यह कहना सम्भव नहीं था कि उपयुक्ततम अनुपात कौनसा होगा। अतएव परिस्थितियों के और अधिक स्थायी होने तक अनुपात-परिवर्तन के प्रश्न को स्थगित करना वाञ्छनीय था।

---

१. भारत की ओर से वाशिंगटन में भारत के एजेण्ट जनरल ने जिस दिन दस्तखत किये वह दिन २७ दिसम्बर १९४५ था।

२. यह १९१४ के पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप का सुधार-मात्र ही नहीं था। अब स्वर्ण और पूँजी के प्रवाह का १९१४ की पद्धति-जैसा महत्त्व नहीं रहेगा। इसका एक कारण यह है कि अब केन्द्रीय बैंकों ने ऐसे प्रवाहों को प्रभावहीन बनाने की विधि पूर्ण कर ली है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों की स्थिति को ठीक करके विनिमय स्थायित्व बनाए रखने की जिम्मेदारी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष की होगी। इस रूप में स्वर्ण का पहले जैसा निर्णयात्मक भाग नहीं रहेगा।

की अपेक्षा स्टर्लिंग क्षेत्र पर हमारी निर्भरता अधिक होने के कारण सामान्य मूल्य-स्तर अथवा उत्पादन-लागत में वृद्धि नहीं होगी और वस्तुओं का आन्तरिक मूल्य भी प्रभावित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मूल्यों की वृद्धि की किसी भी प्रवृत्ति का सामना नियमन अधिकार युक्तीकरण और उत्पादन की वृद्धि से किया जा सकता है।

स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में केवल पाकिस्तान ने अपनी करेन्सी के अवमूल्यन के विरुद्ध निर्णय किया, क्योंकि देश के व्यापारिक भुगतानों में मौलिक असन्तुलन नहीं था, तथा पाकिस्तान के निर्यात का कोई विशेष प्रसार, जो प्रायः कच्चे माल का ही था, अवमूल्यन से सम्भव नहीं था। मुद्रा-अवमूल्यन न करने से देश की आर्थिक व्यवस्था को हानि तो होगी ही नहीं वरन् इसके विपरीत देश को अनेक महत्त्वपूर्ण लाभ भी होंगे। इससे आयात सस्ते हो जाएँगे, जिसका देश में रहन-सहन के व्यय पर स्वागत-योग्य प्रभाव पड़ेगा—विशेषकर पूर्वी पाकिस्तान में, जहाँ कुछ समय से मुद्रा-स्फीति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। मशीनें और आवश्यक कच्चे माल को मुद्रा-अवमूल्यन वाले देशों से कहीं अधिक अनुकूल मूल्यों पर प्राप्त किया जा सकेगा और इस प्रकार औद्योगिक विकास में सुविधा होगी।

२८. **द्वितीय विश्वयुद्ध का भारतीय चलार्थ (करेन्सी) और विनिमय पर प्रभाव**[1]—भारत की आर्थिक व्यवस्था पर युद्ध के प्रारम्भिक प्रभाव अनेक क्षेत्रों में युद्धजनित अवश्यम्भावी अस्तव्यस्तता के बावजूद भी देश के लिए लाभदायक थे; उत्पादन-मूल्य और विदेशी व्यापार को काफ़ी प्रोत्साहन मिला और कृषक की स्थिति में भी सुधार हुआ। १९१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने पर रुपया-स्टर्लिंग विनिमय की निर्बलता के बिलकुल विपरीत है। उस समय (१९१४-१८) तो रुपया अनुपात की सहायता के लिए सरकार द्वारा स्टर्लिंग की बिक्री की गई थी।

यद्यपि स्टर्लिंग के सम्बन्ध में रुपया स्थिर रहा, परन्तु डालर, येन और महाद्वीपीय करेन्सियों के सम्बन्ध में पौण्ड की मन्दी के बाद इसका (रुपये) मूल्य कम हो गया। (जर्मनी द्वारा घिरे होने अथवा अधिकृत होने के कारण प्रमुख महाद्वीपीय करेन्सियों की विनिमय-दरों की सूचनाएँ समाप्त हो गईं) १ पौंड=४·०२ डालर की दर पर स्टर्लिंग को डालर के साथ स्थिर करने के कारण रुपया और डालर की विनिमय दर १००० डालर=३३२ रुपये के आसपास स्थिर रही। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद बढ़ती हुई व्यापारिक क्रियाशीलता और वस्तुओं के मूल्यों की वृद्धि के प्रत्युत्तर में जब बैंक ऑफ़ इण्डिया ने १९३९ में सितम्बर और दिसम्बर के बीच बैंक नोट और सिक्कों के रूप में ४८ करोड़ रुपये से करेन्सी का विस्तार किया तो सक्रिय प्रचलन में नोटों की औसत संख्या सितम्बर, १९३९ में १८६·०६ करोड़ रुपये थी। जून, १९४० में यह २३७·२९ करोड़ रुपये हो गई। करेन्सी का यह विस्तार रिज़र्व बैंक द्वारा

---

१. देखिए, 'एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ दि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया' (फरवरी १९४०, पृ० १४, २३-२४; अगस्त १९४०, पृ० ११-१२, १८), और 'रिपोर्ट ऑन करेन्सी ऐण्ड फ़ाइनेन्स' (१९३९-४०), पैरा !-२४।

चुकाने के लिए २२६० लाख औंस चाँदी की बचत हुई, जिसे भारत ने उधार-पट्टे के अन्तर्गत उधार लिया था।

दशमलव प्रणाली—दशमलव प्रणाली लागू करने के लिए १६०६ के भारतीय टंकन अधिनियम (इण्डियन क्वायनेज एक्ट) को संशोधित करने के लिए ७ मई, १६५५ को लोक सभा में एक बिल पेश किया गया। यह बिल २७ जुलाई, १६५५ को पास हो गया तथा १ अप्रैल, १६५७ से लागू हुआ। इस तिथि से रुपयों को १०० नये पैसे के छोटे सिक्कों में विभाजित किया गया। एक न० पै०, दो न० पै०, पाँच न० पै०, दस न० पै०, पचास न० पै० के सिक्कों के जारी करने की व्यवस्था की गई। १ अप्रैल, १६५७ से सारे सरकारी विभाग, मिश्रित पूंजी वाली तथा सहकारी बैंकें—सभी नई प्रणाली के अनुरूप हिसाब रखने लगे। पुराने सिक्कों के ३ वर्ष तक चलते रहने की व्यवस्था की गई थी।

१६६० में जनता के हाथ में द्रव्य की मात्रा २७४० करोड़ रु० (जिसमें हाली सिक्का भी शामिल था) थी जो १६५६ की तुलना में २१८·८ करोड़ रु० अधिक थी। इस मात्रा में १२४६·८७ लाख रु० के मूल्य के दशमलवी सिक्के भी सम्मिलित थे। दशमलव सिक्कों का यह मूल्य ३१ अक्तूबर, १६६० तक प्रचलन में आये हुए सिक्कों के लिए है।

३१. विनिमय-नियन्त्रण—युद्ध प्रारम्भ होने पर केन्द्रीय सरकार ने भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को सिक्कों, धातु-पिण्डों, प्रतिभूतियों और विदेशी विनिमय के लेन-देन-सम्बन्धी नियमों को कार्यान्वित करने का अधिकार दिया।

विदेशी विनिमय का लेन-देन अधिकृत व्यापारी विनिमय बैंक तथा अनुज्ञा-प्राप्त सम्मिलित पूंजी वाली बैंक ही कर सकती थीं। कुछ अपवादों को छोड़कर साम्राज्य की करेन्सी के क्रय-विक्रय पर सामान्यतः कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, परन्तु साम्राज्य के बाहर की करेन्सियों का क्रय-विक्रय व्यापारिक उद्देश्यों, यात्रा-व्यय और व्यक्तिगत विप्रेषण तक सीमित कर दिया गया। विनिमय नियन्त्रण की नीति इस बात को निश्चित करने के लिए थी कि भारत में विदेशी विनिमय का सारा लेन-देन लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा उद्घृत दरों तथा स्टर्लिंग के लिए रुपये की चालू दरों के आधार पर किया जाए। विदेशियों से प्रतिभूतियों की खरीद पर भी नियन्त्रण लगाया गया और रिज़र्व बैंक की आज्ञा लिये बिना प्रतिभूतियों का निर्यात नहीं हो सकता था। इन उपायों का अभिप्राय भारत से पूंजी के निर्यात तथा युद्ध-जनित परिस्थितियों से प्रोत्साहित विनिमय-सम्बन्धी परिकल्पना को रोकना था।

मई, १६४० में सरकार ने विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखने तथा रोक लगी वस्तुओं का बिना आज्ञा भुगतान रोकने के लिए आयात को अनुज्ञा प्रदान करने की पद्धति का प्रारम्भ किया। ये प्रतिबन्ध, जो प्रारम्भ में वस्तुओं की छोटी सूची पर ही लागू थे, दूसरे वर्ष कनाडा की कुछ वस्तुओं को छोड़कर सभी देशों की वस्तुओं पर लगा दिये गए। ये उपाय केवल विदेशी विनिमय के व्यय में मितव्ययता प्राप्त लिए ही आवश्यक नहीं थे, वरन् संयुक्तराज्य में जहाजों में स्थान तथा

१९४० को ये बढ़कर १३१'५० करोड़ रुपये हो गई, परंतु रिज़र्व बैंक[1] के स्वर्ण-भण्डार में कोई वृद्धि नहीं हुई तथा वह ४४.४२ करोड़ रुपया ही रहा।[2]

३३. साम्राज्य का डालर संचय तथा युद्धोत्तर डालर कोष (अम्पायर डालर पूल एण्ड पोस्ट-वार डालर फण्ड)[3]—युद्ध से पूर्व बहुत-से देश, जो सामान्यतया स्टर्लिंग समूह के देश कहे जाते थे, अपने सम्पूर्ण विदेशी विनियम या उसका अधिकांश भाग स्टर्लिंग के रूप में लन्दन में रखा करते थे। उस समय स्टर्लिंग अन्य करेन्सियों में स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तनीय था, इसीलिए अपने-अपने विदेशी विनियम का स्टर्लिंग के रूप में रखने वाले देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने के लिए अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार उन्हें किसी भी करेन्सी में बदल सकते थे। युद्ध के प्रारम्भ होने और स्टर्लिंग की परिवर्तनीयता की कठिनाई के साथ इस पद्धति में कठोरता आ गई, जिसका पहले अनुमान ही नहीं किया गया था। स्टर्लिंग समूह के उन सदस्यों ने, जो स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य बने रहे, विदेशी विनिमय को अपने संरक्षण में रखने का अधिकार छोड़ दिया तथा विदेशी विनिमय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाना तय किया ताकि स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय के सीमित साधनों का युद्ध चालू रखने के लिए भली प्रकार उपयोग किया जा सके। सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय की राशि एक ही स्थान पर बैंक ऑफ़ इंगलैंड तथा ब्रिटिश ट्रेज़री के संरक्षण में रखी हुई थी। इस संचय में डालर सबसे महत्त्वपूर्ण करेन्सी थी, अतएव इसका नाम स्टर्लिंग एरिया पूल ऑफ़ फ़ारिन एक्सचेंज न होकर अम्पायर डालर पूल पड़ गया। साम्राज्य डालर संचय में स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों द्वारा व्यय के लिए व्यक्तिगत रूप से विभिन्न विदेशी करेन्सियों का भाग निर्दिष्ट नहीं किया गया था।

भारत सरकार दुर्लभ करेन्सी के अर्जन और व्यय का हिसाब रखती थी। युद्ध के प्रारम्भ से ३१ मार्च, १९४६ तक भारत ने ४०५ करोड़ रु० के अमरीकी डालर का अर्जन किया और २४० करोड़ रुपये का डालर व्यय किया। इस प्रकार उसके पास १६५ करोड़ रुपये के डालर की बचत हुई, परन्तु अन्य दुर्लभ करेन्सियों (जैसे कनाडा, स्वीडन, स्विट्ज़रलैण्ड और पुर्तगाल) के सम्बन्ध में भारत ने अर्जित राशि से ४१ करोड़ रुपये अधिक व्यय किये, इसलिए १९४५-४६ के अन्त तक संचय में भारत का वास्तविक अंशदान लगभग १२४ करोड़ रुपया था।

१९४६ में जून तक खाद्यान्न के आयात तथा अन्य सरकारी मदों के भुगतान की अदायगी के लिए संचय से भारत ने काफ़ी रुपया लिया।

---

१. स्टर्लिंग ऋण के भुगतान के लिए कुछ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विवरण के लिए अध्याय ११ और १२ देखिए।

२. स्वर्ण का मूल्यांकन २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला की दर पर ही किया गया, जबकि बाजार में ३१ मार्च, १९४७ को सोने का भाव १०३ रुपया ८ आना था।

३. यह सेक्शन अधिकांशतः ७ अक्तूबर, १९४६ को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित प्रेस नोट से उद्धृत किया गया है।

१९४७ के बाद विनिमय-नियन्त्रण में कोई संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) परिवर्तन नहीं हुए हैं, किन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में उसका अर्थ और आशय बदल गया है। आरम्भ में विनिमय-नियन्त्रण युद्धजनित आवश्यकताओं को पूरा करने या युद्ध के समय लागू रोक (रेस्ट्रिक्शन) से उत्पन्न परिस्थितियों के लिए अपनाया गया था। यह स्थिति १९५० तक समाप्त हो गई। इसके पश्चात् विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए, जो स्वभावतः कई वर्षों तक चलेंगी, विनिमय-नियन्त्रण आवश्यक हो गया। १९५७ तक आयात की चालू आवश्यकताओं को निम्नतम कर दिया गया था। विकास-सम्बन्धी आयात तथा विदेशी ऋण की अदायगी को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य में भी विनिमय-नियन्त्रण का महत्त्व बना रहेगा। विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम, १९४७ के २५ मार्च १९४७ से लागू होने पर विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था को स्थायी रूप मिल गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार और रिज़र्व बैंक को भारत में विदेशी विनिमय और विदेशी प्रतिभूतियों के नियन्त्रण और नियमन आदि का अधिकार मिला।

३४. साख संभरण तथा मुद्रा—१९६४ में साख का संभरण जनता के पास ३६१·३ करोड़ रुपया (१०·२%) बढ़ गया। मुद्रा का परिभ्रमण (रुपया तथा छोटे सिक्के) २८०२·१ करोड़ तक जा पहुँचा और इस प्रकार १९५२-६४ में मुद्रा-परिभ्रमण १५२९·६ करोड़ बढ़ गया (१२०·३%)। यह बढ़ोतरी अधिकतर बैंक साख सरकार के प्रति है (फरवरी १९६६ में परिसंख्या बैंकों का रिज़र्व बैंकों के पास जमा धन २९२२ करोड़ रुपया था)। दूसरे कारण मुद्रा बढ़ने के ये थे—

(१) कुल (Net) बैंक साख निजी क्षेत्र में।

(२) कुल विदेशी पूँजी की परिसम्पत्ति रिज़र्व बैंक के पास बढ़ना।

(३) सरकारी मुद्रा देयता जनता के लिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस मुद्रा संभरण में नोटों तथा छोटे सिक्कों का थोड़ा हाथ है और रुपयों का अधिक। पहली जून १९६४ को नये पैसे के स्थान पर पैसा शब्द निर्धारित किया और पैसे के सिक्के १ जुलाई १९६४ से चालू किये गए। अक्तूबर १९६४ से तीन पैसे वाले सिक्के भी पहली बार चालू किये गए। १४ नवम्बर १९६४ में जवाहरलाल नेहरू की स्मृति में ५० पैसे तथा एक रुपये के सिक्के जारी किये गए जो कि देश के वैधानिक रूप से चालू मुद्रा के अन्य सिक्कों में सम्मिलित कर लिये गए।

पूँजीपतियों के रूप में हैं, दूसरी ओर देश-विदेश में एजेन्सियाँ रखने वाले व्यापारिक महाजनों ने सम्पन्न और व्यक्तिगत साझेदारियाँ—विशेषतः कौटुम्बिक साझेदारियाँ—बना रखी हैं, जो सम्पन्न तथा सुसंगठित हैं। इन देशी महाजनों की एक विशेष श्रेणी मद्रास के चेट्टी हैं, जिनके व्यापार में सारी जाति की करीव-करीब सम्मिलित ज़िम्मेदारी होती है।[1] मद्रास के मदुरा ज़िले के नाटुकोट्टई चेट्टी व्यापारी महाजन रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं और प्रायः उनका कार्यक्षेत्र संसारव्यापी है। भारतीय सर्राफों तथा साहूकारों द्वारा सम्पादित कुल महाजनी व्यापार अवश्य अत्यधिक होगा तथा इन महाजनों की कारवार-सम्बन्धी नैतिकता अति उच्चकोटि की मानी गई है। भारतीय देशी अधिकोष प्रणाली का संगठन मिश्रित पूँजी के आधार पर नहीं है। निक्षेप रूप में तो प्रायः थोड़ी-सी ही पूँजी आती है, पर इसकी वापसी चेक द्वारा नहीं, वरन् नकद में होती है। यहाँ हिस्सा-पूँजी की प्रथा नहीं है और उत्तरदायित्व वैयक्तिक अथवा साझेदारी में सम्मिलित और असीमित होता है।

आधुनिक अधिकोष तथा देशी अधिकोष प्रणाली के बीच दो महान् अन्तर हैं—(१) आधुनिक युग में मिश्रित पूँजी वाले अधिकोषों का विकास और (२) निकासी-गृह के माध्यम द्वारा रुपया भेजने के लिए चेक का सार्वभौमिक प्रयोग। अतीत काल में सर्राफ लोगों का प्रधान काम मुद्रा-भुनाई था।

२. देशी अधिकोष की वर्तमान स्थिति—सर्राफ वर्ग अब भी भारतीय द्रव्य बाजार तथा व्यापारी समुदाय के बीच की अनिवार्य कड़ी के रूप में देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग ले रहा है। वह कृषकों, साधारण शिल्पियों और व्यापारियों को रुपया उधार देता, उपभोग के स्थानों और बन्दरगाहों तक फसलों के पहुँचाने में सहायक होता तथा देश के भीतरी भाग में सब प्रकार की चीजों का वितरण करता है। फसल कटने के मौसम में आवश्यकतानुसार अपने एजेंट को रेल द्वारा नकद रुपये के साथ भेजता है अथवा सरकारी खज़ाने पर हुण्डी खरीदता तथा रुपये की आवश्यकता पड़ने पर उस हुण्डी को इम्पीरियल बैंक या व्यावसायिक शहरों के अन्य बैंकों में बट्टा करा लेता है।[2] कुछ अंशों में ये देशी साहूकार आधुनिक प्रणाली के आधार पर संगठित मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के घोर प्रतियोगी भी हैं। ऊँची दर की सूद लेकर कभी-कभी ये बड़े-बड़े बैंकों से भी अधिक निक्षेप (डिपाज़िट्स) इकट्ठा कर लेते हैं। निजी विश्वास पर भी वे कर्ज देते हैं तथा आधुनिक बैंकों की अपेक्षा इन महाजनों द्वारा माँगी गई जमानत की पूर्ति अधिक आसानी से होती है। उन्हें एक और भी लाभ है। आज की स्थिति में हमारे देश के आधुनिक बैंक मुट्ठी-भर बड़े व्यापारियों की सहायता भले ही कर सकें, पर वे समूचे देश के व्यापारी-वर्ग से निकट सम्पर्क

छोड़कर अन्य सभी महाजनों से है। निक्षेप लेने, हुण्डियों का कारबार करने तथा रुपया उधार देने वाले व्यक्तिगत तथा निजी फर्म भी इसी कोटि में आते हैं।" (अनुच्छेद १०७)। जो निक्षेप नहीं लेते उनकी गणना देशी साख एजेन्सी की अन्य कोटि में होती है।

१. एम० एस० एम० गुब्बे द्वारा लिखित 'इण्डीजेनस बैंकिंग इन इण्डिया', पृ०-११-१२।

२. देखिए, शिराज़ कृत 'इण्डियन फ़ाइनेन्स एण्ड बैंकिंग', पृ० २४१।

कौंसिल) के सामने ऐसे प्रस्तावों के साथ विवरण प्रस्तुत करना था जिसके अनुसार रिज़र्व बैंक एक्ट में अनुसूचित अधिकोषों को प्रदत्त सुविधाएँ और ब्रिटिश भारत में बैंकिंग व्यापार ऐसे व्यक्तियों और फर्मों को प्रदान किया जाए जो अनुसूचित नहीं हैं।[1]

१९३७ ई० में रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर ने केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिश तथा १९३६ ई० में संशोधित इण्डियन कम्पनी एक्ट में बैंकिंग कम्पनी के नियमों के अनुसार ही निजी साहूकारों को संयुक्त करने की योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया।[2] रिजर्व बैंक ने यह सुझाव रखा कि अगर देशी साहूकारों को रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित होना है तो उन्हें अपनी महाजनी व्यवस्था को मिश्रित पूंजी वाले बैंकों के अनुरूप बनाना होगा तथा महाजनी के निक्षेप (डिपाजिट) पक्ष को अधिक विकसित करना होगा। जिन साहूकारों के पास कम-से-कम दो लाख की स्वीकृत पूंजी हो तथा जिसे वे ५ वर्ष में ५ लाख तक कर लेंगे वे वैयक्तिक बैंक बनने के लिए रिज़र्व बक को आवेदन-पत्र भेज सकते हैं। उन्हें एक निश्चित समय के भीतर गैर-महाजनी कारबार बन्द करना होगा। उनकी अभियाचना का उत्तरदायित्व (डिमांड लाइ-बिलिटी) जब तक उनकी निक्षेप देनी उनके कारबार में लगी पूंजी पांच गुना या उससे अधिक न हो जाएगी तब तक उन्हें रिज़र्व बैंक में अनिवार्य निक्षेप (डिपाज़िट) नहीं रखना पड़ेगा। वे हिसाब के उचित खाते रखें तथा हिसाब का संप्रेक्षण किसी निबं-धित संख्याता से कराएँ। वे अपने हिसाब-किताब का सत्रिक (पीरियोडिकल) वक्तव्य रिज़र्व बैंक को भेजें तथा अधिकोषों की भांति उनके लिए बने अधिनियम में निर्धारित आँकड़ों को अपने निक्षेपकों की जानकारी के लिए प्रकाशित करें। इन शर्तों को पूरा करने वाले देशी महाजन मान्य पत्रों के आधार पर अपने विनिमय-पत्रों का रिजर्व बैंक से सीधे बट्टा करा सकेंगे। अतः रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह रिजर्व बैंक अधिनियम के संशोधनार्थ ऐसी कोई तात्कालिक सिफारिश नहीं कर सकता जिसके अनुसार अनुसूचित बैंक-सम्बन्धी धाराओं को देशी साहूकारों के सम्बन्ध में लागू किया जा सके।

अक्तूबर, १९५३ में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से रिज़र्व बैंक ने एक समिति (जिसे श्राफ समिति कहते हैं) यह विचार करने के लिए नियुक्त की कि वैयक्तिक साहस-क्षेत्र में वित्त-व्यवस्था की, विशेषतः अधिकोषों द्वारा, सुविधा कैसे उपलब्ध की जाए। समिति की रिपोर्ट में साहूकारों और सर्राफों के सम्बन्ध में भी कुछ सिफारिशें की गई हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) सर्राफों और साहूकारों का रिज़र्व बैंक से सम्बन्धीकरण करने की चेष्टा अधिक लगन के साथ की जाए।

(ख) सर्राफ उपयुक्त खाते हिन्दी या अंग्रेजी में रखें और रिज़र्व बैंक की

ने ही दिया था। १८४० में पहली 'बैंक ऑफ़ बम्बई' की स्थापना ५२ लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई। इसमें सरकार ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। अमरीका के गृह-युद्ध तथा कपास के अकाल से उत्पन्न तीव्र सट्टेबाज़ी में इस बैंक ने भी हिस्सा बँटाया और उसी के कारण १८६८ में इसका दिवाला भी निकल गया। द्वितीय बैंक ऑफ़ बम्बई की स्थापना उसी साल एक करोड़ रुपये की पूँजी के साथ हुई। १८४३ में बैंक ऑफ़ मद्रास की स्थापना ३० लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई, जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। कुछ दिनों से यह कल्पना की जा रही थी कि बैंक ऑफ़ बंगाल अखिल भारतीय बैंक का स्थान ग्रहण कर लेगा, पर इन तीनों बैंकोंकी स्थापना ने इस सम्भावना की समाप्ति कर दी। प्रारम्भ से ही प्रेसीडेन्सी बैंक का निकट सम्पर्क सरकार के साथ था, जिसने केवल उनकी हिस्सा-पूँजी में ही योग नहीं दिया वरन् कुछ डाइरेक्टरों की नामदज़गी का भी उसे अधिकार था। १८५७ तक सिविल सर्विस दरजे के अफ़सर ही बैंक का मन्त्री, सेक्रेटरी तथा कोषाध्यक्ष हुआ करते थे। इसके बदले बैंकों को कुछ रिआयतें मिलती थीं, जिसमें सरकारी अधिकोषीय व्यापार का एकाधिकार सर्वप्रमुख था। उस समय बैंक के पास नोट छापने का अधिकार तो था, पर इस पर भी कुछ नियन्त्रण थे, जैसे दर्शनी उत्तरदायित्व नक़द कोष का तीन गुना—और बाद में चौगुना से अधिक नहीं होना चाहिए। इन प्रतिबन्धों की वजह से व्यवहार में इस अधिकार का मूल्य नहीं के बराबर था। १८३९ के बाद तो नोट छापे जा सकने की कुल मात्रा तक निश्चित कर दी गई। जैसा हम देख ही चुके हैं, १८६२ में सरकार ने नोट छापने का अधिकार भी छीन लिया और स्वयं अपनी पत्र-मुद्रा का निर्गमन किया। बैंक की क्षति-पूर्ति-स्वरूप सरकारी नकद प्रेसीडेन्सी नगरों के प्रेसीडेन्सी बैंकों में रखे गए।

भारत सरकार ने १८७६ के प्रेसीडेन्सी एक्ट के अनुसार अपने हिस्से की पूँजी वापस ले ली तथा डाइरेक्टर, मन्त्री और कोषाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार भी त्याग दिया। इसके बाद प्रेसीडेन्सी बैंकों का सरकारी स्वरूप न रहने पर भी अन्य बैंकों से उनकी भिन्नता इस अर्थ में थी कि वे १८७६ के विशेष अधिकोष-अधिनियम द्वारा शासित थे तथा जनता और सरकार दोनों ही उन्हें इस देश की पद्धति का प्रधान अंग तथा सरकारी खज़ानों का अनिवार्य अंग मानती थीं।

७. सुरक्षित कोष पद्धति—१८६३ से सन् १८७६ ई० तक मुख्यावासों (हैड क्वार्टर्स) की सारी सरकारी रकम प्रेसीडेन्सी बैंकों में ही रखी जाती थी, लेकिन बंगाल तथा बम्बई के बैंकों से इन निधियों की वापसी में कठिनाई अनुभव होने के कारण भारत सरकार ने १८७६ में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में निजी सुरक्षार्थ खजानों की स्थापना की। तदनन्तर सरकारी रकम विशेषतया इन्हीं तीन सुरक्षित खजानों में रखी जाती थी। जिला और ताल्लुका के खजाने में तो थोड़ी रकम सुरक्षा तथा दैनिक आवश्यकता के लिए रहती थी। १८७६ में प्रारम्भ होने वाली नई व्यवस्था के अनुसार सरकार इस बात से सहमत हो गई कि अगर वास्तविक निक्षेप निश्चित निम्नतम निक्षेप से कम पड़े तो वह अन्तर-निधि पर बैंकों को सूद देगी। वास्तविकता

महत्त्व बढ़ता ही गया। अतः अब एक ऐसी श्रेणी के बैंक के लिए काफी क्षेत्र उपलब्ध हो गया जो विशेषतया विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य करे।

१९१४ के पूर्व केवल इण्डियन स्पीशी बैंक ही प्रमुख भारतीय मिश्रित पूंजी वाला बैंक था, जिसकी विनिमय बैंकों की भांति लन्दन में एक शाखा थी जिसको खोलने का उद्देश्य विदेशों में बैंक के चांदी तथा मोती के कारोबार में सहायता प्रदान करना था। अपने जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में भारत के किसी भी विनिमय बैंक ने विनिमय का जितना कारोबार किया[1] उससे कम एलायन्स बैंक ऑफ शिमला (१९२३ में जिसका दिवाला निकल गया), टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक (सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के साथ इसका एकीकरण १९२३ में हुआ) ने नहीं किया। आज भी कुछ मिश्रित पूंजी वाले बैंक इस कारोबार में हाथ बंटाते तो हैं, पर अभी वे इस क्षेत्र में विशेष विकास नहीं कर पाए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश के विदेशी विनिमय के व्यवसाय पर विदेशी बैंकों का ही एकाधिकार रहा है। विदेशी केन्द्रों में शाखाओं को स्थापित करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(१) इतनी अधिक पूंजी नहीं है कि इन केन्द्रों के द्रव्य-बाजार में साख बनी रहे; (२) जब तक विदेश-स्थित ये शाखाएँ आत्मनिर्भर नहीं हो जातीं, तब तक इनके संचालन में घाटा उठाना पड़ता है; (३) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय कार्य की शिक्षा पाये हुए ऐसे कर्मचारियों की कमी, जिन पर निर्भर रहा जा सके; (४) विदेशी बैंकों का वैर-भाव; तथा (५) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालयों के भारतवर्ष में ही रहने की वजह से वे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य की स्थिति के निकट सम्पर्क में नहीं रहते तथा आयात-निर्यात की हुण्डी (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट बिल) एवं वसूली के लिए विनिमय-पत्रों का व्यापार प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। १९३६ में बार्कलेज बैंक, लंदन के साथ इसका एकीकरण हो गया।

लेकिन बाद में इस देश का सम्पर्क अन्य राष्ट्रों के साथ बढ़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप अन्य देशों के प्रमुख बैंकों की शाखाएँ भी यहां खुलने लगीं। भारतवर्ष के व्यापार में होने वाले विघ्न तथा कुछ विदेशों के, जिनका पहले भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अति छोटा स्थान था, महत्त्वपूर्ण आधिपत्य के कारण विदेशी बैंकों को इस देश में अपनी शाखाएँ खोलने का प्रोत्साहन मिला। अतः भारत-स्थित विनिमय बैंक अधिकांश लन्दन-स्थित बैंकों की शाखाएँ हैं। अब यूरोपीय देशों, सुदूरपूर्व तथा अमरीका की बैंकों की शाखाओं की संख्या भी बढ़ रही है। विनिमय बैंकों का वर्गीकरण हम यों कर सकते हैं—(१) जो भारत में अत्यधिक कारोबार करते हैं, और (२) जो सारे एशिया में कारोबार करने वाले बैंकों की एजेन्सी-मात्र हैं।

१०. विनिमय बैंकों के कारोबार तथा उनकी वर्तमान स्थिति—प्रारम्भ में विनिमय

पेपर' हुण्डी द्वारा की जाती है। भारतीयों द्वारा किये गए आयात के लिए प्रायः पहले तरीके का उपयोग होता है। स्टर्लिंग में लिखे ऐसे ड्राफ्ट को लन्दन-स्थित विनिमय बैंक भुगतान करते हैं और फिर अपनी भारत-स्थित शाखाओं के पास वसूली के लिए भेज देते हैं जो इन्हें स्वीकृति तथा भुगतान के लिए आयातकों के सामने पेश करते हैं। आयात करने वाले बिना पूरा भुगतान किए ही वस्तुओं को दो तरीकों से प्राप्त कर लेते हैं—(१) विनिमय बैंक की ओर से ट्रस्ट रसीद पेश करके आयातक वस्तुओं को प्राप्त करना तथा चीज़ों की अन्तिम चुकती होने के पूर्व उन्हें अपने पास धरोहर-स्वरूप रखकर। दूसरा उपाय यूरोप के उन आयातकर्ताओं को प्राप्य है, जिनके लन्दन में पुराने बैंक हैं। ये अपनी लन्दन-स्थित बैंकों के नाम हुण्डियाँ लिखते हैं जो उन बैंकों द्वारा स्वीकृत होने पर लन्दन में ही बट्टे पर भुनाई जा सकती हैं। उनका बट्टा करने वाले बैंक सम्बन्धित पत्रों को अपनी भारत-स्थित शाखाओं को भेज देते हैं। शाखाएँ हुण्डियों की अवधि पूरी होने के पहले रकम वसूल करने लन्दन भेज देती हैं। विनिमय बैंक के विदेश-स्थित कार्यालय तथा शाखाएँ भारतवर्ष के आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने में प्रमुख भाग लेती हैं। भारतीय शाखाओं का तो साधारणतया यही कार्य होता है कि वे आयात की हुण्डी की अवधि पूरी हो जाने पर उसकी वसूली करें तथा हुण्डी भुगतान करने वालों की शक्ति तथा स्थिति-सम्बन्धी सूचना अपनी शाखाओं को दें। निर्यात की हुण्डियों के विपरीत आयात की हुण्डियों का भारतवर्ष में पुनर्बट्टा न होने के कारण विनिमय बैंक निर्यात-व्यापार की अपेक्षा आयात व्यापार को ही अधिक वित्तीय सहायता देते हैं। अगर आयात की हुण्डी के बट्टा बाज़ार को हम विकसित करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि इन्हें रुपये में ही किया जाए तथा ये स्वीकृति पर देय हों। इन सुधारों द्वारा भारत के आयातकर्ताओं की यथार्थ शिकायतों को दूर करने में भी सहायता मिलेगी।

सन् १९५७ में भारत में विनिमय बैंकों—विदेशी बैंकों की संख्या १७ थी। इस वर्ष निक्षेप की राशि २०४·१४ करोड़ रु० थी जबकि १९५६ में यह १८७·५४ करोड़ रु० थी। फरवरी, १९६६ में भारत में विनिमय बैंकों की संख्या १५ थी और इनका कुल निक्षेप ३५२·८६ करोड़ रुपया था।

११. विदेशी बैंकों पर प्रतिबन्ध—अब हम विनिमय बैंकों के दोष और उन्हें दूर करने के लिए प्रस्तावित प्रतिबन्धों की चर्चा करेंगे। अनुमान है कि इस देश के विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा केवल १५ से २० प्रतिशत है।[1] अतः कमीशन, दलाली तथा बीमा के रूप में गैर-भारतीयों को बहुत-सी रकम देकर हमें काफ़ी घाटा उठाना पड़ता है। लोगों की यह धारणा है कि भारत के विदेशी व्यापार में विदेशी संस्थाओं की अधिकता इसलिए है कि ये विदेशी विनिमय बैंक भारत के साथ व्यापार करने वाले अपने देशवासियों को बहुत सुविधा प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इन बैंकों को विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था

लेते हैं। केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने निम्नलिखित युक्तियाँ बताईं जिनके द्वारा भारतवर्ष वैंकिग तथा व्यापार में उचित स्थान प्राप्त कर सकता है (के० अ० रि०, ४८१)—(१) सुस्थापित मिश्रित पूँजी वाले वैंकों को इस प्रकार का विदेशी सम्पर्क करना चाहिए जो उनके ग्राहकों के लिए लाभदायक हो। (२) रिज़र्व वैंक की स्थापना के साथ-ही-साथ इम्पीरियल वैंक पर विदेशी विनिमय कार्य-सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने के पश्चात् इम्पीरियल वैंक ऑफ़ इण्डिया को भारत के विदेशी व्यापार में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। (१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व वैंक की स्थापना के बाद इम्पीरियल वैंक ऑफ़ इण्डिया के विदेशी विनिमय कार्य-सम्बन्धी पुराने प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है तथा इम्पीरियल वैंक की नियुक्ति रिजर्व वैंक के एकाकी एजेंट-रूप में भी हुई है।) (३) समिति ने यह भी सिफारिश की कि अगर इम्पीरियल वैंक भारत के विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था ठीक तरह से नहीं कर पाता तो एक भारतीय विनिमय वैंक की स्थापना की जाए (के० अ० रि० ४८५)। इस वैंक की ३ करोड़ रुपये की ऐसी पूँजी होनी चाहिए जिसे भारत में रजिस्टर्ड मिश्रित पूँजी वाले वैंक पहली किश्त में ही खरीद लें। अगर सम्पूर्ण हिस्सा-पूँजी की बिक्री निर्दिष्ट समय के भीतर नहीं हो जाती तो सरकार बाकी रकम की पूर्ति करके उसे जनसाधारण के हाथ बेच दे। जब तक ५० प्रतिशत से अधिक पूँजी सरकार की हो, तब तक संचालकों की नियुक्ति में उसका विशेष हाथ होना चाहिए। सरकार के प्रेषण-सम्बन्धी कार्यों को रिज़र्व वैंक द्वारा नियन्त्रित किसी नए वैंक को सौंपने के प्रश्न पर इस शर्त पर रिज़र्व वैंक के साथ विचार करना चाहिए कि उस नये वैंक को यह स्वीकृति न दी जाएगी कि वह एजेण्ट की हैसियत से खुले बाज़ार में इस प्रेरणा का उपयोग मुनाफा कमाने के लिए करे।[1] (४) ऐसे वैंकों की स्थापना की जानी चाहिए जिन पर भारतीय तथा विदेशी सम्मिलित नियन्त्रण बराबरी के हिस्सेदार की हैसियत से हो।

इस समय विदेशी वैंकों का नियन्त्रण करने की दृष्टि से वैंकिग कम्पनी अधिनियम १९४९ में निम्नलिखित व्यवस्था की गई है—

(क) प्रत्येक विदेशी वैंक के पास त्रैमासिक के अन्त पर उसके भारतीय दायित्व (माँग और सावधि) के ७५% के आदेय भारत में होने चाहिए।

(ख) बम्बई और कलकत्ता में स्थित विदेशी वैंकों की पूँजी तथा रिज़र्व कम-से-कम २० लाख रुपये तथा अन्य स्थानों में स्थित होने पर १५ लाख रु० होना चाहिए। ये विधियाँ भारतीय वैंकों के लिए निर्धारित सीमाओं से अधिक हैं।

तेजी ने नये बैंकों को खड़ा होने की और भी प्रेरणा प्रदान की, पर बाद की मन्दी ने अनेकों का दिवाला निकाल दिया। भारत के मिश्रित पूंजी वाले बैंकों के लिए १९१३-२४ के बीच के वर्ष अति भयावह थे। इस अवधि में लगभग ६¾ करोड़ रुपये के प्राप्त हिस्सा-पूंजी वाले करीब १६१ बैंकों का दिवाला निकला। युद्धोत्तर-कालीन दिवालों में १९२३ में हुए बैंक ऑफ शिमला का दिवाला प्रमुख है। इसका प्रभाव सुदूर-व्यापी तथा अति दुःखदायी था।

१५. बैंकों का दिवाला निकलने के कारण—बैंकों के दिवाले के, विशेषतः १९१३-१४ में होने वाले दिवालों के, कारण निम्न प्रकार थे—(१) निक्षेप-दायित्वों के अनुपात में नकद का प्रतिशत कम अर्थात् औसतन १० से ११ प्रतिशत था, (२) प्राप्त हिस्सा-पूंजी की कमी की पूर्ति हेतु निक्षेप आकर्षित करने के लिए दी जाने वाली व्याज-दर अधिक थी, (३) स्वीकृत और बिकी हुई हिस्सा पूंजी में तथा बिकी हुई हिस्सा-पूंजी और प्राप्त हिस्सा-पूंजी के बीच उचित अनुपात का अभाव, (४) बैंकिंग कारोबार जानने वाले योग्य प्रबन्धकों तथा निर्देशकों का अभाव और संचालक-मण्डल द्वारा उचित निरीक्षण का न होना[1], (५) कुछ संचालकों तथा प्रबन्धकों का कपट व्यवहार, (६) भोले-भाले निक्षेपकों का आंकड़ों की तड़क-भड़क तथा पूंजी में से भी बांटे लाभांश के कारण ठगा जाना, (७) ऐसे शमनकारी उपायों का अभाव जिनकी पूर्ति केवल सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा हो सकती थी, तथा (८) आपस में बैंकों के बीच सहयोग की परम्परा का अभाव।

जैसा कि श्री डोरास्वामी ने लिखा है भारतीय बैंकों के दिवालापन के पथ पर यूरोपियनों द्वारा संचालित संस्थाओं के दिवाले भी पड़े मिलते हैं।[2] इसकी पुष्टि वह प्रथम बैंक ऑफ़ बम्बई (१८६८), आर्बथनाट बैंक तथा एलाएन्स बैंक ऑफ़ शिमला की असफलताओं के दृष्टान्त द्वारा करते हैं। यद्यपि कुछ हद तक कपट-प्रबन्ध इन बैंकों के दिवालापन का कारण अवश्य ही पाया गया, पर उनका प्रधान कारण तो अनुभव तथा ज्ञान की कमी ही थी। बैंकों की इन असफलताओं ने यह सबक सिखाया कि बैंकिंग न तो सीधा कारोबार है, न केवल कपटपूर्ण ही तथा संक्रांति के खतरों को कम करने के लिए बैंक की व्यवस्था-प्रणाली के सुधार, कर्मचारियों का सावधानी से चुनाव और स्वस्थ बैंकिंग व्यवस्था का पालन करना अति आवश्यक है।

१९३८ के दक्षिण भारत के बैंकिंग संकट ने अनुसूचित बैंकों को रिज़र्व बैंक के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने की आवश्यकता का अनुभव करा दिया, ताकि इसके समक्ष वे अपनी स्थिति तथा व्यापार का स्पष्ट चित्रण रख सकें, जिससे संकट के समय रिज़र्व बैंक योग्य संस्थाओं को साख सहायता दे सकें।[3] इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि

---

१. 'यह बात ठीक वैसी ही है कि बिना किसी शिक्षित अफसर को साथ लिये तथा अधिकारियों की आज्ञा लिये ही सेना लड़ाई में चली जाए।'—शिराज़ लिखित इंडियन फिनान्स एण्ड बैंकिंग, पृष्ठ ३३६।

२. देखिए, श्री एस० वी० डोरास्वामी द्वारा लिखित इंडियन फिनान्स, करेन्सी एण्ड बैंकिंग, पृ० ३।

३. यह पहला बैंकिंग संकट था जिसका मुकाबला रिज़र्व बैंक को करना पड़ा।

१८. संशोधित इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट (१९३६) में बैंकिंग कम्पनियों से सम्बद्ध विशेष विधान—पाँच वर्ष के विलम्ब के पश्चात् भारत सरकार ने अधिकोषों से सम्बद्ध विशेष विधानों को अपने इण्डियन कम्पनीज़ (एमेण्डेड) बिल में सम्मिलित करने का निश्चय किया। नये विधान निम्नलिखित हैं और इनका प्रारूप तैयार करते समय केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिशों का ध्यान रखा गया।[1]

(१) बैंकिंग कम्पनी वह है जो रुपया उधार देने, हुण्डियों का बट्टा करने, विदेशी विनिमय की खरीद या बिक्री करने, साख-पत्रों की मंजूरी देने, बेशकीमती वस्तुओं को संरक्षण में रखने, पूँजी-हिस्से, ऋण-पत्र आदि का बीमा करने तथा उनका लेन-देन करने, और प्रन्यासों को ग्रहण तथा उनका सम्पादन करने आदि कार्यों में से किसी एक या सभी को करने के अतिरिक्त चालू खाते पर या अन्य प्रकार से निक्षेप स्वीकार करने का, जिसकी वापसी चेक, हुण्डी या आर्डर द्वारा हो सकती है, अपना प्रमुख व्यवसाय करती है। (२) अधिकोष कम्पनी की रजिस्ट्री इस शर्त पर की जाएगी कि कम्पनी के विधान-पत्र में यह उल्लिखित हो कि कम्पनी केवल साधारण बैंक-सम्बन्धी कार्य करेगी। (३) भविष्य में बैंकों के प्रबन्ध-हेतु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति निषिद्ध है। (४) हिस्सा-पूँजी के बँटवारे द्वारा ५०,००० रुपये की कार्यशील पूँजी एकत्र हो जाने का प्रमाण-पत्र देने पर ही कम्पनी कार्य आरम्भ कर सकती है। इस प्रकार निम्नतम पूँजी का रखना अनिवार्य हो गया है। (५) किसी भी बैंकिंग कम्पनी को यह अनुमति नहीं है कि वह अपनी अदत्त पूँजी पर किसी प्रकार का दायित्व लादे। (६) किसी भी प्रकार के वार्षिक लाभांश वितरण की घोषणा करने के पूर्व लाभ का कम-से-कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा करना अनिवार्य है, जब तक यह कोष चुकाई हुई पूँजी के बराबर न हो जाए। इस प्रकार एक सुरक्षित रक़म का होना अनिवार्य कर दिया गया है। अवधि-दायित्व (टाइम लाइबिलिटीज़) का १½ प्रतिशत तथा माँग-दायित्व (डिमाण्ड लाइबिलिटीज़) का ५ प्रतिशत का एक नकद निम्नतम नकद कोष रखना आवश्यक है तथा अनुसूचित बैंकों को छोड़कर अन्य बैंकिंग कम्पनियों द्वारा इस प्रकार की रकम तथा दोनों प्रकार के दायित्वों का विवरण रजिस्ट्रार के यहाँ दाखिल करना आवश्यक है। (८) किसी बैंकिंग कम्पनी को यह इजाज़त नहीं कि वह एक ऐसी कम्पनी के अतिरिक्त, जिसका निर्माण स्वयं उसी ने, प्रन्यास को ग्रहण करने एवं उनका सम्पादन करने या जायदाद के प्रबन्ध आदि को लेने आदि उद्देश्यों से, जो निक्षेप को स्वीकार करने से सम्बद्ध नहीं है, किया है, किसी अन्य सहायक कम्पनी में हिस्सा निर्मित करे या धारण करे। (९) बैंकिंग कम्पनियों को अल्पकालीन कठिनाइयों के कारण दिवालापन से बचाने के लिए अदालत को यह अधिकार दिया गया कि बैंकिंग कम्पनियों के दरखास्त करने पर, बशर्ते कि दरखास्त के साथ रजिस्ट्रार का विवरण भी हो, वह इन कम्पनियों के

अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिला कि वह अपनी समझ के अनुसार पर्याप्त ज़मानत पर आवश्यक पेशगी दे और बैंकों की उधार देने की नीति तथा उनके कारोबार की जाँच कर सके। अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक बैंक त्रैमासिक अवधि के अन्त में इस देश के अपने अवधि तथा माँग-दायित्व के कम-से-कम ७५% आदेय को भारत में रखे। रिज़र्व बैंक की सहमति से ही बैंकों के बीच एकीकरण प्रबन्ध की योजना तथा समझौते का होना सम्भव था।

अधिकोषीय अधिनियम, १९४९—अन्ततोगत्वा भारतीय संसद ने १७ फरवरी १९४९ के अधिकोष अधिनियम को पारित कर दिया तथा १६ मार्च, १९४९ से इसे लागू कर दिया गया। १९१३ के कम्पनी-अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई बैंक-सम्बन्धी धाराओं तथा तब से अब तक के अधिनियमों और अध्यादेशों की बातों का नये अधिनियम में समावेश था और जहाँ तक अधिकोषों का प्रश्न था, केवल नया अधिनियम ही उन पर लागू होगा। इसमें कतिपय नई धाराओं का समावेश भी है—

(१) यह कानून सहकारी बैंकों को छोड़कर सभी अधिकोषों पर लागू है तथा भारतीय संसद को भारतीय संघ में शामिल हो जाने वाले जिन राज्यों के लिए बैंकिंग कानून बनाने का अधिकार है वे राज्य तथा इस देश के सब प्रदेश इस अधिनियम के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस अधिनियम ने बैंक-कार्य की परिभाषा यों दी है—कर्ज़ देने या विनियोग के प्रयोजन से जनता से ऐसे निक्षेप स्वीकार करना, जिन्हें माँगते ही या अन्य प्रकार से लौटाना हो तथा जो चैक, हुण्डी, आर्डर या अन्य उपाय द्वारा वापस माँगे जाने के योग्य हों। सुरक्षा तथा तात्कालिक वापसी की दृष्टि से जिन संस्थाओं में कोष जमा किया जाता है उन तक अधिनियम के क्षेत्र को सीमित करने तथा १९३० के इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट की २७७वीं धारा में दी 'प्रमुख व्यापार' शब्द की परिभाषा के कारण उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए उपर्युक्त सरल परिभाषा आवश्यक थी।

(२) रिज़र्व बैंक इस कानून के अन्तर्गत आने वाले सारे बैंकों की वित्तीय स्थिति की दृढ़ता के प्रति निश्चित हो जाने के बाद उन्हें अधिकार-पत्र प्रदान करेगा, पर अगर कोई देश भारत में निबन्धित बैंकों के प्रति भेद-भाव प्रदर्शित करता है तो उस देश में रजिस्टर्ड (इनकारपोरेटेड्) बैंक को अधिकार-पत्र नहीं दिया जा सकता।

(३) अधिनियम में बैंक के भौगोलिक कार्य-क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए उसकी प्राप्त हिस्सा-पूँजी तथा सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा भी निर्धारित कर दी गई है।

(४) अधिनियम के अनुसार और अनुसूचित बैंकों के लिए भी यह अनिवार्य है कि वे अपने पास या रिज़र्व बैंक में कम-से-कम अवधि-दायित्व का २०% तथा माँग-दायित्व का ५% धन सुरक्षित रखें तथा प्रत्येक शुक्रवार के नकद एवं समय व माँग-दायित्व के आँकड़े प्रतिमास रिज़र्व बैंक को प्रस्तुत करें।

(५) प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि इस कानून के लागू होने के दो वर्ष पश्चात् अपने समय और माँग-दायित्व का २०% नकद में या प्रचलित बाज़ार-

पूरे समय काम करता हो या कुछ समय तक ही) सम्बन्धी व्यवस्था में कोई परिवर्तन रिज़र्व बैंक की अनुमति के बिना नहीं हो सकता। १९५६ के संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक की अस्वीकृति केवल प्रबन्धक, संचालक (मैनेजिंग डाइरेक्टर), प्रबन्धक (मैनेजर) या मुख्य प्रशासकीय अधिकारी तक ही सीमित थी।

२०. निकासी-गृह—'निकासी-गृह' पद्धति का आरम्भ इंगलैण्ड में १८वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। अनेक प्रतिदावों (क्रासक्लेम्स) का सन्धान (एडजस्टमेण्ट) इसने नकद या द्रव्य के वास्तविक उपयोग के बिना ही कर दिया। इस पद्धति के कारण ही इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की चेक पद्धति का आशातीत विकास हुआ है। इस पद्धति की अत्यधिक सफलता के लिए यह आवश्यक है कि निकासी-गृह के सदस्य बैंकों में से एक बैंक भुगतान बैंक या बैंकों का बैंक के रूप में कार्य करे तथा दूसरे बैंक इसके पास कुछ रकम रखें ताकि प्रतिदावों का भुगतान पूर्णरूपेण तथा आसानी से हो जाए।

केन्द्रीय अधिकोप खोज समिति के सम्मुख इम्पीरियल बैंक के तत्कालीन मैनेजिंग गवर्नर श्री मैकडानल्ड ने निपटारा करने वाले बैंकों की एक परिषद् की स्थापना का सुझाव रखा था। निकासी-गृह के निजी नियम होने चाहिए तथा प्रत्येक निकासी-गृह का विस्तारपूर्वक प्रबन्ध करना चाहिए। प्रत्येक सदस्य बैंक के अपने-अपने तथा निकासी-गृह के साहूकार बैंक होने चाहिएँ। हमारे देश में रिजर्व बैंक की स्थापना होने के पहले तक इम्पीरियल बैंक ही इन कामों को करता था। इस कारण गड़बड़ी भी पैदा हो जाती थी तथा अन्य बैंक प्रायः इम्पीरियल बैंक में रखे हुए अपने कोष को निकासी-गृह में रखे हुए एक अंश के समान ही इस निपटारे के अन्तर को बराबर करने का एक साधन मान लेते थे और वे इस बात को भूल जाते थे कि रकम की आवश्यकता केवल निपटारे की भिन्नता को ही पूरा करने के लिए ही न होकर अन्य बैंक-सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिए भी है। चेक का व्यवहार केवल व्यावसायिक शहरों तक में ही होने के कारण अभी यह अपने शैशव-काल से ही गुज़र रहा है, पर अब धीरे-धीरे यह देहात की ओर भी फैल रहा है और इम्पीरियल बैंक की बहुत-सी शाखाओं के खुलने के बाद तो यह प्रवृत्ति विशेष स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। सहकारी बैंकों द्वारा जारी किये गए चेक भी आंतरिक क्षेत्रों की जनता को चेक-पद्धति से परिचित बना रहे हैं। निकासी-गृह-पद्धति को लोकप्रिय बनाने तथा उसका विस्तार करने के लिए यह आवश्यक है कि देहात की वैयक्तिक फर्मों के चेकों के निपटारे के लिए उन्हें अधिक सुविधा दी जाए तथा निकासी-गृहों की सुविधा उचित स्थिति वाली रजिस्टर्ड निजी फर्मों को भी दी जाए। चेकों का व्यवहार तो निस्सन्देह ही दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है, तब भी इस देश के वृहत् आकार तथा जनसंख्या की दृष्टि से अभी यह नहीं के ही बराबर है। दूर-दूर तक फैली हुई निरक्षरता भी इस पद्धति के विकास के बाधकों में है।

२१. पोस्टल सेविंग बैंक—१८३३ तथा १८३५ के बीच प्रेसिडेंसी नगरों में सरकारी सेविंग बैंकों की स्थापना की गई। १८१७ में कुछ चुने हुए जिला-खजानों से

रकम १९४६-४७ में ५.४८ करोड़ रुपया तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में)—७६ लाख रुपया थी। १ अक्टूबर, १९४३ से उनके बदले में द्वादशवर्षीय नेशनल सेविंग सर्टिफिकेटों को चलाया गया, जिनकी बाकी रकम १९४६-४७ में ७०.६२ करोड़ रुपया तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में) २५.०१ करोड़ रुपया थी। इसमें १ जून, १९४८ से प्रचलित किये गए पंचवर्षीय तथा सप्तवर्षीय नेशनल सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट की भी बाकी रकम थी। डिफेन्स सेविंग्ज़ बैंक का कार्यारम्भ १ अप्रैल, १९४१ को हुआ तथा इनका निक्षेप १९४६-४७ में १०.९३ करोड़ रुपया एवं १९४८-४९ में (प्रारम्भ में)—४.०७ करोड़ रुपया था।

भारत तथा पाकिस्तान सरकार के बीच १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व जारी किये गए एवं एक देश के पोस्ट ऑफ़िस में दूसरे देश के पोस्ट ऑफ़िस के नाम पर दर्ज पोस्ट ऑफ़िस कैश एवं डिफेन्स तथा नेशनल सर्टिफिकेटों को ३० जून, १९४९ तक हस्तान्तरित करने के लिए सुविधा प्रदान करने का समझौता हुआ। इसमें यह भी तय हुआ कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व के बाकी तथा ३१ मार्च, १९४९ के पूर्व या उस दिन तक निर्गमन कार्यालय द्वारा हस्तान्तरणार्थ प्रमाणित सर्टिफिकेट साधारण ऋण के समान भारत का वित्तीय दायित्व होगा तथा उसके साथ इस प्रकार व्यवहार किया जाएगा मानो विभाजन के पूर्व वह एक भारतीय पोस्ट ऑफ़िस द्वारा जारी किया गया हो। ३१ मार्च, ४८ के बाद हस्तान्तरित सर्टिफिकेट उस देश के दायित्व होंगे, जिसमें मूल निर्गमन पोस्ट ऑफ़िस है तथा जिस देश से वे हस्तान्तरित हुए हैं उसी से उनके बोनस तथा निरसन (डिस्चार्ज) की प्राप्ति की जाएगी।

१ जून १९५७ से बारहवर्षीय राष्ट्रीय योजना सर्टिफिकेट जारी किये गए जिससे ७१४५ लाख रु० की प्राप्ति हुई। डाकखाने के सेविंग्ज बैंक निक्षेप १९५५-५६ में ३७ करोड़ रु० थे। १९५६-५७ तथा १९५७-५८ में वे घटकर २९ करोड़ रु० तथा १७ करोड़ रु० हो गए। १९५८-५९ में पुनः कुछ वृद्धि हुई और निक्षेप की राशि २१ करोड़ रु० हो गई। १९५९-६० के लिए डाकखाने के सेविंग्ज़ बैंक के निक्षेप की अनुमानित राशि २७ करोड़ रु० है। १९६४-६५ में डाकखाने के सेविंग्ज़ बैंक का निक्षेप बढ़कर २९३.६८ करोड़ रुपया हो गया।

२२. भारतीय द्रव्य-बाज़ार की विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ—भारत के द्रव्य-बाज़ार की अनेक विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ हैं, जिनमें से कुछ का नीचे उल्लेख किया जाता है। पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि भारत का द्रव्य-बाज़ार अनेक हिस्सों में बंटा हुआ है तथा इन हिस्सों का आपसी सम्बन्ध भी बिलकुल ही शिथिल-सा है। स्टेट बैंक, विनिमय बैंक, मिश्रित पूंजी वाले बैंक, सहकारी बैंक, देशी साहूकार आदि खण्डों सम्बन्धी संस्थाएँ अलग-अलग विशेष श्रेणी के कारोबार तक अपने को सीमित

इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई, यद्यपि अधिकतम दर कुछ अधिक थी, विशेषकर मार्च और अप्रैल में, जब वह ३½-४ प्रतिशत और ३½-४½ प्रतिशत थी।

विभिन्न द्रव्य-दरों की समानता का आविर्भाव शनैः-शनैः विकास द्वारा ही सम्भव है। 'हमारा अन्तिम उद्देश्य देश के सारे चल साधनों का एक ऐसे वृहत् कोष के रूप में व्यवस्थित करना होना चाहिए जिससे हुण्डियों का भुगतान शीघ्रातिशीघ्र तथा कम-से-कम मध्यस्थों के हस्तक्षेप से हो जाए।'[1] रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ऐसी आशा की जाती थी कि द्रव्य-दरों की गोलमाल की समाप्ति तथा द्रव्य-बाज़ार में प्रचलित अनियन्त्रित दर पर नियन्त्रण के पश्चात् हुण्डी के बाज़ार की उन्नति हो सकेगी (अगले सेक्शन देखिए)।

२४. द्रव्य-सम्बन्धी मौसमी तंगी (सीज़नल मोनेटरी स्ट्रिंजेन्सी)—द्रव्य-सम्बन्धी मौसमी तङ्गी तथा साल के कुछ महीनों तक द्रव्य की दर का अधिक रहना हमारे देश के द्रव्य-बाज़ार की दूसरी विशेषता है। भारत में साल स्पष्टतया दो पृथक् कालों में विभाजित है—(१) नवम्बर से जून तक का समय कारोबारी है। इन दिनों फसल के देहाती इलाकों से बन्दरगाहों तथा देश के भीतरी भागों में उपभोग करने वाले केन्द्रों तक ले जाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। (२) जुलाई से अक्तूबर तक मन्दी का मौसम होता है। इस समय पाट (बुलियन) तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य के रूप में द्रव्य वित्तीय केन्द्रों को लौट आता है। हर साल के दोनों कालों के बीच द्रव्य-दरों में बहुत ही उतार-चढ़ाव होते रहते हैं।[2] १९५९ के मन्दी के मौसम में बैंक द्वारा उधार दी गई राशि में ७९ करोड़ रु० की कमी हुई। नवम्बर १९५९ से अप्रैल १९६० तक के कारोबारी मौसम में बैंक द्वारा उधार दी गई राशि में १८९ करोड़ रु० का विस्तार हुआ जो १९५८-५९ के कारोबारी मौसम के साख विस्तार (जो १८२ करोड़ रु० था) से अधिक था। यह विशेषकर चीनी के अधिक उत्पादन तथा चीनी उद्योग के मौसमी स्टाक की वृद्धि के कारण ऐसा हुआ।

फसलों के परिवहन हेतु द्रव्य-माँग के कारण द्रव्य-बाज़ार में मौसमी तङ्गी उपस्थित हो जाती है, पर ठीक इसी समय त्यौहारों तथा शादी आदि के लिए रुपये की अत्यधिक माँग इस कठिनाई को और भी बढ़ा देती है। द्रव्य की ऊँची दर का एक मौलिक कारण पूँजी की कमी है, जो हमारे देशवासियों की गरीबी का साक्षात् फल है। अधिकांश व्यक्तियों की आमदनी इतनी कम है कि वे कुछ भी बचा नहीं पाते। दूसरा कारण है हमारी सम्भाव्य पूँजी का संचित धन के रूप में पड़े रहना। लाभदायक विनियोग के लिए आकर्षित करने वाली बैंकिंग सुविधाओं के न होने के कारण संचित राशि बेकार तथा अनुत्पादक ही बनी रहती है। ये त्रुटियाँ ऐसी बैंकिंग व्यवस्था की आवश्यकता की ओर इंगित करती हैं जो आवश्यक साधनों का वितरण देश के विभिन्न भागों तथा साल के विभिन्न मौसम में समान रूप से करें।

१. के० अ० रि०, ५८१।

२. भारत में द्रव्य-दर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव की विशेष जानकारी के लिए सेक्शन ५० देखिए।

सुविधाओं से लाभ उठाएँ। रिज़र्व बैंक को योग्य व्यावसायिक पत्रों का पुनर्वट्टा करने का अधिकार प्राप्त है, पर अभी तक वह भारत में हुण्डी के बाज़ार को विकसित करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सका है। (२) वट्टा-व्यय घटाना चाहिए तथा एक ही बार वट्टा देना पड़े, इस हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रादेशिक राजधानी में हुण्डियों के लिए निकासी-गृहों की स्थापना की जाए। (३) भारत के विभिन्न भागों में गोदामों की स्थापना की जानी चाहिए, क्योंकि इनके कारण व्यापारियों तथा सर्राफों द्वारा लिखी गई शुद्ध व्यावसायिक (या वित्त-योग हेतु लिखी) हुण्डियों का स्थान ऐसी बिल्टी-सहित हुण्डियाँ ले सकेंगी, जिनका बैंक खुशी से पुनर्वट्टा करेंगे। (४) हुण्डियों पर आवश्यक टिकट-व्यय (स्टाम्प ड्यूटी) भी कम कर देना चाहिए। (५) उचित है कि डाकखानों में अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं में हुण्डियों के छपे फार्म मिल सकें। हुण्डी के मालिक को असुविधा तथा कष्ट से बचाने के लिए बैंकों, सर्राफों तथा व्यापारियों की अधिकृत संस्थाओं द्वारा की गई हुण्डी आदि की अस्वीकृति की सूचना (नोटिंग ऑफ़ डिसऑनर) और निकराई-सिकराई (नोटिंग ऑफ़ प्रोटेस्ट) को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। हुण्डियों का चलन बढ़ाने के उद्देश्य से उनसे सम्बन्धित रस्मों का प्रमाणीकरण कर देना चाहिए। (६) बैंक-स्वीकृत-विपत्रों[1] के निर्माण-कार्य में बैंकों को अग्रणी होना चाहिए। ये हुण्डियाँ साधारण व्यापारी हुण्डियों की अपेक्षा आसानी से विनिमय-साध्य होंगी। (७) हुण्डी के दलाली-कार्य को देशी साहूकारों के व्यापार का एक अंग बनाकर तथा रिज़र्व बैंक की संरक्षता में इन साहूकारों तथा उनके धनी निक्षेपकों द्वारा एक वट्टा-गृह स्थापित करके एक हुण्डी वट्टा बाज़ार की स्थापना की जानी चाहिए। (८) हुण्डियों के उपयोग का विस्तार कृषकों को फ़सल उपजाने के कार्य के लिए पेशगी देने, फ़सल-बिक्री हेतु वित्त-प्रबन्ध करने, गाँव के साहूकारों को सर्राफों द्वारा आर्थिक सहायता देने, शहरों से वस्तुओं को देश के भीतरी भागों में ले जाने के कार्य का वित्तीय प्रबन्ध करने तथा देश के विदेशी व्यापार के वित्तीय प्रबन्ध करने के लिए कर देना चाहिए।

जनवरी १९५२ में रिजर्व बैंक ने बिल बाज़ार के संगठन के लिए एक योजना बनाई। प्रारम्भ में यह योजना उन अनुसूचित बैंकों तक सीमित रखी गई जिनके पास १० करोड़ रुपये या इससे अधिक के निक्षेप हों, ऋण तथा बिल की निम्नतम सीमा क्रमशः २५ लाख रु० और एक लाख रु० निश्चित की गई। रिज़र्व बैंक ने बैंक-दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम दर से ब्याज लेने तथा आधी स्टाम्प ड्यूटी स्वयं वहन करने की सुविधा प्रदान की। ये सुविधाएँ १ मार्च १९५६ से समाप्त हो गईं। जून १९५३ में यह योजना ५ करोड़ रु० या इससे अधिक निक्षेप वाले बैंकों तथा जुलाई १९५४ में उन सभी बैंकों पर लागू हो गई जिन्हें १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत

१. बैंक-स्वीकृत-विपत्र वह हुण्डी है जिसे वस्तु-विक्रेता लिखता है और वस्तु-क्रेता के स्थान पर उसका बैंक उसकी स्वीकृति देता है। उधार क्रय करने की दृष्टि से वस्तु-क्रेता पहले से ही अपने बैंक से इस सम्बन्ध में बातचीत किये रहता है।

से वट्टे की दर पर नियन्त्रण रखने का कार्य केन्द्रीय वैंक के ही क्षेत्र के अन्तर्गत पड़ता है। इसी वैंक से यह भी आशा की जाती है कि वह सरकारी विधि का व्यापारिक तथा औद्योगिक कार्य-हेतु उचित उपयोग करेगा।

२८. इम्पीरियल वैंक की रचना—इम्पीरियल वैंक की केन्द्रीय परिषद् के लिए साल में कम-से-कम एक बार प्रत्येक स्थानीय प्रधान कार्यालय में एकत्रित होना आवश्यक था। पहले तीनों प्रेसीडेन्सी वैंकों की पूंजी का योग ७ करोड़ रुपये ही था, पर अब पूंजी तथा सुरक्षित धन को १५ करोड़ रुपये करके वैंक के पूंजी के आधार को विस्तृत कर दिया गया।

अतः इम्पीरियल वैंक एक निजी निगम ही है, पर १९३५ में रिजर्व वैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना तक यह राज्य वैंक भी इस सीमित अर्थ में था कि भारतीय व्यवस्थापिका के एक विशिष्ट कानून द्वारा इसका निर्माण हुआ था तथा कुछ अंशों में इसका नियन्त्रण, सहायता तथा निरीक्षण सरकार ही करती थी। इम्पीरियल वैंक और इंगलैण्ड तथा फ्रान्स के केन्द्रीय वैंकों के बीच मुख्य भेद यह था कि यह वैंक राज्य-वैंक के वहुत वड़े कार्यों को कर पाता था।

२९. इम्पीरियल वैंक का विधान—इम्पीरियल वैंक का नियन्त्रण गवर्नरों की एक केन्द्रीय परिषद् के सुपुर्द कर दिया गया। गवर्नर जनरल को वित्तीय नीति या सरकारी रकम की सुरक्षा से सम्वन्धित किसी विषय पर वैंक को आदेश देने का अधिकार था। केन्द्रीय परिषद् के कर्तव्य ये थे—सामान्य नीति से सम्वन्धित मामलों को तय करना, स्थानीय परिषदों की नियन्त्रण-सम्वन्धी साधारण शक्ति का उपयोग करना, वैंक की निधि के वँटवारे तथा वैंक-दर का निर्णय करना (जिसे अव अग्रिम दर कहा जाता है) तथा वैंक के हिसाव के साप्ताहिक प्रकाशन की जिम्मेदारी लेना। स्थानीय परिषद् अपने-अपने क्षेत्र के दैनिक कारोवार से अपना सम्वन्ध रखते थे। दैनिक साधारण (केन्द्रीय) प्रवन्ध के लिए केन्द्रीय परिषद् के तीन सदस्यों की एक समिति होती थी जिनमें से एक मुद्राध्यक्ष होता था। इस सम्वन्ध में एक नई वात यह थी कि वैंक को लन्दन में शाखा स्थापित करने की कानूनन इजाजत थी। यह वैंक लन्दन में भारत-सचिव, सार्वजनिक संस्थाओं, दूसरे वैंकों तथा प्रेसीडेन्सी वैंक के पुराने ग्राहकों के साथ-साथ भारत सरकार की ओर से व्यापार का कारोवार तो कर सकता था, पर विदेशी विनिमय के सिलसिले में जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्वन्ध रखने की इजाजत इसे नहीं थी।

खोलने की नीति बहुत सफल नहीं रही। कभी-कभी तो ये शाखाएं ऐसी जगहों में खोली गई जहाँ पहले से ही अन्य बैंकों को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्य थीं और इस प्रकार तत्कालीन अन्य भारतीय बैंकों के साथ उस इम्पीरियल बैंक की अनुचित स्पर्धा हुई जिसे रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व विशेष अधिकार प्राप्त थे और जिसका सरकारी कोष के ऊपर अधिकार था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि बैंक को बहुत ही थोड़े कार्यों का दायित्व सुपुर्द किये जाने के कारण इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रह पाती। सरकार द्वारा किये जाने योग्य बैंकिंग तथा मुद्रा-सम्बन्धी कार्य करने के सम्बन्ध में यूरोप के बैंकों के साथ इस बैंक की बहुत ही कम समानता थी। इसको केवल सरकारी नक़द रक़म रखने तथा बैंकिंग के साधारण कारोबार की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। कागज़ी मुद्रा, स्वर्ण-मानकोष तथा भारत सरकार के इंग्लैण्ड में खर्च के भुगतान के लिए भेजे जाने वाली रकम का प्रबन्ध स्वयं सरकार ही करती थी। नोट छापने का अधिकार अपने हाथ में न होने के कारण इम्पीरियल बैंक बैंक-दर की सहायता से उतनी अच्छी तरह से द्रव्य-बाजार पर नियन्त्रण नहीं कर सकता था जैसा अन्य बड़े-बड़े केन्द्रीय बैंक किया करते हैं।

३३. इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया संशोधन एक्ट, १९३४—यह सर्वसम्मत बात थी कि देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के मिश्रित रूप के कारण इसके ऊपर रखे गए नियन्त्रण को हटाने तथा इसके कार्य के ऊपर सरकारी नियन्त्रण में संशोधन की दृष्टि से इम्पीरियल बैंक के विधान को बदलना आवश्यक होगा। अतः १९३४ में रिज़र्व बैंक बिल के पारित होने के साथ-ही-साथ इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट (१९३४ का तीसरा) के रूप में इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया संशोधन बिल को भी पारित किया गया।[1] संशोधन अधिनियम द्वारा निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन किये गए—

(१) **बैंक के विधान में परिवर्तन**—केन्द्रीय परिषद् की स्थापना निम्नलिखित संचालकों को मिलाकर की गई—(क) इस कानून द्वारा स्थापित स्थानीय परिषदों के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष; (ख) इस कानून द्वारा स्थापित हर स्थानीय परिषद् के सदस्यों में से ही उन्हीं द्वारा चुना गया एक सदस्य; (ग) केन्द्रीय परिषद् द्वारा ५ वर्ष के लिए नियुक्त एक प्रबन्ध-संचालक, जिसे वह परिषद् अधिक-से-अधिक और ५ वर्ष के लिए रख सकती है; (घ) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा मनोनीत अधिक-से-अधिक दो सदस्य जो सरकारी अफ़सर न हों; (च) केन्द्रीय परिषद् द्वारा नियुक्त एक उप-प्रबन्ध-संचालक; (छ) लोकल बोर्डों के सचिव; (ज) इस कानून द्वारा स्थापित किसी नई स्थानीय परिषद् का प्रतिनिधित्व करने वाले वे सदस्य, जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय परिषद् ने की हो। (च) तथा (छ) में निर्दिष्ट संचालकों को केन्द्रीय परिषद् की सभा में मत देने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार बैंक के कारोबार पर से सरकारी

(२) रिज़र्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक-एक संचालक।

(३) क्षेत्रीय अथा आर्थिक हितों के प्रतिनिधित्व हेतु रिजर्व बैंक के परामर्शसहित केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत आठ संचालक।

(४) रिज़र्व बैंक को छोड़कर अन्य हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित छः संचालक।

(५) भारत सरकार की स्वीकृति से स्टेट बैंक के केन्द्रीय संचालक-मंडल द्वारा मनोनीत सदस्य, जिनकी संख्या दो तक हो सकती है।

जहाँ रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है तथा जहाँ वह स्टेट बैंक से कहे वहाँ स्टेट बैंक—यदि उसकी वहाँ शाखा है तो—रिज़र्व बैंक के प्रतिनिधि रूप में काम करेगा। भारत सरकार की अनुमति से स्टेट बैंक अन्य बैंकों के कारोबार, आदेय व दायित्व कम कर सकता है।

स्टेट बैंक इम्पीरियल बैंक की भाँति उद्योग, व्यापार तथा व्यवसाय की सेवा करेगा और बैंकिंग विकास को तीव्र बनाएगा। गोदाम और बिक्री-विकास हो जाने पर यह आशा की जाती है कि स्टेट बैंक ग्रामीण साख प्रसार का महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होगा। अगले पाँच वर्ष में वह ४०० शाखाएँ खोलेगा, द्रव्य भेजने की अधिक सुविधाएँ देगा और ग्रामीण बचत प्राप्त करने में योग भी देगा।

१९५९ तक स्टेट बैंक ने ३५९ शाखाएँ खोल दी थीं। इसी वर्ष स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया (सब्जिडियरी बैंक्स) सहायक बैंक अधिनियम पास हुआ, जिसे १० सितम्बर १९५९ को राष्ट्रपति ने स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य से सम्बन्धित आठ बैंकों—बैंक आफ़ बीकानेर, बैंक ऑफ़ इन्दौर, बैंक ऑफ़ जयपुर, बैंक ऑफ़ मैसूर, बक ऑफ़ पटियाला, ट्रावनकोर बैंक, स्टेट बैंक ऑफ़ हैदराबाद तथा स्टेट बैंक ऑफ़ सौराष्ट्र—को स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया के सहायक बैंकों के रूप में संगठित किया गया। इसी वर्ष स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम भी पास किया गया, जिसे राष्ट्रपति ने २८ अगस्त १९५९ को स्वीकृति प्रदान की। संशोधन अधिनियम की धाराएँ स्पष्टीकरण तथा स्टेट बैंक एक्ट की धारा ३५ के अन्तर्गत स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया द्वारा किसी बैंक के कार्य को ले लेने की पद्धति सरल बनाने के लिए हैं।

३४. रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट १९३४—१९३३ में प्रकाशित भारतीय सुधार-सम्बन्धी श्वेतपत्र में यह शर्त रखी गई कि केन्द्र को वित्तीय ज़िम्मेदारी सौंपने के पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा राजनीतिक प्रभावों से रहित एक रिज़र्व बैंक की स्थापना करे। जुलाई, १९३३ में रिज़र्व बैंक विधेयक-सम्बन्धी लन्दन समिति ने इस प्रस्ताव का संपरीक्षण फिर किया। इस समिति ने अगस्त, १९३३ में अपनी रिपोर्ट दी तथा इसी की सिफारिश के आधार पर निर्मित रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया बिल को ८ सितम्बर, १९९३ को व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तुत किया गया और ६ मार्च, १९३४ को इसने अधिनियम का रूप धारण कर लिया।

(१) यह निर्णय हुआ कि यह बैंक हिस्सेदारों का बैंक होगा। मूल पूंजी ५ करोड़ रुपये की होगी जो पूर्णतया प्राप्त हिस्सा तथा सौ-सौ रुपये के हिस्सों में

१६४८—बैंक को राज्य-अधिकृत संस्था का रूप देने के सरकारी निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करने के उद्देश्य से इस अधिनियम को पारित किया गया, जिससे इसके कार्यों का नियन्त्रण सार्वजनिक हित के लिए किया जा सके तथा द्रव्य-सम्बन्धी आर्थिक एवं वित्तीय नीति के बीच समन्वय स्थापित हो सके। १ जनवरी, १६४६ को यह कानून लागू हो गया तथा बैंक की पूँजी के सारे हिस्सों को केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तान्तरित समझा गया।

शाखाएँ और कार्यालय—बैंक का मुख्य कार्यालय बम्बई में है। बैंक को जो कार्य सौंपे गए हैं उन्हें सम्पूर्ण देश में सन्तोपप्रद ढंग से करने के लिए रिज़र्व बैंक ने स्थानीय कार्यालय-शाखाएँ बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर और नई दिल्ली में स्थापित की हैं। इनमें दोनों ही—बैंकिंग और निर्गम—विभाग हैं। अन्यत्र इसका प्रतिनिधित्व इसके एजेण्ट करते हैं। इसके अलावा रिज़र्व बैंक की बैंकिंग विभाग की एक शाखा लन्दन में भी है। बैंकिंग विभाग के प्रादेशिक कार्यालय बंगलौर को छोड़कर उपर्युक्त स्थानों तथा त्रिवेन्द्रम में हैं। कृषि-साख विभाग के प्रादेशिक (रीजनल) कार्यालय कलकत्ता, मद्रास और नई दिल्ली में हैं तथा विनिमय नियंत्रण विभाग के कार्यालय कलकत्ता, मद्रास, नई दिल्ली और कानपुर में हैं।

प्रबन्ध—इस समय बैंक के कार्यों की देखभाल १५ सदस्यों से निर्मित केन्द्रीय संचालक परिषद (सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स) के हाथ में है।

छः संचालक अधिनियम की धारा ८ (१) (स) के अन्तर्गत तथा एक सरकारी अधिकारी धारा ८ (१) (द) के अन्तर्गत नियुक्त होता है। धारा ८ (१) (स) के मनोनीत संचालकों की कार्यावधि चार साल होती है और वे बारी-बारी (रोटेशन) से अवकाश ग्रहण करते हैं। धारा ८ (१) (ब) के अन्तर्गत संचालकों की कार्यावधि स्थानीय परिषद् की सदस्यता पर निर्भर होती है। केन्द्रीय संचालक परिषद् की बैठक वर्ष में कम-से-कम छः माह तथा तीन माह में कम-से-कम एक बार अवश्य होनी चाहिए। व्यावहारिक सुविधा के लिए परिषद् ने अपने कुछ कार्य एक समिति को सौंप दिए हैं जिसकी बैठक गवर्नर के मुख्य कार्यालय में प्रति सप्ताह होती है।

केन्द्रीय संचालक परिषद् का अध्यक्ष तथा बैंक का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी गवर्नर होता है। उसके सहायक तीन उप-गवर्नर होते हैं।

रिज़र्व बैंक के कार्य—रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया अधिनियम १६३४ की प्रस्तावना में कहा गया है कि बैंक का मुख्य कार्य देश में स्थिरता रखने की दृष्टि से नोट निर्गमन का नियमन तथा सुरक्षित कोष रखना तथा देश के हित में साख-व्यवस्था का संचालन करना है। (१) बैंक को नोट निर्गमन का एकमात्र अधिकार है। (२) रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थानों, जिनमें राज्यीय सहकारी बैंक भी सम्मिलित हैं, के बैंकर के रूप में कार्य करता है। उनका नकद कोष (कैश रिज़र्व) रिज़र्व बैंक की संरक्षा में रहता है तथा वह इच्छानुसार उन्हें सहायता (एकमोडेशन) प्रदान करता है। (३) रिज़र्व बैंक साख-व्यवस्था का नियमन करता है। इस कार्य

अनुसूचित बैंकों को रिज़र्व बैंक से कुछ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और साथ ही कुछ दायित्व भी होते हैं। निम्न शर्तों को पूरा करने पर ही कोई बैंक अनुसूचित हो सकती है। (१) बैंक की परिदत्त पूँजी तथा कोष (रिज़र्व) का कुल मूल्य ५ लाख रु० से कम नहीं होना चाहिए। (२) रिज़र्व बैंक को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसकी कार्यवाही निक्षेपकों (रुपया जमा करने वालों) के विरुद्ध नहीं है। (३) १९५६ के कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत एक कम्पनी होनी चाहिए या केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचित संस्था या भारत के वाहर विधान के अन्तर्गत (जो लागू हो) कारपोरेशन या कम्पनी होनी चाहिए। मार्च, १९५८ में ४०० बैंकिंग कम्पनियों में से ९२ अनुसूचित बैंक थीं। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया अधिनियम की धारा ४२ (१) के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों को रिज़र्व बैंक के पास माँग दायित्व (डिमाण्ड लाइविलिटी) तथा सावधि दायित्व (टाइम लाइविलिटी) का क्रमशः कम-से-कम ५% और २% नकद कोष रिज़र्व बैंक के पास रखना पड़ता है। ११ मार्च १९६० को एक अधिसूचना द्वारा सभी अनुसूचित बैंकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे माँग-दायित्व तथा सावधि-दायित्व की वृद्धि का २५% अतिरिक्त निक्षेप के रूप में रिज़र्व बैंक के पास रखें, किन्तु किसी भी समय यह माँग-दायित्व के २०% तथा सावधि-दायित्व के ८% से अधिक न होना चाहिए क्योंकि ये (अधि-नियम द्वारा निश्चित) अधिकतम दरें हैं। ६ मई १९६० को पूर्व अधिसूचना को रद्द कर एक नई अधिसूचना निकाली गई, जिसके अनुसार, (१) ११ मार्च १९६० की तुलना में ६ मई, १९६० को कुल दायित्व (सावधि तथा माँग) की वृद्धि का २५ प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास रखा जाए तथा (२) ६ मई १९६० के बाद कुल दायित्वों में जो वृद्धि हो उसका ५० प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास रखा जाए। रिज़र्व बैंक ने इन अतिरिक्त निक्षेपों के लिए व्याज देना स्वीकार किया। यह निश्चय किया गया कि व्याज हर छमाही दिया जाए तथा व्याज की दर उस छमाही के लिए अनुसूचित बैंक द्वारा दी जाने वाली व्याज-दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत ज्यादा हो, किन्तु ४$\frac{1}{2}$ प्रतिशत से अधिक न हो।

कृषि साख विभाग—रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया अधिनियम की धारा ५४ के अन्तर्गत अप्रैल १९३५ में कृषि साख विभाग की स्थापना की गई। प्रारम्भ में उसके परिनियत कार्यों में कृषि-साख से सम्बन्धित प्रश्नों के अध्ययन हेतु विशेषज्ञ को रखना तथा कृषि साख प्रदान करने वाली संस्थाओं—जैसे राज्यीय सहकारी बैंक और रिज़र्व बैंक—के कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करना था। ग्रामीण अर्थ-प्रबन्धन के विस्तार के साथ-साथ कृषि-साख विभाग के कार्यों का भी विस्तार हो गया है। १९५६ में कृषि-उत्पत्ति (विकास और भण्डार) निगम अधिनियम के पास होने के बाद यह विभाग कृषि-उत्पत्ति के विक्रय को सुविधाजनक बनाने के लिए भण्डार-गृहों के देशव्यापी संग-ठन की स्थापना के लिए केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों से सहयोग करता है। इस समय इसका कार्य चार भागों में विभाजित है—(१) वित्त और निरीक्षण, (२) नियोजन और पुनर्संगठन, (३) सहकारी प्रशिक्षण और प्रकाशन तथा (४) हथ-

को अधिक सक्षम ही बनाया है। निकासी-गृह के माध्यम से होने वाले भुगतान का सन् १९३८-३९ में २०·०३ अरब रुपये से बढ़कर १९४४-४५ में ५६·१७ अरब रुपया हो जाना भी प्रगति का ही सूचक है। १९४५-४६ तथा १९४६-४७ के अंक क्रमशः ६५·४२ अरब रुपये तथा ७१·६८ अरब रुपये हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बैंकिंग पद्धति ने अत्यधिक जीवन-शक्ति दिखाई है तथा युद्ध ने साधारणतया इसे और भी सशक्त बनाया है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय बैंकों की प्रगति में दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। देश-विभाजन के बाद बैंकों तथा उनकी शाखाओं की संख्या तथा उनके निक्षेपों में ह्रास हो रहा था, परन्तु १९५३ के पश्चात् दोनों ही में पुनः वृद्धि की प्रवृत्ति स्पष्ट है। १९५४ में यद्यपि बैंकों की संख्या में २३ की कमी हुई, परन्तु शाखाओं को लेकर कुल बैंकों की संख्या में २२ की वृद्धि हुई। वृद्धि अधिकतर अनुसूचित बैंकों में हुई थी। ग़ैर-अनुसूचित बैंकों में तो ह्रास ही हुआ है। १९५४ में बैंकों में कुल निक्षेप १०६३ करोड़ रुपये था, जो दो साल पहले की अपेक्षा लगभग १०० करोड़ रुपये अधिक है। इस वर्ष प्रति साढ़े दस हज़ार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। यह भी उल्लेखनीय है कि ५५% अनुसूचित बैंक तथा ३३% ग़ैर-अनुसूचित बैंक ५०,००० से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में स्थित हैं। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की विदेशों में १०७ शाखाएँ हैं।

१९५५ में स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना भारतीय बैंकिंग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। स्टेट बैंक का परिनियत कार्य शाखाओं के विकास द्वारा बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार करना है। कुछ राज्यों की बैंकों को स्टेट बैंक की सहायक बनाने तथा करेन्सी रिज़र्व को घटाकर २०० करोड़ रु० निश्चित करने के अधिनियम की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। १९५४ के संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष की स्थापना की। इस कोष के लिए कम-से-कम ५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष का अनुदान पाँच वर्ष तक देने की व्यवस्था है। शेष की स्थापना १० करोड़ रु० से हुई। इसका उद्देश्य राज्य सरकारों को ऋण देना है ताकि वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी खरीद सकें। १९५७ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ९१ थी तथा इनके कार्यालयों की संख्या ३२७३ थी। १९५६ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ८९ थी और कार्यालयों की संख्या २९६४ थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हो रही है। वित्तीय व्यवस्था का आधार होने के कारण बैंकों को इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। अतएव उन्हें भावी आवश्यकताओं के लिए अपने-आपको सक्षम बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। नियोजन के फलस्वरूप बैंकों को व्यापार की नई दिशाओं में प्रवेश करना ही होगा। इस दृष्टि से निश्चित समय के लिए रुपया उधार देने का काम अवश्य ही एक नई दिशा है। अतएव उन्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। १९५८ में रिफाइनेन्स कारपोरेशन की स्थापना के बाद इस दिशा में कार्य करने की सुविधा और बढ़ गई है, क्योंकि रिफाइनेन्स कार्पोरेशन प्रतिशोधन (रिम्बर्समेण्ट) की सुविधा प्रदान करता है

संचालकों तथा प्रबन्धकों की सम्बन्धित उद्योगों के संचालकों के रूप में नियुक्ति करके वैंकों तथा उनसे सहायता पाने वाले उद्योगों के बीच उपयोगी सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

उपर्युक्त व्यावसायिक वैंकों के सहयोग द्वारा निःसन्देह ही बहुमूल्य परिणाम की आशा की जा सकती है, पर केवल इसी विधि द्वारा पर्याप्त औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। अपने-अपने क्षेत्र में उद्योगों का विकास करना प्रादेशिक सरकारों का कार्य है। इन कार्यों को सन्तोषजनक ढंग से करने के लिए प्रादेशिक सरकार द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में या स्थायी रूप से दी गई पूँजी के साथ प्रान्तीय औद्योगिक नियमों और उनकी शाखाओं की स्थापना उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इन निगमों द्वारा विशेषतः उन उद्योगों को सहायता मिलनी चाहिए जो जनता के लिए लाभदायक हों, उस प्रदेश की उत्पादन-शक्ति बढ़ाएँ तथा जिनसे लोगों को रोज़गार मिलें।[1] अखिल भारतीय औद्योगिक निगम की आवश्यकता भी स्पष्ट है। राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ ऐसे उद्योग हैं जिन्हे विकसित करने की ज़िम्मेवारी प्रान्तीय सरकारों की नहीं वरन् केन्द्रीय सरकार की समझी जानी चाहिए।

३६. औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १६४८—पार्लमेंट ने १३ फरवरी, १६४८ को औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम को पारित किया। इस कानून के अनुसार १ जुलाई १६४८ को औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना भारतवर्ष तथा विलयित देशी राज्यों में ऐसी मिश्रित पूँजी वाली रजिस्टर्ड कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिए हुई जो वस्तुओं का उत्पादन करने, खान खोदने तथा विद्युत् या किसी अन्य प्रकार की शक्ति को पैदा करने या बाँटने के कार्य से सम्बद्ध हों। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक धन्धों को आज की अपेक्षा अधिक आसानी से मध्यम तथा दीर्घकालीन साख को उपलब्ध बनाना है। कॉरपोरेशन की हिस्सा-पूँजी १० करोड़ रुपये की है, परन्तु अभी ५ करोड़ रुपया प्राप्त हिस्सा-पूँजी के रूप में है। इन १० करोड़ रुपयों में से १ करोड़ केन्द्रीय सरकार, १ करोड़ रिज़र्व वैंक, ३½ करोड़ अनुसूचित वैंक, वीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्टों आदि तथा ½ करोड़ सहकारी वैंकों द्वारा प्रदान किया गया। ज़रूरत के समय शेष पूँजी को सरकार की अनुमति के अनुसार निर्गमित किया जाएगा। केन्द्रीय सरकार ने पूँजी के लौटाने तथा आय-कर से मुक्त कम-से-कम २½% लाभांश देने की गारन्टी दी है। इस निगम पर सरकार तथा रिज़र्व वैंक, इम्पीरियल वैंक[2], अनुसूचित वैंक, वीमा कम्पनियों आदि का स्वामित्व रहेगा। इसके हिस्से का ४० प्रतिशत सरकार तथा रिज़र्व वैंक के हाथ

---

१. डॉ० लोकनाथन ने प्रान्तीय वैंकों को सब कोटि के उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले खतरों को स्पष्ट करते हुए यह सुझाव दिया है कि वे केवल सार्वजनिक सेवा-उद्योगों को ही आर्थिक सहायता दें। देखिए, वही, पृष्ठ २६८।

२. यह अब स्टेट वैंक ऑफ़ इंडिया है और सरकारी अधिनियम से वँधा है।

इसके अतिरिक्त तीन अन्य निगम अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित किए गए हैं—

(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४) की स्वीकृत पूंजी १ करोड़ रु० तथा प्राप्त पूंजी १० लाख रु० है। निगम नियोजित विकास-हेतु उद्योगों को वित्तीय सहायता देगा। वह स्वयं भी उद्योग स्थापित कर सकता है तथा औद्योगिक योजना की जाँच भी। इस सम्बन्ध में वह वैयक्तिक औद्योगिक क्षेत्र में उपलब्ध औद्योगिक विशेषज्ञों के ज्ञान का पूर्ण लाभ उठाएगा।

(२) औद्योगिक साख तथा विनियोग-निगम (१९५५) की स्वीकृत पूंजी २५ करोड़ रु० थी तथा निर्गमित पूंजी ५ करोड़ रु० है, जिसमें से दो करोड़ रु० के हिस्से भारतीय बैंक तथा बीमा-कम्पनियों ने, १ करोड़ अंग्रेजी कम्पनियों ने, ०·५ करोड़ अमरीकी कम्पनियों ने तथा शेष भारतीय जनता ने लिए हैं। निगम इस बात का प्रयत्न करेगा कि इसके सदस्य विस्तृत क्षेत्र के हों। भारत सरकार पन्द्रह वर्ष बाद से अगले पन्द्रह वर्षों में चुकाने की शर्त पर ७½ करोड़ रुपये का ऋण दे रही है। भारत सरकार की गारण्टी पर पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भी १ करोड़ डालर का ऋण निगम को ४⅘% वार्षिक सूद की दर पर १५ वर्ष की अवधि के लिए देना स्वीकार किया है।

(३) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (१९५५) की १० लाख रुपये की स्वीकृत पूंजी १०० रुपये वाले १०,००० हिस्सों में बँटी है, जो पूर्णतः भारत सरकार ने प्रदान की है। भारत सरकार चालू पूंजी हेतु भी पर्याप्त निधि देगी। निगम पाँच लाख से कम पूंजी वाले शक्ति-चालित परन्तु ५० से कम श्रमिक वाले तथा बिना शक्ति-चालित और १०० तक श्रमिक वाले उद्योगों को सहायता, वित्त, संरक्षण तथा विकास-योग देगा। फरवरी, १९६६ में इसका उत्तरदायित्व और सम्पत्ति १३२·६१ करोड़ रुपये थी।

$\frac{3}{3}$ भाग से भी अधिक स्वर्ण संचय करने के उपरान्त संचय करने की वृत्ति को केवल भारतीय एकाधिकार नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन केन्द्रों में स्वर्ण का अधिकांश भाग केन्द्रीय बैंक के सुरक्षा-कोष में एकत्र था। परन्तु यदि भारत में स्वर्ण का ऐसा उपयोग नहीं किया गया तो क्या इसका कारण यहाँ की दूषित मुद्रा-प्रणाली (स्वर्ण-विनिमय-मान), जो यहाँ पर्याप्त समय तक चलन में रही, आंशिक रूप से नहीं है ? जो लोग भारत के संचय पर खेद प्रकट करते हैं, सामान्यत: वे यह भूल जाते हैं कि यहाँ की खपत में आने वाले स्वर्ण के एक अंश का उपयोग औद्योगिक और घरेलू आवश्यकताओं के लिए भी होता रहा है।

जब इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर एक बार यह स्वीकार कर लिया गया कि सोने-चाँदी के लिए भारत की माँग असामान्य नहीं है, तो दूसरे देशों की मुद्रा की स्थिरता में उत्पन्न होने वाली बाधाओं के विशिष्ट दायित्व से भारत को बरी कर दिया गया।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उसका उद्देश्य यही प्रदर्शित करना था कि भारत में संचय की मात्रा के सम्बन्ध में अत्युक्तिपूर्ण उल्लेख हुए हैं। हाँ, संचय के अस्तित्व से बिलकुल इनकार करना तो सत्य की उपेक्षा करना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के अतिरिक्त अन्य उपयोगों में स्वर्ण की भारी खपत होती है और संचय द्वारा जड़ (अचल) बनी बहुमूल्य धातु की वर्तमान राशि पर्याप्त विपुल होगी।

यह कहना कठिन होगा कि यह प्रवृत्ति धन और सम्पन्नता की परिचायक है। अधिकांशत: यह संचित धन लाखों पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के पास छोटी-छोटी राशियों में बिखरा पड़ा है और उत्पादक-कार्यों में इसका उपयोग नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि इन्हें सम्पन्नता का संकेतक न स्वीकार करके निर्धनता का कारण माना जाता है।[1]

सोने तथा चाँदी के आभूषणों को भी साधारणतया संचित राशि का एक हिस्सा माना तो जाता है, पर इसकी स्वीकृति विवादास्पद विषय है। यह समझना कठिन है कि अगर हम दाँत में लगाए सोने को संचित धन नहीं मानते तो शृंगार के लिए उपयोग किये गए सोने को ऐसा क्यों मानें ? सच्ची बात यह है कि भारतवासी सोने तथा चाँदी के गहने दो उद्देश्यों से बनवाते हैं— निजी शृंगार के लिए तथा आपत्ति-काल में सहायता के लिए।[2] फिर भी इन दोनों प्रयोजनों में भेद करना

---

१. भारत में सोने का आयात कानून द्वारा बन्द है। तब भी चोरी-चोरी विदेशों से काफी सोना बंदरगाहों पर आता तथा बिकता है। भारत सरकार ने इस चोरी से किये आयात को रोकने के कड़े उपाय किये हैं। इसके तथा अच्छी फसलों के कारण किसान की बहुमूल्य धातुओं की बड़ी माँग के कारण स्वर्ण के मूल्य बढ़े हैं।

२. बैबिंगटन स्मिथ समिति ने भी इस व्यावहारिक सत्य को स्वीकार किया है कि जिस किसी भी हिन्दू या मुस्लिम महिला के पास सोने एवं चाँदी के आभूषण तथा आभूषण के ही रूप में परिवर्तित सिक्के होते हैं, उसे यह अधिकार है कि वह उन्हें अपनी निजी जायदाद समझे।

दो गैर-सरकारी संस्थाएँ राष्ट्रीय बचत की केन्द्रीय परामर्श समिति (नेशनल सेविंग्ज़ सेण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड) तथा राज्यीय परामर्श समिति—अल्प बचत आन्दोलन के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देती हैं।

४१. भारतीय बैंकरों की संस्था—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, हमारे देश में आधुनिक बैंकिंग की अज्ञानता १९१३-१४ के बैंक संकट का एक कारण थी। ३० अप्रैल, १९२८ को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट के अनुसार स्थापित इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ़ बैंकर्स (भारतीय बैंकरों की संस्था) का उद्देश्य इन्हीं त्रुटियों को कुछ हद तक दूर करने का है। इस संस्था के कुछ मुख्य उद्देश्य ये हैं—(१) विशेषत: भारतवर्ष में बैंकिंग कारोबार करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार, पद तथा हित की रक्षा तथा सहायता करना। (२) बैंकिंग के सिद्धान्त के अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा इसी उद्देश्य से एक व्यवस्था करना तथा इस सम्बन्ध में सर्टिफ़िकेट, छात्रवृत्ति तथा इनाम देना। (३) भाषणों, वादविवाद, समाचार-पत्रों, पुस्तकों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार द्वारा बैंकिंग तथा उससे सम्बद्ध विषयों की सूचना का प्रचार करना। (४) भारतीय बैंकिंग से सम्बद्ध आँकड़े इकट्ठा करना तथा उनका प्रसार करना।[1]

सितम्बर १९५४ में रिज़र्व बैंक ने अधिकोषों के निरीक्षक कर्मचारियों को अधिकोषीय व्यवहार की शिक्षा देने के लिए बम्बई में एक बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलिज की स्थापना की है। कॉलिज ने अब तक २६ पाठ्यक्रम (कोर्स) संचालित किये हैं, जिनमें देश-भर की विभिन्न बैंकों से ६३९ कर्मचारियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। १९५९-६० में पाँच पाठ्यक्रम संचालित किये गए तथा १३९ कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया गया। अब उप-प्रबन्धकों तथा खजांचियों आदि तक प्रशिक्षण-सुविधाओं का विस्तार करने की दृष्टि से एक माध्यमिक पाठ्यक्रम (इण्टरमीजियेट कोर्स) बनाकर बैंकों को भेजा गया है। राज्यीय वित्त निगम तथा रिफ़ाइनेन्स कारपोरेशन के सदस्य बैंकों के निरीक्षण-वर्ग के कर्मचारियों के लिए जुलाई १९६० से प्रारम्भ होने वाले 'औद्योगिक वित्त' के विशेष पाठ्यक्रम (एडवान्स कोर्स) की योजना भी रिज़र्व बैंक ने बनाई है। बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलिज अधिकोषीय प्रशिक्षण के क्षेत्र में बहुत बड़ी कमी दूर करेगा।

४२. बैंकों की वर्तमान स्थिति—१९६३ के मुकाबले में १९६४ में बैंकों का निक्षेप विशेषतया चालू जमा में था। बैंकों के ऋण में बढ़ोतरी का कारण एक तो यह था कि १९६३-६४ के व्यस्त समय में बहुत बढ़ोतरी हुई। मन्दे समय में इतनी अधिक संविदा साख में नहीं हुई। १९६४ में बैंकों में जमा पत्र ११.९ प्रतिशत से बढ़े और उनके ऋण १४.६ प्रतिशत बढ़े और इस प्रकार जमा-उधार अनुपात ७१.८ प्रतिशत हो गया। १९६४ में बैंकों (Scheduled) की संख्या ८० से गिरकर ७६ हो गई। एक विशेष बात यह है कि पहली जुलाई १९६० से लघु उद्योगों की साख गारन्टी स्कीम को और बढ़ाया गया और इस समय ९४ साख संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। जब से यह

अध्याय २५

वित्त और कर

१. परिचयात्मक विचार—१९१४-१८ के महायुद्ध के पहले समस्त भारत के लिए एक ही आय-व्ययक (बजट) होता था तथा प्रान्तीय सरकारों को स्वतन्त्र रूप से कर लगाने का अधिकार नहीं था। केवल केन्द्रीय सरकार को ही कर लगाने का अधिकार था। इस युद्ध के पश्चात् प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्धन से सर्वथा पृथक् कर दिया गया और भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा संघीय अर्थ-प्रबन्धन के ढंग पर विकसित हो रही है। अफीम, जो अभी हाल तक आय का एक महत्त्वशाली साधन था और जिसका मालगुजारी के बाद दूसरा स्थान था, लगभग पूर्ण रूप से भारत की परोपकारी अर्थ-व्यवस्था की नीति पर ज़ोर देने के फलस्वरूप लुप्त हो गया और जो थोड़ी-सी आय इस शीर्षक में बजट में दिखाई जाती है वह १९३५ के बाद से भारत में प्रयोग में आने वाली अफीम की बिक्री के उत्पाद-कर से प्राप्त होती है।

आय के केन्द्रीय शीर्षक

२. निराक्राम्य (कस्टम) प्रशुल्क का इतिहास—(क) १९१४-१८ के महासमर के पहले आयात प्रशुल्क पद्धति शुद्धरूपेण स्वतन्त्र व्यापार-नीति पर आधारित थी। इसके कारण बहुत साधारण आयात-कर लगाया जाता था। जो माल इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों से आता उस पर अंग्रेज़ी माल की तुलना में दूना कर लगाया जाता है।

मेनचेस्टर को प्रसन्न करने के विचार से भारतीय मिलों में तैयार किये हुए २० अथवा २० से अधिक काउण्ट के सूत पर भी ५% कर लगाया गया। सूत पर लगाये हुए इस कर से लंकाशायर को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए १८९६ में सूती वस्त्रों पर आयात-कर की दर घटाकर ३½% कर दी गई और उसी दर से भारतीय मिलों में बने हुए कपड़ों पर लगा दिया गया; सूत को—चाहे देशी अथवा विदेशी हो—इस कर से पूरी छूट दे दी गई।

भारत में इस कर का घोर विरोध हुआ। इस उत्पाद-कर से मेनचेस्टर को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाए बिना ही भारत को घाटा हो रहा था। सर जेम्स वेस्टलैण्ड के कथनानुसार भारत के ९४% सूती वस्त्र के निर्माण से मेनचेस्टर की प्रतिद्वन्द्विता की कोई सम्भावना ही न थी। भारतीय माल के मोटे होने के कारण महीन वस्त्रों के सम्बन्ध में मेनचेस्टर का एकाधिकार ही था और उसका अधिकांश

और सिनेमा फ़िल्मों पर लगाए कर की दर में विशेष वृद्धि कर दी। (२) २½ से १५ प्रतिशत अतिरिक्त कर अधिभार के रूप में लगा दिए। १ नवम्बर १९३१ के पूरक वित्त अधिनियम ने रुई, मशीनरी, रंग, कृत्रिम रेशमी सूत, रेशमी वस्त्र, बिजली के बल्ब आदि वस्तुओं के आयात-करों में वृद्धि कर दी, और प्रचलित आयात-कर तथा अधिकर, जो पिछले अधिनियम ने लागू कर रखे थे, की एक-चौथाई मात्रा का अधिभार लगा दिया।

भारतीय प्रशुल्क (तृतीय संशोधित) अधिनियम (मई, १९३९) ने ऐसे परिवर्तनों को कार्यरूप दिया जो भारत और इंगलैण्ड के बीच हुए नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत थे। इस समझौते ने पिछले उटावा समझौते का स्थान ले लिया। इस नये समझौते के अनुसार भारत के लिए इंगलिस्तान को ७½ प्रतिशत प्रशुल्क अधिमान विशेष प्रकार की मोटरगाड़ियों पर तथा १० प्रतिशत का अधिमान किन्हीं विशेष वस्तुओं पर देना आवश्यक हो गया।[1] इस नये समझौते के अन्तर्गत इंगलैण्ड के सूती कपड़ों पर आयात-कर में भी कमी की गई। १९४१ के वित्त-अधिनियम ने कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे पर आयात-कर ३ आने से ५ आने कर दिया। १९४२-४३ में वर्तमान आयात प्रशुल्क के ऊपर (कपास, पेट्रोल और नमक को छोड़कर) सभी वस्तुओं पर २० प्रतिशत का निराक्राम्य अधिभार लगा दिया गया। पेट्रोल पर भी २५% टैक्स वढ़ा दिया गया। १९४४ में तम्बाकू और स्प्रिट पर भी अधिभार बढ़ा दिया गया। १९४२ में कॉटन फण्ड आर्डिनेन्स के अन्तर्गत १ आना प्रति पौण्ड के कर को मिलाकर २ आना प्रति पौण्ड (बिना अधिभार के) कर दिया गया जो कि पूर्णरूपेण भारतीय प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत लागू किया जा सकता था; और विदेश से मँगाये हुए सोने के सिक्के पर २५ रु० प्रति तोला, जिसमें १८० ग्रेन शुद्ध सोना हो, का प्रामाणिक कर (बिना अधिभार के) लगाया गया तथा चाँदी पर ३ आना ७ पाई के वर्तमान कर (जिसमें अधिभार सम्मिलित है) को ८ आना प्रति औंस (बिना अधिभार के) कर दिया गया।

१९४८-४९ में मोटरकार पर आयात-कर ४५% से ५०% कर दिया गया, पर इंगलिस्तान को ७½% का अधिमान दिया गया। दियासलाई पर कर प्रति ग्रुस १ रु० १२ आना से २ रु० ८ आना कर दिया गया और टायरों पर ५०% कर बढ़ा दिया गया (जो अगले वर्ष और अधिक बढ़ाया गया)।

१९४९-५० में मोटर की स्पिरिट पर आयात-कर १२ आने से १५ आने प्रति गैलन (ऐसी ही वृद्धि उत्पादन-कर में भी की गई) कर दिया गया। मोटरों में प्रयुक्त टायरों के मूल्य पर कर १५% से ३०% कर दिया गया और सुपारी पर कर ५ आना प्रति पौण्ड से ७½ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया, परन्तु अंग्रेज़ उपनिवेशों से मँगाई हुई सुपारी पर ६ पाई प्रति पौण्ड का अधिमान मिलता रहा।

---

१. विशेष विवरण के लिए अध्याय ७ देखिए।

आय के ही दृष्टिकोण से नियमित थे। कुछ कर इतनी ऊँची दर के थे कि उनका प्रभाव निश्चित रूप से संरक्षणात्मक होता था। इससे वर्तमान अव्यवस्थित संरक्षण-प्रणाली के स्थान पर, जो अनायास स्थापित हो गई थी, एक सुव्यवस्थित विचारपूर्ण संरक्षण-प्रणाली की स्थापना की आवश्यकता का लोगों को अनुभव हुआ। १९२४ के स्टील प्रोटेक्शन एक्ट के पास होने के बाद से अनेक संरक्षण-करों का आरोप किया गया। उटावा ट्रेड एग्रिमेण्ट (१९३२) तथा इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रिमेण्ट (१९३९) के परिणामस्वरूप भारतीय प्रशुल्क-पद्धति सम-व्यवहार वाली न रह सकी, क्योंकि उसमें इंगलिस्तान, उपनिवेशों और संरक्षक शासनाधीन राज्यों से आने वाली कुछ वस्तुओं को अधिमान प्राप्त थे। इस प्रकार विभिन्न देशों की वस्तुओं के आयात के सम्बन्ध में विभिन्न नीति बरती जाती थी।

१९३४ के वित्त अधिनियम ने कच्चे चमड़े पर लगा निर्यात-कर उठा दिया, क्योंकि चमड़े का निर्यात-व्यापार विशेषकर जर्मनी से घटता जा रहा था। १९३५ के अधिनियम ने सामान्य निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कच्चे पशु-चर्म पर लगे निर्यात-कर को हटा दिया। १९४० के एग्रिकल्चरल प्रोड्यूसर्स एक्ट के अन्तर्गत कुछ विशेष वस्तुओं पर, जैसे हड्डी, मक्खन, गेहूँ, बीज, चमड़ा, तम्बाकू, कच्चा ऊन इत्यादि, जिन पर अभी तक कोई निर्यात-कर अथवा किसी प्रकार का उप-कर नहीं लगा हुआ था, राजकीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ़ एग्रिकल्चरल रिसर्च) की आर्थिक स्थिति को दृढ़तर बनाने के दृष्टिकोण से $\frac{1}{2}\%$ का उप-कर लगा दिया गया। १९४६ में चाय और रूई पर नये निर्यात-कर लगाये गए और जूट के निर्यात पर कर बढ़ा दिया गया। १९४७ में चाय पर निर्यात-कर २ आ० से ४ आ० प्रति पौण्ड कर दिया गया। १९४८-४९ में (१) कपड़े का निर्यात-कर २५% के मूल्यानुसार कर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। (करघे द्वारा निर्मित वस्त्रों को छोड़ दिया गया), (२) सूत पर लगाया हुआ कर उठा दिया गया, और (३) ८० रु० प्रति टन का निर्यात-कर तिलहन पर और १६० रु० प्रति टन का निर्यात-कर वनस्पति तेल पर लगा दिया गया। (अगले वर्ष दोनों कर उठा लिये गए)। १९४९-५० में १५% का एक नया मूल्यानुसार कर सिगार, सिगरेट और चुरुट पर लगा दिया गया।

निराक्राम्य-करों (कस्टम्स्) से प्राप्त आय १९६१-६२ में १९६०-६१ के संशोधित अनुमान की तुलना में १ करोड़ रु० अधिक होगी। कुल मिलाकर १९६१-६२ में ४१ मदों पर निराक्राम्य-कर की दर बढ़ा दी गई, जैसे अनिर्मित तम्बाकू, सुपारी आदि, जिनकी चर्चा की जा चुकी है। १९६५-६६ के बजट के आगणन के अनुसार यह ५०१ करोड़ रुपये थी और १९६६-६७ में ५६१ करोड़ रुपये की सम्भावना है।

४. केन्द्रीय उत्पाद-कर—उत्पाद-कर केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधनों में से है। १९६०-६१ में १४ वस्तुओं पर केन्द्रीय उत्पाद-कर लगा था; उदाहरण के लिए मोटर, स्पिरिट, मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, लोहा, टायर, तम्बाकू, वनस्पति घी, सुपारी, कहवा, चाय और कोयला आदि। मिट्टी के तेल का उत्पादन

शिल्पियों और व्यापारियों पर लाइसेन्स-कर, दुर्भिक्ष-बीमा-अनुदान (फ़ेमीन इन्श्योरेन्स ग्राण्ट) के खर्चे के एक अंश को पूरा करने के लिए आरोपित कर दिया गया और १८७८ में इसके लिए उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास, बंगाल और बम्बई प्रान्तों में अधिनियम पास कर दिये गए। ये अधिनियम १८८६ तक लागू रहे। १८७८ का लाइसेन्स-कर १८८६ के आय-कर अधिनियम द्वारा साधारण आय-कर के रूप में परिणत कर दिया गया, जो समस्त भारत पर लागू हुआ। इस अधिनियम के अनुसार कृषि के अतिरिक्त आय के अन्य सभी साधनों पर कर लगा दिया गया। ५०० रु० से लगाकर २००० रु० तक की आय पर, चाहे वह वेतन से प्राप्त हो या प्रतिभूतियों के ब्याज से प्राप्त हो, प्रति रुपया ४ पाई कर लगा दिया गया, और २००० रु० के ऊपर की आय और कम्पनियों के लाभ पर ५ पाई प्रति रुपया कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त कर का और कोई वर्ग न था। इसी प्रकार के अन्य साधनों से प्राप्त आय पर लगभग इसी दर से कर लगाया गया। दान तथा धार्मिक संस्थाओं की आय को छोड़ दिया गया। १९०३ में आर्थिक स्थिति के अच्छे होने के कारण ५०० रु० से १००० रु० तक की आय की छूट प्रदान कर दी गई।

१९१४ के पहले आय-कर से प्राप्ति बहुत कम थी, अर्थात् लगभग ३ करोड़ रुपये के लगभग थी, और धनी वर्ग के लोग बड़ी आसानी से ही मुक्त हो जाते थे। १ अप्रैल, १९३७ से बर्मा के अलग हो जाने से १.४० करोड़ रुपये का घाटा हुआ। १९४२-४३ में अधिक-से-अधिक प्रतिशत अनुपात ६४%, १९४३-४४ में ६६·८% और १९४४-४५ में ६८·१% थे।

आय-कर से प्राप्त धनराशि-सम्बन्धी इधर हाल के आँकड़े इस प्रकार हैं—

१९५६-५७	२०२·९२ करोड़ रु० (एकाउन्ट्स)
१९५७-५८	२१९·८३ करोड़ रु० (एकाउन्ट्स)
१९५८-५९	२१८·५० करोड़ रु० (बजट का संशोधित अनुमान)
१९५९-६०	२२५·०० करोड़ रु० (बजट)

केवल १९५८-५९ के वर्ष को छोड़कर प्रतिवर्ष आय-कर से प्राप्ति बढ़ती रही है। १९५७ के वर्ष में यह देखा गया कि यदि अधिकर और अधिभार को छोड़ दिया जाए तो सबसे अधिक आय-कर १५००१—२०,००० रु० के वर्ग से प्राप्त हुआ।

१९६१ के वित्त अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक विवाहित हिन्दू और अविभाजित हिन्दू परिवार, जिनकी आय २०,००० रु० (वार्षिक) से अधिक नहीं है, के लिए निम्न दरें प्रस्तावित की गई हैं। विवाहित व्यक्ति के लिए, यदि उसके कोई बच्चा न हो, कर-मुक्त आय ३००० रु० है। यदि उस पर एक बच्चा ही आश्रित हो तो कर-मुक्त आय की सीमा ३३०० रु० होगी तथा दो या दो से अधिक बच्चों के आश्रित होने पर कर-मुक्त आय की सीमा ३६०० रु० होगी।

कुल आय में १ लाख रु० से अधिक अर्जित आय होने पर अधिभार की दर में परिवर्तन हो जाता है। विशेष अधिभार भी लगता है। १९६१ के वित्त अधिनियम में आय-कर अधिनियम के सम्बन्ध में कुछ संशोधन भी हुए हैं। उदाहरण के

ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी कि थोड़ी संख्या वाले धनी लोगों से वसूली अधिक हो और निर्धनों पर भार कम हो तथा कुल वसूली भी पहले की अपेक्षा अधिक मिल सके। अधिनियम की बहुत-सी आज्ञाएँ जाइंट स्टॉक कम्पनियों से सम्बन्ध रखती थीं, विशेषकर अवक्षयरण अधिदेय (डेप्रिसिएशन एलाउन्स) की परिवर्तित व्यवस्था के कारण इस अधिनियम में पारिवारिक अधिदेय के रूप में आय-कर में छूट देने की व्यवस्था नहीं थी। पारिवारिक अधिदेय (फ़ेमिली एलाउन्स) देने के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह थी कि ऐसी छूट बहुत बड़ी संख्या से देनी पड़ेगी जो छूट बहुत मँहगी सिद्ध होगी।

७. कृषि-आय पर कर—आय-कर के सुधार का दूसरा अंग कृषि-आय पर कर से सम्बन्धित था। सर वाल्टर लेटन ने इस बात की सिफारिश की थी कि कृषि-आय की कर-मुक्तता निश्चित अवधि में धीरे-धीरे हटा देनी चाहिए। यह तर्क कि अन्य देशों में मालगुज़ारी आय-कर के ही स्थान पर वसूल की जाती है और यदि आय-कर भी आरोपित कर दिया जाए तो एक प्रकार से दुहरा कर लग जाएगा, युक्तिसंगत नहीं लगता; क्योंकि मालगुज़ारी उत्पादकता की वृद्धि के अनुपात में अस्थायी बन्दोबस्त में ही नहीं बढ़ाई जा सकती और स्थायी बन्दोबस्त में तो बिलकुल ही नहीं बढ़ाई जा सकती है। बार-बार तथा पर्याप्त मात्रा में मालगुज़ारी में हेर-फेर करने से बहुत-सी राजनीतिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और बड़े-बड़े भूस्वामियों के साथ-ही-साथ छोटों पर भी उसका अनुचित भार पड़ता है। यदि कृषि-आय पर कर आरोपित कर दिया जाए तब ये आपत्तियाँ उपस्थित नहीं होतीं। भूमि-सम्बन्धी लेखा सुरक्षित रखने तथा प्रशासन और मालगुज़ारी वसूल करने से सम्बन्धित वर्तमान विशद पद्धति का प्रयोग कृषि-लाभ का अनुमान करने में बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है। इस कर का एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हर प्रकार की आय—कृषीय तथा ग़ैर-कृषीय आय—का हिसाब रखने के कारण उन लोगों की, जिनके पास भूमि भी है, ग़ैर-कृषीय आय पर ऊँची दर से आय-कर आरोपित किया जा सकेगा। इसके साथ-ही-साथ यह परिवर्तन करके बचाव के लिए उद्योगों में बचाये हुए धन को भूमि में लगाने की प्रवृत्ति की रोकथाम भी करेगा।

१९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट ने प्रत्येक प्रान्त को व्यक्तिगत रूप से अनुमति दे रखी थी कि यदि वे चाहें तो अपने प्रान्त की कृषि-आय पर कर आरोपित कर सकते हैं। १९३९ में आसाम की धारासभा ने कृषि-आय-कर विधेयक, जिसे सरकार की ओर से पेश किया गया था, थोड़े-से वोटों के आधिक्य से पास कर दिया। बंगाल, बिहार और ट्रावनकोर ने भी आसाम का अनुकरण किया और कृषि-आय पर कर लगा दिया।

हैदराबाद में कृषि-आय पर १९५०-५१ में कर लगाया गया, परन्तु विधान और नियमों के लागू न हो सकने के कारण उस वर्ष यह कर वसूल न किया जा सका। कृषि-आय पर कर लगाने के सम्बन्ध में राजस्थान के विधानमण्डल ने २९ अप्रैल, १९५३ को कानून पास किया। १९५४-५५ के बजट में मद्रास सरकार ने

करता है कि जम्मू और काश्मीर, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को छोड़कर शेष सभी राज्यों में स्थित कृषि-भूमि पर यह लागू होगा। १९५९-६० में इस कर से २·७८ करोड़ रु० प्राप्त हुए। सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू ने संशोधित अधिनियम को लागू करने के लिए उत्तराधिकार-कर नियमों में आवश्यक सुधार कर लिया है। १९६६-६७ में भू-सम्पत्ति कर नियम में कुछ परिवर्तन किए जाएँगे, जिससे ७० लाख रुपया सरकार को अधिक मिलेगा। १ लाख रुपये को छोड़कर बाकी सारी रकम राज्य सरकारों को बाँट दी जाएगी।

९. सम्पत्ति-कर (वैल्थ टैक्स)—इस कर के सम्बन्ध में डॉ० काल्डर ने अपनी रिपोर्ट (रिपोर्ट ऑन इण्डियन टैक्स रिफार्म) में सुझाव दिया था। यह कर एक व्यक्ति की वास्तविक सम्पत्ति पर लगता है। यह कर वार्षिक है तथा व्यक्तियों पर दो लाख रु० तक नहीं लगता। वास्तविक सम्पत्ति कुल सम्पत्ति के मूल्य से देय-ऋण घटा देने पर मालूम होती है। इस कर के लिए निजी स्वामित्व के अन्तर्गत चल और अचल सभी प्रकार की सम्पत्ति है; किन्तु कुछ सम्पत्तियाँ विशेष रूप से मुक्त हैं। उदाहरण के लिए—

(१) कृषि-भूमि।
(२) ट्रस्ट के अन्तर्गत दातव्य सम्पत्ति।
(३) लकड़ी का सामान, बरतन आदि।
(४) ज़ेवरात २५००० रु० तक।
(५) ड्राइंग, चित्रकारी आदि।
(६) अदायगी के लिए अपरिपक्व बीमा पॉलिसी की रकम।
(७) नये औद्योगिक संस्थानों के हिस्से आदि।

१०. व्यय-कर (एक्सपेन्डीचर टैक्स)—यह पूर्णतः वैयक्तिक कर है, जो व्यक्तियों तथा अविभाजित हिन्दू परिवारों के वैयक्तिक उपयोग पर किये व्यय पर लगता है। यह कर कम्पनियों पर लागू नहीं होता। निम्न व्यय कर-मुक्त हैं—

(१) अचल सम्पत्ति प्राप्त करने पर व्यय।
(२) बौंड, निक्षेप (डिपाज़िट), हिस्से और प्रतिभूतियों में विनियुक्त धन।
(३) उधार लिये ऋण की अदायगी।
(४) उपहार।
(५) जीवन-बीमा तथा आग और चोरी के बीमा का प्रीमियम।
(६) दिये गए कर।
(७) किसी दावे (कचहरी के) में किये गए वैधानिक व्यय।
(८) निश्चित सीमा के अन्दर अपने आश्रितों के विवाह, इलाज, शिक्षा आदि पर व्यय।

१९६६-६७ के बजट के अनुसार इसको हटा देने का निश्चय किया गया है, क्योंकि इसमें कर कम इकट्ठा होता है और कर इकट्ठा करने पर बहुत धन व्यय हो

आय भारत में उपयोग के लिए उसकी बिक्री पर सीमित है जो बहुत ही नियमित है।

आजकल अफ़ीम से प्राप्त आय पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई है, जबकि १९१३ के पहले के तीन वर्षों की वार्षिक औसत आय लगभग ८ करोड़ रुपये थी, १९५६-५७ में केवल २.३० करोड़ रुपये[1] से भी कम हो गई है। १९५९-६० में अफ़ीम से प्राप्त आय ४.१९ करोड़ रु० थी। १९६०-६१ के बजट (संशोधित) अनुमान के अनुसार प्राप्त आय ५.६६ करोड़ रु० थी तथा १९६१-६२ के बजट अनुमान में अफीम से प्राप्त आय ६.२५ करोड़ रु० आँकी गई है।[1]

राज्यीय आय के साधन

१३. मालगुज़ारी—खण्ड १ के अध्याय १२ में इस विषय पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। १९५६-५७ में कुछ प्रमुख राज्यों की मालगुज़ारी की आय इस प्रकार थी—आन्ध्र ७.५१ करोड़ रु०, आसाम २.२४ करोड़ रु०, केरल १.०५ करोड़ रु०, उड़ीसा १.५८ करोड़ रु०, उत्तर प्रदेश १९.०८ करोड़ रु० तथा पश्चिमी बंगाल ४.४ करोड़ रु०। १-११-११५६ से ३१-३-१९५७ की अवधि के लिए पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मद्रास तथा बिहार की मालगुज़ारी आय क्रमशः १.५६ करोड़ रु०, २.३५ करोड़ रु०, ४.२२ करोड़ रु०, २.४२ करोड़ रु० तथा ३.६५ करोड़ रु० थी।[2]

१४. आबकारी (एक्साइज़)—आबकारी की आय नशे की वस्तुओं, जैसे गाँजा, भाँग, अफ़ीम इत्यादि, के बनाने तथा बिक्री से प्राप्त होती है।

मद्यपान के दोष को रोकने के विषय में इस बात पर सभी सहमत हैं कि बड़े साहस और अध्यवसाय के साथ काम करना आवश्यक है, पर यह कैसे किया जाए इस पर एकमत नहीं हैं। कांग्रेस मंत्रिमण्डलों द्वारा प्रान्तीय सरकार का कार्य-भार अपने हाथों में लेने के पहले सरकार यथासम्भव मूल्य बढ़ा देने के उपाय पर विशेषतया निर्भर थी, परन्तु मूल्य इतना अधिक नहीं बढ़ाया जाता था कि अवैध रूप से शराब बनाना आरम्भ हो जाए। शराब के उपयोग में कमी करने के दूसरे उपाय राशनिंग, दुकानों की संख्या में कमी, पास रखी जाने वाली शराब की मात्रा में कमी, शराब की तेज़ी में कमी, बिक्री के घण्टों में कमी आदि थे। बहुत-से प्रान्तों ने मद्य-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जो कि विभिन्न प्रान्तों की स्थानीय स्थिति और इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाई को सहन करने की शक्ति पर निर्भर था। इस मामले में मद्रास सरकार ने बड़े साहस से सलेम ज़िले में पूर्ण मद्य-निषेध करके नेतृत्व किया। बिहार ने इसका अनुकरण किया। जुलाई, १९३८ में बम्बई ने अहमदाबाद नगर में तथा अगस्त, १९३९ में बम्बई नगर तथा टापू में पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित

१. ये केन्द्रीय सरकार की आय से सम्बन्धित आँकड़े हैं।

१. देखिए, इण्डिया १९६१, पृ० २१५।

२. देखिए, स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट १९५७-५८, पृ० २१७-२२१।

बम्बई में है।

(२) **वन**—इस साधन से आय मुख्यत: लकड़ी तथा अन्य उत्पत्ति की बिक्री, पशु चराने की फीस, पेड़ों तथा जंगल की अन्य उत्पत्ति को काटने के लाइसेन्स की फीस द्वारा प्राप्त होती है। इस प्राप्त आय की वृद्धि की बहुत अच्छी सम्भावना दिखाई पड़ती है। राज्यीय सरकारें, जिनके अधिकार में ये जंगल दे दिये गए हैं, प्रतिवर्ष करीब २½ करोड़ रुपये का वास्तविक लाभ आर्थिक अवसाद-काल के आरम्भ तक उठाती रही हैं। १९५६-५७ में विभिन्न प्रान्तों के वनों से निम्न आय प्राप्त हुई—आंध्र १.५८ करोड़ रु०, आसाम ९९·२६ लाख रु०, बम्बई २·९३ करोड़ रु०, बिहार ५७·१९ लाख रु०, मध्य प्रदेश ३·३५ करोड़ रु०, मद्रास ६७·६५ लाख रु० तथा उत्तर प्रदेश ५·०२ करोड़ रु०।[1] जंगलों से अधिक और स्थायी आय प्राप्त करने के लिए आरम्भ में बहुत अधिक खर्चे की आवश्यकता है।

(३) **रजिस्ट्रेशन**—रजिस्ट्रेशन से आय न्यायालयों में प्रयोग किये जाने वाले स्टाम्पों से प्राप्त आय की ही तरह होती है और विशेषकर रजिस्ट्री किए जाने वाले प्रलेखों (डाक्यूमेंट) के मूल्य पर निर्भर होती है। दानपत्रों तथा स्थायी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में रजिस्ट्री होना अनिवार्य है और अन्य मामलों में ऐच्छिक। रजिस्ट्रेशन की फीस को एक प्रकार से सेवाओं का मूल्य कह सकते हैं। इससे लाभ तर्क में स्थिरता, उभय पक्ष वालों का सारी कार्यवाही को प्रकाशित कर देने के लिए बाध्य होना तथा लिखा-पढ़ी में एक सन्तोषप्रद सबूत का होना, जिससे या तो भविष्य में मुकदमेबाज़ी कम हो जाए अथवा न्यायालयों में उनका निर्णय जल्दी हो जाए, आदि है।

(४) **परिगणित टैक्स**—१९२१ के सुधारों के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को इन करों के आरोप का अधिकार दे दिया गया था, पर प्रान्तों ने इन करों के विशेष लाभदायक न होने अथवा किसी अन्य कारण से अपने इस अधिकार का समुचित रूप से प्रयोग नहीं किया। जुए और मनोरंजन पर कर अनेक प्रान्तों द्वारा लगाये गए हैं; जैसे बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और आसाम। उनसे प्राप्त आय बढ़ रही है।

१६. प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के अन्तर्गत नये कर : बिक्री-कर—गवर्नमेण्ट ऑफ़ इंडिया एक्ट १९३५ के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के १ अप्रैल १९३७ से आरम्भ होने के कारण प्रान्तों में कुछ ऐसे नये कर लगाये गए जिनके आरोपण का अधिकार उन्हें नये विधान में प्राप्त था। इन नये करों के आरोपित करने का आशय आय और व्यय के बीच के व्यवधान को पूरा करता था। यह व्यवधान कुछ तो कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की मद्यपान-निषेध नीति और कुछ सामाजिक सेवा-संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए किये गए व्यय के कारण उत्पन्न हो गया था। इन नये करों से, जिन्हें प्रान्तों ने प्रचलित किया, बिक्री-कर (सेल्स टैक्स) यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बम्बई के १९३९ के बिक्री-कर अधनियिभ (सेल्स टैक्स एक्ट) के अनुसार चुनी हुई दो वस्तुओं—मोटर स्पिरिट तथा मशीनों द्वारा निर्मित वस्त्र—की फुटकर

१. बम्बई, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मद्रास की आय १-११-५६ से ३१-३-५७ तक के लिए है।

१७. भारत में सार्वजनिक व्यय—सार्वजनिक व्यय का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है।[1]

(१) राष्ट्रीय सुरक्षा—पैदल सेना, समुद्री सेना और हवाई सेना, सरहदी तथा सैनिक महत्ता वाली रेलें, बन्दरगाह तथा रक्षा से सम्बन्धित कारखाने और युद्ध, जैसे सरहदी मोर्चा इत्यादि, पर किया जाने वाला व्यय इसके अन्तर्गत आता है।

(२) आन्तरिक शांति और व्यवस्था कायम रखना—इसके अन्तर्गत (क) पुलिस, न्यायालय और जेल पर किया जाने वाला व्यय, (ख) सामान्य प्रशासन का व्यय, (ग) कर-वसूली पर किया जाने वाला व्यय, (घ) राजनीतिक व्यय, जिसमें विधानमण्डल पर खर्चा, विदेशों के प्रतिनिधियों तथा राजदूतों पर किया जाने वाला व्यय और (च) कर्मचारियों की पेन्शन, भत्ते तथा अन्य व्यय आते हैं।

(३) राष्ट्रीय उन्नति—इसके अन्तर्गत (क) नैतिक तथा (ख) आर्थिक उन्नति के हेतु किये जाने वाला व्यय आता है। पहले शीर्षक में वैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा, उपचार तथा सफाई-सम्बन्धी खर्चे और दूसरे शीर्षक में रेल, सिंचाई, सरकारी सड़कों तथा इमारतों के बनाने के विभाग पर खर्च, कृषि तथा अकाल पर व्यय; तार और डाक पर खर्च और सरकारी ऋण पर दिये जाने वाला ब्याज आदि आते हैं। अनुत्पादक ऋण का ब्याज पहले अथवा दूसरे शीर्षक के ही अन्तर्गत रखा जाना चाहिए।

भारत का सार्वजनिक व्यय लगातार बढ़ता रहा है। स्वर्गीय गोखले ने बहुत दिन हुए कहा था, "राजकीय व्यय की वृद्धि हमेशा चिन्ता और भय का कारण नहीं होनी चाहिए।" इस बारे में बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर रहता है कि व्यय की वृद्धि किसलिए की गई है तथा उसका परिणाम क्या हुआ है।

सितम्बर, १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने और विशिष्ट रूप से १९४१-४२ के पश्चात् जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने के बाद रक्षा का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया।

युद्ध छिड़ जाने के ठीक पूर्व भारतीय सेना को नवीनतर रूप देने के सम्बन्ध में चेटफील्ड कमेटी के सुझावों को इंगलैंड तथा भारत की सरकार ने स्वीकार कर लिया था। भारतीय सेना को नवीनतम रूप देने के व्यय का अनुमान लगभग ४५·७७ करोड़ रुपये कर दिया गया था, जो इंगलैण्ड की सरकार से ५ वर्ष के अन्दर प्राप्त होने वाला था, जिसका $\frac{3}{4}$ भाग तो भेंट के रूप में और बाकी $\frac{1}{4}$ कर्ज के रूप में था, जिसे भारत सुविधा के साथ धीरे-धीरे लौटाता। युद्ध छिड़ जाने के कारण इन प्रस्तावों पर फिर से विचार करना आवश्यक हो गया, क्योंकि सेना का अभिनवीकरण तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार तथा बढ़े हुए मूल्य के आधार पर होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त भारत में ही पूरी शक्ति पर उत्पत्ति करने के लिए बहुत अधिक खर्चे की आवश्यकता थी, ताकि कारखानों, युद्ध और आवश्यकताओं की

१. देखिए, शाह, 'सिक्स्टी ईअर्स ऑफ़ इण्डियन फ़िनान्स', पृष्ठ ४४-४६।

सेना के भारतीयकरण की योजना लगभग पूर्णतया कार्यान्वित हो चुकी है और अब लगभग सारी सैन्य-शक्ति भारतीयों से ही निर्मित है। स्वतन्त्रता के बाद रक्षा-व्यय के बढ़ने के प्रधान कारण विभाजन के फलस्वरूप भारत की सीमा का बढ़ जाना, देशी राज्यों की रक्षा का भार भारत के कन्धों पर पड़ना, रक्षा के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता का प्रयत्न करना, आदि हैं।

१९५१-५२ के बाद सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि हुई है। १९५१-५२ में केन्द्र तथा राज्यीय सरकारों का कुल व्यय ९९८ करोड़ रु० था। १९५५-५६ में यह राशि १,४७० करोड़ रु० हो गई तथा १९६०-६१ के बजट-अनुमान के अनुसार यह २,५८७ करोड़ रु० है। हर्ष की बात यह है कि सार्वजनिक व्यय की यह वृद्धि चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि वृद्धि मुख्यतः विकास-कार्यों पर व्यय बढ़ने के कारण हुई है। विकास-कार्यों पर किए जाने वाले व्यय का कुल व्यय से अनुपात १९५१-५२ में ४८ प्रतिशत, १९५५-५६ में ६० प्रतिशत तथा १९६०-६१ में ६६ प्रतिशत था। केन्द्रीय सरकार का कुल खर्चा राजस्व-लेखा के लिए १९६६-६७ के लिए २१७० करोड़ रुपया निर्धारित किया गया, जिसमें से रक्षा-व्यय ७९८ करोड़ रुपया और नागरिक प्रशासन के लिए १३७२ करोड़ रुपया और पूंजी लेखा २२०७ करोड़ रुपया होगा। कुल व्यय ६२७, विकास के लिए ५२७, अविकसित १०० तथा रक्षा के लिए १२१ करोड़ रुपये होगा।

१८. नागरिक प्रशासन पर व्यय—नागरिक प्रशासन पर व्यय में हुई वृद्धि के सम्बन्ध में लोगों का सामान्य विरोध यही था कि भारतीय प्रशासन संसार-भर में सबसे अधिक मँहगा था और जो वेतन तथा भृत्ति उच्चाधिकारियों को दिए जाते थे, जिसमें कुछ दिन पहले तक अधिकतर अंग्रेज ही थे, बहुत अधिक थे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ हो जाने के बाद से प्रशासन पर व्यय बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध के समय अनेक विभागों के विस्तार की आवश्यकता थी, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि युद्ध समाप्त हो जाने पर व्यय का स्तर पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचा था। युद्ध के पहले शासन-व्यवस्था पर व्यय १·८७ करोड़ रुपया था। १९४४-४५ में, जबकि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था, यह व्यय ४·२४ करोड़ रु० था, १९४६-४७ में यह ६·२३ करोड़ रु० था और १९४७-४८ में अनुमान किया गया कि उसमें ९ लाख रु० की कमी होगी।

वर्तमान समय में व्यय-वृद्धि अंशतः सरकार द्वारा वेतन आयोग (पे कमीशन) की सिफ़ारिशों की स्वीकृति तथा विकास-योजनाओं के परिणामस्वरूप विभागीय सेवाओं की स्थापना तथा प्रसार के कारण है। पर यह भी मानते हैं कि अपव्यय दूर करने तथा ख़र्च कम करने का बहुत अवसर है। प्रशासन के प्रत्येक विभाग में मित-व्ययता के गम्भीर प्रयत्नों की सबसे बड़ी आवश्यकता है और जिन लोगों के अधिकार में सरकारी कोष है उन्हें कर देने वाले के दृष्टिकोण से अपनी स्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिए तथा उसके व्यय के ढंग में पूरी जागरूकता का परिचय देना चाहिए।

तालिका से प्रकट है—[१]

करोड़ रुपयों में

आय के शीर्षक	कर-भार की मात्रा जो वहन की गई	
	धनी वर्ग द्वारा	निर्धन वर्ग द्वारा
निराकाम्य-कर ...	२०	२१
मालगुज़ारी और सिंचाई-कर ...	२०½	२१½
आय-कर ...	२०	...
उत्पाद-कर ...	...	२०
नमक ...	१¼	७½
जंगल और रजिस्ट्रेशन ...	२	५
स्टाम्प ...	६½	६½
रेलवे ...	३३	६०
डाकखाना ...	५	५½
नगरपालिका-कर ...	३	१०
ज़िला परिषद-कर ...	...	१०
कुल	१११¼	१६७

इस तालिका से प्रो० शाह इस निर्णय पर पहुँचे कि 'आर्थिक दृष्टि से जो कमज़ोर तथा कम योग्य थे वे ही लोग भार में कर-भार का अधिकांश वहन करते थे। रेल, डाक आदि कुछ करों को अपवाद मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि जबकि धनी वर्ग १०० करोड़ रुपया कर के रूप में देते हैं तो निर्धन वर्ग के लोग १५० करोड़ रुपया देते हैं। परिवार की १००० रु० और इससे अधिक औसत वार्षिक आय के दृष्टिकोण से कर की कुछ वसूली, ६०० करोड़ रुपये की आमदनी में से, जोकि कुल जनसंख्या के $\frac{1}{२५}$ अंश से कम लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, लगभग १०० करोड़ रुपये के होती है; और बाकी १५० करोड़ रुपया १००० या १२०० करोड़ रुपये की कुल आमदनी में से, जो बाकी जनसंख्या के ९६% लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, वसूल किया जाता है। यह वितरण मितव्ययी अथवा न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।'

इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स के सलाहकार श्री ए० सी० सम्पत आयंगर

---

१. देखिए, शाह और खम्बाटा, 'वेल्थ एण्ड टेक्सेबल केपेसिटी', पृष्ठ २८९-९१, और शाह, 'सिक्सटी ईअर्स ऑफ़ इण्डियन फिनांस', दूसरा संस्करण, पृष्ठ ३७३-७४।

कारण हुए व्यय के अतिरिक्त भारत पर अफगानिस्तान के आक्रमण के कारण भी कठिनाइयाँ बढ़ गईं, जिसके फलस्वरूप कई करोड़ रु० का खर्च बढ़ गया। इसके अतिरिक्त सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का खर्च भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। रेल-प्रबन्ध का खर्च भी बहुत बढ़ गया और व्यापारिक अवसाद के कारण, जो युद्ध के पश्चात् क्षणिक अभिवृद्धि-काल के समाप्त होते ही आरम्भ हो गया था, आमदनी घट गई। रेल की आय की कमी के अतिरिक्त आय-कर से होने वाली प्राप्ति में भी कमी आ गई थी। इन सब कारणों का संयुक्त प्रभाव १९१४-२२ के बीच के काल में करों की वृद्धि के होते हुए भी घाटे के बजटों में लक्षित हुआ।

रिट्रेंचमेण्ट कमेटी[1] (१९२२-२३) की सिफारिशों के अनुसार १९२३-२४ में असैनिक व्यय में ६·६ करोड़ रुपये की कमी और सैनिक व्यय में ५·५ करोड़ रु० की कमी की गई। परन्तु बजट के असन्तुलन को सँभालने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं था और वाइसराय को नमक-कर दूना अर्थात् १ रु० ४ आने से २ रु० ८ आने करने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९२३-२४ में स्थिति ने पलटा खाया और आय के अनुमान से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरतने, रुपये की विदेशी विनिमय-दर १ शि० ६ पैं० पर निश्चित हो जाने, आय-दर पर करों के आरोप को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने और उद्योग और व्यापार में धीरे-धीरे उन्नति होने के कारण अस्थायी रूप से बजट में अतिरेक की पुरानी प्रवृत्ति फिर से दिखाई पड़ने लगी। इन अतिरेकों का प्रयोग प्रान्तों के अनुदान को घटाने तथा अनुत्पादक ऋण को कम करने में किया गया। १९२७-२८ के पश्चात् बजट के सन्तुलन में फिर से गड़बड़ पैदा हुई और प्रान्तीय अनुदान के पूर्ण रूप से हटा देने के पश्चात् बजट बराबर घाटे प्रदर्शित करते रहे।

१९३९-४० के व्यापार में निरन्तर होती हुई अवनति के कारण आय में बहुत घाटा हुआ। विशेष रूप से निराक्राम्य-कर में और नये प्रचलित आय-कर की वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) के अन्तर्गत वृद्धि के होते हुए भी ऋण पर व्याज देने और रक्षा पर व्यय करने में कमी करते हुए भी बजट में लगभग ५० लाख का घाटा पूरा करने के लिए बाकी रह गया। यह कमी कच्ची रूई पर आयात-कर को दूना करके पूरी की गई।[2] सितम्बर १९३९ में लड़ाई छिड़ जाने से बजट में अगले महीने में विभिन्न परिवर्तन हुए। १९३९-४० के आय-व्यय का अन्तिम परिणाम ७७७ रु० के अतिरेक में लक्षित हुआ, जिसके कारण रक्षित आय-कर कोष में ६८६ लाख रुपया अधिक जमा किया जा सका। यह आय में ६८१ लाख रु० की वृद्धि और व्यय में ५ लाख रुपये की कमी के कारण सम्भव हो सका।

१९४०-४१ में रेल की आय में वृद्धि होते हुए भी पूरे वर्ष के लिए इस प्रथम युद्धकालीन बजट ने ७१६ लाख रुपये की सम्भावित कमी को नवीन साधनों से आय

१. देखिए, 'रिट्रेंचमेण्ट कमेटी की रिपोर्ट', पार्ट ११, पैरा ८।
२. ६ पाई प्रति पौण्ड से १ आना प्रति पौण्ड कर दी गई।

के किराये तथा ट्रंककाल की फीस पर अधिभार लगाकर पूरी की गई थी।) यह पहला अवसर था जब कि बजट में अर्जित और अनर्जित आय में अन्तर माना गया।

१९४७-४८ के बजट के आगणन के अनुसार व्यय ३२७.८२ करोड़ रुपये और आय २७९.४२ करोड़ रुपये वर्तमान करों के आधार पर की गई। इसके परिणामस्वरूप बजट में ४८.४६ करोड़ रुपये का घाटा था। रक्षा पर १२२.७१ करोड़ रुपये के व्यय और शासन-व्यवस्था पर १३९.१७ करोड़ रुपये के लगभग अनुमान किया गया।

१९४७-४८ में भारत का आर्थिक इतिहास दो भागों में बाँटा जा सकता है—पूर्व-विभाजन काल तथा उत्तर-विभाजन काल। आय में ४८.४६ करोड़ रुपये की कमी, जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, पूर्व-विभाजन काल के बजट में नमक-कर के हटा देने से ८.२४ करोड़ रुपये से और बढ़ गई और ५६.७ करोड़ रुपये हो गई।

अन्तर्कालीन बजट में, जोकि ७½ महीने के लिए था, १७१.२ करोड़ रुपये की आय और १९७.४ करोड़ का व्यय तथा आय में २६.२ करोड़ की कमी थी। इस कमी का १.६ करोड़ रुपये का अंश सूती कपड़े पर ३% के मूल्यानुसार कर के स्थान पर ४ आना प्रति वर्ग गज़ की दर से और रुई के सूत पर ६ आना प्रति पौण्ड की दर से परिमाण-कर लगाकर पूरा किया गया। जिस कमी को पूरा नहीं करना था वह २४.६ करोड़ रुपये की थी और वह असामान्य कारणों से थी, जैसे २२ करोड़ रुपया लोगों को पाकिस्तान से रक्षित अवस्था में लिवा लाना और शरणार्थियों को सहायता देना तथा २२.५ करोड़ रुपया विदेश से मँगाये हुए अन्न की सहायता देना आदि। देखने में बहुत अधिक लगने वाला रक्षा पर ९.२७ करोड़ रुपये का खर्च बँटवारे के पश्चात् सेना के धीमी गति से स्थानान्तरण तथा सामान्य काल से अधिक सेना के रखने के कारण था।

असैनिक व्यय में बजट के अनुमान से ४८.१४ करोड़ रुपये की वृद्धि (१) बँटवारे के पूर्वकाल के ऋण को देने के लिए २०.७५ करोड़ रुपये के अलग रख देने के कारण, (२) १२.०५ करोड़ रुपये के व्यय की विदेशों से मँगाए जाने वाले अन्न से सहायता देने के निमित्त तथा प्रान्तीय सरकारों को अपने-अपने राज्य की सीमा में अन्न एकत्रित कर लेने में लाभांश देने के कारण और (३) सहायता तथा पुनर्वास पर अधिक व्यय कर देने के कारण हुई।

१९४९-५० के बजट के अनुसार कुल आय ३२३ करोड़ रुपये और कुल व्यय ३२२¾ करोड़ रुपये था। संशोधित आगणन में आय ३३२ करोड़ रुपये से कुछ अधिक और व्यय ३३६ करोड़ रुपये से कुछ अधिक था; इस प्रकार बजट में केवल ३.७४ करोड़ की कमी रह गई थी। रक्षा पर व्यय १२¾ करोड़ रुपये से बढ़ गया था। इसके विरुद्ध निराक्राम्य-कर में अनुमानित आय से ९ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई थी। इन दोनों के बीच का अन्तर कमी की मात्रा के लगभग बराबर था। रक्षा पर व्यय ऊँचे ही स्तर पर रखना पड़ा, क्योंकि काश्मीर की समस्या का शान्ति से सुलझाव, जिसकी आशा की जाती थी, नहीं हो सका। निराक्राम्य-कर में वृद्धि

ठीक क्षेत्रों मे इसका निवेश होगा। साथ ही बजट में इस बात पर भी ज़ोर दिया कि खर्चे में कुछ कमी हो और ऐसे प्रोजेक्ट, जिनकी सरकारी उत्पादन-शक्ति को बनने में समय लगेगा, उन्हे इतना अधिमान न दिया जाए जितने का उन उद्योगों को, जिनकी आवश्यकता जल्दी है।

इस बजट के प्रस्तावों के अनुसार नये करों से १०१·५ करोड़ रुपया और प्राप्त होगा। कर प्रस्तावों का विशेष रूप इस प्रकार हैं—

(१) बोनस शेयर कर को हटा दिया जाए।

(२) लाभांश कर को ठीक रूप दिया जाए।

(३) कुछ परिहार समवाय पर करों का लगाना।

(४) १० प्रतिशत स्पेशल अधिभार बड़ी आय वाले लोगों पर।

(५) कम आय वाले लोगों पर कुछ परिहार और अन्त में

(६) समवाय क्षेत्र को कुछ प्रोत्साहन दिये जाएँगे ताकि धन का निवेश तथा पूँजी का संचय बढ़ सके।

१९६६-६७ के बजट में ११७ करोड़ रुपया मौजूदा करों को देखते हुए, घाटे का भाग रहेगा। एक बड़ा अंश इस घाटे का करों से पूरा किया जाएगा, बाकी भाग राजकोष पत्रों को रिज़र्व बैंक को जारी कर पूरा किया जाएगा। १९६६-६७ के बजट में कुछ मजबूरियों के कारण जनपद प्रशासन ऋण-व्यय, नये वित्त कमीशन के प्रस्तावों के अनुसार राज्य सरकारों को अधिक अनुदान देने के कारण, राजस्व व्यय २१७० करोड़ रुपया हो जाने की सम्भावना है। उसके मुकाबले में राजस्व-प्राप्ति नये करों से धन को मिलाकर २४८१ करोड़ रुपये की सम्भावना है। इस प्रकार राजस्व लेखे में ३११ करोड़ रुपये की बचत होने की सम्भावना है। परन्तु विशेष जमा तथा वित्त पूँजी-गणना १९६५-६६ में १८७३ करोड़ रुपये हो जाएंगे और इस प्रकार पूँजी-गणन में ३३४ करोड़ रुपये का घाटा होगा। इस प्रकार इस वर्ष कुल १६५ करोड़ रुपये के घाटे के मुकाबले में १२५ करोड़ रुपये का घाटा होगा।

१९६६-६७ के लिए लोक क्षेत्र खर्च के लिए १२३ करोड़ रुपया और बढ़ने से कुल १३७३ करोड़ रुपया हो जाएगा। ऋण-व्यय इसलिए बढ़ रहा है क्योंकि सरकार को स्वदेशी तथा विदेशी ऋण व्यय का कर देना होता है। १९६६ में रक्षा पर १०० करोड़ रुपया खर्च हुआ। केन्द्रीय सरकार का भुगतान दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को उधार तथा अनुदान दे रही है योजनाओं की पूर्ति के लिए। चौथे वित्त कमीशन के प्रस्तावों के अनुसार राज्य सरकारों का भाग केन्द्रीय आय-कर में बढ़ गया है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की सहायता राज्य सरकारों को ९७० करोड़ रुपये (१९६२-६३) से बढ़कर १४०९ करोड़ रुपये (१९६६-६७) हो जाने की सम्भावना है। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार की उधार तथा केन्द्रीय सरकार का सार्वजनिक ऋण विशेषकर योजनाओं की पूर्ति के लिए दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है। मार्च १९६६ में कुल संशोधित ऋण ११,३८३ करोड़ रुपये था (पहली योजना में यह ऋण ६४६ करोड़ रुपये, दूसरी

उप-खज़ानों में प्राप्त थीं, का आभारी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में डाकखाने की युद्ध-सम्बन्धी ऋण शाखा और कैश सर्टिफिकेट की प्रणाली, जिसे सरकार की ऋण नीति में स्थान मिला था, विशेष उल्लेखनीय है।

ट्रेज़री विल १९१४-१८ की लड़ाई की देन थे, जो सर्वप्रथम १९१७ के ब्रिटिश युद्ध-कार्यालय की तरफ से सरकार द्वारा वितरण के लिए जारी किये गए। युद्धोत्तर-काल में आय की कमी पूरी करने के लिए ये फिर जारी किये गए थे, जबकि पुराने विलों की रक़म नये विल जारी करके अदा की गई थी। अन्त में ट्रेज़री बिल की बहुत बड़ी बकाया रकम लम्बी अवधि के ऋण से प्राप्त धनों द्वारा दी गई, जोकि अच्छे अर्थ-प्रबन्ध की दृष्टि से अनुचित थी। १९२९-३० से ट्रेज़री विल का जारी करना केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध का एक साधारण कार्य हो गया है।

१ फरवरी, १९४१ से छः-वर्षीय सुरक्षापत्र (डिफ़ेन्स-बॉण्ड) के स्थान पर ३% का दूसरा सुरक्षा ऋण (डिफेन्स लोन) अधिक लम्बी अवधि के लिए जारी किया गया। १९४२-४३ में सुरक्षा ऋण में लोगों ने ११५ करोड़ रुपया लगाया। बाद में तीसरा, चौथा तथा अनेक ऋण जारी किये गए, जिनमें १९४३-४४ में कुल २७९ करोड़ रुपया जमा हुआ और यदि युद्ध-आरम्भ-काल से ही हिसाब लगाया जाए तो कुल ५४७ करोड़ रुपया जमा हुआ। ऊपर वर्णित ऋणों में अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों के लिए डिफेन्स सर्विस प्राविडेण्ट फण्ड आरम्भ किया गया, जिससे सरकारी कर्मचारियों के लिए नियमित रूप से रुपया जमा करने की सुविधा हो गई। एक सरल ढंग सर्वसाधारण के लिए रुपया जमा करने का पोस्ट ऑफ़िस डिफ़ेन्स सेविंग्ज़ बैंक अकाउण्ट की नई योजना द्वारा प्रचलित किया गया, जिसमें जमा किया हुआ रुपया माँगने पर नहीं बल्कि युद्ध-समाप्ति के एक वर्ष बाद मिल सकता था। इसे प्रोत्साहित करने के लिए इसमें ब्याज की दर साधारण पोस्ट सेविंग्ज़ बैंक अकाउण्ट से १% अधिक रखी गई।

१९३७-३८ से भारत के लोक-ऋण की निम्न मुख्य विशेषताएँ रही हैं—(१) ब्याज वहन करने वाले भारत सरकार के ऋण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि (जिसमें अनिश्चित काल के ऋण और निश्चित काल के ऋण सम्मिलित थे); (२) १९४२-४३ तक सावधि और विना अवधि के ऋण की मात्रा में, जो किसी सीमा तक स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में प्रचलित किये गए थे, निरन्तर वृद्धि; (३) १९४२-४३ तक अल्पकालीन ऋण में वृद्धि, जिसका प्रतिनिधित्व ट्रेज़री बिलों द्वारा किया जा रहा था, जिसकी मात्रा युद्ध के पहले से ६ गुनी बढ़ गई थी जो स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के लिए प्रचलित किये गए थे; (४) अगले चार वर्ष में अल्पकालीन ऋण में कमी होना और अनिश्चित काल के ऋण की मात्रा में वृद्धि; (५) १९४२-४३ तक छोटी मात्रा में बचत में कमी, पर बाद के वर्षों में फिर से मात्रा बढ़ना (विशेषकर नेशनल सेविंग्ज़ सर्टीफिकेट के प्रचलन के कारण); और (६) स्टर्लिंग ऋण का अन्त, जो युद्ध के समय में रुपये के ऋण से बढ़ गया था, आदि।

था। पौण्ड-पावना भारतीय जनता का भारी त्याग प्रदर्शित करते हैं, जो भारत की अपनी सुरक्षा की लागत तथा ब्रिटेन और मित्र-देशों की सरकार के युद्ध-सम्बन्धी प्रयासों के लिए वस्तुएँ और सेवाएँ प्रस्तुत करने के कारण कठोर अभाव और मुद्रा-स्फीति के रूप में प्रकट हुआ। यह लागत भी भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल वाइसराय के अप्रजातन्त्रात्मक आदेश से युद्ध में सम्मिलित होने के कारण उठानी पड़ी। अतएव भारत का पूरा भुगतान मिलने का अधिकार बहुत ही दृढ़ है और उसके प्रति पहले की अपेक्षा अब बहुत कम विरोधी है।

३१ दिसम्बर, १९४७ तक की अवधि के लिए भारत के पौण्ड-पावनों के सम्बन्ध में एक अन्तर्कालीन समझौते (इण्टरिम एग्रीमेण्ट) पर लन्दन में १४ अगस्त, १९४७ को हस्ताक्षर हुए। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) रिज़र्व बैंक को दो खाते रखने के लिए कहा गया। खाता नं० १ खास चालू खाता होगा, जिसमें परिवर्तनीय मुद्रा होगी। पौण्ड-पावने से दी जाने वाली रकम और भविष्य की अर्जित राशि इसी खाते में जमा की जाएगी।

खाता नं० २ शेष एकत्रित राशि होगी।

(२) खाता नं १ में ३५० लाख पौण्ड जमा करना था।

(३) ३५० लाख पौण्ड के अलावा विदेशों को भुगतान करने के साधनों की कमी पूरा करने के लिए खाता नं० १ में ३०० लाख और जमा किया गया।

१९४८ के एक नए समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसकी मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) **भारत में इंगलिस्तान के भण्डार**—१ अप्रैल, १९४७ को दिये गए सारे भण्डारों आदि के पूरे और अन्तिम भुगतान के लिए १००० लाख पौण्ड (१३३ करोड़ रुपया) दिया जाएगा।

(२) **स्टर्लिंग पेन्शन (निवृत्ति-वेतन)**—इंगलिस्तान की सरकार को १४७५ लाख पौण्ड (१९७ करोड़ रु०) दिया जाएगा और भारत सरकार क्रमशः ह्रासमान वार्षिक वृत्ति (एनुइटी) खरीद लेगी, जो १९४८ में ६३,००,००० पौण्ड से शुरू होगी। धीरे-धीरे ६० वर्ष में शून्य हो जाएगी।

(३) **सुरक्षा-व्यय योजना**—अविभाजित भारत के १९४६-४७ के अन्तिम लेखों के अनुसार भारत और इंगलैंड के बीच सुरक्षा-व्यय निर्धारण योजना के अन्तर्गत इंगलिस्तान पर ४९० लाख पौण्ड (६५ करोड़ रुपया) था। इस योजना में विचारित अवधि की अन्य देयताओं को ध्यान में रखकर अन्तिम रकम ५५० लाख पौण्ड (७३ करोड़ रु०) निश्चित की गई।

(४) **पौण्ड-पावना की अदायगी**—१ जुलाई, १९४८ से तीन वर्ष की अवधि में इंगलिस्तान ८०० लाख पौण्ड पौण्ड-पावने में से देगा और भारत खाता नं० १ में पौण्ड-पावने की इससे पहले अदा की गई रकम से ८०० लाख पौण्ड जमा रखेगा।

(५) **बहु-परिवर्तनशीलता (मल्टीलेटरल कनवर्टिबिलिटी)**—पहले वर्ष यानी

भागों में बाँट दिया गया।

१८८२ में लार्ड रिपन ने वित्त-सदस्य मेजर वेरिंग की सहायता से प्रान्तीय समझौतों में कुछ सुधार किये। अब हर पाँचवें वर्ष इन समझौतों का पुनर्विलोकन होना था। उन्होंने निश्चित इकट्ठी रकम के अनुदान को बन्द कर दिया और निम्न प्रकार से आय के साधनों का फिर से बटवारा किया—

(१) **केन्द्रीय मद**—अफ़ीम, नमक, निराक्राम्य-कर, व्यापारिक कार्य इत्यादि।

(२) **प्रान्तीय मद**—नागरिक विभाग, प्रान्तीय निर्माण-कार्य और प्रान्तीय कर।

(३) **विभाजित मद**—उत्पाद-कर, आरोपित कर, स्टाम्प, वन, रजिस्ट्रेशन इत्यादि।

अपना घाटा पूरा करने के लिए निश्चित धनराशि का अनुदान देने के स्थान पर उन्हें मालगुज़ारी का एक विशेष प्रतिशत दे दिया गया और उसके साथ-साथ निश्चित रोकड़ उसी मद के अन्तर्गत हस्तांकित कर दी गई जोकि व्यवस्थापन का एक महत्त्वशाली साधन बन गई। इसी प्रकार के समझौते सिद्धान्तों में परिवर्तन किये बिना १८८७, १८९२ और १८९७ के सिद्धान्तों में किये गए, यद्यपि प्रान्तों में कुछ असन्तोष और मतभेद रहा।

वित्तीय नीति की अनिश्चितता और निरन्तरता की कमी दूर करने के लिए पंचवर्षीय प्रान्तीय समझौतों को लॉर्ड कर्ज़न ने १९०४ में अर्द्ध-स्थायी बना दिया, अर्थात् पूर्वस्थिति में काफी परिवर्तन होने अथवा अकाल या युद्ध-जैसे विपत्ति-काल के उपस्थित होने पर ही उन्हें बदला जा सकता था।

१९१२ में लॉर्ड हार्डिंग द्वारा यह समझौता स्थायी घोषित कर दिया गया और निम्न विभाजन किया गया। जहाँ तक आय से सम्बन्ध है, केन्द्रीय सरकार ने वे सारे आय के स्रोत अपने पास रखे जो बाँटे नहीं जा सकते थे या किसी प्रान्त-विशेष के नहीं थे। इनको साम्राज्य (इम्पीरियल) आय-स्रोत कहा गया, जैसे अफ़ीम, रेल, निराक्राम्य-कर, नमक, टकसाल, विनिमय, डाक और तार, सेना द्वारा आय और देशी रियासतों से प्राप्त धन। बचे हुए में से कुछ तो पूर्णरूपेण प्रान्तीय थे, जैसे जंगल, उत्पाद-कर, (बंगाल और बम्बई में) रजिस्ट्रेशन तथा विभागों से प्राप्त आय, जैसे शिक्षा, न्याय आदि। अन्त में एक बहुत महत्त्वशाली आय का स्रोत विभाजित मद थे, जैसे मालगुज़ारी, आय-कर, उत्पाद-कर (बंगाल और बम्बई को छोड़कर), सिंचाई और स्टाम्प। सुधार के पूर्व की प्रणाली में अनेक दोष थे—(१) दोनों सरकारों के बीच बँटने वाले आय के स्रोत निरन्तर केन्द्रीय सरकार द्वारा हस्तक्षेप के साधन बने थे और प्रान्तों के विकास में बाधक थे; (२) समय-समय पर प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनी बचत से दी हुई 'संभिक्षा' (डोल्स) का प्रभाव प्रान्तीय वित्त पर अस्त-व्यस्तकारी था; (३) इसने अन्तर्प्रान्तीय वित्त-सम्बन्धी गम्भीर असमानता को जन्म दिया; (४) प्रान्तीय सरकारों को करारोपण तथा ऋण लेने का स्वतन्त्र अधिकार नहीं था; (५) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों के बजट और व्यय पर बहुत विशद नियन्त्रण लगाया गया था। उदाहरण के लिए प्रान्तीय

केन्द्रीय सरकार की आय में धीरे-धीरे वृद्धि होने के कारण १९२५-२६ और १९२६-२७ में कुछ सहायता सम्भव हो सकी। १९२७-२८ में जो-कुछ अंशदान का अवशेष था उसको कम कर दिया गया और १९२८-२९ में उसका अन्त कर दिया गया।

२८. भारत में संघात्मक वित्त की समस्या—प्रान्तीय अंशदान के अन्त से प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच आय के स्रोतों के बटवारे के झगड़े का अन्त नहीं हुआ। प्रान्तों, विशेषकर औद्योगिक प्रान्तों, जैसे बंगाल और बम्बई की मुख्य आपत्ति फिर भी बनी रही। आपत्ति यह थी कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार के व्यय स्थायी बने रहे, जिनमें केवल सेना के बनाए रखने का व्यय और लोक-ऋण पर व्याज के व्यय ही सम्मिलित थे, केन्द्रीय सरकार ने अपने लिए आय के ऐसे स्रोतों को, जैसे आय कर और निराक्राम्य-कर आदि, अपना लिया था, जिनमें वृद्धि हो रही थी अथवा जिनमें वृद्धि की सम्भावना थी और उन्होंने प्रान्तों के लिए आय के ऐसे स्रोत छोड़ रखे थे जो लोचहीन और न बढ़ने वाले थे, जैसे मालगुज़ारी और उत्पाद-कर आदि, हालाँकि प्रान्तों की आवश्यकताएँ तीव्र गति से बढ़ रही थीं। कुछ स्थानों पर मालगुज़ारी पहले से ही बहुत अधिक थी और सर्वत्र बहुत लम्बी अवधि के लिए निश्चित की जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की वृद्धि के लिए जनता सहमत नहीं थी। मद्य-निषेध की नीति अपनाने के कारण उत्पाद-कर में अवनति अवश्यम्भावी थी। वन-विभाग के विस्तार के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी के विनियोग की आवश्यकता थी। केवल स्टाम्प ही एक ऐसा स्रोत था जिसमें वृद्धि की कुछ सम्भावना थी। प्रान्तों पर ही राष्ट्रीय उन्नति के विभागों, जैसे शिक्षा, औषधि, कृषि आदि, का उत्तरदायित्व था, जिन पर बड़ी मात्रा में विनियोजन अत्यन्त आवश्यक था। दुर्भिक्ष-सम्बन्धी व्यय भी प्रान्तों ही के कन्धों पर डाल दिया गया था। नये सुधारों के अन्तर्गत अतिरेक आय के बटवारे में जो भाग प्रान्तों को हस्तान्तरित किया जाता था, उसकी मात्रा का निर्णय अनियमित ढंग से किया जाता था और उसका सम्बन्ध न तो प्रान्तों की आवश्यकताओं से ही था और न उनसे वसूल की जाने वाली कुल आय से ही। निस्सन्देह १९२० के आय-स्रोतों के बटवारे के परिणामस्वरूप सब प्रान्तों को अधिक व्यय-शक्ति मिली। इसका लाभ असमान मात्रा में अनुभव किया गया और अंशदान के अन्त ने प्रान्तीय आय-स्रोतों की असमानता को और भी अधिक बढ़ा दिया। जब साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी (१९३०), तो उस समय स्थिति यह थी कि प्रान्तों की आय तो स्थिर थी पर उसकी भावी आवश्यकताएँ सर्वत्र असीमित थी।[1]

२९. १९३५ के विधान के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों के बीच आय-स्रोतों का बटवारा[2]—गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि कर

---

१. साइमन कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, पैरा २६०-६१ और २६३।

२. गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट की वित्त-सम्बन्धी व्यवस्था उस एक्ट के १३७-४४ सेक्शनों में दी हुई है।

मिलाकर १३ करोड़ रुपये से कम होती, उस समय तक आय कर छोड़ा जाने वाला नहीं था।

जिस प्रतिशत अनुपात में प्रान्तों के बीच आय बटने वाली थी, वे निम्न हैं—मद्रास १५, बम्बई २०, बगाल २०, यू० पी० १५, पंजाब ८, बिहार १०, मध्य प्रदेश ५, आसाम २, उ० प० सीमाप्रान्त १, उड़ीसा २ और सिन्ध २।

३१. प्रान्तों को सहायता—प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ-काल से ही कुछ प्रान्तों को तुरन्त सहायता देने के लिए सर ऑटो निमेयर ने प्रस्ताव किया था। यह सहायता कुछ सीमा तक नकद सहायता के रूप में थी, कुछ सीमा तक १९३६ के पहले लिये वास्तविक ऋण (कुछ चीज़ें घटाकर) के विलोपन के रूप में थी और कुछ सीमा तक १२½% के जूट-कर के बटवारे के रूप में थी। बंगाल, बिहार, आसाम, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और उड़ीसा के सम्बन्ध में सारा वास्तविक ऋण विलोपित कर दिया गया था और मध्य प्रदेश के सम्बन्ध में १९३६ के पहले के आय के घाटे के कारण लिये गए ऋण और उसके साथ १९२१ के पहले का लगभग २ करोड़ रुपये का ऋण भी विलोपित कर दिया गया था।

वार्षिक अर्थ-सहायता निम्न प्रकार थी—उत्तर प्रदेश २५ लाख पाँच वर्ष तक, आसाम ३० लाख, उड़ीसा ४० लाख, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त १०० लाख, (पाँच वर्ष पश्चात् इस पर पुनः विचार करना आवश्यक था), सिन्ध १०५ लाख, जो दस वर्ष बाद धीरे-धीरे कम किया जाना था।

सर ऑटो निमेयर का कहना था कि पर्याप्त मात्रा में न्याय तभी हो सकेगा जबकि बाँटने की दर कुछ तो निवास-काल और कुछ जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाएगी। इन दोनों सिद्धान्तों के प्रति कट्टर सिद्धान्तवादी आदर दिखाना असंगत और अन्यायपूर्ण होगा।

३२. समझौते के सिद्धान्त—रिपोर्ट के मुख्य अंश नीचे दिये जाते हैं—गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट तक जितने वादविवाद इस सम्बन्ध में हुए हैं सबमें यह बात मान ली गई थी कि प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ-काल से ही प्रत्येक प्रान्त को इस प्रकार सम्पन्न कर देना चाहिए कि आर्थिक संतुलन बनाए रखने की सम्भावना पर उनमें विश्वास रहे और विशेष रूप से स्थायी आर्थिक हीनता की दशा का, जिसमें कुछ प्रान्त पड़ गए थे, अन्त हो जाए। इसलिए मेरा सर्वप्रथम ध्येय प्रान्तों की वर्तमान और भावी आर्थिक स्थिति की परीक्षा करना और इस बात का पता लगाना रहा है कि इस ध्येय को पूरा करने के लिए किस सीमा तक सहायता की आवश्यकता पड़ेगी और दूसरे यह समझ लेना भी आवश्यक रहा है कि किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार अपनी आर्थिक समृद्धि को हानि पहुँचाए बिना इस प्रकार की सहायता प्रदान करने की स्थिति में है। अन्त में हमें भविश्य की ओर भी देखना और सुझाव देना था कि कब और किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों के समक्ष आय-कर की प्राप्ति में से खर्च करने के लिए और अधिक धन दे सकेगी।

प्रान्तीय दृष्टिकोण से इस ध्येय की प्राप्ति की वाञ्छनीयता अस्वीकार नहीं

पुरानी बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है और बेकार ही यह धारणा बना ली गई कि यदि सीमाप्रान्त अलग न किया गया होता तो उसके ऊपर वह एक बहुत भारी बोझ के रूप में होता।

प्रान्तों की कुछ शिकायतें अवश्य उचित थीं और उनका उपचार सम्भव था, पर ऐसा असम्भव था कि उनके कारण पुनर्विलोकन आवश्यक सिद्ध कर दिया जा सकता। एक प्रकार के तर्क के समक्ष दूसरे बराबर के युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित करना तो सरल था। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दल को अधिक दे देने का अर्थ दूसरे को कम देना था, चाहे वह केन्द्र हो या अन्य प्रान्त हो और यह सम्भव था कि केन्द्र की आवश्यकता अधिक तीव्र हो अथवा वह राष्ट्र की जनता के साधारण हित के लिए हो और इसलिए उसका पर्याप्त रूप से पूरा करना आवश्यक हो।

३४. केन्द्र की आवश्यकताएँ—यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रान्तों को यथेष्ट मात्रा में देश का विकास करने वाले विभागों पर व्यय करने की पर्याप्त शक्ति प्रदान की जाए, और यह भी सत्य है कि केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताएँ तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी हैं, इसलिए उसके आय के साधन भी स्थायी होने चाहिएँ। सर ऑटो निमेयर का यह विचार बिलकुल सत्य था कि केन्द्रीय सरकार का अर्थ-प्रबन्ध स्थायी और पर्याप्त होना एक मूल आवश्यकता थी। अखिल भारतीय कार्यों पर व्यय करने के लिए केन्द्र के पास पर्याप्त धन होना चाहिए, जैसे देश की साख बनाए रखना, बाह्य देशों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करना और आन्तरिक अशान्ति को शान्त करना, इत्यादि। इस बात पर भी जोर दिया गया था कि बिना केन्द्रीय सरकार की समृद्धि पर दृढ़ विश्वास हुए भारतीय रियासतें संघ की सदस्य बनने में आनाकानी करेंगी; और चूंकि नई व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार को थोड़ा-सा अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, जैसे संघीय न्यायालय की स्थापना के सम्बन्ध में, और चूंकि उसके कुछ स्रोत अब उतने विश्वसनीय नहीं रहे जितने वे पहले थे।[1]

सर ऑटो की योजना की सफलता विशेषकर उस भाग की, जिसका सम्बन्ध आय-कर के केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच बटवारे से था, रेल-विभाग के सन्तोषपूर्ण ढंग से काम करने पर निर्भर थी। प्रान्तीय सरकारों को अपने ही हित के लिए भारत सरकार के साथ रेलवे की समृद्धि को पुनः स्थापित करने के लिए तथा उनको पुनः देश की आय के प्रति पर्याप्त मात्रा में अंशदान देने योग्य बनाने के लिए सहयोग करना चाहिए था। इसके लिए प्रान्तीय सड़क नीति को नियमित करना आवश्यक था, ताकि सड़कें रेलों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के बजाय रेलों की सहायता करें। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा रेल-विभाग के व्यय का भी आद्योपान्त सुधार होना अत्यावश्यक था और विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों का सामंजस्य भी जरूरी था। १९३७-३८ में रेल-विभाग की आय में अतिरेक होने से, रेल-विभाग

अनुदान (ग्रान्ट्स इन-एड) लाख रुपयों में निम्न प्रकार है—पश्चिमी बंगाल १०५, आसाम ४०, बिहार ३५ और उड़ीसा ५। यह परिनिर्णय वित्त आयोग की रिपोर्ट प्राप्त होने तक लागू रहने को था जिसे २२ नवम्बर, १९५१ की संविधान की धारा १८० (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में नियुक्त किया। इस आयोग की नियुक्ति कुछ करों की आय का केन्द्र और राज्यों के बीच वितरण, राज्यों को सहायक अनुदान तथा केन्द्र और राज्यों के बीच धारा २७८ (१) के अन्तर्गत किये गए समझौतों आदि के सम्बन्ध में सिफ़ारिश करने के लिए की गई थी। आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट ३१ दिसम्बर, १९५२ को प्रस्तुत की। इस आयोग ने वर्तमान परिस्थितियों में राज्यों की आय निश्चित करने के लिए जनसंख्या को आधार बनाया और आय-कर की विभाज्य राशि में से २०% राज्यों की सापेक्षिक वसूली के आधार पर और ८०% (१९५१ की जनगणना) सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की।

जूट निर्यात-कर—देशमुख-परिनिर्णय के अनुसार पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा को जूट निर्यात-कर के स्थान पर सहायक अनुदान दिये जाते परन्तु ये राज्य इन अनुदानों से सन्तुष्ट नहीं थे और अधिक की माँग करते थे। इस सम्बन्ध में वित्त-आयोग ने निम्न अनुदानों की सिफ़ारिश की—

(लाख रु० में)

राज्य	देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत दी जाने वाली रकम	वित्त-आयोग द्वारा प्रस्तावित रकम
पश्चिमी बंगाल	१०५	१५०
आसाम	५०	७५
बिहार	३५	७५
उड़ीसा	५	१५

संघीय उत्पाद-कर—इन करों की बढ़ती हुई आय के कारण राज्य की सरकारों ने इनमें भाग माँगना शुरू कर दिया। राज्यों ने वित्त-आयोग से इस आय में से भाग देने की माँग की। आयोग ने कुछ वस्तुओं के उत्पाद-कर को वितरित करने का निश्चय किया।

सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और मार्च, १९५३ में यूनियन ड्यूटीज़ ऑफ़ एक्साइज़ (डिस्ट्रीब्यूशन) एक्ट पास किया।

जून १९५६ में दूसरा वित्त आयोग नियुक्त किया गया। वित्त आयोग को निम्न बातों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी—

(१) केन्द्र और राज्यों के बीच करों का विभाजन,

(२) राज्यों को सहायक अनुदान (ग्राण्ट इन एड) देने के नियम, तथा

(३) भारत सरकार द्वारा राज्यों को दिये गए ऋण की ब्याज-दर और

(क) संघ और राज्यों के बीच में केन्द्रीय करों की वास्तविक आय का वितरण।

(ख) केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदान (ग्राण्ट इन एड) को निश्चित करने के नियम।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रपति ने निम्न विषयों पर भी आयोग से सुझाव देने के लिए कहा है—

(१) तृतीय योजना का आवश्यकताओं के लिए राज्यों को धारा (आर्टिकिल) २७५ के अन्तर्गत दिये जाने वाले सहायक अनुदान तथा राज्यों द्वारा उपलब्ध साधनों से अतिरिक्त आय की प्राप्ति।

(२) धारा २६९ के अन्तर्गत कृषि-भूमि के अलावा अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार-कर (एस्टेट ड्यूटी) की वास्तविक आय को किसी वित्तीय वर्ष में राज्यों के बीच वितरित करने से सम्बन्धित नियमों में परिवर्तन।

(३) धारा २६९ के अन्तर्गत रेल के किराये पर लगे करों से प्राप्त आय के वितरण-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन।

(४) निम्न वस्तुओं पर लगे अतिरिक्त उत्पाद-कर से प्राप्त आय के वितरण-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन—(१) सूती वस्त्र, (२) रेयन या कृत्रिम रेशम के वस्त्र, (३) ऊनी वस्त्र, (४) चीनी और (५) तम्बाकू, जिसमें निर्मित तम्बाकू भी सम्मिलित है।

मई १९१४ में डॉक्टर पी० वी० राजामनार मद्रास के हाईकोर्ट के मुख्य सेवा से मुक्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक चौथा वित्त कमीशन नियुक्त किया गया। इसकी सिफारिशें १९६६-६७ से लेकर १९७०-७१ तक लागू रहेगीं और केन्द्रीय तथा राज्यों में वित्त-वितरण पर प्रभाव डालेंगी।

३७. **वर्तमान प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध**—प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ होने के बाद से प्रान्तीय सरकारों की आय और उनके व्यय दोनों में ही बहुत काफी वृद्धि हुई है—विशेषकर द्वितीय युद्ध के बाद। आय में वृद्धि कृषि की उत्पत्ति के मूल्य में वृद्धि, प्रान्तीय आय के साधनों, जैसे जंगल के उत्तरोत्तर प्रयोग, अनेक प्रान्तों में अतिरिक्त अथवा नये करों के आरोपण, जो मुद्रा-प्रसार के प्रभाव को रोकने के लिए थे, और केन्द्र के पास एकत्रित आय-कर से प्रान्तों के भाग में प्रतिवर्ष वृद्धि के कारण हुई थी।

व्यय के अन्तर्गत वृद्धि पुलिस और नागरिक रक्षा के उपायों के कारण अतिरिक्त आर्थिक भार, मँहगाई तथा अन्य अविदेयों, खाद्य-सामग्री पर विनियोग, पूर्ति तथा वितरण-सम्बन्धी योजनाओं, कुछ प्रान्तों द्वारा अपने ऋण के भार को कम करने के लिए केन्द्र को धन देने, राष्ट्र-विकास की योजनाओं पर अधिक व्यय करने और अधिकतर प्रान्तों द्वारा युद्ध के पश्चात् पुनर्निर्माण-कार्यों पर व्यय करने के लिए धन पृथक् करने आदि कारणों से हुई थी।

दूसरी विशेपता युद्ध-काल के प्रत्येक वर्ष में आय का अतिरेक होना था, जोकि

इन लगातार होने वाले घाटों के कारण १९३१-३२ के बाद देश की सामान्य आय के प्रति रेलवे कोई भी अंशदान न कर सकी। सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत एकत्रित किया हुआ अंशदान का बकाया १९३१-३२ से लगाकर १९३६-३७ तक ३०.७४ करोड़ रुपये हो गया था। १९३९-४० के अन्त तक यह संख्या बढ़कर ३६¾ करोड़ रुपये हो गई थी। इस काल में रेल-विभाग ने यही नहीं कि अपना सामान्य-कोष कम कर दिया हो, वरन् अवक्षयण कोष से भी उन्होंने ३१.३४ करोड़ रुपया ऋण पर व्याज अदा करने के लिए उधार ले लिया। यह नितांत असंभव था कि लगभग ६२ करोड़ रुपये की इतनी बड़ी देयता भविष्य में होने वाले अतिरेक से थोड़े-से नपे हुए समय के अन्दर अदा की जा सके। इसी बीच नये विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रचलित हो जाने के साथ-ही-साथ और अधिक आय के साधनों की प्राप्ति के लिए ज़ोर लगाया जा रहा था। चूँकि वर्तमान सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत अवक्षयण कोष से लिये हुए ऋण भविष्य के अतिरेक पर सबसे प्रथम अधिकार समझे जाते थे और उसके पश्चात् सामान्य आय की देयता भी पूरी करती थी। इसलिए सामान्य आय को रेल से अंशदान पाने के लिए बहुत काफ़ी प्रतीक्षा करनी आवश्यक थी। इससे बचने का उपाय देयता पूरी करने के लिए १९३७ से तीन वर्ष के विलम्ब-काल में निहित था।[1] इस विलम्ब-काल के कारण यह सम्भव हो सका कि व्याज देने के बाद रेल-विभाग की वास्तविक आय के अतिरेक की, जो १९३६-३७ से दिखाई पड़ने लगा था, व्यवस्था की जा सके, ताकि ६२ करोड़ रुपये का भारी ऋण पूरा किये बिना ही सामान्य आय में अंशदान देना तुरन्त आरम्भ किया जा सके। इससे केन्द्रीय सरकार को भी १९३७-३८, १९३८-३९ और १९३९-४० में निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर की प्राप्ति को सीमित मात्रा में प्रान्तों को हस्तांकित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

१९३८-३९ में प्राप्त अतिरेक १·३७ करोड़ रुपये का था, परन्तु १९३९-४० में वह बढ़कर ४·३३ करोड़ रु० हो गया। वर्ष के आरम्भ में अनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण कुछ वस्तुओं की लोगों ने राशि एकत्रित कर ली और यात्रियों की संख्या तथा भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय में कमी आ गई। युद्ध की घोषणा के पश्चात् परिवर्तन हुआ, विशेषकर भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय में और बाद में यात्रियों से भी; क्योंकि लोगों की आरम्भ में ही आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गई थी। समुद्र-मार्ग से हटकर रेल-मार्ग से यात्रा बढ़ जाने के कारण भी रेल की आर्थिक स्थिति में उन्नति हुई, जैसा कि १ मार्च, १९४० से किराया और शुल्क बढ़ने से हुआ था।

१९४५-४६ के हिसाब में ३८·२० करोड़ रुपये का लाभ दिखाई पड़ा। १९४३ के निर्णय के अनुसार, जिसमें सामान्य आय में ३२ करोड़ रुपये का अंशदान दोनों वर्षों के लिए (१९४४-४५ और १९४५-४६) निश्चित किया गया था, ३२ करोड़ रुपया

नवम्बर, १९५४ में रेलवे कान्वेन्शन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह कमेटी दिसम्बर, १९४९ के कान्वेन्शन प्रस्ताव के अनुसार, मई १९५४ में बिठाई गई थी। अन्य बातों के साथ इस कमेटी के परीक्षा के विषय निम्न थे—

(१) रेलवे द्वारा सामान्य आय को दिया जाने वाला लाभांश,

(२) पूँजी और आय के खाते में रेलवे व्यय का वितरण, और

(३) तीनों रेलवे कोष—अवक्षयण सुरक्षित कोष, विकास-कोष तथा सुरक्षित आय-कोष—को दी जाने वाली रकम।

कमेटी ने भी १९५५-५६ से ५ वर्ष तक ४% के लाभांश की सिफ़ारिश की। अवक्षयण सुरक्षित कोष को दी जाने वाली रकम ३० करोड़ से बढ़ाकर ३५ करोड़ रुपये करने की सिफ़ारिश भी की गई।

रेलवे व्यय तथा अंशदान

(करोड़ों में)

	प्रथम योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
योजना अनुसार रेलवे पर व्यय	४२३·२३	१,०४३·६९	१,५८१·००
रेलवे का अंशदान योजनाओं में	२८०·००	४६५·००	५३१·००
विदेशी मुद्रा का रेलवे योजनाओं में भाग		३१९·४५	२८३·५०

स्थानीय वित्त

३९. स्थानीय (गाँव-सम्बन्धी) बोर्ड—चूँकि भारत के अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते हैं, इसलिए नगर-पालिकाओं की तुलना में, जो संख्या में बहुत कम जनसंख्या की सेवा करती हैं, ज़िला और उपजिला-बोर्डों की महत्ता बहुत अधिक है। किसी समय में भूमि पर प्रान्तीय शुल्क अथवा अधिकर केन्द्रीय सरकार के बजट के मुख्य अंग हुआ करते थे। आज वे स्थानीय और ज़िला बोर्डों की आय के मुख्य अंग हो गए हैं। ये आरम्भ-काल में बम्बई और मद्रास में १८६५ और १८६९ के बीच शुरू किये गए थे और सड़कों के निर्माण तथा मरम्मत के लिए, स्कूलों और अस्पतालों को चलाने के लिए, गाँव की सफाई के लिए तथा अन्य स्थानीय खर्चों के लिए भूमि पर लगाये गए थे। इस सिद्धान्त का लार्ड मेयो की विकेन्द्रीकरण-योजना के अनुसार प्रसार किया गया था। इसी प्रकार के उपकर बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब में लगाए जाने के लिए अनेक विधेयक पास किये गए। पंजाब और अवध में सड़कों, स्कूलों और जिलों के डाकखानों के लिए मालगुज़ारी का बन्दोबस्त होते समय निर्धारित उपकर, नये सामान्य उपकर के साथ-साथ जारी रहे। ऐसे ही बन्दोबस्तीय उपकर मध्य प्रदेश, बर्मा और आसाम में लगाये गए, पर बाद में उनका स्थान

अपेक्षा और अधिक कुशल होने की आवश्यकता है। सबसे अधिक व्यय लोक-स्वास्थ्य सुविधा तथा लोक-निर्माण और शिक्षा पर है। नगरपालिकाएँ प्रायः अपनी साधारण आय से अपना व्यय पूरा नहीं कर पातीं और उन्हें प्रायः सरकार अथवा जनता से रुपया उधार लेना पड़ता है, विशेषकर अपनी ऐसी बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने के लिए, जैसे पानी का प्रबन्ध और गन्दे पानी के बहने का प्रबन्ध आदि।

४१. स्थानीय संस्थाओं के अपर्याप्त साधन—अधिकारों के धीरे-धीरे स्थानीय संस्थाओं के प्रति हुए अवक्रमण और विस्तृत कार्य, जो लार्ड मेयो के समय से और विशेषकर स्थानीय स्वशासन के चुने हुए मन्त्रियों के हाथ में आने के बाद से नगरपालिकाओं, ग्राम-बोर्डों और पंचायतों को दिये गए हैं, जैसे लोक-स्वास्थ्य और शिक्षा आदि को विचाराधीन रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन संस्थाओं के आय के स्रोत नितान्त अपर्याप्त हैं। उनके लिए आधुनिक प्रशासन प्रणाली का प्रचलन उस समय तक असम्भव है जब तक कि उनकी आय की वृद्धि का उपाय न किया जाए। १९१९ और १९३५ के विधान के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे उन सेवाओं का खर्च उठायेंगी जो पहले विभिन्न विभागों के सरकारी कर्मचारियों द्वारा निःशुल्क प्राप्त होती थीं। आरम्भ के उत्साह में स्थानीय संस्थाएँ यह भूल गईं कि "सारे कार्य धन के ऊपर निर्भर हैं" और उन्होंने बड़ी महँगी शिक्षा, उपचार आदि की योजनाएँ आरम्भ कर दीं जो उनकी शक्ति के बाहर थीं। इस प्रकार उत्पन्न आर्थिक कठिनाई बाद में व्यय में कमी करके, अतिरिक्त कर का आरोप करके और अधिक विचारपूर्ण ढंग से साधनों का बटवारा करके दूर की गई। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मूलतः स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति बहुत ही अधिक असन्तोषजनक है। उनकी कठिनाइयाँ हाल में व्यय में वृद्धि के कारण और भी अधिक बढ़ गई हैं, जोकि श्रम और पूँजी के मूल्य के बढ़ जाने, वेतन के पुनरीक्षण और मँहगाई भत्ता देने के कारण हुई है, जबकि उनके आय के साधन कम और लोचहीन ही बने रहे हैं।[1]

४२. साधनों के अपर्याप्त होने का कारण—बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी (१९४०) ने कहा था कि "प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय बोर्डों के बीच आय के साधनों का बटवारा स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है और प्रान्तीय सरकार अच्छे आय के साधनों से लाभ उठाती रही है," जो कि औचित्य के दृष्टिकोण से स्थानीय बोर्डों को मिलने चाहिए थे। स्थानीय और प्रान्तीय आय-प्राप्ति के क्षेत्रों का स्पष्ट बटवारा अत्यन्त आवश्यक है। भारत में स्थानीय संस्थाओं की निर्धनता का एक कारण यह भी रहा है कि उनका विकास धनी, अर्द्ध-स्वतन्त्र और छोटी-छोटी इकाइयों में बड़े राजनीतिक संघ के रूप से व्यवस्थित होने के बजाय अधिकारों के अवक्रमण से हुआ है। दूसरा कारण यह भी है कि स्थानीय बोर्डों का अधिकार-

करना, (२) जंगल की प्रमुख उत्पत्ति से प्राप्त आय पर १½ आने का उपकर लगाना और (३) मालगुजारी के १०% का हस्तांकन करना। कमेटी ने ठीक ही कहा था कि स्थानीय संस्थाओं के लिए सबसे उपयुक्त ढंग करों और उपकरों को व्यक्तियों के प्रति की गई निश्चित सेवाओं पर लगाना होना चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पर उपकर।[1]

१९४९ में नियुक्त स्थानीय वित्त जांच समिति ने सिफारिश की थी कि संघीय सूची के ८९वें मद में दर्ज रेल, हवाई या पानी से जाने वाले सामान और सवारी पर लगा टर्मिनल टैक्स तथा रेल के किराये और भाड़े पर लगे कर को स्थानीय संस्थाओं के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए। इसके अलावा राज्यीय सूची की सातवीं अनुसूची में दर्ज टाल टैक्स तथा अन्य कर, जैसे अखबारी विज्ञापन के अलावा अन्य विज्ञापन पर कर, विद्युत् के उपयोग और विक्रय पर कर आदि, को स्थानीय संस्थाओं के उपयोग के लिए सुरक्षित कर देने की सिफारिश की। १९५३ में नियुक्त कर जांच आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि स्थानीय वित्त का ठोस आधार स्थानीय प्रत्यक्ष करारोपण ही हो सकता है। आयोग ने स्थानीय संस्थाओं को कर लगाने के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान करने के लिए दो कसौटियां रखीं : (१) कर का स्थायित्व तथा (२) करारोपण और प्रशासन की क्षमता। आयोग ने राज्य सरकारों द्वारा ऋण और आर्थिक सहायता देने की भी सिफारिश की।

पश्चिमी देशों में नगरपालिकाओं के क्षेत्र के विस्तार—भूमि की स्थायी सम्पत्ति तथा औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्र—में वृद्धि हो रही है और म्युनिसिपैलिटियां ट्राम्वे, पानी के कारखाने, गैस और बिजली के कारखाने, कब्रिस्तान, स्नानागार, मछली मारने के स्थान, जहाजों के ठहरने के स्थान, रोटी बनाने के स्थान, रंगमंच, सराय, जलपान-गृह, कारखाने, चक्की और दुग्धशालाएँ इत्यादि चला रही हैं। ये सब आर्थिक कार्य प्रभावशाली रूप से केवल सेवा ही नहीं हैं वरन् आय के अच्छे साधन भी हैं। भारत में स्थानीय वित्त के इस अंग पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है और यदि स्थानीय संस्थाएँ इन साधनों के प्रयोग की सम्भावनाओं पर अपनी छोटी आय को बढ़ाने तथा नागरिक जीवन की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो।

संगठित उद्योगों की वृत्तिहीनता से भिन्न यत्किंचित् बेकारी कुटीर-श्रमिकों में भी पाई जाती है। भारत में 'आर्थिक-संक्रमण'[1] वाले अध्याय तथा कुटीर-उद्योगों की स्थिति[2] के विवरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग आर्थिक संक्रमण से प्रभावित हुए। इस विवरण में ही हमें अपनी रोज़ी खो देने और कोई उपयुक्त रोज़ी न मिलने के कारण उत्पन्न कठिनाइयों और दुखों का भी कुछ अनुमान मिल गया था।

एक और प्रकार की वृत्तिहीनता अभी हाल में ही विकसित होने लगी है। यह है मध्यवर्गीयों की वृत्तिहीनता। इससे वे लोग प्रभावित होते हैं जो कि एक स्तर तक शिक्षा पा चुके हैं और अपनी जीविका के लिए बाबूगीरी या क्लर्की पर निर्भर रहते हैं। हाल में यह समस्या प्रधान स्थान ग्रहण करने लगी थी।

ग्रामीण वृत्तिहीनता : दुर्भिक्ष का वर्तमान रूप और उसका उपचार

२. **दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व**—देश की राजनीतिक जागृति के साथ-साथ बार-बार दुर्भिक्षों के पड़ने के कारण इन दैवी आपत्तियों को एक प्रकार की प्रमुखता मिल गई जो कि अन्यथा अप्राप्य होती।

१८६७ के विशेष आयोग ने दुर्भिक्ष की परिभाषा करते हुए बतलाया कि जनता के बड़े समूह का भूख की यातना सहना दुर्भिक्ष है। लेकिन भारत के इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रधान कारणों से शब्द के इस अर्थ में परिवर्तन हो गया है। एक तो यातायात एवं परिवहन के साधनों में सुधार होने के कारण एक भाग के दुर्भिक्ष को दूसरे भाग की बहुलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। दूसरे, प्रशासन में भी दुर्भिक्षों का सामना करने की पद्धति में प्रगति हुई है। अतएव वर्तमान दुर्भिक्ष खाद्य-दुर्भिक्ष न होकर द्रव्य-दुर्भिक्ष है। सरकार के सामने समस्या है कि समुचित रूप में मज़दूरी और काम की व्यवस्था करे।

द्रव्य-दुर्भिक्ष या वृत्ति-विस्थापन के मुख्य कारण जब तक दूर नहीं किये जाएँगे, ग्रामीण बेरोज़गारी की समस्या हल नहीं हो सकेगी। ये कारण हैं—(१) जनता का कृषि पर अत्यधिक अवलम्बन—कृषि एक ऐसा पेशा है जो अनिश्चित वृष्टि पर निर्भर है; (२) पुराने उद्योगों का विनाश तथा कितने ही उद्योगों की अनुपस्थिति; (३) जनता का ऋण में डूबा होना आदि। भारतीय जनता किसी प्रकार अपनी आजीविका प्राप्त करती है और उसके पास कोई सुरक्षित धनराशि नहीं रहती जिस पर वह कमी और अकाल के समय आश्रित रह सके। जनता की आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के तरीकों में अनेक बातें शामिल हैं, जैसे जनता के जीवन-स्तर को बढ़ाना और उसकी साख को कायम रखना; सुरक्षा-कार्य—सिंचाई की नहरें, सड़कों का निर्माण, कुओं की मरम्मत इत्यादि; साधारण प्रशासन में सुधार, विशेष रूप से माल-प्रशासन के स्थगन और छूट की व्यवस्था; सुविचारित और उदार वन-नीति;

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ५।
२. देखिए, अध्याय २, सेक्शन ३९-४६।

४. मध्यवर्गीय बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता और प्रसार—मध्यवर्गीय वृत्ति-हीनता ने इधर हाल में भयंकर आकार ग्रहण कर लिया है।[1] कुछ समय से जनता का ध्यान इस ओर गया है। सरकारी तथा गैर-सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं, जैसे विश्वविद्यालयों, ने इसमें रुचि प्रदर्शित की है।[2] १९२४ और २८ के बीच विशिष्ट रूप से आयुक्त समितियों द्वारा कितनी ही गवेषणाएँ की गई हैं। ये गवेषणाएँ एवं प्रयोग बंगाल, मद्रास, पंजाब और बम्बई-जैसे प्रान्तों एवं ट्रावनकोर-जैसी रियासतों में किये गए हैं। सबसे हाल में नियुक्त होने वाली समितियों में युक्त प्रान्त (सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में) की और बिहार की समितियों का नाम लिया जा सकता है।[3]

इन समितियों की रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता अखिल-भारतीय प्रकार की है।[4] मद्रास समिति ने बताया कि रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियों और रोज़गार का अनुपात २ : १ है। स्कूल और कॉलेजों की वार्षिक उत्पत्ति और वर्ष में होने वाली स्थान-रिक्तता की गणना के अनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वृत्तिहीनता की संख्या वस्तुतः दुखद थी। १९२७ की पंजाब समिति भी इसी प्रकार की गणना के उपरान्त इस नतीजे पर पहुँची। जबकि अंग्रेजी वर्नाक्यूलर स्कूलों की उत्पत्ति या उत्पादन ५ वर्ष में (१९२२-२७) बढ़कर दूना हो गया है, इसके विपरीत रोज़गार में ऐसी कोई वृद्धि नहीं हुई है—न तो सरकारी नौकरी में और न व्यावसायिक क्षेत्र में ही।

इस प्रकार की वृत्तिहीनता की भयंकरता को हम पूर्णतया समझ नहीं पाते। इससे वृत्तिहीन व्यक्ति को कष्ट तो पहुँचता ही है, साथ ही एक प्रकार का नैतिक पतन होता है जो साधारण रूप से समाज को ग्रस्त कर लेता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवकों का अधिक संख्या में बेकार होना देश की राजनीतिक स्थिरता के लिए भी हानिकारक और भयंकर है। क्रान्तिकारी समाज-वाद या साम्यवाद उन युवकों में बड़ी ही शीघ्रता से जड़ जमा लेता है, जिनके दिल में वस्तुस्थिति के खिलाफ एक प्रकार का विरोधी भाव पहले से ही घर कर चुका होता है।

५. विशेष रूप से प्रभावित वर्ग—शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षितों में अप्रशिक्षितों की अपेक्षा कम बेकारी थी। कानूनी पेशे में बहुमत इस पक्ष में था कि यह ज़रूरत से ज्यादा

---

१. द्वितीय महायुद्ध ने वृत्ति के अनेक द्वार खोल दिए और कुछ समय के लिए शिक्षित वृत्तिहीनता समाप्तप्राय हो गई। भारत सरकार के श्रम-मन्त्रालय के वृत्ति-विनिमय, जोकि पहले पुराने नौकरी वालों और छूटे लोगों को श्रम दिलाने के लिए काम करते थे, अब सबके लिए खोल दिये गए हैं।

२. १९३० में हुए विश्वविद्यालय सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार किया, लेकिन वे इसके आगे कोई सुझाव नहीं रख सके कि विश्वविद्यालय अपने स्नातकों की वृत्तिहीनता का पता लगाएँ।

३. बम्बई के श्रमालय ने १९३८ में विश्वविद्यालय के स्नातकों की वृत्तिहीनता की जाँच फिर से प्रारम्भ की।

४. १९३७ को नवें उद्योग सम्मेलन की बुलेटिनों में भारत के विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की मध्य-वर्गीय वृत्तिहीनता की परिस्थिति की समीक्षा और उसे दूर करने के लिए काम में लाये गए या विचारित उपचारों का विवरण प्राप्त होगा। 'बुलेटिन्स ऑफ़ इण्डियन इण्डस्ट्रीज़ एण्ड लेबर', नं० ६५।

मिलने पर अर्द्ध-सरकारी प्रकार की क्लर्की, जैसे रेलवे, म्युनिसिपल बोर्ड और अन्य स्थानीय संस्थाएँ, जैसे पोर्ट-ट्रस्ट इत्यादि, की क्लर्की ढूँढ़ता है। शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध यह भी आरोप है कि यह लड़कों को अपने पैतृक पेशों के लिए भी बेकार बना देती है, क्योंकि वे एक क्षण के लिए हाथ से काम करके अपनी जीविका कमाने की बात नहीं सोच सकते। वे पंचम श्रेणी का क्लर्क होना पसन्द करेंगे, चाहे उन्हें उससे हाथ का काम करने से कम की ही आमदनी क्यों न हो। वे कृषि को भी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। इस प्रकार हाथ से काम न करने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। इसका कारण वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का दूषित होना ही है जोकि अनुत्पादक होने के अतिरिक्त देश की मानसिक शक्ति को नष्ट कर देती है। किसान, हस्तकार्य करने वाले तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग भी अपने बच्चों को सरकारी नौकरी के लालच में पड़-कर, स्कूलों और कॉलेजों में भेजने लगे हैं। इस प्रकार वे सामाजिक सीढ़ी के ऊँचे वाले डंडों पर चढ़ रहे हैं। साहित्यिक एवं अर्द्ध-साहित्यिक पेशों का यह आकर्षण, जोकि अपनी परिधि में उन वर्गों को भी सन्निविष्ट कर रहा है जिनके पास कोई भी विद्या की पृष्ठभूमि नहीं है, तथा इससे प्रचलित वृत्तिहीनता और भी बढ़ रही है।

(३) सामाजिक कारण—कुछ सामाजिक कारण, जैसे जाति-प्रथा, शीघ्र विवाह, संयुक्त परिवार और सामुदायिक असमानताएँ, सब शान्त किन्तु सशक्त रूप से नवयुवकों की आर्थिक महत्त्वाकांक्षाओं और भाग्य को निर्धारित करने में क्रियाशील हैं।[1] उदाहरण के लिए जाति-प्रथा युवकों को कितने ही ऐसे धन्धे करने से रोक देती है, जोकि लाभदायक हैं किन्तु जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर के माने जाते हैं। शीघ्र विवाह के परिणामस्वरूप नवयुवकों पर शीघ्र ही ज़िम्मेदारी पड़ जाती है और प्रशिक्षा भी अवरुद्ध हो जाती है। संयुक्त परिवार-प्रथा इस प्रकार के उत्तरदायित्व का भार हलका कर देती है और कमज़ोर तथा असहाय को सहायता और सुरक्षा देकर आर्थिक पराश्रयता को जन्म देती है और वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा तथा प्रतिभा को समाप्त कर देती है। शिक्षित वर्ग में वृत्तिहीनता का एक कारण नवयुवकों में अपने घरबार से दूर जाकर अपने भाग्य-निर्माण की अनिच्छा भी है, जोकि संयुक्त परिवार-प्रथा की देन है। इसके विपरीत मद्रास समिति के मत में इस प्रकार की गतिहीनता अब धीरे-धीरे घट रही है और इसका वृत्तिहीनता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वृत्तिहीनता मूलतः माँग से पूर्ति का अधिक होना ही है।[2]

(४) आर्थिक पिछड़ापन—देश के आर्थिक अविकास का कारण औद्योगिक दृष्टि से देश का पिछड़ा होना है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित नवयुवकों को वृत्ति के मार्ग नहीं मिलते। विलायत में सेना, नौसेना और सिविल सर्विसेज़ को छोड़कर इस समय देश में कुल १६,००० पेशे हैं। भारत में कुल मिलाकर ४० से भी कम हैं।[3] यह याद रखना चाहिए कि केवल व्यावहारिक शिक्षा देने और उसकी सुविधाएँ करने

१. देखिए, मद्रास की रिपोर्ट, पृ० १८, खण्ड १, अध्याय ४ भी देखिए।
२. मद्रास रिपोर्ट, पृ० १८ और २७।
३. देखिए, ट्रावनकोर रिपोर्ट, पैरा ५८।

और २३ ज़िला वृत्ति-कार्यालय हैं। केन्द्रीय वृत्ति-विनिमयालय का काम एक अन्तर्प्रान्तीय निकास-गृह (क्लियरिंग-हाउस) का है। यह विभिन्न भागों के श्रम की माँग और पूर्ति को व्यवस्थित करता है।

६. अन्य उपचार—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि हर प्रकार और श्रेणी की वृत्तिहीनता अन्तिम व्याख्या में देश के आर्थिक अविकास और पिछड़ेपन का प्रतिबिम्ब-मात्र है। अतएव जिस किसी भी साधन से देश का आर्थिक विकास होगा उससे देश की वृत्तिहीनता की समस्या का समाधान होगा। भौतिक समृद्धि से न केवल वृत्ति के नवीन पथों का उद्‌घाटन होगा, वरन् देश की समृद्धि के स्तर के उठ जाने से वकीलों, डॉक्टरों, अध्यापकों इत्यादि की भी आवश्यकता बढ़ जाएगी। इसी प्रकार समृद्धि-तल के उठ जाने से प्रशासकीय सेवाओं में भी प्रसार होगा और अन्त में, सरकार द्वारा देश के आर्थिक पुनरुद्धार के किसी भी कार्य में शिक्षित वर्ग में से व्यक्ति अवश्य लिये जाएँगे।

मद्रास समिति का 'क्षेत्र-उपनिवेश' (फार्म कॉलोनीज़) स्थापित करने का प्रस्ताव काफ़ी आकर्षक था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता सीमित थी। पहले तो पंजाब और आसाम-जैसे प्रान्तों को छोड़कर शिक्षित वृत्तिहीनों को देने के लिए काफ़ी भूमि नहीं पाई जा सकती, चाहे इसके लिए ग्रामीण समाज और दलित-वर्ग के दावे को थोड़ी देर के लिए भुला भी दिया जाए। दूसरे, यदि यह पता चल गया कि सरकार शिक्षित वृत्तिहीनों के लिए भूमि देगी तो मध्य-वर्ग के लोगों का अपने पुत्रों को स्कूल और कॉलिजों में भेजने का आकर्षण अधिक बढ़ जाएगा।

पंजाब वृत्तिहीनता जाँच समिति के बहुमत ने यह सुझाव रखा कि वृत्तिहीनता को कम करने का एक तरीका यह होगा कि उच्चतर शिक्षा के लिए केवल पर्याप्त योग्यता और तीक्ष्ण बुद्धि वाले छात्रों को ही भेजा जाए। वे यदि गरीब हैं तो उन्हें सरकारी सहायता भी दी जाए या उन लोगों को भेजा जाए जो इसकी पूरी कीमत दे सकें (पैरा १६)। हम यह ठीक नहीं समझते कि उच्चशिक्षा को खरचीली बनाने के लिए कुछ भी किया जाए या इसका क्षेत्र संकुचित किया जाए, हालाँकि हम यह स्वीकार करते हैं कि छात्रों के अभिभावकों को इस बात का पता लग जाए कि वर्तमान काल में सरकारी नौकरियों के लिए व्यक्तियों की माँग की अपेक्षा पूर्ति बहुत ही अधिक है, और यह कि उन्हें अपने बच्चों के लिए अन्य प्रकार के पेशों की बात सोचनी चाहिए। सप्रू-समिति भी किसी भी कृत्रिम नियम द्वारा विश्वविद्यालयों में प्रवेश को बाधित करने के खिलाफ थी। ट्रावनकोर समिति के इस कथन में अधिक सार है कि हर प्रकार की सरकारी नौकरी को प्रतियोगिता-परीक्षा के आधार पर होना चाहिए। परीक्षाओं को कठोर कर देने और मानदण्ड को ऊँचा उठा देने से कितने ही उम्मीदवार, जो अयोग्य होंगे, छँट जाएँगे और इस प्रकार की शिक्षा में होने वाली शक्ति तथा धन का अपव्यय भी न होगा। जो प्रतियोगिता-परीक्षा में फेल होंगे वे जान जाएँगे कि उनके लिए सरकारी नौकरी मिलना सम्भव नहीं और वे अनिश्चित काल तक इस आशा में तो नहीं रहेंगे कि शायद कभी उन्हें सरकारी नौकरी मिल ही जाए। इससे

वैज्ञानिक कृषि को जीविका के साधन के रूप में अपनाएँ। उनके लिए वैज्ञानिक पशु-पालन में भी खपत होगी। यह भी कोशिश करनी चाहिए कि योग्य शिक्षित व्यक्ति नौकरी के लिए व्यवसाय-गृहों के सम्पर्क में आ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न खण्डों में पेशों की रहनुमाई के लिए प्राधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि समन्वित जीवन-पथों की सूचना दिया करें और इस प्रकार की व्यवस्था संगठित करें कि अभिभावकों को उनके लड़कों की मानसिक और शारीरिक कुशलता की परीक्षा करके उनके आगे की गति के विषय में सलाह दें। माध्यमिक पाठशालाओं को चाहिए कि वे अध्ययन के और भी अधिक विविध पाठ्य-क्रम निर्धारित करें। विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक और पेशे की शिक्षा पर अधिक जोर दें। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के नियुक्ति-संघ (अपॉइण्टमेंट्स बोर्ड्स) के ढंग का नियुक्ति-संघ यहाँ भी बनाया जाना चाहिए, जिसमें यूनिवर्सिटियों के उप-कुलपति, कुछ विभागाध्यक्ष (उदाहरण के लिए शिक्षा, उद्योग और कृषि) तथा कुछ जनता के व्यक्ति और कुछ यूरोपीय तथा भारतीय व्यापारी हों। इसी प्रकार माध्यमिक पाठशालाओं के उत्पादनों की समस्या को सुलझाने के लिए भी संघों की नियुक्ति की जानी चाहिए। इन बोर्डों को चाहिए कि वे विश्वविद्यालयों के स्नातक तथा स्कूल और कॉलेजों के छात्रों की वृत्ति की समस्या सुलझाएँ।

तृतीय योजना में मध्यवर्गीय बेकारी दूर करने के सम्बन्ध में कहा गया है कि उद्योगीकरण, विकास की योजनाओं तथा ग्रामीण जन-शक्ति के उपयोग के लिए प्रारम्भिक कार्यक्रम स्वतः शिक्षितों को रोजगार देंगे। वृत्ति-विनिमयालय में दर्ज व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह अनुमान कर लेने पर कि इनका प्रतिशत निश्चित रहा है, यह कहा जा सकता है कि १० लाख शिक्षित बेकार योजना के प्रारम्भ में होंगे और ३५ लाख नए शिक्षित बेकार योजना-अवधि में काम ढूंढ़ेंगे। अतएव यह सुझाव रखा गया है कि शिक्षा में इस प्रकार के परिवर्तन किए जाएँ ताकि भविष्य के उपलब्ध कामों के लिए व्यक्ति मिल सकें। प्राविधिक शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है तथा नई शिक्षा-संस्थाएँ खोली जा रही हैं। पेशों के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन (वोकेशनल गाइड्स) करने की योजनाएँ भी पिछले पाँच वर्ष में विकसित की गई हैं। निकट भविष्य में ग्रामीण क्षेत्रों और ग्रामीण कार्यक्रमों में ही शिक्षितों को रोजगार मिलने की सम्भावना है। अतएव यह सुझाव रखा गया है कि शिक्षितों को विशेष कार्यों के लिए प्रशिक्षित किया जाए। इस दिशा में शिक्षा-पद्धति का पुनर्गठन तथा पेशेवर और प्राविधिक शिक्षा की सुविधाओं का विकास सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है।

बेरोजगारी की समस्या पर उचित ढंग से विचार करने के लिए सभी प्रकार की बेरोजगारी पर दीर्घकालिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। आगामी १५ वर्षों में श्रम-शक्ति की वृद्धि ७०० लाख के लगभग होगी—तृतीय योजना में १७० लाख; चतुर्थ योजना में २३० लाख तथा पाँचवीं योजना में ३०० लाख। पिछली दो योजनाओं का अनुभव यह है कि रोजगार के अवसर अधिकांशतः गैर-कृषीय क्षेत्रों में बढ़े हैं। इस अनुमान पर कि यह प्रवृत्ति भविष्य में बनी रहेगी तथा आगामी १५ वर्षों में $\frac{२}{३}$

अध्याय २७

भारतीय पंचवर्षीय योजनाए

१. भूमिका—हम आज उस युग में से गुज़र रहे हैं जबकि उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं से राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए योजनाओं का वर्णन हो रहा है। विशेष रूप से जब से रूस ने योजना के पथ पर अग्रसर होकर अपने-आपको विश्व के बड़े देशों में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है, तब से योजना के मार्ग को और भी उन्नत स्थान मिला है। वैसे तो भारत में काफी समय से योजना की आवश्यकता को महसूस किया गया था। १९३१ में सर आर्थर साल्टर और बाद में १९३५ में डा० बाऊले तथा प्रोफेसर डी० एच० रॉबर्टसन ने योजना आरम्भ करने का विचार रखा। देश के एक सर्वश्रेष्ठ इन्जीनियर सर विश्वेश्वरैया ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'प्लैंड इकॉनमी ऑफ़ इण्डिया' (Planned Economy of India)। उसके पश्चात् १९३८ में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने, जोकि उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'राष्ट्र योजना समिति' देश की आर्थिक उन्नति के लिए बनाई। परन्तु दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने तथा कांग्रेसी नेताओं के जेलों में भेज देने के कारण इस कमेटी के कार्य में विघ्न पड़ गया।

वैसे तो कई कागज़ी योजनाएँ बनीं, उदाहरणतया 'बॉम्बे प्लॉन' (Bombay Plan), 'पीपल्स प्लॉन' (Peoples Plan), गांधियन प्लॉन (Gandhian Plan), तथा पोस्ट वार रिकन्सट्रक्शन एण्ड प्लॉनिंग (Post-war Reconstruction and Planning)। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् सुचारु रूप से योजना के महत्त्व को समझते हुए भारत सरकार ने मार्च १९५० में (राष्ट्र के सभी स्रोतों के ठीक उपयोग और उसके उत्पादन के सन्तुलित वितरण के लिए) योजना आयोग बनाया। काफी सोच-विचार के बाद पहली पंचवर्षीय योजना संसद के सम्मुख दिसम्बर, १९५२ में रखी गई। वैसे तो पहली योजना को १९५१ से ही चालू समझा गया।

२. योजनाओं के लक्ष्य—भारतीय योजनाओं के कई लक्ष्य हैं। पहली योजना में विशेष लक्ष्य को सामने रखते हुए, इसके अन्तर्गत वह एक नया उन्नति का मार्ग बनायेगी, जिससे जनता का रहन-सहन ऊँचा हो सकेगा और अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए अच्छे अवसर मिलेंगे। योजना का मतलब न केवल साधनों को उन्नत करना होगा, बल्कि मानवता की कार्य-शक्ति और संस्था के ढाँचे में परिवर्तन लाया जाएगा। दूसरा, लम्बे समय के लक्ष्य थे कि राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय को दुगुना किया जाए। यह आशा प्रकट की गई कि १९७५-७६ तक ६ प्रतिशत के लगभग वृद्धि की दर हो ताकि राष्ट्रीय आय (१९६०-६१ की कीमतों को सामने रखते हुए) १९६०-६१ में

पहली दो योजनाओं में राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत बढ़ी, परन्तु प्रति व्यक्ति आय तेज़ी से जनसंख्या के बढ़ने के कारण केवल १६ प्रतिशत ही बढ़ सकी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय में औद्योगिक उत्पादन ६२ प्रतिशत बढ़ गया और विशेषतया दूसरी योजना में कई क्षेत्रों में उन्नति हुई और एक प्रकार का देश में औद्योगिक आन्दोलन चालू हो गया। औद्योगिक उन्नति और राष्ट्रीय आय के अधिक न बढ़ने के ये निम्नलिखित कारण हैं—

(१) खेती-उत्पादन दर न केवल अस्थायी रही बल्कि इसके साथ-साथ औद्योगिक और निर्यात को बढ़ाने में असफल थी।

(२) विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण कई शक्ति-साधनों को बढ़ाने वाले प्रोजक्टों और रासायनिक प्रोजेक्टों को चलाने में बड़ी देर लगी।

(३) इन दस वर्षों में निर्यात स्थिर रहा और उतना न बढ़ पाया जितनी आशा थी।

(४) औद्योगिक तथा खेती के क्षेत्रों में प्रशासन के ठीक न होने और योजना के कार्यों को ठीक प्रकार से कार्यान्वित न होने के कारण बहुत बाधाएँ पड़ीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी योजना का समय बहुत संकटपूर्ण था। इन रुकावटों को दूर करने के लिए और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए तीसरी योजना में विशेष रूप से जोर दिया।

४. तीसरी पंचवर्षीय योजना—(क) लक्ष्य—तीसरी पंचवर्षीय योजना (१९६१-६६) में लम्बे समय के उद्देश्यों को सामने रखते हुए ये लक्ष्य रखे गए—

(१) राष्ट्रीय आय में लगभग ५ प्रतिशत की बढ़ोतरी हो और इस प्रकार का निवेश का आधार बने जिससे कि आत्म-निर्भरता की स्थिति बन सके।

(२) खेती की उन्नति इस प्रकार से हो कि खाद्य-पदार्थों में आत्म-निर्भरता हो, उद्योग तथा निर्यात की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

(३) बुनियादी उद्योग-धन्धे, इस्पात, रासायनिक, ईंधन-शक्ति आदि, मशीन तथा यन्त्र इस प्रकार से बढ़ें कि १० वर्ष के समय में और औद्योगिक उन्नति स्वदेशी साधनों से पूरी हो सके।

(४) बहुबल साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग हो और राष्ट्र में रोज़गारी के अवसर बढ़ सकें।

(५) आयों में अन्तर तथा आर्थिक साधनों के अकेन्द्रीकरण का कार्य पूरा करना।

(ख) व्यय तथा धन-विभाजन—तीसरी योजना में भौतिक उत्पादन के लिए ८,००० करोड़ रुपया सरकारी क्षेत्र में, ४,१०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में निर्धारित हुआ। परन्तु सरकारी क्षेत्र में वित्त साधन ७,५०० करोड़ रुपया ही मिलने की आशा की गई।